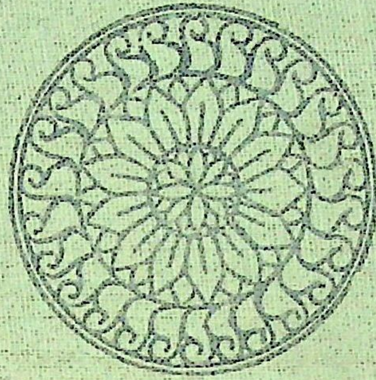


॥आचार्यबलदेवोपाध्यायाभिनन्दनग्रन्थः॥

# BALADEVA UPĀDHYĀYA

## FELICITATION VOLUME



# ॥आचार्यबलदेवोपाध्यायाभिनन्दनग्रन्थः॥

# BALADEVA UPĀDHYĀYA
## FELICITATION VOLUME

I S S N 0016—4461

*Journal of*
*Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha*
(formerly : *Journal of Ganganatha Jha Research Institute*

A Journal devoted to Oriental Studies in general
and Indological studies in particular

Vol. XXXVII (1981)

आचार्य बलदेव-उपाध्याय अभिनन्दन विशेषाङ्क

*Published by*
G. C. Tripathi, M.A., PH.D., DR. PHIL.
*Principal*
Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad—2
India.

Vol. XXXVII ]  JANUARY—DECEMBER 1981  [ Parts 1—4



# JOURNAL OF THE GANGANATHA JHA KENDRIYA SANSKRITA VIDYAPEETHA

*Editor*
G. C. Tripathi

*Astt. Editor*
Maya Malaviya




**Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha**
Chandrashekhar Azad Park
ALLAHABAD-2
1983

The Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha is a constituent Institute of *Rashtriya Sanskrit Sansthan,* Delhi, which is run under the auspices of the Ministry of Education and Culture, Govt. of India.

गङ्गानाथप्रसृमरयशश्चन्द्रिकाधौतहर्म्यं
कूजद्विद्वद्विहगनिवहानेकगीताभिरामम् ।
काले काले कुसुमितनवान्वेषणाऽऽमोदिताशं
विद्यापीठं जयतु जगतां भूयसे मङ्गलाय ।।

—खिस्ते-उपाह्वस्य बटुकनाथशास्त्रिणः

*Annual Subscription*

Inland : Rs. 40/-, Foreign : $ 10/-

(*including postage and registration charges for current volume*)


*Printed by*

1. P. L. Yadava at The Indian Press (Pvt.) Ltd., Allahabad (*English Matter*)
2. Upendra Tripathi at The Shakuntala Mudranalaya, Allahabad (*Hindi and Sanskrit Matter*)

## EDITORIAL NOTE

We have great pleasure in presenting to our readers this special Volume of our Journal brought out in honour of Pandit Baladeva Upadhyaya. Pt. Baladeva Upadhyaya has been associated with the Benaras Hindu University, Varanasi for a period of about 40 years to become later the Director of the Research Institute of the Sampurnanand Sanskrit University. Even now at the age of 83, he is actively engaged in academic pursuits, is the Secretary of the Kashiraj Trust, Ramnagar and the Chief Editor of the Sanskrit Journal *Purāṇam*. He still continues to read and write for many hours daily at this advanced age. Pt. Upadhyaya has produced pioneer works on the History of Vedic Literature, History of Sanskrit Literature, Indian Philosophy, Vaiṣṇavism, Bhāgavatism and Purāṇas in Hindi and not only in this language but also in other languages of India, the works composed by him remain unsurpassed even to this day.

It has been the policy of this Institute to felicitate Sanskrit Scholars for their contributions to the advancement of Sanskritic learning and to dedicate them special volumes of our Journal brought out in their honour. The Vidyapeetha has already brought out special volumes in honour of Pandit Dr. Ganganatha Jha, Mm. Pt. Umesh Mishra, Pandit Kshetresh Chandra Chattopadhyaya. Pandit Gopinath Kaviraj and Shri Aditya Natha Jha. This volume is thus sixth in the series. Since Pt. Baladeva Upadhyaya is especially fond of writing in Hindi, we have devoted almost half of this volume to the articles in Hindi language. We have also tried to shed light on the contribution of Pt. Baladeva Upadhyaya to the Indological learning and Research and have tried to apprise the scholars of the private aspect of his personality. We consider it a pious duty of a Journal to bring to light the per-

sonal and academic characteristics of such silent scholars to the public who shun public appearance and attach no importance to name and fame.

In this context we express our deep gratitude to the numerous scholars, admirers and pupils of Pt. Baladeva Upadhyaya who have whole-heartedly co-operated with us in making this venture a success. To all such scholars whose articles are included in this volume, we express our sincere thanks. We also have to apologize with the scholars whose articles, though sent timely, could not be included in this volume. It is not because that their articles are not up-to the mark but because the extent of this volume could not be further increased. We assure all such scholars that their articles shall be published in the ensuing volume which is also contemplated to be a Special Number.

The Editorial Board thanks its colleagues of academic and administrative staff which always have co-operated with us in bringing out this volume expeditiously and nicely.

*G. C. Tripathi*
*Maya Malaviya*

// JOURNAL
OF THE
GANGANATHA JHA
KENDRIYA SANSKRIT VIDYAPEETHA

Vol. XXXVII Parts 1—4 July—Dec. 1981

## CONTENTS

Page

### Section I

*Felicitations*

शुभाशिषः सन्देशाश्च

चरितम्



संस्मरणानि



## Section II

### *English Articles*

## Section III

### *Hindi/Sanskrit Articles*





आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय

# समर्पणम्

स्फुरच्छास्त्राभ्यासः सकलबुधमान्यः सुरगवी-
पयोनित्यस्नायी स्मितपरिचितस्वच्छहृदयः ।
उपाध्यायः श्रीमान् समिति बलदेवः सुमनसां
'विशेषाङ्कं' भक्त्योपहृतमिह गृह्णातु कृपया ॥

अपरपृष्ठगतस्य श्लोकस्य रचयिता—डा० जगन्नाथ पाठकः

## राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य
## निदेशकमहाभागानां
# शुभाशिषः

महदिदं प्रमोदस्थानं यद् राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानं गंगानाथझा केन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठं चेदानीं प्रातःस्मरणीयानां पण्डित-प्रकाण्डानां श्रीमतां श्रीबलदेव-उपाध्यायमहोदयानां समर्चनया पुनाति आत्मानम्। प्राचार्यवर्याः श्रीगयाचरणत्रिपाठिनो नूनमेतदर्थं वर्धापनार्हाः।

परमपावने संगमक्षेत्रे विद्यापीठमिदमवतिष्ठते। प्राच्य-प्रतीच्यविद्यावदातानां महायशसां गंगानाथझाशर्मणाममूर्त्तस्य यशःशरीरस्यामरस्येयं विहारस्थली। सर्वथा समुचितमिदं सर्वथा चैतद्विद्यापीठोज्ज्वलपरम्परानुरूपमिदं यत् स्वनामधन्यानां विद्या-विनयजंगमसंगमानां श्रीबलदेव-उपाध्यायमहोदयानामभिनन्दनं लक्ष्यीकृत्य विद्यापीठशोधपत्रिकाविशेषाङ्कः प्राकाश्यमेति। विशेषाङ्कोऽयं कल्पतां प्रसाराय भारतीयविद्यानां भारतीयसंस्का-राणां सुरभारतीविलासानां चेत्याशास्ते श्रद्धाप्रसूनसमर्पणालालसः

—रामकरण शर्मा

स॒क्तुमि॑व॒ तित॑उना पु॒नन्तो॒

यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त ।

अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि॑ जानते

भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्निहि॒ताधि॑ वा॒चि ॥

—ऋग्वेद १०।७१।२

# सन्देश

*डा० श्री विभूति नारायण सिंह*
काशीनरेश

दुर्ग रामनगर, वाराणसी
१० अगस्त, १९८२ ई०

यह अत्यन्त उपयुक्त तथा उचित है कि प्रयाग स्थित प्रसिद्ध शोध संस्थान गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के द्वारा भारत के मूर्धन्य संस्कृतज्ञ पण्डित बलदेव उपाध्याय का सम्मान उनके नाम से अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर किया जा रहा है। यह भी एक घटनाक्रम का सुसंयोग ही है कि डा० गङ्गानाथ झा के प्रशंसापत्र के द्वारा ही उपाध्याय जी ने शैक्षणिक जगत् में प्रथम प्रवेश किया और उन्हीं डा० गङ्गानाथ झा के नाम पर स्थापित शोध संस्थान वार्धक्य में उनका अभिनन्दन कर रहा है। उपाध्याय जी ने हिन्दी में संस्कृत वाङ्मय विशेषकर इतिहास और दर्शन जैसे गूढ़ साहित्य को विद्वत्समाज के लिए सुलभ किया। यह विगत साठ वर्षों की उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसके पूर्व यह सुविधा केवल अंग्रेजी भाषा के जानकार लोगों को ही सुलभ थी। उपाध्याय जी के ये ग्रन्थ इतने सुविचारित तथा उपादेय हैं कि इन ग्रन्थों के अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुए हैं।

उपाध्याय जी का ग्रन्थ-लेखन की अपेक्षा अध्यापन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जिस समय इनकी नियुक्ति काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के संस्कृत तथा पालि विभाग में हुई उस समय विश्वविद्यालयों में संस्कृत की प्रतिष्ठा उतनी नहीं थी और विद्यार्थी संस्कृत विषय लेने में हिचकते थे। परन्तु उपाध्याय जी के अध्यापन कौशल—सरस और सारगर्भित व्याख्यानों—से छात्र इतने प्रभावित हुए कि न केवल संस्कृत में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी अपितु संस्कृत के प्रति विश्वविद्यालयों में सम्मान भी बढ़ा। उनके असंख्य शिष्यों का समाज सम्पूर्ण देश में उनकी कीर्तिकौमुदी को फैला रहा है। उनके अध्यापन-कौशल और पाण्डित्य से मैं भी व्यक्तिगत रूप से परिचित तथा प्रभावित हुआ हूँ।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी उपाध्याय जी का सम्बन्ध सर्वभारतीय काशिराज न्यास से प्रारम्भ से ही रहा है और न्यास के कार्यक्रमों में वे समय-समय पर सक्रिय सहयोग देते रहे हैं। न्यास के प्रकाशनों का वे विधिवत् अवलोकन करते रहे हैं जिसका प्रमाण उनका ग्रन्थ 'पुराण-विमर्श' है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि सम्प्रति वे सर्वभारतीय काशिराज न्यास के न्यासीमण्डल के एक प्रतिष्ठित न्यासी हैं।

बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना है कि इस वार्धक्य में भी पण्डित जी को स्वस्थ तथा प्रसन्न रखें जिससे वे संस्कृत-वाङ्मय की अविच्छिन्न रूप से सेवा करते रहें।

विभूति नारायण सिंह

*डा० सुरति नारायण मणि त्रिपाठी*
भू० पू० उपकुलपति, संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

**९-डी०, सिविल लाइन्स**
**गोरखपुर**

यह जानकर कि गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद आचार्यप्रवर बलदेव उपाध्याय को एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित कर रहा है बड़ी प्रसन्नता हुई। यह ग्रन्थ समर्पण एक योग्य, संस्कृत निष्ठ, विद्वान् का समुचित समादर है।

आचार्यप्रवर उपाध्याय जी का नाम तो पहले ही से सुन रखा था, किन्तु मेरी पहली भेंट उनसे तब हुई जब मैं काशी में १९६१ में संस्कृत विश्वविद्यालय का कुलपति (उस समय उपकुलपति) होकर गया। मेरे कार्य-भार ग्रहण करने के कुछ ही काल बाद संस्कृत विश्वविद्यालय में पुराणेतिहास विभाग में प्राचार्य और विभागाध्यक्ष का स्थान रिक्त हुआ और चयन समिति ने सर्वसम्मति से उपाध्याय जी का नाम संस्तुत किया जिसे कार्य परिषद ने सहर्ष स्वीकार किया। उपाध्याय जी ने इस पद की गरिमा और उत्तरदायित्व को बड़ी योग्यता और निष्ठापूर्वक निबाहा। उपाध्याय जी का भव्य व्यक्तित्व पहले ही साक्षात्कार में अमिट छाप डाल देता है। उपाध्याय जी निर्भीक, स्पष्टवादी, हंसमुख और एक जागरूक व्यक्ति हैं। जो भी काम इनके सुपुर्द किया जाता है, बड़े मनोबल से सम्पादन करते हैं। संस्कृत साहित्य और हिन्दी साहित्य की इन्होंने बड़ी सेवा की है। इनका साहित्यिक कार्य सदा अनु-सन्धानात्मक रहा है।

मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि वे उपाध्याय जी को स्वस्थ रखें और शतायु करें जिससे उपाध्याय जी समाज और साहित्य की सेवा जीवन-पर्यन्त करते रहें। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

**सुरति नारायण मणि त्रिपाठी**

॥ श्री विश्वनाथो विजयते ॥

आचार्य बदरीनाथ शुक्लः
भू० पू० कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

बी० २-२३७ भदैनी
वाराणसी

प्रिय श्री त्रिपाठी

महामनीषी श्री बलदेव उपाध्याय को अभिनन्दन ग्रंथ अर्पित करने के आपके संकल्प से आपके प्रति मेरे मन में नये स्नेह और सम्मान की वृद्धि हुई है। इस स्तुत्य कार्य के लिए आप मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

पण्डित श्री बलदेव उपाध्याय वर्तमान युग के उन महान मेधावी पुरुषों में आदर के साथ गणनीय हैं जिन्हें नवीन साहित्यिक युग का स्रष्टा कहा जा सकता है। उपाध्याय जी के ग्रन्थों से वेद, उपनिषद्, पुराण, तन्त्र, दर्शन, भाषाविज्ञान और काव्य साहित्य के विशिष्ट पाण्डित्य का स्पष्ट अवबोध होता है।

उनके ग्रंथ केवल संग्रहात्मक न होकर, उनके अपने अनेक महत्त्वपूर्ण चिन्तनों से भरे हुए हैं। उनकी भाषा, शैली और तत्त्वबोध अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। उनकी विद्वत्ता को सुजनता, आस्तिकता और चारित्रिक उदात्तता का मञ्जुल सामञ्जस्य प्राप्त है।

विद्वानों के प्रति सौहार्द्र और विद्यार्थियों के प्रति पुत्र-वात्सल्य उनके अद्‌भुत गुणों में समाविष्ट किये जा सकते हैं। ऐसे सन्त विद्वान् का, जिसकी लेखनी अविश्रान्तभाव से वर्षों से साहित्य रचना में लगी हुई है, अभिनन्दन करना, अत्यन्त पावन अनुष्ठान है।

इन शब्दों के साथ उन्हें मेरा विनयपूर्ण अभिवादन समर्पित है।

भवदीय
बदरीनाथ शुक्ल



*श्रीनारायण चतुर्वेदी*

५३, खुर्शेद बाग
लखनऊ-४

मान्यवर त्रिपाठी जी,

यह जान कर परम प्रसन्नता हुई कि आचार्य बलदेव उपाध्याय अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन का आयोजन हो रहा है। उनके समान महान् विद्वान् और साहित्य की श्री-वृद्धि करने वाले मनीषी का अभिनन्दन कर हम लोग वास्तव में हिन्दी और संस्कृत का तथा अपना ही गौरव बढ़ायेंगे।

मैं अब ८९ वर्ष को समाप्त कर रहा हूँ। शिथिल तो हो ही गया हूँ, आँखों में मोतियाबिन्द के कारण अभ्यास और अनुमान से पत्रादि लिख लेता हूँ। अपना लिखा ही पढ़ने में कठिनाई होती है। फिर आचार्य जी के समान महान् विद्वान् के कृतित्व पर मेरा ऐसा अल्पज्ञ यदि कुछ लिखने का प्रयत्न करे तो वह एकदम अनधिकार चेष्टा और धृष्टता होगी। मैं तो इस अवसर पर उनके महान् कृतित्व, प्रकाण्ड पाण्डित्य, हिन्दी साहित्य की अपूर्व श्रीवृद्धि करने के महान् कार्य और उनके सरल एवं सरस व्यक्तित्व के प्रति केवल अत्यन्त विनम्रता से अपनी श्रद्धा और सराहना के शब्द-सुमन ही अर्पित कर सकता हूँ।

विनीत
**श्रीनारायण चतुर्वेदी**

*आचार्य प्रियव्रत शर्मा*

**वाराणसी**

आचार्य बलदेव उपाध्याय भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति हैं। उनकी सौम्य मुखमुद्रा एवं भारतीय परिधान से प्राचीन परम्परा के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा प्रकट होती है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय के समुद्र से अनेक अनमोल रत्नों के अधिकार एवं प्रस्तुतीकरण में आपने अपनी समग्र विद्वत्ता तथा प्रतिभा का पूर्णतः उपयोग किया। वैदिक वाङ्मय, पुराण, दर्शन, साहित्य सभी आपके कार्यक्षेत्र की परिधि में आते गये और अपने गंभीर मनन-चिन्तन के द्वारा उनमें से सारामृत का आलोडन कर आपने जिज्ञासुओं की पिपासा को शान्त किया।

आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने अकेले जितने विशाल एवं महत्त्वपूर्ण वाङ्मय का सृजन किया है वह एक व्यक्ति द्वारा नहीं बल्कि एक संस्था के द्वारा साध्य है। इस अर्थ में आप एक विशाल संस्था के ही प्रतिरूप हैं। अपने जीवन में वाङ्मय सृजन के अतिरिक्त आपने सैकड़ों-हजारों विषयों का अध्ययन किया जो देश-विदेश में आपके यश का विस्तार कर रहे हैं तथा आपके अनेक शिष्य उच्च पदों पर देश की सेवा कर रहे हैं। इस प्रकार 'अधीतमध्यापित-मर्जितं यशः' इन सभी अर्थों में आचार्य जी का जीवन सफल रहा है। अभी भी अश्रान्त भाव से आप चलते जा रहे हैं एक दूरवर्ती लक्ष्य की ओर, उपनिषदों के 'चरैवेति' मन्त्र को हृदयंगम किये।

ऐसे सरस्वती-तीर्थ के यायावर, महामनीषी, भारती के अश्रान्त साधक आचार्यजी का शतशः अभिनन्दन करता हूँ कि वह उन्हें दीर्घजीवन प्रदान करे जिससे आप समाज को अन्य अनेक ज्ञानरत्न उपहृत कर सकें।

भवदीय

**प्रियव्रत शर्मा**



# श्रद्धाप्रसूनम्

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रज्ञामन्दरसाधनेन सुचिरं निर्मथ्य विद्याम्बुधीन्
उद्धृतैस्तिमिरापहैर्मणिगणप्रख्यैः प्रबन्धैर्नवैः ।
वाग्देव्याः सकलाङ्गमण्डनविधौ बद्धावधानः सुधी-
राचार्यो बलदेव इत्युदयते वाराणसीमण्डनः ॥१॥

निस्तन्द्रा नवलेखगुम्फनविधौ यल्लेखनीवल्लरी
सूते नूतननूतनानि कुसुमान्यामोदयन्ती दिशः ।
विद्वद्वृन्दमनोविनोदनपरा वाग्देवतावाटिका—
मध्यस्था वयसाऽधिकाऽपि सततं तारुण्यमारोहति ॥२॥

अज्ञातान् बहुशो विशेषविषयान् विज्ञापयन्ती धिया—
मध्वानं परिशोध्य बोधसुषमां सम्प्रापयन्ती मुहुः ।
विद्वद्वृन्दशिखामणेरविरतग्रन्थावलीनिर्मितिः
साश्चर्यं सकुतूहलं सविनयं सर्वैः समभ्यस्यते ॥३॥

काशीपण्डितमण्डलीपरिचयप्राप्तप्रगल्भोल्लसद्
वैदुष्यश्रियमाप्य शिष्यनिवहे तां वर्धयन्नन्वहम् ।
स्वाध्यायैकरतिर्विकस्वरतरोपाध्यायवंशांशुमान्
आचार्यः सुखमेधतां क्षितितले बालेन्दुमौलेर्दृशा ॥४॥

तस्याऽस्मिन्नभिनन्दनोत्सवनवग्रन्थावतारे मिल—
न्नानालेखविचित्रिते कृतधियां वैदुष्यपोषावहे ।
श्रद्धामात्रसमुद्गतं किमपि मे वाक्पुष्पमास्तां विदा-
मामोदाय सरस्वती रसवती जीव्यात्सहस्रं समाः ॥५॥



# "आदर्शाणां प्रभापुञ्जः"

डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदः

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आचार्यप्रवरं तं वन्दे विद्याचमत्कारम् ।
विदुषामपि गुरुवर्यं मान्यानां माननीयतमम् ॥१॥

यन्नामाक्षरमाला संस्कृतसंघे विलासमायाता ।
विमुखमतीनपि निखिलान् विद्याभक्तान् समातनुते ॥२॥

विद्वत्प्रवरे नित्यं यशोवितानैर्विभासिते दिव्ये ।
विलसति संस्कृतशोभा हर्षोल्लासैः प्रकाशिता भव्या ॥३॥

विद्वद्वरैर्विरचिता ग्रन्थाः शुभ्रप्रभावपरिपूर्णाः ।
विश्वस्मिन् विद्यायाः प्रभाविलासं वितन्वन्ति ॥४॥

अविरतगत्या गुरुरयममलां स्वीयां सुलेखिनीं रुचिराम् ।
नवनवभावविलासैर्दीप्तिमतीमद्य चालयति ॥५॥

इतिहासे साहित्ये दर्शनशास्त्रे चरित्रलालित्ये ।
आगम-निगमविभेदे ग्रन्थास्तेनेह संरचिताः ॥६॥

सारस्वतसाम्राज्यं यावत्कालं समातन्वन् ।
गुरुवर्योऽयं नितरामादर्शाणां प्रभापुञ्जः ॥७॥

वाराणस्यामस्यां सर्वैर्देवैर्विलसितायाम् ।
जङ्गमदेवो विमलः श्रीबलदेवः प्रणम्यते सर्वैः ॥८॥

# प्रशस्ति-गीतिः

रतिनाथ झाः

वाराणसी

यद् भूमीतलवैभवं यदखिलक्लेशापहं यत् स्थिरं
यत् सर्वार्थसमर्पणेऽतिनिपुणं यद् सौमनस्यं श्रियः।
यल्लोकोत्तरसत्फलेन सुभगं यद् भुक्तिमुक्तिप्रदं
तज्ज्योतिस्तमसः क्षयाय मनसः सारस्वतं धीमहि ॥१॥

पीता नो मदिरा कदापि, न तनुर्नीलाम्बरेणावृता
न स्कन्धे निहितं हलं न मुसलं हन्तुं परानुद्धृतम्।
नो वा मन्मथलीययैव लसितं तारुण्यमास्वादितं
भूयः श्रीवलदेव एव विबुधाधीशोऽधुना राजते ॥२॥

भालं कुङ्कुमबिन्दुभूषितमनायासं सहासं मुखं,
सोष्णीषं च शिरः, करोऽतिनिरतः सल्लेखनीचालने।
अश्रान्ता मतिरुज्ज्वला नवनवोन्मेषोत्सवा चिन्तने
कर्मण्यो विबुधार्चितो विजयते सोऽयं सुधीन्द्रो महान् ॥३॥

कायं नास्पृशदामयो, न हृदयं चिन्तानलोऽदीदहत्,
न प्रत्यूहपरम्परा व्यघटयत् सत्कर्मसम्पादनम्।
नव्यं नव्यमतीवभव्यरचनासङ्कल्पपूर्त्तिप्रथा-
पाण्डित्यं, न कदाचिदस्य समयं मोघं चकार क्षणम् ॥४॥

मुद्रा मुद्रणकर्मणा निजनवग्रन्थाकरस्यार्जिता
वर्धन्ते प्रतिवासरं सुरगवीसेवार्थमेवार्पिताः ।
लक्ष्मीकीर्तिसरस्वतीप्रभृतयो देव्योऽनुरक्तात्मना
सेवन्ते निभृतं कलाविलसितं धीमन्तमेनं सदा ॥५॥

यस्याध्यापनकौशलेन विजितो वाचस्पतिः स्वर्गतो
व्याख्यानाच्च बिभेति वाग्मितिलको भूमीतलस्याञ्चले ।
सद्भाषात्रितयी त्रयीव वदनान्निःष्यन्दमाना विदां
श्रोत्रद्वारमुपेत्य साधु हरते सान्द्रान्धकारं हृदः ॥६॥

शिष्या यस्य परः शताः प्रतिदिशं तन्वन्ति बोधत्विषं
ग्रन्थाश्चापि समादृता मतिमतां छिन्दन्ति मोहं धियः ।
वाणी यस्य निराकरोति नितरां मुग्धां सुधामाधुरीं
सत्कीर्तिर्धवलीकरोति धरणीं, सोऽयं जयत्युन्नतः ॥७॥

साहित्ये रसमेदुरे गुणवति प्रोद्यत्प्रभावाञ्चिते-
ऽलङ्कारप्रभयोज्ज्वलीकृतवपुष्यौचित्यचर्चोर्जिते ।
निर्दोषे वरवक्रताविलसिते कल्याणकल्पद्रुमे
शश्वन्निर्मलजीवनेन भवता मूलं भृशं सिच्यते ॥८॥

सर्वं संस्कृतवाङ्मयं नवनवैर्व्याख्याय सत्पुस्तकै-
र्जिज्ञासोः करयोर्व्यधायि भवता रत्नप्रदीपोऽद्भुतः ।
यस्यासाद्य तमोनिवारणपरामालोकमालां स्फुटां
गाहन्तेऽखिलशास्त्रकाननमतिक्षीणा अपि प्राणिनः ॥९॥

एकः कोऽपि तथाविधो न लिखितो ग्रन्थोऽमुना धीमता
यो नेहास्ति पुरस्कृतोऽर्थनिचयैर्नो वार्चितः संविदा ।
छात्राणां विदुषां गवेषणवतामालोचकानां मुदं
तन्वन् राजति हर्षवर्धनकरो विद्यावतां प्राणदः ॥१०॥

रागद्वेषपरायणेऽत्र भुवने प्रापञ्चिकीं प्रक्रियां
प्रोत्सृज्यामरभारतीपदमनुध्यातुं गृहीतव्रतः ।
दातुं संविदमार्जवेन मनसो लोकाय शोकापहां
देशेऽस्मिन् विपुले भवानिव भवानेकोऽधुना भ्राजते ॥११॥

सौजन्ये, विनये, नये, प्रवचने निर्देशने धीमतां
पाण्डित्ये, सुकृतोर्मिमेदुरगिरामुद्दाममोदार्पणे ।
दाक्षिण्ये, प्रणये, समस्तविबुधव्रातोदयाशंसने,
नान्यः कोऽपि भवादृशोऽधिभुवनं कुत्रापि संदृश्यते ॥१२॥

संख्यातीतमहार्हरत्ननिकरैरुद्भासितो वाङ्मय-
क्षीराब्धिर्भवताऽधुनाधिधरणि प्रासारि संविन्मयः ।
सर्वाश्चर्यकरेण भव्यविधिनाऽगस्त्यो मुनिर्निर्जितः
पीतस्तेन पयोनिधिः पुनरहो ! स्फारीकृतोऽसौ त्वया ॥१३॥

गृह्णन्नक्षररत्नमन्वहमृणं त्वत्तोऽधमर्णीकृतः
सम्मानादिसमर्पणेऽपि लभते मुक्तिं न विद्वद्गणः ।
निःशेषं परिपीतघोरतमसः पूर्णोपकारं रवेः
कश्चित् प्रत्युपकर्त्तुमर्हति जनः किं दीपकस्यार्पणात् ॥१४॥

ऐतिह्येऽथ गिरो गरीयसि, शुभाम्नाये षडङ्गाश्रिते,
कामं दुर्गमदर्शनेऽति विशदे पौराणिके वाङ्मये ।
शास्त्राणामवनेऽथ काव्यविषयस्यालोचनोपक्रमे,
दुर्बोधे बत नास्त्यशास्त्रमहिमोद्गारेऽस्ति कस्त्वादृशः ? ॥१५॥

गाम्भीर्ये मदमम्बुधेर्गिरिवरस्योत्तुङ्गशृङ्गोच्चता-
मौन्नत्ये, शकलीकरोति यशसा यः पूर्णचन्द्रश्रियम् ।
माधुर्ये त्वधरीकरोति वचसां द्राक्षां सितां माक्षिकं
सौजन्ये स बिभर्ति सर्वविबुधाधीशार्हणां निश्छलाम् ॥१६॥

पात्रं हन्त ! तदेव राजतमयं, स्वच्छा दशाप्युत्तमा,
किन्तु स्नेहसमर्पणेऽतिकृपणैः खद्योतितो दीपकः ।
आलोकाय शिखामशेषतिमिरध्वंसाय कर्त्तुं नवां
यस्य प्रेरणयार्पयन्ति विबुधाः स्नेहामृतं, तं नुमः ॥१७॥

यत् सुस्वादुरसायनं यदमृतं यच्चारुचन्द्रोज्ज्वलं
यत् स्निग्धं मधुरं यदाज्यललितं यत्सर्वलोकस्तुतम् ।
यन्मङ्गल्यमनाविलं यदतुलं यद्वन्दनीयं गुणै-
र्हा तत् पित्तलपात्रसङ्गनिहितं दध्यद्य संरक्ष्यताम् ॥१८॥

उद्दीप्यत्यघसम्प्लवेऽथ शिथिलप्राये सतां मानसे,
लुप्यच्चारुतरे नितान्तरुचिरे चारित्र्यचामीकरे, ।
सर्वत्र प्रसरत्प्रगाढतिमिरे, व्यर्थीभवत्यक्षिणि,
प्राणानां परिरक्षणे सुरगिरस्त्वं त्वादृशो दृश्यसे ॥१९॥

सदैव स्वाध्याये निरतमुरुसद्ग्रन्थरचने
कृतारम्भं सम्भावितममलसंरम्भमहितम् ।
स्वभाषां सम्भासा ललितललितां कीर्तिकलितां
वितन्वन्तं वन्दे बुधवरमुपाध्यायचरणम् ॥२०॥

नित्यं नूतनतत्त्वबोधनपरैरावश्यकैः पुस्तकैः
स्वान्तध्वान्तनिवारणे सुपटुभिर्विद्यानुरक्तात्मनाम् ।
श्रेयांसि प्रथयन् भवान् सुमनसामामोदमुद्वर्धयन्
प्रीत्या वर्षशताधिकं सुखमयं जीव्याज्जनाभ्यर्चितः ॥२१॥

# आचार्य श्री बलदेवउपाध्यायः .

## यथाहमेनं जाने

*डा० जयमन्तमिश्रः*

**दरभंगा**

आचार्यप्रवरं पण्डितवरं स्वनामधन्यं श्रीवलदेवोपाध्यायं न केवलं भारतीयाः संस्कृतप्रणयिनः विद्वांसः शिक्षकाश्छात्राश्च जानते, अपितु वैदेशिका अपि प्राच्यविद्याविशारदा विजानतेतराम् । महाभागस्यास्य अनेकानि संस्कृतशास्त्र-दर्शन-साहित्य-सम्बद्धानि पुस्तकानि विश्वस्मिन् विलसन्ति यानि समधीत्य जना-विशेषतो विजानते परिचिन्वते चैनम् ।

खिष्टीयद्वाचत्वारिंशे सम्वत्सरे वाराणसेय-राजकीय-संस्कृत-कालेजीय-शास्त्रि-परीक्षायां निर्धारितम् संस्कृत-कविचर्चा नामकं पुस्तकं समधीतं मया ज्ञातञ्च उपाध्याय-महोदयस्य संस्कृत-कवि-काव्य-सम्बन्धि-विपुलं-ज्ञानम् । सरलसुललित-भाषया विषयोपस्थापननैपुण्यञ्च एतदीयमतिप्रशंसनीयम् । तदनन्तरमदसीयं-समधीतं प्रसिद्धसंस्कृत-कवि-काव्य-संक्षिप्तपरिचयात्मकं संस्कृतवाङ्मयम् ।

ततश्चाभ्यवर्षन्-उपाध्याय- गभीर- ज्ञान- महासागर- गृहीत- प्रज्ञाम्बुराशिधरात् भारतीयदर्शन-बौद्धदर्शनमीमांसा-भारतीयकाव्यशास्त्र-संस्कृतसाहित्येतिहास-वैदिकसाहित्य-संस्कृति-भारतीयधर्मदर्शन- पुराणविमर्श-महाकविभासाध्ययन-वैष्णवसम्प्रदाय -साहित्यसिद्धांत- संस्कृतशास्त्रेतिहास-सूक्तिमञ्जरी - सुकविसमीक्षा - धारा - भारतीय - दर्शन-धर्म-संस्कृति-पुराण-साहित्यादिज्ञान-पिपासु-तृप्तिकराः ।

श्रीमान् उपाध्यायमहोदयः आचार्यप्रवर-इति तत्परिचितजनाः सर्वे विजानन्ति । 'आचार्यः आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा' इति यास्कीया आचार्यपदनिरुक्तिः[1] एतस्मिन् महाभागे सर्वथान्वर्थतां याति । महाभागोऽयं

---

१. निरुक्ते—१. २. २. ।

स्वसम्पर्किणो नूनमेव आचारं ग्राहयति । तेषां बुद्धिमाचिनोति-अनुकृष्य एकत्र लगयति तस्मान्निश्चितोऽयमाचार्यः ।

संस्कृतवाङ्मयपरिशीलनपरिपक्वबुद्धेरुपाध्यायमहोदयस्य विविधां संस्कृत-सेवां समवलोक्य भारतसर्वकारः ससम्मानमेनं पुरस्कृत्य सम्मान्येनानेन स्वसम्मानमेव सम्मानितवान् ।

विदेशमन्त्रालयान्तर्गतभारतीयसहयोगनियोगे नेपाले काष्ठमण्डपे (काठमाण्डुनगरे) त्रिभुवनविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे प्राचार्यपदे कार्यं विदधता मया तद् विश्वविद्यालयीय-कार्यसम्पादनाय श्रीमान् उपाध्यायमहोदयः तत्र अनेकवारमामन्त्रितः । श्रीपशुपति-दर्शनं-चिकीर्षता मयि स्निह्यता च उपाध्यायमहाभागेन तत्र ममावासे सकृपमवस्थाय अनुग्रहः कृतः । तेष्ववसरेषु अतिसमीपतः महानुभावस्यास्य आचारं विचारं वैदुष्यं प्रति-पादन-शैलीं शिशुभिः सह प्रमोदावहां परिहासविजल्पन् सरणिञ्चावगत्य श्रद्धावन-तोऽभूवम् । अधुनापि कथाप्रसङ्गे अस्मत् परिवारसदस्यैः अवसरास्ते समोदं समनुस्मर्यन्ते ।

एकस्मिन्नवसरे त्रिभुवनविश्वविद्यालये विद्वत्समाजे संभाषमाणेन उपाध्याय-महाभागेन पुराणीयप्रह्लादोपाख्यानरहस्यं समुद्घाटि । हिरण्यकशिपोः अति-समृद्धि-शालिन एव प्रासादे प्रह्लादः समुदेति नाकिञ्चनस्य गृहे । यदि नाम सार्वजनिकं तं प्रह्लादं हिरण्यकशिपुः केवलं स्वीयमेव कर्तुमिच्छति तदा प्रह्लादेन सह विद्रोहो जायते इति प्रकारान्तरेण सम्यगवबोधयता उपाध्यायमहोदयेन तत्रत्यश्रोतृ-समाजश्चमत्कृतः ।

द्वितीयस्मिन्नवसरे तत्रैव भाषमाणेन उपाध्यायमहाभागेन जामातृणा-पशुपतिना सह श्वशुरस्य दक्षप्रजापतेर्विरोधस्य रहस्यं समुद्घाटयता प्रत्यपादि—दक्षेण (कुशलेन) प्रजापतिना सर्वजनकल्याणकरेण भाव्यम् । तेन सार्वजनिकयज्ञे न केवलं देवा देवर्षयो वा आमन्त्रणीयाः, अपितु पशुपतिः सर्वजनशङ्कर शङ्करोऽपि आमन्त्रणीयः । तेन तथा न कृतम् । अतएव यज्ञविध्वंस इति तद् भाषणस्य श्रवणं मननञ्च विधाय विलक्षणां प्रतिपादनशैलीं समवलोक्य श्रोतारश्चमत्कृता अभूवन् ।

आचार्यपण्डितश्रीबलदेवोपाध्यायाभिनन्दन-सारस्वत-यागोऽयं जायतां जगन्मङ्ग-लाय विद्वत्समाज-कल्याणाय चेति शम् ।

# संस्कृतप्रचारक्षेत्रे मम प्रेरणादातारः

*वासुदेव द्विवेदी शास्त्री*

**वाराणसी**

सर्वविधसुखसौविध्यसाधनीभूते वित्तार्जने सहायकानि सर्वाण्यपि सेवादिकर्माणि परित्यज्य, गृहं परिवारञ्च उपेक्ष्य केवलं सुरभारतीसेवायां या मयि प्रवृत्तिरुत्पन्ना तत्र द्वयोर्विदुषोर्व्यक्तित्वमहं प्रधानं कारणं मन्ये। तत्र एकं व्यक्तित्वं दिवङ्गतानां महामहोपाध्यायश्रीगिरिधरशर्मचतुर्वेदिमहोदयानां तथा द्वितीयं च एतद्ग्रन्थद्वाराअभिनन्दनीयानां श्रीमदाचार्यबलदेवोपाध्यायमहोदयानां वर्तते। एतयोः श्रीचतुर्वेदिमहोदयानां व्यक्तित्वस्य प्रभावो मम प्रारम्भिकछात्रावस्थायामेव सञ्जातो यदा जयपुरस्य एकस्यां विद्वत्सभायां मया सर्वप्रथमं तेषां दर्शनं कृतं भाषणञ्च आकर्णितम्। ततः प्रभृत्येव मम हृदये संस्कृतसेवां प्रति निष्ठा जागरिता, एतस्मिन्नेव च पुण्यकर्मणि जीवनं यापयितुं दृढो निश्चयो विहितः। परन्तु संस्कृतप्रचारोपयिकानां कर्तव्यानां निर्धारणं तदुपयोगिसाधनसम्पादनविषये च या प्रेरणा प्राप्ता, यः प्रकाशो लब्धः या च काचित् सफलताऽधिगता तत्र माननीयानां श्रीमदाचार्योपाध्यायमहोदयानां व्यक्तित्वमेव मम परमं सहायकमभूदिति मे सुनिश्चितो विचारः। न केवलं वाराणसीनिवासकाले तेषां सम्पर्केण संस्कृतसम्बन्धिनीभिर्विविधचर्चाभिस्तथा तदीयनिबन्धानामध्ययनेनैव प्रत्युत विभिन्नप्रदेशीयसंस्कृतसम्मेलनानामनेकेषु आयोजनेष्वपि तैः सह गमनेन, अवस्थानेन, नानाविधकाव्यशास्त्रचर्चया च मदीये ज्ञाने, उत्साहे कर्तृत्वे च सुमहती अभिवृद्धिर्जातेति महान्तमुपकारमहं मन्ये माननीयानामुपाध्यायमहोदयानाम्। एतदतिरिक्तं मम संस्कृतभाषासाहित्यसंस्कृतिविषयकज्ञानवर्धनाय अनेकवारं बहवो दुर्लभग्रंथा अपि सस्नेहं प्रदत्ता ये मम संस्थायाः पुस्तकालयस्य गौरवं वर्धयन्ति बहूनां शोधच्छात्राणां च जिज्ञासापूर्तौ सहायका भवन्ति।

माननीयानामुपाध्यायमहोदयानां सुदीर्घकालात् परिचयेन तेषां स्नेहातिशय-लब्धेन सम्पर्कातिशयेन च तत्सम्बद्धानि सुबहूनि संस्मरणीयवृत्तानि मम स्मृतिपथे विराजन्ते परं सम्प्रति दुर्दैववशात् मस्तिष्कगतविकारग्रस्ततया अधिकं लिखितुमशक्यत्वादेतावदेव तेषां श्रीचरणयोरर्पयित्वा विरमामि ।

एभिः कतिपयवर्णैः श्रद्धासम्मानभक्तिभरितानि ।
श्रीमत्पदपङ्कजयोः शतशतमभिवन्दनानि विदधामि ।।

# आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय

## जीवन परिचय

डा० विशुद्धानन्द पाठक

काशी विश्वविद्यालय

वाराणसी

मध्यकालीन भारत के प्रसिद्ध संस्कृत कवि राजशेखर को इस बात का गर्व और आत्मसन्तोष था कि वे कन्नौजराज प्रथम महेन्द्रपाल के 'गुरु' और 'उपाध्याय' थे—

**रहुउलचूडामणिणो महिन्दवालस्स को अ गुरू ।**
**बालकई कइराओ णिब्भरराअस्स तह उवज्झाओ ।।***

प्रस्तुत लेखक को इस बात का गर्व और संतोष है कि उसे आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय जी जैसा अपने छात्र-जीवन में एक 'गुरु' और 'उपाध्याय' प्राप्त हुआ। सभी अर्थों में गुरु और उपाध्याय।

उपाध्याय जी का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के सोनबरसा नामक गांव में वि० सं० १९५६ की आश्विन शुक्ल द्वितीया को हुआ था। ईसा संवत् की गणना से वह तिथि १० अक्टूबर सं० १८९९ बैठती है। उपाध्याय जी के पिता पं० रामसुचित उपाध्याय और उनकी माता श्रीमती मूर्ति देवी पण्डिताई की पारिवारिक परम्पराओं के बीच जन्मे और पले थे। पण्डित रामसुचित उपाध्याय वैष्णव परम्परा के एक निष्णात कथावाचक थे, जिनकी कथाओं में श्रोता के रूप में बचपन से ही पण्डित बलदेव जी भी जाया करते थे। भागवतपुराण का दशमस्कन्ध पण्डित जी के पिता को बड़ा प्रिय था, जिसे सुन सुनकर उनकी भी रुचि उसमें प्रारम्भ से ही बलवती हो गयी। उनके पितृव्य श्री पं० रामउदित उपाध्याय भी

---

* कर्पूरमंजरी, प्रथम ५ और ९।

संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और पास के ही एक प्रसिद्ध एवं विशाल आयत्त वाले नगवा नामक गाँव में स्थित ताहिरपुर के राजा की कोठी में भारतधर्ममहामण्डल की ओर से चलायी जाने वाली ब्रह्मचर्याश्रम नामक संस्कृत पाठशाला के अध्यापक थे। अतः इन सारी पारिवारिक परम्पराओं का वालक बलदेव जी पर गहरा प्रभाव पड़ा।

आचार्य जी की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के ही प्राइमरी स्कूल में हुई। उनका गाँव सोनबरसा (बिहार) के डुमराँव राज्य की रियासत में पड़ता था। उस समय वह रियासत 'कोर्ट आफ् वार्ड्स' के अधीन चली गयी थी, जिसके 'रिसीवर' के रूप में एक ऐंग्लो-इण्डियन प्रबन्धक वहाँ प्रायः आया-जाया करता था। उस प्रवन्धक ने इस गाँव के प्राइमरी स्कूल में होने वालीं शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने हेतु, वहाँ प्राइमरी स्तर में ही अँग्रेजी पढ़ाने के लिये गाँव के ही एक मुन्शी जी को नियुक्त कर दिया, जो पेशे से मुख्तार थे और उस प्रवन्धक के मित्र तथा परिचित थे। इस प्रकार यह सौभाग्य ही की वात थी कि उपाध्याय जी को अपने छात्र जीवन की प्राथमिक सीढ़ियों पर ही अँग्रेजी के प्रारम्भिक ज्ञान का अवसर सुलभ हो गया। संस्कृत की परम्परा पारिवारिक विरासत में प्राप्त हुई ही थी। उपर्युक्त स्कूल में हिन्दी की जो शिक्षा दी जाती थी वह भी उत्तम कोटि की थी।

अपनी अपर प्राइमरी परीक्षा गाँव के स्कूल से उत्तीर्ण कर चुकने पर बालक वलदेव जी अपने पितृव्य श्री पं० रामउदित उपाध्याय द्वारा काशी लाये गये और १९१९ ई० में एक वर्ष तक वे पाण्डेय हवेली में स्थित बंगाली टोला हाई स्कूल के छात्र रहे। स्कूल का कार्य कर चुकने के बाद घर पर जो समय बचता था, उसमें चाचा जी उन्हें संस्कृत की **लघुकौमुदी** पढ़ाया करते थे। इस प्रकार उन्हें पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों ही परम्पराओं की विद्यायें प्राप्त होने लगीं। किन्तु काशी का यह प्रवास अल्पकालिक ही रहा। वे पुनः घर की ओर वापस लौट गये और ७वीं से ९वीं कक्षा तक की उनकी पढाई बलिया जिला सरकारी स्कूल में हुई। वहाँ प्रारम्भ में ही उन पर दृष्टि पडी बलिया के एक अन्य विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित शिवानन्द मिश्र की। मिश्र जी बलिया के पण्डित समाज में अग्रणी थे और अँग्रेजों के कृपापात्र भी। उन्होंने बलिया के जिला कलक्टर ड्यूटर्स्ट के अनुशंसात्मक पत्र के साथ बालक बलदेव जी को बलिया जिला स्कूल से हटा कर फैजाबाद के जिला सरकारी स्कूल की दसवीं कक्षा में १९१५ ई० की जुलाई में प्रवेश करा दिया। १९१६ की स्कूल-लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा अर्थात् हाई स्कूल परीक्षा में पण्डित बलदेव जी ने प्रथम श्रेणी तो प्राप्त की ही, सारे उत्तर प्रदेश के उत्तीर्ण परीक्षार्थियों में योग्यता क्रम से चौथा स्थान भी प्राप्त किया। हाई स्कूल में प्रथम श्रेणी प्राप्त

करने और संस्कृत में सर्वाधिक अंक लाने पर उपाध्याय जी को अगले चार वर्षों के लिए १५/- प्रतिमाह की छात्रवृत्ति भी प्राप्त हुई ।

आगे उपाध्याय जी की कालेज की पढ़ाई के लिए सर्वोत्तम स्थान वाराणसी ही माना गया । उनकी संरक्षकता उनके चाचा पण्डित रामउदित उपाध्याय ने पुनः उठा ली ।

१९१६ ई० की जुलाई में सेण्ट्रल हिन्दू कालेज की छत्रछाया में अगले चार वर्षों तक अपना अध्ययन उपाध्याय जी ने वहीं किया । उनके पिता को अपना परिवार चलाने भर की पूरी सामर्थ्य थी और स्वयं उपाध्याय जी को अपना पूरा खर्च चलाने भर को एक अच्छी छात्रवृत्ति प्राप्त हो रही थी । अतः आर्थिक चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त रहते हुए उन्होंने १९१८ ई० में इण्टरमीडियेट की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । यद्यपि बी० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी कुछ ही अंकों से उनसे दूर रही, ऐसा नहीं था कि उन्होंने अपने अध्ययन क्रम में कोई प्रमाद किया हो । बी० ए० कक्षा में उन्होंने अपने लिए जिन विषयों का चुनाव किया था—संस्कृत, अर्थशास्त्र और अँग्रेजी साहित्य—उन्हें लेकर कोई उन दिनों प्रथम श्रेणी प्राप्त करने का स्वप्न भी नहीं देख सकता था । संस्कृत छोड़कर उनके दो अतिरिक्त विषय ऐसे थे, जिनमें प्रथम श्रेणी के अंक प्रायः दिये ही नहीं जाते थे । जब प्रस्तुत लेखक ने उनसे यह बात पूछी कि आखिर इन विषयों के चुनाव के पीछे उनका अभीप्सित क्या था तो उत्तर मिला कि "न तो उसमें कोई योजना थी और न कोई स्पष्ट उद्देश्य । वास्तव में वे अन्य मित्रों के साथ के कारण चुन लिये गये थे ।"

१९२० ई० की जुलाई से सेण्ट्रल हिन्दू कालेज कमच्छा से हटकर नगवा स्थित हिन्दू विश्वविद्यालय के अपने नवीन भवन में चला गया और एम० ए० की कक्षाओं के लिए अब उपाध्याय जी को वहाँ ही जाना था । उनका विवाह अत्यन्त छोटी अवस्था (१४ वर्ष) में ही किया जा चुका था । १८-१९ की अवस्था में (जब वे बी० ए० के छात्र थे) उनका गवना (द्विरागमन) भी हो चुका था और उनकी धर्मपत्नी उनके घर (सोनबरसा) आ चुकी थीं । अब इस सम्बन्ध का एक लाभ उपाध्याय जी ने उठाया । उनके श्वसुर के पिता जी, पण्डित यागेश्वर ओझा को बिहार के मुंगेर राज्य से एक मकान काशी के दूध विनायक मुहल्ले में आवास हेतु प्राप्त हुआ था । इस समय यह खाली था और वहीं उपाध्याय जी अब रहने लगे । अगले दो वर्षों तक अपनी एम० ए० की परीक्षा के अध्ययन के समय में नित्य वहाँ पैदल ही लगभग ७ किलो मीटर दूर सेण्ट्रल हिन्दू कालेज (नगवा, विश्वविद्यालय) जाते और आते रहे । इस समय के उनके मित्रों में प्रमुख थे स्वर्गीय पण्डित गणेशदत्त शास्त्री, जो आगे चल कर अँग्रेजी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एक अत्यन्त

लब्धप्रतिष्ठ अध्यापक सिद्ध हुए। १९२२ ई० में उपाध्याय जी ने संस्कृत विषय से अपनी एम० ए० की परीक्षा पुनः प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और अन्य सफल छात्रों में सर्वप्रथम योग्यता क्रम से भी रहे।

पण्डित बलदेव जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अपनी इण्टरमीडियेट, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाओं के साथ-साथ बनारस संस्कृत क्वीन्स कालेज की प्राच्य विद्यालयों की परीक्षायें भी देते रहे। उन दिनों विश्वविद्यालय में एक साथ एक ही वर्ष दो परीक्षाओं के देने का विधान स्वीकृत था। वास्तव में सुपठित संस्कृत समाज में उन दिनों संस्कृत की विद्या तब तक अपूर्ण मानी जाती थी, जब तक कोई बनारस संस्कृत क्वीन्स कालेज जैसी किसी प्राच्य विद्या संस्थान में दी जाने वाली प्राचीन पद्धति से प्राप्त होने वाली विद्या ग्रहण न किये हो। उपाध्याय जी का सारा पारिवारिक सांस्कृतिक परिवेश भी उस प्रकार की विद्या के अनुशासन से ओतप्रोत था। अन्ततः उन्होंने १९२५ ई० में 'साहित्यशास्त्र' से प्राचीन पद्धति की आचार्य परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

**अध्यापन**

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय की यह विशेषता थी कि जहाँ वे हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतवर्ष भर से चोटी के अन्याय विषयों के विद्वानों को जुटाने का हर संभव प्रयत्न करते थे, वहीं उनका यह भी यत्न होता था कि कोई सर्वथा मेधावी विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त कर वहाँ से, यदि वह अध्यापक बनने में रुचि रखता हो तो, बाहर न जाने दिया जाय। पण्डित बलदेव उपाध्याय पर मालवीय जी की प्रारम्भ से ही दृष्टि थी और उनके एम० ए० पास करते ही उन्होंने उन्हें संस्कृत विभाग में प्रवक्ता पद पर नियुक्त कर दिया। पण्डित जी अपने छात्र जीवन में ही संस्कृत के तीन अन्यतम विद्वानों के सम्पर्क में आ चुके थे। एक थे पंडित रामावतार शर्मा, दूसरे थे पं० आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव और तीसरे थे पंडित गोपीनाथ कविराज। ध्रुव जी उस समय संस्कृत विभाग के अध्यक्ष ही नहीं, अपितु विश्वविद्यालय के प्रो वाइसचांसलर और सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के प्राचार्य थे। गुरुवर बताते हैं कि इन तीनों महापण्डितों ने जो उन्हें सिखाया वह अन्यत्र दुर्लभ था। उनके अनुसार ध्रुव जी का संस्कृत, अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच के साहित्य का अपार ज्ञान, सभी साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन की बेजोड़ प्रतिभा एवं पाश्चात्य समालोचनात्मक शैली में पूर्ण-दक्षतां तथा पं० रामावतार शर्मा की अद्भुत साहित्यिक प्रतिभा, दुर्लभ स्मरण शक्ति, आशु काव्य रचना की अप्रतिम क्षमता और विद्यार्थियों के मन को उद्वेलित और उद्दीप्त कर सकने की अपूर्व क्षमता भूरि भूरि प्रशंसनीय है। तीसरे महापुरुष पं० गोपीनाथ कविराज के व्यक्तित्व में साधु-संत, विद्वान्,

मनीषी, चिन्तक-दार्शनिक, तांत्रिक और उपासक सबका एक दुर्लभ समाहार प्राप्त होता था। तंत्रशास्त्र और भारतीय दर्शन के विभिन्न पहलुओं की जानकारी प्राप्त करने वाला कौन सा जिज्ञासु था, जिसने काशी आकर उनका शिष्यत्व न ग्रहण किया हो। उपाध्याय जी भी दर्शन-ज्ञान के लिये उनके चरणों में बैठते थे। ऐसे गुरुओं की प्रेरणा से प्रेरित पं० बलदेव जी की मित्रता हुई एक अन्य वैसे ही विद्वान स्वर्गीय आचार्य पं० बटुकनाथ शर्मा से। परिणाम हुआ उनकी साहित्यिक और अध्यापकीय प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन, जिसकी अपेक्षाकृत एक छोटी चर्चा आगे की जायगी।

जब बी० ए० के छात्ररूप में मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में १९४४ ई० की जुलाई में अपना प्रवेश लिया तो सौभाग्य हुआ आचार्यप्रवर से **उत्तर रामचरित** नाटक के अध्ययन का। कपड़े का जूता, धवल धोती, लम्बा (जाड़े में रंगीन) कोट, गोल टोपी, उन्नत ललाट पर चन्दन का टीका, छरहरा किन्तु भरा-पूरा स्वास्थ्य, शरीर-सब मिलाकर एक अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्व और मुस्कान भरे मुख की आभा लिये जब पंडित जी कक्षा में घुसते थे, लगता था मानों हम सब देवलोक के प्राणी बन गये हों। तब संस्कृत की पढ़ाई भी अंग्रेजी के माध्यम से होती थी और परीक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी ही था। पण्डित जी बढ़िया अंग्रेजी का जिस खूबी के साथ उच्चारण करते थे, वह कभी-कभी अंग्रेजी साहित्य की कक्षाओं (मैंने वह विषय भी बी० ए० में ले रखा था) में भी दुर्लभ प्रतीत होता था। किन्तु अंग्रेजी के प्रयोग के कारण संस्कृत साहित्य के भाव समाप्त हो जाँय, ऐसा कभी नहीं प्रतीत हुआ। आज भी याद हैं वे क्षण, जब पंडित जी बनवास में पड़े हुए राम द्वारा सीता से अयोध्या के दरबार में प्राप्त ऐश्वर्यशील एवं क्रीड़ापूर्ण जीवन के क्षणों की स्मृति के विवरणों को जीवन्तरूप में उपस्थित करते थे ('ते हि नो दिवसा गताः') अथवा प्रजारंजन हेतु सीता को बनवास देते समय राम के मनोभावों का सजीव चित्रण उपस्थित किया करते थे।

**स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।**
**आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥**

सचमुच ही आचार्यप्रवर के **उत्तररामचरित** पढ़ाते समय **"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"** साकार हो उठता था।

१९४७-१९४८ ई० में डा० अमरनाथ झा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर प्रतिष्ठित हुए। अध्यापकों की श्रेणियों में जो असंगति थी—उसे इन्होंने दूर किया। वे बड़े ही तेजस्वी व्यक्ति थे, अध्यापन में ही नहीं, प्रत्युत प्रशासन

में भी। उन्होंने आचार्य बलदेव जी के वैदुष्य को परखा और उन्हें संस्कृत विभाग में 'रीडर' का पद प्रदान किया।

१९६० ई० के ३१ मार्च को ३८ वर्षों की अविच्छिन्न एवं नैष्ठिक सेवा के अनन्तर उपाध्याय जी अपने अध्यापक के पद से ससम्मान निवृत्त हुए। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सेवा निवृत्त होने के बाद उपाध्याय जी की विद्वत्ता का समुचित मूल्यांकन किया वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के उस समय के सुयोग्य, कर्मठ तथा प्रशासन-प्रवीण कुलपति पं० सुरति नारायण मणि त्रिपाठी ने। 'उपाध्याय जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से एक सम्पूर्ण साहित्य का ही निर्माण कर डाला है जिसमें वेद तथा पुराण, बौद्ध दर्शन तथा वैदिक दर्शन, संस्कृत साहित्य की आलोचना तथा सुसम्बद्ध इतिहास आदि नाना विषयों पर मौलिक, गम्भीर तथा प्रदर्शक ग्रन्थों की सत्ता उसकी उत्कृष्टता तथा विपुलता की सद्यः द्योतिका है'—इस तथ्य से त्रिपाठी जी नितान्त प्रभावित हुए। पहिले तो उन्होंने उपाध्याय जी को दो वर्षों (१९६२ ई०-१९६४ ई०) तक 'पुराणेतिहास' विभाग का अध्यक्ष बनाया। तदनन्तर "अनुसंधान संचालक" के रिक्त पद पर तीन वर्षों (१९६५ ई०-१९६८ ई०) तक इन्हें प्रतिष्ठित किया। इनके विषय में यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ होती है—"गुन ना हेरानो, गुन गाहक हेरानो है"।

## उपाध्याय जी की महनीय रचनायें

आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय जी के ग्रन्थों का विषयगत अथवा आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करना वर्तमान लेखक की बुद्धि और प्रशिक्षा के परे है। तथापि उनका एक संक्षिप्त स्वरूप नीचे दिया जा रहा है। पण्डित जी के लिखे हुए ग्रन्थों की संख्या अब तक २८ हो चुकी है, जिनमें से अनेक उनके पूर्व के ग्रन्थों के नवीनीकृत, संशोधित, पुनःप्रकाशित अथवा उनके ज्ञान अथवा अध्ययन की सीमा के विस्तार के साथ नया कलेवर प्राप्त करने वाले ग्रन्थ भी हैं। विषयगत दृष्टि से इनका निम्नलिखित समाहार किया जा सकता है।

## कवि, काव्य और साहित्येतिहास

१९३२ ई० में प्रकाशित **संस्कृत कवि चर्चा** (मास्टर खेलाड़ी लाल, वाराणसी) नामक ग्रन्थ संस्कृत विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुआ है। एक लम्बी अवधि तक अप्राप्त होने के बाद पुनः इसका एक आधुनिक और संशोधित एवं प्राचीन संस्कृत कवियों के अद्यतन मूल्यांकन से युक्त संस्करण **संस्कृत सुकवि समीक्षा** (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी) के नाम से १९६८ ई० में प्रकाशित हुआ। अपने

इस परिवर्तित नाम से इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है। इन ग्रन्थों में प्राचीन कवियों के जीवन परिचय, उनके ग्रन्थों के परिचय तथा उनकी काव्य परीक्षा जैसे तत्त्वों के साथ ही साथ संस्कृत काव्य के आलोचनात्मक और विश्वसनीय चित्र उपस्थित किये गये हैं। अन्त में एक परिशिष्ट में मुख्य-मुख्य प्राचीन कवियों की लगभग १५० साधारण कवियों द्वारा कालान्तर में की गई प्रशस्तियों अथवा सूक्तियों और सुभाषितों का एक अत्यन्त उत्तम संकलन यहाँ दिया गया है।

१९३४ ई० में उपाध्याय जी ने हिन्दी का अपना एक अति प्रसिद्ध ग्रन्थ **संस्कृत साहित्य का इतिहास** लिखा। १९७८ ई० तक इसके दस संस्करण (शारदा संस्थान, वाराणसी) निकल चुके हैं। मैसूर विश्वविद्यालय के 'स्कूल आफ कन्नड स्टडीज़' की ग्रन्थावलियों में इस पुस्तक का कन्नड़ भाषा में अनुवाद हो चुका था। इसके अतिरिक्त इसका अनुवाद तेलगू में भी हुआ। कदाचित् इस विषय पर इस ग्रन्थ की समता का बिरला ही कोई अन्य ग्रन्थ हिन्दी अथवा अन्य किसी भारतीय भाषा में हो। इस ग्रन्थ में चार खण्ड हैं, जिनमें **रामायण, महाभारत, दृश्य-श्रव्य-काव्य** तथा अलंकार शास्त्र के पाण्डित्यपूर्ण विवरण हैं। इसके अतिरिक्त जवनिका, भारतीय रंगशाला तथा **भागवत पुराण** के साहित्यिक रूप के जो विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं, वह ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी भाषा में प्रथम विद्वत्तापूर्ण प्रयत्न तो है ही, अनेक विषयों जैसे जवनिका पर भारतीय दृष्टि के प्रतिनिधि हैं। इस ग्रन्थ का एक संक्षिप्त संस्करण १९८२ ई० में **संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास** नाम से शारदा संस्थान, काशी, से प्रकाशित हुआ है।

उपर्युक्त पुस्तक का सम्भवतः एक पूरक प्रयत्न है **संस्कृत वाङ्मय** (शारदा मन्दिर काशी, १९६५ ई०)। इसमें संस्कृत महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक साहित्य, गद्यकाव्य, कथासाहित्य एवं अलंकारशास्त्र का विस्तृत विवरण है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों के इतिहास का भी एक संक्षिप्त विवरण इसमें समाहित है। **संस्कृत शास्त्रों का इतिहास** (शारदा मन्दिर, काशी, १९६९) के माध्यम से आचार्य प्रवर ने आयुर्वेद, ज्योतिष, अलंकार शास्त्र, छंदशास्त्र, कोष विद्या तथा व्याकरण इन छह शास्त्रों के उदय और विकास का एक वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

**महाकवि भास** नामक अपनी कृति (चौखम्बा विद्याभवन, काशी, १९७० ई०) में पण्डित प्रवर ने संस्कृत साहित्य के उस अमर नाटककार के जीवनचरित्र, उनके ग्रन्थों का परिचय, नाट्यलेखन की विधा में भास की परिपक्वता तथा नाटक साहित्य के विकास में उनके स्थान और योगदान पर वैदुष्यपूर्ण प्रकाश डाला है। **काव्यानुशीलन** उपाध्याय जी के साहित्यिक और सांस्कृतिक निबन्धों का एक संग्रह है, जिसमें आलोचनात्मक निबन्धों के साथ हिन्दी काव्य की मीमांसा, भोजपुरी

के लोककाव्यों की चर्चा तथा संस्कृत काव्य से सम्बद्ध विषयों का पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन है।

अनेकशः ज्ञात, एवं अज्ञात प्राचीन भारतीय कवियों की सूक्तियों का संग्रह संस्कृत साहित्य की निजी विशेषताओं में एक रही है, जो अतीत से अद्यतन काल तक किसी न किसी रूप में और मात्रा में प्रत्येक सुधी को विभोर करती रही है। **सूक्ति मंजरी** नामक अपने संग्रह से उपाध्याय जी ने भी इस सरणि में एक कड़ी जोड़ी है, जिसके १५ परिच्छेदों में भिन्न-भिन्न विषयों के सुभाषित एक साथ रखे गये हैं। अनेक प्राचीन सूक्ति ग्रन्थों को हम प्रायः केवल संस्कृत मूल में प्राप्त करते हैं और संस्कृत न जानने वाले अथवा कम जानने वाले उनका लाभ नहीं उठा पाते। उपाध्याय जी ने अपनी इस कृति में मूल का हिन्दी अनुवाद देकर उन्हें सुबोध बना दिया है।

## संस्कृत आलोचना शास्त्र

साहित्यिक आलोचना अथवा विमर्श का विशद अध्ययन, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विभिन्न साहित्यिक रचनाओं का मूल्यांकन, आलोचना सिद्धान्त का प्रायोगिक उपयोग तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों और प्रयोगों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन संसार के सभी साहित्यों की विशेषताओं का एक प्रमुख तत्त्व रहा है। आचार्य बलदेव जी ने इसी सरणि में **भारतीय साहित्य शास्त्र** नामक दो खण्डों वाले एक ग्रन्थ का प्रणयन १९४८-४९ ई० में किया और प्रसाद परिषद्, काशी से प्रकाशित कराया। हिन्दी भाषा के माध्यम से संस्कृत साहित्य के आलोचना शास्त्र का इतिहास उपस्थित करने वाला कदाचित् यह सर्वप्रथम प्रयत्न और साथ ही सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसमें साहित्य शास्त्र का शृंखलाबद्ध इतिहास, प्रारम्भ से १८वीं शती तक के विभिन्न आचार्यों के जीवन चरित्र, साहित्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के उदय तथा विकास, कविरहस्य, काव्यरहस्य तथा रस आदि सिद्धान्तों का ऐतिहासिक, तिथिक्रमपरक और समालोचनात्मक विवेचन है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पाश्चात्य आलोचना पद्धति के सिद्धान्तों का भारतीय आलोचना विधा से तुलनात्मक विवेचन यथास्थान प्राप्त होता है। ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में उपर्युक्त शैलियों के प्रयोग को यथावत् अपनाते हुए प्रायः ऊपर की सभी विशेषताओं के साथ औचित्य, रीति, वृत्ति तथा वक्रोक्ति नामक काव्य पद्धतियों के विवेचन और उनके क्रमिक विकास दिखाये गये हैं। बंगलोर विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में इसका कन्नड़ भाषा में अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

संस्कृत आलोचना पर आचार्य प्रवर ने **संस्कृत आलोचना** (हिन्दी समिति,

लखनऊ) नामक एक अन्य ग्रन्थ भी विद्वद्जगत् को दिया है, जिसके १९७७ ई० तक तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

## धर्म, संस्कृति, दर्शन और दार्शनिक

हिन्दी भाषा के माध्यम से आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भारतीय धर्म और दर्शन के कुछ मूलभूत पक्षों को अपनी विभिन्न पुस्तकों द्वारा इतने विद्वत्तापूर्ण ढंग से उजागर किया है, जिसे यदि अद्वितीय कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। १९४७ ई० में लिखित और शारदा मन्दिर, वाराणसी से प्रकाशित **आर्य संस्कृति के मूलाधार** नामक उनकी कृति इस दिशा में उनका प्रथम प्रयत्न था। नन्द किशोर एण्ड संस वाराणसी ने १९५५ में इसका दूसरा संस्करण प्रस्तुत किया, जिसमें वेद, पुराण, धर्म-शास्त्र, दर्शन, जैन, बौद्ध और तंत्रग्रन्थों का विवरण है। १९५४ ई० में प्रकाशित **वैदिक साहित्य और संस्कृति** ( शारदा मन्दिर, वाराणसी ) इसी सरणि का अन्य ग्रन्थ है, जिसके अब तक पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके है। इन दोनों ही कृतियों में उपाध्याय जी का वैदिक साहित्य और भारतीय संस्कृति का मूल रूप विषयक गहन ज्ञान परिलक्षित होता है। लगे हाथ पण्डित जी ने अपनी **वैदिक कहानियाँ** ( शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६५ ई० ) नामक पुस्तक के माध्यम से भारत के प्राचीनतम कथा साहित्य को भी उपस्थित किया है। ललित शैली में निबद्ध इस ग्रन्थ में उपाध्याय जी ने वेदों में आने वाले आख्यानों को उपस्थित किया है, जहाँ कहानी साहित्य के समस्त उपादान प्राप्त होते हैं। यह पुस्तक वैदिक काल के समाज की जानकारी के लिए एक दर्पण जैसी प्रतीत होती है।

आचार्य प्रवर अगाध विद्वान् तो हैं ही, एक सद्गृहस्थ भक्त भी हैं। अपने बचपन में अपने कथावाचक पिता की कथाओं में वे भी उपस्थित हुआ करते थे। पिताश्री को **भागवत् पुराण** की कथा, विशेषतः उसके दशम स्कन्ध की, विशेषरूप से प्रिय थी और पुत्र (पण्डित बलदेव जी) पर भी उसकी छाप बचपन से ही पड़ी थी। स्वाभाविक था कि भारतीय धर्मों के अपने अध्ययन और उनके सिद्धान्तों के ऊहापोह के सिलसिले में 'भागवत सम्प्रदाय' उन्हें विशेषरूप से आकृष्ट करता। १९५४ ई० की उनकी पुस्तक **भागवत् सम्प्रदाय** (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी) इस सिलसिले में उनकी एक विशेष कृति है। इसमें वैष्णव सम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास एवं उसके तात्त्विक सिद्धान्तों का प्रामाणिक विवेचन है और महाराष्ट्र एवं दक्षिण में प्रचलित वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त निम्बार्क, वल्लभ तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायों के विवरण दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त इसमें वैष्णवी साधना के अनेक तत्वों का उद्घाटन भी प्राप्त होता है। **वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य**

**और सिद्धान्त** शीर्षक से उपाध्याय जी ने १९८० ई० (चौखम्बा अमरभारती, वाराणसी) में इस महत्त्वपूर्ण अध्ययन को और भी अद्यतन रूप में प्रस्तुत किया है। वैष्णव साहित्य के समुद्र में डुबकी लगाते हुए उन्हें जो अनेक रत्न प्राप्त हुए, उसी का यह एक रूप है। उनकी पुस्तक **भारतीय वाङ्मय में राधा** (बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना) अपने विषय का आलोचनापूर्ण और अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

धर्म की सैद्धान्तिक परिणति उसके दर्शन में परिलक्षित होती है तया उन सिद्धान्तों की तार्किक, बौद्धिक और सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवधारणाओं की पुरस्कृति एक अनोखे बुद्धि-व्यायाम की तो अपेक्षा रखती ही है, साधारण मेधा के लोगों को उन्हें बुद्धिगम्य कराने में सच्ची विद्वत्ता की कसौटी भी हो जाती है। उपाध्याय जी इस कसौटी पर पूरे खरे उतरे हैं। १९४२ का उनका ग्रन्थ **भारतीय दर्शन** (शारदा मंदिर, वाराणसी) हिन्दी साहित्य के अमर ग्रन्थों में एक सिद्ध हुआ है। उपनिषद्, गीता, षड्दर्शन, बौद्ध, जैन, चार्वाक जैसे समस्त भारतीय दर्शनों के प्रामाणिक ऐतिहासिक विवेचन में परिपूर्ण यह ग्रन्थ स्व० डा० भगवानदास की सम्मति में "हिन्दी दर्शन के साहित्य में श्रेष्ठतम, अग्रगण्य ग्रन्थों की श्रेणी में ऊँचा स्थान रखता है।" तन्त्रशास्त्र की एक विशेष चर्चा इसे और भी महत्त्वपूर्ण बना देती है। इसकी गुणवत्ता से ही आकृष्ट होकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने इसे 'मंगला प्रसाद पुरस्कार" से पुरस्कृत कर उपाध्याय जी को सम्मानित किया। इसकी उपादेयता और बहुमूल्यता इस बात से ही आंकी जा सकती है कि इसके अनुवाद कन्नड (मैसूर विश्वविद्यालय), तेलुगु एवं उड़िया (उत्कल साहित्य एकेडेमी, कटक) जैसी अन्य अनेक भाषाओं में भी हुए थे तथा इसके कम से कम नौ संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। **धर्म और दर्शन** नामक उपाध्याय जी की एक अन्य कृति (शारदा मन्दिर, १९४९) उनके अमर ग्रन्थ **भारतीय दर्शन** का परिशिष्ट स्वीकार की जा सकती है, जिसमें नाना धर्मों के विस्तृत विवरणों के साथ, धर्म और दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं, इसका विवेचन है। **भारतीय दर्शन सार** की रचना (सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, १९६९ ई०) आचार्य ने अपेक्षाकृत भारतीय दर्शन के साधारण ज्ञान पिपासा मात्र से प्रेरित व्यक्तियों के संतोष के लिये की। चौखम्बा विद्याभवन, काशी से १९७८ ई० में प्रकाशित **भारतीय दर्शन की रूपरेखा** को भी इसी श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

भारतीय दर्शनों के साहित्य के विशाल भण्डार को खोजते समय पण्डित जी की दृष्टि उसके विशेष क्षेत्र बौद्ध दर्शन पर भी पड़ी और धीरे-धीरे उसके गहन तत्त्वों के प्रति अधिकाधिक आकृष्ट होते गये। परिणामतः उनकी एक अन्य अमूल्य कृति सामने आयी—**बौद्धदर्शन मीमांसा** (शारदा मन्दिर वाराणसी, १९४६ ई०),

जिसका तीसरा संस्करण १९७८ में चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ने निकाला। इसमें बौद्धदर्शन की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के उदय, विकास और उनके सिद्धान्त का मौलिक प्रतिपादन है। स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों की जानकारी के लिये इसे एक 'लघु विश्वकोष' की संज्ञा दी थी। बर्मी तथा सिंहली जैसी अनेक एशियायी भाषाओं में होने वाले इसके अनुवादों द्वारा इसकी गुणवत्ता और महत्ता स्वयं प्रकाशित होती है। अस्वाभाविक नहीं था कि हिन्दी में प्रणीत उत्तमोत्तम ग्रन्थों को प्राप्त होने वाले डालमिया पुरस्कार एवं उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति द्वारा दिये जाने वाले विशिष्ट पुरस्कारों के लिए इसे चुना गया।

शंकराचार्य भारतीय दर्शन के सिद्धान्त प्रतिपादकों में एक अत्यन्त दीप्तिमान नक्षत्र थे। आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय स्वामी शंकराचार्य के प्रति बहुत ही आकृष्ट दिखायी देते हैं। उनके इस आकर्षण का प्रतीक है **आचार्य शंकर** नामक उनका ग्रन्थ (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९५० ई०), जिसमें शंकराचार्य के समय, उनके जीवन-चरित तथा ग्रन्थों का पूर्णतः प्रामाणिक विवरण प्राप्त होता है। इस बात की विशेष बल देते हुए परीक्षा की गयी है कि वास्तव में महान् शंकराचार्य के नाम पर प्रचलित अनेकानेक कृतियों में सचमुच कौन-कौन सी उनकी हैं। इस ग्रन्थ की महिमा इस बात से और बढ़ जाती है कि इसके अन्त में अद्वैत वेदान्त के अन्य आचार्यों का भी एक विवरण दिया गया है। इसका भी अनुवाद कन्नड़ भाषा में (काव्यालय प्रकाशन, मैसूर) हुआ है और इसके अब तक कई संस्करण प्रकाशित चुके हैं। शंकराचार्य के प्रति अपनी अपार श्रद्धा का परिचय देते हुए उपाध्याय जी ने माधवाचार्य कृत **शंकर दिग्विजय** नामक ग्रन्थ का एक बहुत ही सुबोध हिन्दी अनुवाद किया है। इसके आरम्भ में दी गई उपाध्याय जी की भूमिका तथा बीच बीच में दी गयी उनकी विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियाँ इस ग्रन्थ के महत्त्व को और भी बढ़ा देती हैं।

इसी प्रकार १९४६ ई० में लिखित (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) **आचार्य सायण और माधव** नामक उपाध्याय जी की कृति में वेदों के इन दो अमर टीकाकारों के जीवन चरित, उनके वैदिक भाष्यों तथा अन्य ग्रन्थों के परिचय तथा उनके सिद्धान्तों को विश्लेषण सहित उपस्थित किया गया है।

## पुराण साहित्य

उपाध्याय जी के जीवन के रहन-सहन का ढंग जिस रूप में वर्तमान लेखक ने देखा है, वह पौराणिक संस्कृति का एक जीवन्त प्रतिरूप प्रतीत होता है। किन्तु

उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता किसी अन्य माध्यम से उद्धृत नहीं, अपितु पुराणों के महत्त्व, गहन आत्मीय अध्ययन और उनके पारम्परिक प्रभाव की सहज अनुभूति एवं निजी जीवन में उतारी हुई पद्धति का एक पूर्ण प्रतिरूप ही है।

वास्तव में वैदिक साहित्य के सभी अंगों अथवा भागों की परिणति एक विशद और अनुश्रुतिक अथवा जनप्रिय रूप में पुराणों में ही हुई और सर्वसाधारण उनके माध्यम से या कथाओं, आख्यानों अथवा वार्ताओं के श्रवण और मनन द्वारा भारतीय संस्कृति के मूलरूप को अंगीकृत करता रहा।

आचार्य श्री की गूढ़ गवेषणा का ही परिणाम है उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ **पुराण-विमर्श** जिसकी विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इसमें पुराणों की नवीन और प्राचीन दोनों ही दृष्टियों से समालोचना की गयी है और वैज्ञानिक विवेचन की पद्धति को प्राचीन पण्डिताऊ पद्धति की तुलना में अधिक महत्त्व दिया गया है। विषयगत दृष्टि से इसमें पुराणों का रचना-काल, उनके लक्षणों, उनसे ज्ञात भूगोल, धर्म तथा देवमण्डल का विवरण, उनके प्रतीकों का विवेचन तथा उनके द्वारा उपस्थित वेदार्थ का उपबृंहण अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। शोध छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी इस ग्रन्थ की गुणवत्ता के कारण ही उत्तर प्रदेश शासन ने इसे २,००/- रुपयों के एक विशिष्ट पुरस्कार से सम्मानित किया था। काशी राज न्यास से चलाये जाने वाले पौराणिक शोध संस्थान की शोध पत्रिका पुराणम् के सहायक सम्पादक एवं इटली के बहुश्रुत और पौराणिक अध्ययनों के मर्मज्ञ विद्वान् डा० जियार्जियों बोनाजाँली ने अपनी समीक्षा में इस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

## सम्पादित ग्रंथ

पण्डित बलदेव उपाध्याय द्वारा सम्पादित ग्रंथों की संख्या भी बहुत है। आचार्य सायण द्वारा वैदिक संहिताओं के भाष्यों की भूमिकाओं का एक संग्रह **(वेदभाष्य भूमिकासंग्रह)** इनमें प्रमुख है, जिसकी एक विशेषता है कि इसके प्रारम्भ में संस्कृत और अँग्रेजी में पण्डित जी ने सम्पादकीय भूमिकाएँ लिखी हैं और साथ ही यहाँ सायणाचार्य के जीवन, कृतियों पर भी प्रकाश डाला गया है। **भासनाटकचक्रम्,** भाग १ और २ में भास के नाटकों के परिचय और समीक्षा सहित हिन्दी में अनुवाद दिये गये हैं। भास के समस्त उपलब्ध नाटक उनके काल और जीवन-परिचय के साथ यहाँ एकत्र उपलब्ध हो जाते हैं। कन्नौजराज हर्ष की प्रसिद्ध नाटिका **नागानन्द** मूल और हिन्दी अनुवाद के साथ लगभग ५० पृष्ठों की एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ, पण्डित जी का एक अन्य सम्पादित ग्रंथ है। नाटकों की विधा

और उनके लेखन की शास्त्रीय पद्धति पर सैद्धान्तिक विचार करने वाला कदाचित् सर्वप्रमुख प्राचीन भारतीय ग्रंथ **भरतनाट्यशास्त्र** है, जिसका मद्रास से प्राप्त होने वाली एक विशिष्ट हस्तलिपि के आधार पर उपाध्याय जी ने सम्पादन किया है। इसी प्रकार अलंकार शास्त्रियों में भामह की मूल शास्त्रकार के रूप में प्रसिद्धि थी, जिनके अमरग्रंथ **काव्यालंकार** का भी अपनी अँग्रेजी में दी गई विस्तृत भूमिका के साथ पण्डित जी ने सम्पादन किया है। भामह के काल, कृतित्व की विवेंचना के साथ ही साथ इस ग्रंथ के शुद्ध सम्पादन की पण्डित समाज में एक स्वर से प्रशंसा हुई है।

पण्डित जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में **प्राकृत प्रकाश** का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी विशेषता यह है कि इसके प्रकाशन में पहली वार इस ग्रन्थ की दो प्राचीन टीकाओं-**संजीवनी** और **सुबोधिनी** को भी स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि इसकी संजीवनी टीका की एक मात्र हस्तलिपि लंदन के ''इण्डिया लायब्रेरी'' में प्राप्त थी जहाँ उसकी प्राचीन लिपि को पढ़ा नहीं जा सका था। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसंधान विभाग के निदेशक के रूप में आचार्यप्रवर ने सर्वप्रथम इसका पाठ उपस्थित कर इसे उसी विभाग के प्रकाशन के रूप में प्रकाशित किया।

पुराणों में शिवभक्तिपरक **अग्निपुराण** का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक विस्तृत भूमिका सहित इस ग्रन्थ का भी एक विश्वसनीय पाठ के साथ पण्डित जी ने सम्पादन किया है। इनके अतिरिक्त भी दर्जनों ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका सम्पादन उपाध्याय जी ने वाराणसेय सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसंधान विभाग के निदेशक के रूप में किया और जिनकी भूमिका अथवा आमुख लिखा है।

पण्डित जी का अद्यतन ग्रन्थ है **काशी की पाण्डित्य परम्परा**, जो मुद्रणालयान्तंगत है। इसके जिन छपे हुए पृष्ठों को देखने का अवसर मुझे लगा है उसके आधार पर निःसंकोच कह सकता हूँ कि यह शोधार्थी छात्रों के लिये भी बहुत ही उपयोगी होगा। वास्तव में भारती विद्या के इतने अधिक शोधपरक विकास के होते हुए भी आज तक काशी के इतिहास को लिखने के कुछ इक्के-दुक्के अथवा छिटपुट प्रयत्न ही हुए हैं। एक योजनाबद्ध रूप में प्राचीनकाल से लेकर आज तक के पूरे काल पर, विभिन्न विषयों अथवा क्षेत्रों को ध्यान में रखकर कई खण्डों में काशी का इतिहास लिखा जाना चाहिए, विशेषतः उसके सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी पक्षों पर। उपाध्याय जी का उपर्युक्त ग्रन्थ मध्यकाल से प्रारम्भ कर आज तक के काशी के संस्कृत पण्डितों के जीवन और चरित का तथा उनकी कृतियों और पाण्डित्य का एक बहुत ही अच्छा परिचय देता है।

## पारिवारिक जीवन

आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय एक पूर्ण, आप्तकाम सद्‌गृस्थ हैं। लेखक की दृष्टि में उनका एक बड़ा भारी सौभाग्य यह था कि उनकी सहधर्मिणी श्रीमती शिवमुनि देवी हुई, जिनके पितामह श्री पण्डित योगेश्वर ओझा (महामहोपाध्याय) संस्कृत के असाधारण विद्वान् थे और विद्वत्ता के लिए सारे उत्तरी भारत में विश्रुत थे। उपाध्याय जी के श्वसुर श्री पण्डित देवकृष्ण ओझा भी उसी विद्वत्ता की परम्परा में पले थे। यद्यपि उस समय स्त्री-शिक्षा के प्रति वह जागरूकता नहीं थी जो आज है, और श्रीमती शिवमुनि देवी को कोई औपचारिक शिक्षा दी गयी हो, ऐसा प्रतीत भी नहीं होता। एक बात जीव वैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट है कि उपाध्याय-दम्पति दोनों ही ओर से विद्वानों की रक्तपरम्परा में जन्मे थे, जिनकी सन्तानों के भी मेधावी होने में कोई संदेह नहीं था। उनके बड़े पुत्र श्री पण्डित गौरी शंकर उपाध्याय उत्तर प्रदेश शिक्षा विभाग में स्नातक सहायक निदेशक के पद से अभी अवकाश प्राप्त हुए हैं। द्वितीय पुत्र डा० गोपाल शंकर उपाध्याय कानपुर के इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी में धातुकी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष हैं। यही नहीं, यह परम्परा तीसरी पीढ़ी में भी चालू है। उनका बड़ा पौत्र (श्री गौरीशंकर उपाध्याय का पुत्र) डॉ० लक्ष्मी नारायण उपाध्याय धनबाद के "गवर्नमेण्ट स्कूल ऑफ माइन्स" में सांख्यिकी विषय का प्रवक्ता है और उसकी छोटी भगिनी सुश्री डॉ० सुषमा उपाध्याय उसी विषय में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में महिला महाविद्यालय में प्रवक्ता नियुक्त हो चुकी है। आचार्य-प्रवर के एक नप्ता डॉ० रवीन्द्र कुमार दुबे भी "कानपुर इण्डियन स्कूल ऑफ टेक्नालॉजी" में धातुकी विभाग में रीडर पद पर कार्यरत हैं।

इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी के दो अनुज डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय और स्व० डॉ० वासुदेव उपाध्याय हिन्दी के लोक साहित्य और प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के जाने माने विद्वान् हो चुके हैं, जिनकी अनेकानेक पुस्तकें अनेक क्षेत्र में प्रसिद्ध एवं पुरस्कृत हुई हैं।

उपाध्याय जी का निजी जीवन अत्यन्त मितव्ययी, सादा, साधु और प्रत्येक प्रकार से सरल है। लेखक को काशी के अत्यन्त घने पंचगंगा मुहल्ले में स्थित उनके पुराने मकान में और अब रवीन्द्रपुरी के आधुनिक ढंग से बसे हुए चौड़ी सड़कों वाले खुले और स्पृहणीय वातावरण वाले नये भवन में जाने का सुयोग मिला है। साथ ही कुछ दूरी से ही सही, १९४० ई० से ही उनके रहन-सहन को परखने का भी अवसर प्राप्त रहा है। इस आधार पर निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि उनके रहन-सहन में न तो कभी कोई परिवर्तन आया, न कोई उतार-चढ़ाव। प्रातः काल

ब्रह्मवेला में उठ जाने वाले पण्डित बलदेव उपाध्याय की दिनचर्या प्रारम्भ से आज तक प्रायः एक प्रकार की रही है। उनके पंचगंगा घाट वाले मकान से गंगा जी अत्यन्त नजदीक थीं और नियमित रूप से प्रत्येक प्रातःकाल का तथा गर्मियों में सायंकाल का भी स्नान वहाँ वे किया करते थे। वहीं कुछ संध्यावंदन और पुनः वापस लौटकर सरस्वती की सेवा तब तक जब तक कि भोजन करके विश्वविद्यालय जाने का समय न हो जाय। सायंकाल लौटकर पुनः उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति। काशी के प्राचीन पद्धति वाले लोगों के लिये बाबा विश्वनाथ का दर्शन, विशेषतः सोमवार को, एक अत्यन्त आवश्यक पुण्यकार्य था। ठीक इसी प्रकार नवरात्रों में मन्दिरों में देवी के विभिन्न रूपों का दर्शन भी उनकी जीवन पद्धति का अंग था। पण्डित जी इन सारे धार्मिक नियमों का पालन करते थे। पण्डित जी के जीवन की इस पिटी हुई लकीर को कुछ खण्डित किया डॉ० राजबली पाण्डेय ने। कदाचित् १९५६ के आसपास डा० पाण्डेय उन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचार्य थे और उनके हाथों में विश्वविद्यालय में अध्यापकों के आवासीय भवनों को आवंटित करने का भी कुछ सीमित अधिकार था। वे पहुँचे उपाध्याय जी के पंचगंगा घाट वाले घर पर और उनसे विश्वविद्यालय में निवास स्वीकार करने की उन्होंने प्रार्थना की। लेखक भी साथ था और उसे याद है उपाध्याय जी के सहजस्मिति भरे वे शब्द "अरे बच्चा एहि में हर सलिये एगो ग्रंथ निकलि जाला" तथापि उन्होंने पाण्डेय जी का आग्रह मान लिया और विश्वविद्यालय परिसर में अपना निवास स्थानान्तरित कर लिया, जहाँ वे अपने अवकाश प्राप्ति के समय तक रहते रहे। १९६० ई० में अपनी सेवा से अवकाश प्राप्त करने पर पण्डित जी रवीन्द्रपुरी वाले अपने नये भवन में रहने लगे। इस नये भवन से भी गंगा जी का तुलसी घाट अथवा अस्सी घाट बहुत ही करीब है और आज से लगभग एक साल पूर्व तक उन्हें नित्य प्रति प्रातःकाल नंगे पैर सपत्नीक गंगा स्नान हेतु जाते-आते देखा जाता था। पास ही हैं दुर्गामन्दिर, तुलसीमानस मन्दिर और संकटमोचन (हनुमान जी) के मन्दिर, जहाँ जाकर देवी देवताओं के दर्शन उनकी दैनिक दिनचर्या के अंग रहे हैं। अब शरीर के शिथिल हो जाने पर कदाचित् नियमित गंगा स्नान तो उन्होंने छोड़ दिया है, किन्तु देवी-देवताओं का दर्शन अब भी नित्यक्रम में सम्मिलित है।

आचार्यप्रवर की एक विशेष रुचि का उल्लेख अति आवश्यक है। साहित्य के इस मनीषी का हृदय अत्यन्त सरस, कोमल, दयालु और साहित्यरस की तरह मधुर और करुणामय है। उस सरसता और मधुरता तथा साहित्यिक मिठास का उनके जीवन में उतार परिलक्षित होता है उनके संगीत प्रेम में। लेखक को अपने मित्रों से ज्ञात है कि चैत्रमास में हनुमान जयंती के अवसर पर स्थानीय संकटमोचन (हनुमान) मन्दिर के विद्वान् और उदात्त महन्त श्री पण्डित वीर भट्ट द्वारा आयो-

जित संगीत सम्मेलनों में रात-रात भर जागकर वहाँ बैठे हुए पण्डित बलदेव जी संगीत के प्रत्येक पक्ष—गायन और वाद्य—के मधुर आनन्द में विभोर दिखायी देते हैं। यह क्रम एक रात्रि का नहीं, अपितु तीन रात्रियों का है, जब तक वह सम्मेलन चलता है। कहा जा सकता है कि उनकी साहित्यिक कृतियों के मूल में उनके संगीत-प्रेम की मधुरिमा भी व्याप्त है।

किन्तु पण्डित जी अपने विशाल भवन में रहते हैं अकेले। यद्यपि वे एक बड़े परिवार के मुखिया हैं, प्रायः वह सारा परिवार अलग-अलग रहने की दृष्टि से विभक्त ही है। किन्तु प्रत्येक प्रकार के सुख-दु:ख में सभी एक साथ हो जाते हैं, जो उन सब में आत्मीयता के तन्तु के कारण स्वाभाविक है। पैसों-रुपयों की दृष्टि से भी वे सन्तुष्ट और सम्पन्न हैं। वे ८३ वर्ष के हो चुके हैं, किन्तु शरीर से अब भी पूरी तरह ठीक हैं। सवेरे रवीन्द्रपुरी की चौड़ी सड़क पर जिज्ञासु पण्डितों के साथ नित्य प्रति प्रातः भ्रमण वे करते हैं, और उस समय उनकी बातों की मुख्य बिन्दु होती है शास्त्रचर्चा। जाड़े के दिनों में अपना पुराना लालधारीदार कोट और लाल ऊनी शाल का धारण अपने प्राचीन कपड़ों के प्रति उनके गाढ़े प्रेम को भलीभाँति परिलक्षित करता है। उनका भोजन अत्यन्त सादा, लघु और सात्विक है तथा आवश्यकताएँ बहुत ही कम हैं। किसी भी प्रकार की पर-निर्भरता नहीं दिखायी देती और यही उनके सुख और संतुष्टि का रहस्य है।

इस प्रकार के अपने 'गुरु' और 'उपाध्याय' को मेरा शतशत प्रणाम और अभिनन्दन निवेदित है और प्रार्थना है जगन्नियन्ता से कि उनके सहज मुखमण्डल के नित्यप्रति दर्शन अभी बहुत वर्षों तक होते रहें।



## आचार्य बलदेव उपाध्याय

# व्यक्तित्व एवं कृतित्व

*डॉ० उदयनारायण तिवारी*

**इलाहाबाद**

आचार्य बलदेव उपाध्याय के प्रथम दर्शन का अवसर मुझे सन् १९१९ में बलिया के गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में मिला था। मैं उस समय सातवीं कक्षा का विद्यार्थी था। आप महामहोपाध्याय पं० शिवानन्द मिश्र के साथ स्कूल में आये थे। उस समय आपकी अवस्था लगभग बीस वर्ष की थी। आपका परिचय देते हुए पंडित मिश्र ने कहा था—'आप "बलिया जुबिली संस्कृत पाठशाला" के प्राचार्य पण्डित रामउदित उपाध्याय के भतीजे हैं। आप "फैजाबाद इण्टरकालेज" से इन्ट्रेंस (एस० एल० सी०) परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हैं तथा बलिया के मेधावी छात्र हैं'। उस समय की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होना बड़ा कठिन कार्य था। अतएव युवक पंडित बलदेव उपाध्याय के प्रति हम लोग अत्यधिक आकृष्ट हुए। आपने छात्रों को सम्बोधित करते हुए, एक लघु किन्तु सारगर्भित भाषण भी दिया था जिसका छात्रों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था।

उपाध्याय जी का दूसरी बार दर्शन करने का अवसर सन् १९२३ ई० में सोनबरसा गाँव में मिला था। सन् १९२३ ई० में हाईस्कूल की परीक्षा देकर, मैं बैरिया, अपने मित्र बाबू हरिकृष्ण राय से मिलने गया था। संध्या-समय हम दोनों पं० बलदेव जी से मिलने के लिए सोनबरसा गये। पंडित जी की नियुक्ति उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय में, संस्कृत के व्याख्याता पद पर हो चुकी थी। उन दिनों लखनऊ से माधुरी पत्रिका का प्रकाशन हो रहा था। इस पत्रिका की अत्यधिक प्रसिद्धि थी। पंडित जी के लेख इस पत्रिका में प्रकाशित होते थे। पंडित जी द्वारा लिखित पुस्तकों की समीक्षाएँ माधुरी में प्रकाशित होती थीं। मैं माधुरी का नियमित रूप से पाठक था अतएव उपाध्यायजी से मिलकर मुझे प्रसन्नता हुई।

### अद्भुत-मेधा

ऊपर कहा जा चुका है कि पंडित जी एक मेधावी व्यक्ति हैं। आपकी अद्भुत-

मेधा का परिचय सन् १९२२ ई० में उस समय मिला जब आप एम० ए० (संस्कृत) की परीक्षा में सम्मिलित हुए थे। उपाध्याय जी ने दो भारत विख्यात संस्कृतज्ञों-पाण्डेय रामावतार शर्मा एवं आचार्य बापू भाई ध्रुव के तत्त्वावधान में, संस्कृत-साहित्य का अध्ययन किया था। एम०ए० की मौखिक परीक्षा में पंडितजी के परीक्षक पंडित गंगानाथ झा एवं ध्रुव जी थे। परीक्षा का माध्यम संस्कृत-भाषा थी। पंडित गंगानाथ झा परीक्षा में कठोरता के लिए प्रख्यात थे। उन्होंने अपने जीवन में केवल एक व्यक्ति पंडित गोपीनाथ कविराज को प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया था। उसके बाद उन्होंने पं० बलदेव उपाध्याय को प्रथम श्रेणी प्रदान की थी। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, श्री झा महोदय ने, इन दो व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी अन्य को अपने जीवन में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं किया था। छात्र रूप में एम० ए० में ही, पं० बलदेव उपाध्याय को, संस्कृत-साहित्य का इतना अगाध ज्ञान था, यह सबसे बड़ा प्रमाण है।

## संस्कृत कालेज की आचार्य परीक्षा

सन् १९२५ ई० में पं० बलदेव जी "गवर्नमेंट संस्कृत कालेज" से आचार्य-परीक्षा में, उत्तीर्ण हुए। उस समय आचार्य-परीक्षा का एकमात्र केन्द्र क्वीन्स-कालेज था। यहाँ नेपाल तक के परीक्षार्थी परीक्षा देने आते थे। भारतवर्ष के उत्तर से दक्षिण तक तथा पश्चिम से पूरब तक के सभी संस्कृत के छात्र वाराणसी में ही परीक्षा देने के लिए आते थे। इस परीक्षा के परीक्षक भी उस युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध पंडित ही होते थे तथा उस युग में कतिपय व्यक्ति ही आचार्य-परीक्षा में सम्मिलित एवं उत्तीर्ण होते थे।

## देवप्रयाग में आचार्य उपाध्याय के साथ

सन् १९४३ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हरिद्वार में हुआ था। इसके सभापति हिन्दी के राष्ट्रकवि पं० माखनलाल चतुर्वेदी थे। इसके पूर्व हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन अबोहर (हरियाणा) में सम्पन्न हुआ था जिसके सभापति प्रसिद्ध विद्वान् डा० अमरनाथ झा थे। हरिद्वार के सम्मेलन में डा० झा भी उपस्थित थे क्योंकि उन दिनों सम्मेलन के प्राण राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन सन् १९४२ के आन्दोलन में जेल में थे। इस सम्मेलन में आचार्य बलदेव उपाध्याय भी सम्मिलित हुए थे। झा महोदय की उपस्थिति से सम्मेलन का अधिवेशन अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ था। स्वागत-समिति का सम्पूर्ण भार महन्त श्री शान्तानन्द नाथ के ऊपर था। सम्मेलन की समाप्ति पर एक दिन प्रतिनिधियों की देवप्रयाग की यात्रा सम्पन्न हुई थी। इस यात्रा में लगभग डेढ़ सौ साहित्यिकों के साथ आचार्य उपाध्याय भी सम्मिलित हुए थे। रात्रि में देवप्रयाग में ही ठहरने की व्यवस्था थी। संयोग से

उस दिन पूर्णिमा थी। भोजनोपरान्त यह निश्चय हुआ कि अलकनन्दा के तट पर कवि-सम्मेलन किया जाय। यह सम्मेलन सम्पन्न हुआ। पं० बलदेव जी हिन्दी के कवि नहीं हैं किन्तु उस दिन आपने संस्कृत के अनेक भावपूर्ण श्लोक व्याख्या सहित सुनाये। आपने रवीन्द्रकृत गीताञ्जलि के मूल गीतों का बंगला में सस्वर पाठ किया। वहाँ समवेत साहित्यिक मन्त्र-मुग्ध होकर पंडित उपाध्याय की वाणी सुनते रहे। एक ओर बंगला का मधुर गायन तथा दूसरी ओर अलकनन्दा का कल-कल निनाद, दोनों में, अपूर्व स्पर्धा थी। आचार्य उपाध्याय उन दिनों तरुण थे। उस दिन की कवि-गोष्ठी के आप ही प्रसिद्ध नायक थे।

## संस्कृत के लिए समर्पित जीवन

आचार्य उपाध्याय जी संस्कृत-भाषा एवं साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिए पूर्णतः समर्पित हैं। आपने स्कूल एवं विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्ययन आधुनिक प्रणाली से किया था। उन दिनों संस्कृत के अध्यापन के लिए स्वीकृत-माध्यम अँग्रेजी भाषा थी। अतएव उपाध्याय जी को अपना अध्यापन अँग्रेजी के माध्यम से ही करना पड़ता था। इस सिलसिले में आप मैक्समूलर, वेबर, मैक्डॉनल, टॉमस, विन्टर्निट्ज़ आदि संस्कृत के अंग्रेज-विद्वानों की आलोचना-पद्धति से पूर्णतया परिचित हुए। इसके साथ ही पंडित जी ने पौरस्त्य पद्धति से वेद, वेदाङ्ग, वेदान्त, व्याकरण, उपनिषद्, न्याय दर्शन, एवं महाकाव्यों का अध्ययन मूल रूप में, परम्परा से सम्पन्न किया था।

## बलिया हिन्दी-प्रचारिणी स्वागत-भाषण

बलिया में हिन्दी के प्रबल समर्थक एवं प्रचारक बाबू हरिकृष्ण राय थे। आप जिले में, प्रथम विशारद परीक्षा-उत्तीर्ण व्यक्ति थे। आप पहले "बैरिया" (द्वाबा) में मिडिल-स्कूल के सहायक अध्यापक थे किन्तु बाद में हिन्दी के प्रचार-प्रसार कार्य को विस्तार देने के लिये आपने अपना स्थानान्तरण "बलिया मिडिल-स्कूल" में करा लिया था। आपने हिन्दी प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी जो आज भी किसी न किसी रूप में चल रही है। इस सभा का अधिवेशन सन् १९२५ ई० में बलिया चौक में हुआ था। इसके सभापति वाराणसी के लाला भगवानदीन जी थे। स्वागताध्यक्ष का भार आचार्य बलदेव उपाध्याय पर था। मैं उन दिनों इंटरमीडिएट का छात्र था तथा इस वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुआ था।

आचार्य उपाध्याय ने, सर्वप्रथम अपने भाषण में, सम्भाग के नाम "बलिया" की व्युत्पत्ति पर विचार किया। आपने इसका सम्बन्ध पौराणिक राजा बलि से जोड़ा। बालेश्वरनाथ के लिंग की प्राचीनता की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित

करते हुए आपने कहा था—"यह वही विग्रह है, जिसकी राजा बलि पूजा करते थे।" आपने बलिया स्थित 'कारों" गाँव का भी उल्लेख किया था जहाँ भगवान् शकर ने काम का दहन किया था।

इसी भाषण में आचार्य उपाध्याय ने भोजपुरी भाषा के व्याकरण का भी संक्षिप्त एवं सारगर्भित विश्लेषण किया था तथा उसकी विशिष्टता की ओर ध्यान आकर्षित किया था। भोजपुरी लोक साहित्य में बिरहा का स्थान निर्धारित करते हुए आपने कहा था—"बिरहा" बिरह एवं उमंग का गाना है। मैं आचार्य उपाध्याय का भाषण मन्त्रमुग्ध होकर सुन रहा था। बलिया के पुरातत्त्व एवं वहाँ की भाषा भोजपुरी के सम्बन्ध में इतने उच्चस्तर का भाषण सुनने का मेरा यह प्रथम अवसर था। आगे चलकर 'भोजपुरी के उद्‌गम और विकास" को अपने डी० लिट्० के अधिनिवन्ध रूप में प्रस्तुत करने का जो मैंने प्रयत्न किया उसमें उपाध्याय जी का यह भाषण भी प्रेरणा का स्रोत था।

## शिष्यों के प्रति स्नेह भाव

आचार्य उपाध्याय ने सन् १९२२ ई० से सन् १९६१ तक हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। इस सुदीर्घकाल में आपके अनेक शिष्य हुए, इनके एक शिष्य डा० राजबली पाण्डेय थे जो प्राचीन इतिहास के पंडित थे। डॉ० पाण्डेय जबलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति भी हुए थे। वे मेरे सहयोगी थे। उपाध्याय जी के तत्त्वावधान में इण्टर तथा बी० ए० में डॉ० पाण्डेय को संस्कृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला था। उपाध्याय जी का उल्लेख आने पर डॉ० पाण्डेय वाष्पगद्‌गद कण्ठ से उनकी उदारता, विद्वत्ता, ऋजुता एवं सरलता की प्रशंसा करते थे। वास्तव में उपाध्याय जी जन्मजात अध्यापक एवं आचार्य हैं। उनके सम्मुख प्राचीन आचार्यों के आदर्श रहे हैं, जिसका आज के युग में प्रायः अभाव है।

## उपाध्याय जी का कृतित्व

वास्तव में आचार्य उपाध्याय को उनकी कृतियों से अत्यधिक प्रतिष्ठा मिली है। आपने संस्कृत-वाङ्मय का आलोड़न-विलोड़न एवं मंथन कर अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना की है। आपने संस्कृत के पवित्र गंगाजल से राष्ट्रभाषा-हिन्दी को अभिसिंचित किया है। आप द्वारा लिखित ग्रन्थ संस्कृत एवं हिन्दी, दोनों के अध्येताओं के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं। नीचे इनका विवरणात्मक परिचय दिया जाता है—

आचार्य उपाध्याय ने वेद, पुराण, दर्शन एवं काव्यशास्त्र विषयक कई महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

वैदिक-वाङ्मय के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ आप द्वारा प्रणीत **"वैदिक साहित्य और संस्कृति"** है। इस ग्रन्थ रत्न में आचार्य उपाध्याय ने वैदिक-साहित्य का पूर्ण विवरण दिया है। प्रवेश-खण्ड में वेद का महत्त्व, स्वरूप, वेदानु-शीलन का इतिहास, वेद का रचनाकाल तथा वेद की व्याख्या-पद्धति का प्रामाणिक वर्णन है। इतिहास-खण्ड में वेद तथा वेदांग का क्रमबद्ध-इतिहास है। संस्कृत-खण्ड में वैदिक संस्कृति के मान्य सिद्धान्तों का विवरण दिया गया है। वैदिक व्याकरण तथा स्वर-प्रक्रिया का भी संक्षिप्त-वर्णन इस कृति में उपलब्ध है। भारतीय-समीक्षाओं एवं पाश्चात्य-आलोचकों की विचारधाराओं की भी इसमें तर्कपूर्ण समीक्षा की गई है।

इस शृंखला की दूसरी कृति **"आचार्य सायण और माधव"** है। इन दोनों भाइयों ने वेद के कठिन अंशों पर भाष्य लिखकर वेद के गूढ़-रहस्य का उद्घाटन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनों भाइयों माधव एवं सायण के जीवन चरित्र एवं उनके सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। वास्तव में वैदिक-वाङ्मय का यह एक अनूठा ग्रन्थ है।

इस वैदिक माला का तीसरा ग्रन्थ **"ज्ञान की गरिमा"** है। इसमें वेद के निर्दिष्ट प्राचीन आख्यानों का वर्णन सरल भाषा में, आचार्य उपाध्याय ने प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के द्वारा वैदिक समाज का शुभ्ररूप पाठकों के सम्मुख आ जाता है।

पौराणिक ग्रन्थों में आचार्य उपाध्याय की सबसे प्रख्यात कृति **"पुराण-विमर्श"** है। इसमें अठारह पुराणों का गम्भीर मंथन एवं अध्ययन किया गया है। लेखक ने प्राचीन तथा दोनों दृष्टियों से पुराणों की आलोचना की है। इसमें पुराणों का समय तथा लक्षण, पौराणिक प्रतीक-वाद का विषय वर्णन उपलब्ध है। अपने ढंग का यह प्रामाणिक एवं मौलिक ग्रन्थ है।

इस माला की एक दूसरी कृति है—**"भारतीय वाङ्मय में श्री राधा"**। यह ग्रन्थ भारतवर्ष के समस्त मान्य भाषा साहित्यों में राधा की रूपरेखा का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करता है।

इसी शृंखला में आचार्य उपाध्याय की कृति **"भागवत सम्प्रदाय"** का नाम उल्लेखनीय है। भारत के धार्मिक साहित्य के इतिहास में वैष्णव सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व है। इस सम्प्रदाय ने भारत के साहित्यिक-सम्पत्ति की वृद्धि में जितना

योगदान किया है सम्भवतः उतना किसी ने नहीं किया। प्रस्तुत पुस्तक में इसी वैष्णव सम्प्रदाय का ऐतिहासिक विकास तथा तात्त्विक सिद्धान्तों का विशिष्ट विवेचन किया गया है। यह पुस्तक बारह अध्यायों में विभाजित है। प्रथम तीन परिच्छेदों में वैष्णव सम्प्रदाय की पृष्ठिभूमि में विद्यमान ग्रन्थों का विवेचन किया है, महाराष्ट्र तथा दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों के साथ-साथ रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ एवं राधावल्भीय सम्प्रदाय का विवरण पुष्ट प्रमाणों के आधार पर दिया गया है। अन्तिम परिच्छेद में वैष्णवी साधना से सम्पर्क रखने वाले तत्त्वों का उद्‌घाटन किया गया है।

आचार्य उपाध्याय ने दर्शन विषयक कई ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनका प्रामाणिक विवरण नीचे दिया जाता है। इस श्रेणी का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ **भारतीय-दर्शन** है। यह हिन्दी साहित्य का अमर ग्रन्थ है। केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से पाठक भारत के विशाल दर्शनों का इतिहास तथा सिद्धान्तों से पूरा परिचय प्राप्त कर सकता है। इसमें उपनिषद्, गीता, षड्‌दर्शन, बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शन का प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध है। तन्त्रशास्त्र का इसमें जो वर्णन है, वह अन्यत्र प्राप्त नहीं है। स्वर्गीय डॉ० भगवानदास की सम्मति में यह ग्रन्थ-रत्न हिन्दी, दर्शन के इतिहास में, श्रेष्ठतम अग्रगण्य-ग्रन्थों की श्रेणी में ऊँचा स्थान रखता है।''

आचार्य उपाध्याय कृत एक अन्य कृति **भारतीय-दर्शनसार** है। यह ग्रन्थ सामान्यजनों के लिये सुबोधभाषा में लिखा गया है। इसमें भारतीय दर्शन का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम-खण्ड में भारतीय-दर्शन के मूल स्रोत का विवेचन है। द्वितीय खण्ड में वेद-बाह्यय-विचार-धारा का प्रतिपादन है। इसमें बौद्ध, जैन तथा चार्वाक-दर्शन को स्पष्ट किया गया है। तृतीय खण्ड में षड्‌दर्शनों की व्याख्या की गई है। चौथे खण्ड में वेदान्त के इतर सम्प्रदायों का वर्णन है। अंत में उपसंहार है। इसमें सभी दर्शनों का समन्वय किया गया है।

इसी श्रेणी में आचार्य जी की कृति **'धर्म और दर्शन'** का समावेश है। यह ग्रन्थ भारतीय-दर्शन का परिशिष्ट-रूप पूरक-खण्ड है। इसमें विभिन्न धर्मों के विस्तृत विवरण के अनन्तर धर्म तथा दर्शन का सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। विद्वान् आलोचकों ने इस ग्रन्थ की प्रशंसा की है।

इसके बाद आचार्य उपाध्याय की कृति **''बौद्ध दर्शन मीमांसा''** उल्लेखनीय है। यह बौद्ध-दर्शन की शाखा-प्रशाखाओं के मूल्यांकन एवं प्रतिपादन का ग्रन्थ है। इसमें हीनयान, महायान, मंत्रयान एवं काल-चक्रयान का मार्मिक विवेचन किया

गया है। श्री गोपीनाथ कविराज की सम्मति में यह ग्रन्थ बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त जानने के लिये एक छोटा विश्वकोष है। बर्मी तथा सिंहली में इस ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है।

इसी श्रेणी में उपाध्याय जी द्वारा लिखित दो अन्य ग्रन्थ **"शंकर दिग्विजय"** एवं **"आचार्य शंकर"** हैं। माधवाचार्य द्वारा **"शंकर दिग्विजय"**, में शंकराचार्य की जीवन की घटनाओं, व्यापक-प्रभाव, अलौकिक-पाण्डित्य तथा कर्मठ-जीवन का चित्र अत्यन्त सुन्दरता से खींचा गया है। इसी विशिष्टता के कारण सुबोध हिन्दी में इसका अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। **आचार्य शंकर** में आदि शंकराचार्य का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक के अन्त में अद्वैत-वेदान्त के आचार्यों का विवरण प्रथम बार इस पुस्तक में दिया गया है। इस ग्रन्थ का अनुवाद कन्नड़ भाषा में भी हुआ है।

## आचार्य उपाध्याय-कृत आलोचना-विषयक-ग्रन्थ

आचार्य उपाध्याय ने आलोचना विषयक कई प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। इनमें **"भारतीय शास्त्र"** (प्रथम-खंड) तथा **"भारतीय साहित्य शास्त्र"** (द्वितीय-खंड) को अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। इसमें **"भारतीय-साहित्यशास्त्र"** (प्रथम-खंड) में संस्कृत के आलोचनाशास्त्र के इतिहास एवं सिद्धान्त का विशद वर्णन उपलब्ध है।

**"भारतीय साहित्य शास्त्र"** (द्वितीय-खंड) में साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन तुलनात्मक शैली में किया गया है। यह तुलना पश्चिम के सिद्धान्तों से की गई है। इसमें रीति, वृत्ति तथा वक्रोक्ति नामक काव्य तथ्यों का निरूपण ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया गया है तथा उनका क्रम-विकास पूर्णतया दिखलाया गया है।

इस माला का दूसरा ग्रन्थ **"संस्कृत आलोचना"** है। इस ग्रन्थ के तीन खंड हैं। इसके प्रथम-खंड में काव्य के हेतु, प्रयोजन तथा स्वरूप के विषय का विवेचन संक्षेप में किया गया है। द्वितीय-खंड में काव्य के रूपों का विशद वर्णन विस्तार से किया गया है। तृतीय-खंड का विवेच्य-विषय काव्य-सिद्धान्त है। इस ग्रन्थ में संस्कृत आलोचना के मौलिक सिद्धान्त अपने विशिष्टरूप में उपलब्ध हैं।

## संस्कृतेतिहास-विषयक ग्रन्थ

आचार्य उपाध्याय द्वारा प्रणीत इस शृंखला में **संस्कृत-साहित्य का इतिहास** एक उत्कृष्ट कृति है। इसके समान किसी भी भारतीय भाषा में कोई ग्रन्थ नहीं है।

इसमें चार खंड है जिनमें रामायण, महाभारत, दृश्य-काव्य तथा अलंकार-शास्त्र का पूर्ण प्रामाणिक विवरण प्राप्त है। ग्रन्थ के अन्त में संस्कृत के इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों की विवरण-समेत सूची दी गई है। इस ग्रन्थ-रत्न का अनुवाद कन्नड़ तथा तेलगू भाषाओं में हो गया है।

इस माला की एक अन्य कृति **"संस्कृत-सुकवि-समीक्षा।"** है। इस ग्रन्थ में मान्य कवियों की आलोचना, उनका समय निरूपण तथा उदाहरण सहित उनके काव्यों की समीक्षा की गयी है।

इसी कोटि में आचार्य उपाध्याय कृत **"काव्यानुशीलन"** आता है। इसमें पाँच-खंड हैं। जिसमें काव्य के विभिन्न तत्त्वों की मीमांसा की गयी है।

ऊपर के शीर्षक के अन्तर्गत एक अन्य ग्रन्थ **"संस्कृत वाङ्मय"** की गणना है। इसमें उपाध्याय जी ने संस्कृत के विशाल-साहित्य का दिग्दर्शन कराया है। इसमें वेद, काव्य, नाटक, गद्य, कथा, धर्म तथा दर्शन आदि संस्कृत साहित्य के विविध अंगों का विशद रूप में वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी ने **'संस्कृत शास्त्रों का इतिहास"** नामक बहुमूल्य ग्रन्थ का भी प्रणयन किया है। इसमें संस्कृत भापा में लिखित आयुर्वेद, ज्योतिष, अलंकार-शास्त्र, छन्द-शास्त्र, कोष-विद्या तथा व्याकरणशास्त्र का विस्तृत-इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसमें लेखकों के साथ-साथ उनके ग्रन्थों का भी विशद विवेचन किया गया है। यह अपने विषय का अपूर्व ग्रन्थ है।

पण्डित जी द्वारा लिखित संस्कृत-विषयक अन्य ग्रन्थों के अन्तर्गत **"आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ"** की गणना है। इसमें केवल वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि का ही प्रामाणिक-विवरण नहीं है बल्कि जैनियों तथा बौद्धों के मूल धार्मिक ग्रन्थों का भी प्रामाणिक-वर्णन उपलब्ध है। यह ग्रन्थ संक्षेप में ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों के रहस्य जानने के लिये एक छोटा विश्वकोश है। इसमें तन्त्रों का भी विशद वर्णन है।

उपाध्याय जी ने **"सुभाषित-विषयक सूक्ति-मञ्जरी"** का भी प्रणयन किया है। इसमें पन्द्रह परिच्छेद हैं। इनमें भिन्न-भिन्न विषयों के सुभाषित एक साथ रखे गये हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि प्रत्येक सुभाषित का अर्थ आलोचनात्मक ढंग से हिन्दी में किया गया है।

## सम्पादित ग्रन्थ

ऊपर के मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त पण्डित जी ने सात ग्रन्थों को सुचारु रूप से सम्पादित किया है। ये हैं—

(१) वेद-भाष्य-भूमिका-संग्रह
(२) भास-नाटकम् (भाग १ व २)
(३) अग्नि-पुराणम्
(४) भरत-नाट्य-शास्त्रम्
(५) भामह-काव्यालंकार
(६) नागानन्द-नाटकम्
(७) प्राकृत-प्रकाश (संजीवनी और सुवोधिनी टीका से युक्त)

ऊपर के सभी सम्पादित ग्रन्थ अत्यन्त श्रमपूर्वक प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य उपाध्याय द्वारा लिखित सभी ग्रन्थ, विद्वानों एवं उच्च कक्षा के छात्रों के लिए वरदान स्वरूप हैं। ये सभी ग्रन्थ संस्कृत एवं हिन्दी के अध्येताओं के लिये अत्यधिक उपादेय हैं। अपने इन ग्रन्थों के द्वारा पण्डित जी ने केवल हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु भारत के अन्य भाषा-भाषी क्षेत्रों में भी विपुल कीर्ति अर्जित की है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय सरलता, शुचिता एवं ऋजुता के साकार विग्रह हैं। आप "विद्या ददाति विनयम्" के मूर्तरूप हैं। परमात्मा आपको शतायु करें जिससे आप संस्कृत एवं राष्ट्रभाषा-हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा कर सकें।



# मेरे पिता जी

**डॉ० गोपाल शंकर उपाध्याय**

*प्रोफेसर धातुकी विज्ञान, आई० आई० टी०*

कानपुर

पिता जी की विद्वत्ता का पहला आभास मुझे बचपन में हुआ जब उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का "मंगला प्रसाद पारितोषिक" भारतीय दर्शन पर मिला। उस ताम्रपत्र को हम बच्चे कई बार देखते तथा छूते थे। उस पुस्तक की रचना पिताजी ने अथक परिश्रम तथा लगन से की थी। इसके वाद उनके ग्रन्थों की शृंखला बढ़ती ही गई और उन्हें प्रतिष्ठा भी मिली। हिन्दी में उनकी रचना को देखते हुए, बहुत पाठक नहीं जानते कि पिता जी ने अँग्रेजी तथा संस्कृत में भी इसके पूर्व लिखा, जिसमें कई पुस्तकों की टीका भी थी और जो काशी में चौखम्बा से प्रकाशित हुई। भारत की स्वतन्त्रता के वाद हिन्दी में लिखने का एक अभूतपूर्व उत्साह था, जो अब कुंठित होता जा रहा है। पिता जी की स्पष्टवादिता ने कहीं-कहीं उन्हें हानि भी दी। हालाँकि इस पर भी उन्हें कई मानदों से विभूषित किया गया। उनके लिखने-पढ़ने का व्यसन ही आज हमें हिन्दी में भारतीय साहित्य तथा शास्त्रों की इतनी जानकारियों से पूर्ण कर रहा है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति, धर्म एवं साहित्य के प्रचार हेतु कहीं भी जाने से पिता जी सकुचाते नहीं थे, चाहे बुलाने वाला अमीर हो या गरीब, चाहे सभा में ५,००० व्यक्ति हों या ५०। धर्म में असीम आस्था रखते हुए भी उन्हें नास्तिकों से घृणा नहीं है। कर्म में आस्था वे व्यक्तिगत रूप में लेते हैं, बाहरी दिखावा तथा साधु-संतों के जंजाल में फँसे बिना, इसके अतिरिक्त किसी ऐतिहासिकता में असत्यता लाना पिता जी को स्वीकार नहीं। वे अँग्रेजी भाषा के ज्ञान के समर्थक हैं। अँगरेजी के बड़े विश्व कोषों का पठन तथा तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करते हैं। वे पश्चिमी विद्वानों की ठोस सेवा के प्रशंसक तथा आज के घटिया डॉक्टरेट निबन्धों के विरोधी हैं। वे किसी भी विषय के मूल तक जाने के समर्थक तथा दूसरे की बातों को विना कसौटी पर कसे आँख मूँद कर मानने के सर्वथा विरोधी हैं। कभी-कभी उन विद्वानों के भी आलोचक हैं जो थे तो उच्च कोटि के विद्वान् लेकिन उनकी कलम चलती ही नहीं थी।

पिता जी के मुख्य शिष्यों में स्व० डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, स्व० डॉ० राजबली पाण्डेय तथा डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त काशी के नरेश श्री विभूति नारायण सिंह तो हैं ही, जो पुराण के उद्धार के निमित्त एक प्रकाशस्तम्भ हैं। राजनीति में रुचि नहीं, लेकिन जो भी मंच भारतीय संस्कृति के गुण-गायक हैं, उसके प्रशंसक हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् के नेता गण कम से कम भारतीय संस्कृति के महत्त्व को समझते थे। पिता जी इनमें से एक डा० के० एम० मुन्शी के समर्थक हैं।

हिन्दी के लिए पिता जी ने बहुत किया। यह तब किया जब सरकारी तन्त्र में हिन्दी समितियों का गठन भी नहीं किया गया था। हालाँकि वे शाब्दिक ही ज्यादा हैं। 'उर्दू अकादमी' कम ही पैसों में कहीं अच्छा कार्य कर रही है। पिता जी की कई पुस्तकें कई दक्षिणी और एशियाई भाषाओं में अनूदित हैं, जिसका हम सबको गर्व है। भारत के किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन को ले लें, उनमें आपको पश्चिमी राष्ट्र के हो लोग दिखेंगे, अपने पड़ोसियों की कोई जानकारी ही नहीं। यह भूलना नहीं चाहिये कि सांस्कृतिक सूत्र में वे ही हमारे निकट हैं। किसी भी राष्ट्र की गरिमा उसका अतीत है, जिस पर वर्तमान बना है। पिता जी इसके समर्थक हैं। उनकी पुस्तक 'आर्य संस्कृति' इसका प्रबल द्योतक है। मैं जब रूस में था, वहाँ प्रत्येक जानकार व्यक्ति से सुना कि उनकी भाषा का मूल संस्कृत है। लेकिन इस देश में यह कहना कि भारत की सब भाषायें संस्कृत से निकली हैं, कभी-कभी अमान्य भी होता है। यह एक विलक्षण विडंबना है।

पिता जी की सबसे हाल की कृति 'काशी की पांडित्य परम्परा' बड़े ही परिश्रम की देन होगी। अपनी खराब आँखों के बावजूद उसे पूरा करना, एक दुःसाहस ही होगा। अब देखना है कि काशी के कितने पंडित प्रपंचों से समय बचा कर इसे पढ़ते है तथा उन आदर्श पंडितों की जीवनचर्या का थोड़ा भी अनुकरण करते हैं। जिस धर्म संकट से संस्कृत की गाड़ी चल रही है, दोनों शिक्षकों तथा छात्रों के पक्ष से, उस पर न लिखना ही ठीक है। अब इसकी आलोचना पिता जी ने थक कर बन्द ही कर दी। अच्छा होता संस्थायें सरकारी चन्दों से न चलकर कर्मठ व्यक्तियों के चन्दों से चलतीं। तभी तो एक स्वस्थ नव जागृति आती।

संस्कृति की निःस्वार्थ धर्मपरायण सेवा, सदा नवीन ज्ञान का अर्जन, दूसरे के जाल-जंजाल से दूर तथा सबसे ऊपर मानवता तथा आध्यात्मिकता से अटूट लगाव—ये ही गुण हैं जिनके कारण मुझे पिता जी पर सदा गर्व रहता है तथा रहेगा।



# मेरे पूज्य पिताजी

*श्री गौरीशंकर उपाध्याय*

*भूतपूर्व सहायक निदेशक*

**उत्तर प्रदेश**

पिता जी अपने छात्रों को अध्ययन के लिये सर्वदा प्रेरणा दिया करते थे। अन्य परिचित व्यक्तियों से भी वार्तालाप के अनन्तर वे सरस्वती की सेवा की विषय में अवश्य पूछते थे कि 'सरस्वती की सेवा आजकल कर रहे हो या नहीं। जो पढ़ाते हो उसके विषय में चिन्तन किया करो और उसे लिपिबद्ध कर लिया करो जिससे वह भविष्य में काम आवेगा।' जीवन भर देखता रहा कि पिताजी सरस्वती की सेवा में अपना अमूल्य समय विताते रहे। थोड़ा भी समय मिल जाता है, तो उसमें भी अध्ययन करने बैठ जाते हैं। पढ़ने-लिखने में वे इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें भूख-प्यास भी नहीं लगती। इसी का फल है कि वे इतने ग्रन्थों के निर्माण में कृतकार्य हुए हैं।

पिता जी के साथ एक यात्रा की स्मृति आज भी मेरे चित्त में अंकित है। हिन्दी के माध्यम से दर्शन के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के स्पृहणीय उद्देश्य से स्थापित 'अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का वार्षिक अधिवेशन गया में होने वाला था जिसमें पिताजी सभापति के रूप में आमंत्रित किये गये थे। इनके साथ सभा में सम्मिलित होने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था। 'गया कालेज' के दर्शनशास्त्र के अध्यक्ष पण्डित अर्जुन चौबे 'काश्यप' इस सम्मेलन के आमन्त्रणकर्ता तथा व्यवस्थापक थे। इसी के अध्यक्ष पद पर पिता जी प्रतिष्ठित होकर गये थे। उनका विशेष स्वागत हुआ। उनके अध्यक्षीय भाषण में भारतीय दर्शन की उत्पत्ति तथा विकास के साथ ही साथ दार्शनिक सिद्धान्तों के विश्लेषण तथा विवेचन भी बड़ी विशदता के साथ किये गये थे। अपने कथन की पुष्टि में पिता जी ने पुराण के अनेक विख्यात आख्यानों का आध्यात्मिक विवेचन कर श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर दिया था। एक ही आख्यान का यहाँ संकेत कर रहा हूँ और वह है प्रह्लाद-चरित की आध्यात्मिक व्याख्या।

पिता जी ने बड़े ही सरल शब्दों में अपने मन्तव्य को प्रकट करते हुये कहा था—भारत के अध्यात्मवेत्ता विद्वान् डंके की चोट प्रमाणित करते आ रहे हैं कि

अर्थ की ऐकान्तिक उपासना स्वार्थमयी प्रवृत्ति की जननी है। वह मानव समाज को परम सौख्य की ओर कथमपि अग्रसर नहीं कर सकती। 'हिरण्यकशिपु' के पुत्र रूप में 'प्रह्लाद' का जन्म अवश्य होता है, परन्तु पुत्र ही पिता के सर्वनाश का कारण बनता है। इस घटना का रहस्य नितान्त गूढ़ तथा विचारोत्तेजक है। 'कशिपु' वैदिक शब्द है शतपथ ब्राह्मण में अनेकत्र प्रयुक्त। इसका अर्थ है—शय्या, सेज। श्रीमद्-भागवत में ही यह वैदिक शब्द प्रयुक्त हुआ है—सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः (सोने के लिये जमीन जब है तब सेज की जरूरत ही क्या ?) अतः 'हिरण्यकशिपु' का अर्थ है सोने की सेज पर सोने वाला प्राणी, भोग-विलास में आसक्त मानव। आज कल की भाषा में समग्र पूँजीपति 'हिरण्यकशिपु' के ही प्रतिनिधि हैं। 'प्रह्लाद' प्रकृष्ट आह्लाद अर्थात् सातिशय आनन्द का द्योतक है। हिरण्यकशिपु के प्रासाद में प्रह्लाद नहीं जनमेगा तो क्या वह टूटी खाट पर सोने वाले दीन-हीन-दरिद्र की कुटिया में पैदा होगा ? नहीं, कभी नहीं। परन्तु पिता होने पर भी हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को स्वायत्त नहीं कर सकता। महान् संघर्ष छिड़ जाता है पिता पुत्र में। प्रह्लाद पहाड़ से गिराया जाता है परन्तु वह मरता नहीं। पहाड़ों की सैर से विलासी का आनन्द कम नहीं होता प्रत्युत वह बढ़ जाता है। जल में डुबाने से भी प्रह्लाद नहीं मरता। समुद्र की सैर आनन्द उपजाती है, उसे नष्ट करने की बात ही दूर रही। हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद अवश्य है परन्तु वह उसके वश में नहीं है। यही है सात्विक आनन्द का भौतिक अर्थ के साथ घोर विरोध और इसका शमन तभी सम्भव है जब अर्थ की भौतिकता का, स्वार्थपरायणता का सर्वथा विनाश कर उसे अध्यात्म की ओर झुकाया जाय। इसीलिये नरसिंह के द्वारा हिरण्यकशिपु का संहार कर प्रह्लाद प्रतिष्ठित किया जाता है। यह पौराणिक आख्यान इसी गम्भीर रहस्य का द्योतक है।

इस उपसंहार को सुनकर पूरी सभा आह्लाद से गद्गद हो गई और कहने लगी कि आज पौराणिक कथाओं को समझने का एक नया सूत्र उनके हाथ लगा।

इन सभाओं के प्रत्यक्षदर्शी होने के कारण मैंने अपनी प्रतिक्रिया यहाँ अभि-व्यक्त की है। अब शान्ति पर्व का यह पितृप्रशंसापरक पद्य उद्धृत कर इस संस्मरण को समाप्त करता हूँ—

'पिता धर्मः पिता स्वर्गः पितैव परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रियन्ति देवताः॥

तथास्तु, पूज्य पिताजी के श्रद्धेय कर-कमलों में यह श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।



# मेरे बाबा

**डा० रवीन्द्र कुमार दुबे**

**कानपुर**

आचार्य बलदेव उपाध्यायजी मेरे मातामह हैं। शैशवकाल में ही मेरी माता के निधन के पश्चात् मेरा पालन-पोषण उन्होंने एवं मेरी मातामही ने किया। मेरे मामा के लड़के उन्हें 'बाबा' कहते थे। संयुक्त परिवार में रहने के कारण मैं भी उन्हें बाबा ही कहने लगा। उनका सान्निध्य मुझे करीब चौबीस वर्षों तक निरन्तर मिलता रहा। इस लम्बी अवधि के दौरान मैंने बाबा को बहुत करीब से देखा है और जैसा पाया है उसे अपने तुच्छ शब्दों में प्रकट करता हूँ।

## ज्ञान की खान

इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने सम्भवतः सन् १९७० या १९७१ में बाबा की पुस्तक '**भारतीय वाङ्मय में श्री राधा**'' को पिछले दस वर्षों में प्रकाशित मौलिक ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया था एवं उस पर पुरस्कार प्रदान किया था। इसके उपलक्ष में एक समारोह का आयोजन हिन्दुस्तानी एकेडेमी के परिसर में हुआ था, जिसमें मैं भी उपस्थित था। राधा के ऊपर बाबा ने अपना व्याख्यान देते हुए कहा था कि भगवान् में त्रिविध शक्तियों—सन्धिनी, संवित् तथा ह्लादिनी—का समावेश है। इन तीनों शक्तियों में क्रमशः गुणों का उत्कर्ष होता है। ह्लादिनी शक्ति ही भगवान् की समग्र शक्तियों की परिपूर्णता की द्योतिका है। भगवान् की शक्तियों का पूर्णतम विकास इसी ह्लादिनी में दृष्टिगोचर होता है और इसीलिए यह शक्तियों में, स्वरूप शक्ति में भी, मुख्यतया मानी गई तथा यही राधा का दार्शनिक स्वरूप है। बाबा ने बताया था कि राधा भारत के सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में विद्यमान हैं। कहीं केवल 'सखी' शब्द के द्वारा ही निर्दिष्ट हैं। तमिल साहित्य में उनका एक विशिष्ट नाम है 'नप्पिनैयी'। फलतः भारतवर्ष का समग्र साहित्य राधा की मधुरिमा से व्याप्त है।

स्वर्गीय पं० सुमित्रानन्दन पन्त जी ने अपने भाषण में कहा था कि पंडित जी की कृतियों, विशेषकर ''**वैदिक कहानियों**'' एवं ''**वैदिक साहित्य और संस्कृति**'' से मैंने बहुत प्रेरणा ली है। उन्होंने हास्य की दृष्टि से यह भी कहा कि सबको

एक-एक राधा अवश्य रखनी चाहिये। मैं जब वेल्स विश्वविद्यालय, स्वान्सी (ब्रिटेन) में था तो वहाँ के अँग्रेजी के प्राध्यापक डाक्टर जॉन रामसरन ने, जिन्होंने अपना शोध-प्रबन्ध हिन्दी एवं अँग्रेजी के भक्ति-साहित्य पर लिखा था बाबा के **भारतीय वाङ्मय में श्री राधा** पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी तथा कहा था कि कृष्ण एवं राधा के प्रणय के बारे में पश्चिम जगत् में जो भ्रान्ति है उसका निराकरण करने में इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण योगदान होगा।

हमारी मातामही के पितामह पंडित यागेश्वर दत्त शास्त्री काशी के प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उनके पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ **''हैमवती''** ( परिभाषेन्दुशेखर की टीका) का प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से हुआ है। इस पुस्तक के विमोचन का समारोह था तथा अतिथि थे पं० कमला पति त्रिपाठी। इस अवसर पर बाबा ने उपरोक्त पुस्तक के लेखक से अपना पारिवारिक सम्बन्ध बताते हुए कहा कि इसके लेखक मेरी 'धर्मपत्नी' के पितामह हैं। इस पर त्रिपाठी जी ने कहा कि धर्मपत्नी क्यों, केवल पत्नी ही। बाबा ने इस पर उस समय ज्यादा बहस छेड़नी उपयुक्त नहीं समझी एवं इस प्रतिक्रिया को टाल गये। कुछ दिनों पश्चात् आदरणीय पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी जी का लेख **'धर्मयुग'** में प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने भी धर्मपत्नी शब्द के प्रचलन को अनुचित मानते हुए पत्नी शब्द के ही प्रचलन की वकालत की थी। तब बाबा का कान खटका तथा उन्होंने ''पत्नी और धर्मपत्नी—अर्थ विवेचना'' शीर्षक निबन्ध लिखा। व्याकरण एवं धर्मशास्त्र के आधार पर बाबा ने सिद्ध किया कि जो भार्या पति के ही समान वर्ण में उत्पन्न हो तथा धर्मशास्त्र में वर्णित धार्मिक विवाह के द्वारा विवाहित हो और जिसका पुत्र सभी पुत्रों में मुख्यता प्राप्त करने वाला अपने पिता के रिक्थ का अधिकारी हो, वही 'धर्मपत्नी' कहलाने की योग्यता रखती है। आदिकाव्य **वाल्मीकि रामायण** से प्रारम्भ कर परवर्ती काव्यों में अनेक स्थलों पर पत्नी एवं धर्मपत्नी दोनों शब्दों का समानार्थक प्रयोग बाबा ने खोज निकाला। अतः सवर्णा, धर्मविवाह से विवाहित, धार्मिक कृत्यों में पति की सहधर्मिणी साध्वी भार्या के लिए पत्नी एवं धर्मपत्नी दोनों शब्दों का प्रयोग न्याय-संगत है। **धर्मयुग** ने उस निबन्ध को अत्यधिक गम्भीर एवं शास्त्रीय मानकर प्रकाशित नहीं किया। अगर हिन्दी की पत्र-पत्रिकायें ही हिन्दी के पाठकों को अन्धकार में रखें तो इससे बढ़कर हिन्दी का दुर्भाग्य और क्या होगा।

बाबा को **''संस्कृत शास्त्रों का इतिहास''** ग्रंथ लिखते समय एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ मिला था। व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रंथ **''प्रक्रिया कौमुदी''** पर प्रख्यात विद्वान् शेषकृष्ण ने **''प्रक्रिया-प्रकाश''** टीका लिखी थी। ये अकबर के समकालीन थे। अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री बीरबल (वीरवल) के आदेश से उन्हीं के 'कल्याण' नामक पुत्र को व्याकरण सिखाने के लिए इन्होंने यह टीका लिखी। शेषकृष्ण ने अपने

आश्रयदाता राजा बीरबल का पूरा वंशवृक्ष तथा ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है :

**कामो वामदृशां निधिर्नयजुषां कालानलो विद्विषां**
**स्वःशाखी विदुषां गुरुर्गुणवतां पार्थो धनुर्धारिणम् ।**
**लीलावासगृहं कलाकुलभुवां कर्णः सुवर्णार्थिनां**
**श्रीमान् बीरबरः क्षितीश्वरवरो वर्वर्ति सर्वोपरि ।।**

(आरम्भ का २१वाँ श्लोक)

उक्त टीका के आधार पर बाबा ने खोज निकाला कि बीरबल का जन्म कानपुर के ब्रह्मावर्त के 'पत्रपुंज' (पटौजा) नामक ग्राम में ब्राह्मण वंश में हुआ था तथा उनके पितामह तथा पिता का नाम क्रमशः रूपधर तथा गंगादास था। उन्होंने बीरबल को ब्रह्मभट्ट वंश में उत्पन्न मानने की प्रचलित प्रथा को अप्रामाणिक सिद्ध किया। इस विषय पर **'कादम्बिनी'** में एक विशद लेख प्रकाशित हुआ था।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा में तुलसी जयन्ती समारोह का आयोजन था। बाबा मुख्य अतिथि थे। व्याख्यान में उन्होंने कहा कि तुलसीदास ने एक स्थान पर लिखा है कि "लिखत सुधाकर लिखगा राहू" का शाब्दिक अर्थ यह हुआ कि कोई चन्द्रमा लिख रहा था और लिख गया राहु। परन्तु यह कैसे सम्भव है? इस पर उन्होंने काष्ठजिह्वा स्वामी द्वारा लिखित रामायण की टीका **'रामायण परिचर्या'** का उल्लेख किया जिसमें उन्होंने इसकी व्याख्या में केवल इतना ही लिखा है कि "एक तरफ ज्यादा स्याही गिर जाने से"। 'लिखन' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा कि यहाँ 'लिखन' से लिखने का तात्पर्य न होकर चित्रांकन से है जिसका प्रयोग बिहारी ने अपने निम्नलिखित दोहे में किया है :

**लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर ।**
**भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ।।**

"राहोः शिरः"—राहु का सिर ही अवशिष्ट है। फलतः उसी का चित्रण किया जाता है। चन्द्रमा का भी गोलाकार बिम्ब सिर स्थानीय है। फलतः दोनों के चित्रण में समानता है। अन्तर इतना ही है कि राहु के एक ओर का अंश कुछ मोटा है। अतः सुधाकर का अंकन करते समय एक ओर स्याही गिर जाने से वह राहु के रूप में परिणत हो जाता है। इसी तथ्य की ओर तुलसीदास जी का संकेत है।

—५—

## अनवरत परिश्रमी

बाबा पढ़ने-लिखने में बहुत परिश्रम करते हैं। प्रतिदिन वे ब्राह्म-मुहूर्त्त की बेला में उठ जाते हैं जब कि पूरा परिवार सोया रहता है तथा पठन-पाठन में जुट जाते हैं। वे सबको ब्राह्म-मुहूर्त्त में उठ कर पढ़ने की शिक्षा देते हैं। वे हमेशा डॉ० गंगानाथ झा का उदाहरण दिया करते हैं जो नियमपूर्वक प्रतिदिन कुछ न कुछ लिखा करते थे। बाबा के परिश्रमी होने का आभास मुझे उस समय विशेष रूप से लगा जब वे पुराण-विमर्श लिख रहे थे। १९६३ ई० के आसपास वे सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में पुराण विभागाध्यक्ष मनोनीत किये गये थे। नियुक्त होने के एक वर्ष के भीतर ही उन्होंने पुराण के ऊपर उक्त मौलिक एवं विशद ग्रन्थ लिख डाला। इस कार्य के लिये वे रात-दिन घोर परिश्रम करते थे। वे जिस विषय पर लिखना शुरू करते हैं उसको समाप्त करके ही दम लेते हैं। हमारी नानी कहती हैं कि जब बाबा भारतीय दर्शन लिख रहे थे, तब वे इतना परिश्रम करते थे कि उन्हें घर के बारे में सोचने के लिये भी फुर्सत नहीं थी। यह ग्रन्थ इतना प्रामाणिक निकला कि प्रकाशित होने के तुरन्त बाद ही इस पर उन्हें हिन्दी जगत् का प्रसिद्ध "मंगला प्रसाद पुरस्कार" प्राप्त हुआ। उनके परिश्रम का अन्य उदाहरण है उनके द्वारा सम्पादित वररुचि का "प्राकृत प्रकाश"। इसकी 'संजीवनी' नामक टीका की केवल एक ही प्रति हस्तलेख रूप में उपलब्ध है जो इंडिया आफिस पुस्तकालय, लंदन में सुरक्षित है। उसकी लिपि इतनी विचित्र थी कि ग्रियर्सन, कावेल आदि पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा भी पढ़ी नहीं जा सकी। बाबा ने उक्त हस्तलेख को मँगवाया तथा सरस्वती भवन में उपलब्ध प्राकृत प्रकाश के केवल एक ही परिच्छेद के सुबोध लेख की प्रति की सहायता से उक्त हस्तलेख की लिपि के रहस्यों का पता लगाया। तदनन्तर इसका सम्पादन किया, जो सरस्वती भवन संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ।

## प्रगतिशीलता

अगर बाबा खान-पान में संकीर्ण विचारधारा वाले हैं, तो पठन-पाठन में उनके विचार बिलकुल प्रगतिशील हैं। एक बार उनके शिष्य-स्वरूप डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय (सम्प्रति, प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, नेपुल्स विश्वविद्यालय, इटली) उनसे मिलने आये, तो उन्होंने पूछा कि क्या लिख-पढ़ रहे हो? डॉ० पाण्डेय ने कहा कि "मैं आजकल अरबी सूफी सन्त मंसूर हल्लाज की कृति "कितावुत्तवासीन" का अनुवाद हिन्दी में कर रहा हूँ। इसके लिये मुझे मुल्ला एवं मौलवियों के यहाँ भी ज्ञानार्जन के लिए जाना पड़ता है। इस पर बाबा बहुत प्रसन्न हुए तथा कहा कि तुम हिन्दी जगत् को एक अनोखी चीज दे रहे हो"। बाबा के प्रगतिशील विचारों की डॉ० पाण्डेय ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

बाबा के परिवार के अनेक सदस्य विदेश में उच्च अध्ययन करने के लिये गये। परन्तु उन्होंने कभी भी इसका प्रतिकार नहीं किया। बाबा को अँग्रेजी भाषा से कोई द्वेष नहीं है, परन्तु अँग्रेजियत के हिमायती नहीं हैं। शुरू-शुरू में बाबा अंग्रेजी में ही लिखा करते थे, परन्तु उनके गुरु पं० रामावतार शर्मा जी ने उन्हें हिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी। बाबा की विज्ञान में भी काफी रुचि है। वे समय-समय पर अन्तरिक्ष यान, प्रक्षेपास्त्र, उपग्रह आदि पर अपनी जिज्ञासा किया करते हैं। स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित करते हैं तथा पर्दा प्रथा में विश्वास नहीं करते।

## प्रेरणा-स्रोत

बाबा अपने शिष्यों एवं स्वजनों को हमेशा लिखने-पढ़ने की प्रेरणा देना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं। वे उन आचार्यों में नहीं जो खुद तो खूब पठन-पाठन करना चाहते हैं, परन्तु दूसरों को उत्साहित नहीं करते। जब कभी भी उनका कोई शिष्य अपनी प्रकाशित पुस्तक की प्रति भेंट-स्वरूप देने आता है, वे उसकी उपलब्धि पर पर बहुत प्रसन्न होते हैं। वे उन आचार्यों में नहीं जो अपने सहयोगियों या शिष्यों की कृतियों के प्रकाशित होने पर ईर्ष्या करते हों, तथा उनके लिये दुष्कामना करते हों।

मेरे बाबा की कोई "आचारिय मुट्ठी" (आचार्य मुष्ठि) नहीं है। उनकी 'आचार्य मुष्टि' सर्वदा खुली रहती है और वे हाथ खोलकर स्वयं उपार्जित शास्त्रीय तथ्यों को अपने छात्रों में बाँट देने में अग्रसर रहते हैं। यही कारण है कि उनके शिष्यों की उन पर अपार श्रद्धा तथा अटूट निष्ठा है।

मेरे बाबा स्वभाव से बिलकुल निर्मल हैं तथा उनके हृदय के किसी भी कोने में छल-कपट का प्रवेश नहीं है। वे दूसरों के रहस्यों के बारे में रुचि नहीं रखते। बाबा चरित्र को सोने के घड़े के समान नहीं अपितु मिट्टी के घड़े के समान समझते हैं जिसे बहुत सम्हाल कर रखना चाहिये अन्यथा एक बार टूट जाने पर पुनः जुट नहीं सकता।

## जीवन-दर्शन

गीता का प्रसिद्ध श्लोक "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" ही बाबा का जीवन दर्शन है। कर्म करने में विश्वास करते हैं। उन्होंने सरस्वती की मूक एवं निःस्वार्थ सेवा की। उन्होंने पद, सम्मान, या लक्ष्मी प्राप्ति के लिये कभी सरस्वती-सेवा नहीं की। उनका विश्वास है कि सरस्वती की सेवा का फल कभी न कभी किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है—'नहि वन्ध्या सरस्वती'। अर्गला

स्तोत्र का "विद्यावन्तं यशस्वन्तं लक्ष्मीवन्तं जनं कुरु" उनका आदर्श है। पहिले विद्या प्राप्ति, तत्पश्चात् यश की प्राप्ति की कामना करनी चाहिये। अगर इन दोनों की प्राप्ति हो गई तो लक्ष्मी अपने आप परछाई की तरह आती हैं। 'समय नष्ट न करो'—यह उनका दूसरा आदर्श है। समय द्रुत गति से चलता है, उसको पकड़ने की कोशिश करनी चाहिये।

बाबा मस्तिष्क की सभी खिड़कियों एवं दरवाजों को खुला रखने को कहते हैं जिससे चारों तरफ से ज्ञान की किरणें आती रहें तथा अज्ञान को दूर करती रहें। मुझे बाबा के साथ रहने एवं उनसे बहुत कुछ सीखने पर गर्व है तथा रहेगा।



# भइया जी के संस्मरण


डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय

वाराणसी


## अध्ययन के प्रति अटूट अनुराग

जिन दिनों की मैं चर्चा कर रहा हूँ उन दिनों विद्युत की सुविधा का आगमन काशी नगरी में नहीं हुआ था। मैदागिन और दशाश्वमेध की चौमुहानी पर गैस के हण्डे जला करते थे और गलियों में म्युनिसिपैलिटी की वत्तियाँ टिमटिमाती रहती थीं जो प्रकाश से अधिक अन्धकार को ही पैदा करती थीं। ऐसी अवस्था में घरों में प्रकाश के लिये लालटेन—जिसे लोकभाषा में 'लाटमेन' कहा जाता था—अथवा दीपक प्रयोग में लाया जाता था। इस कार्य के लिये हम लोगों के घर में भी एक लालटेन थी जो अत्यन्त जीर्ण शीर्ण तथा प्राचीन होने के कारण किसी संग्रहालय की शोभा बढ़ाने के लिये ही अधिक उपयुक्त थी। फिर यह राजयक्ष्मा और दमा इन दोनों ही भयंकर रोगों से पीड़ित थी। जलाने पर जब वह 'फक् फक् फक्' करने लगती थी तब उसका दम कब निकल जायेगा ? यह पता नहीं चलता था।

इसलिये अध्ययन कार्य के लिये हम लोगों ने रेंड़ी (एरंड) के तेल का दीपक जलाने का निश्चय किया। पीतल की बनी 'दीयटि' के ऊपरी भाग में स्थित दीपक को रेंड़ी के तेल से भर दिया जाता था और इसमें चारों ओर चार बत्तियाँ जला दी जाती थीं। एक दिशा में बैठकर भइया जी (आचार्य बलदेव उपाध्याय), दूसरी दिशा में अग्रज भाई जी (डॉ० वासुदेव उपाध्याय) और तीसरी दिशा में मैं सिमट कर बैठा हुआ अध्ययन करता था। भइया जी उन दिनों काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक के पद को सुशोभित कर रहे थे और उनकी नियुक्ति अभी कुछ वर्षों पूर्व (सन् १९२२ ई०) वहाँ हुई थी।

हम दोनों भाई तो दीपक के उस प्रकाश में पढ़ते पढ़ते वहीं सो भी जाया करते थे परन्तु भइया जी नित्य प्रति लगातार दस-ग्यारह बजे रात्रि तक पढ़ा करते थे। रात्रि के अधिक देर तक पढ़ने के पश्चात् भी ये नियमित रूप से अध्ययन के लिये चार बजे प्रातः उठ जाते थे और जब वह हम लोगों को पढ़ने के लिये जगाते

थे, तभी हमारी कुम्भकर्णी निद्रा टूटती थी। प्राध्यापक के पद पर आसीन होते हुए भी—जब अनेक अध्यापकों को अध्ययन से वैराग्य पैदा हो जाता है—भइया जी का स्वाध्याय लगभग बीस-पच्चीस वर्षों तक इसी प्रकार अनवरत गति से चलता रहा।

आज भी वे जब कोई नयी पुस्तक मिल जाती है उसका अध्ययन अवश्य करते हैं। कुछ वर्षों पहिले विदेशी लेखक कोलिन्स तथा डोमिनीकलीपियर की लिखी **फ्रीडम ऐट मिडनाइट** नामक पुस्तक निकली थी। एक दिन मैंने भइया जी से पूछा कि क्या आपने उक्त पुस्तक को पढ़ा है? उन्होंने उत्तर देते हुए कहा कि उसे उलट पुलट कर देखा है। मैंने पूछा कि कहाँ? तब उन्होंने उत्तर दिया 'बुक स्टाल' पर। जरमनी दास की लिखी सुप्रसिद्ध पुस्तक **'महाराजा'** के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उपर्युक्त दोनों विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित तथा अभी अभी प्रकाशित (१९८२) **लार्ड माउण्ट बेटन एण्ड पार्टिशन ऑफ इण्डिया** पुस्तक भी उनकी नजरों से गुजर चुकी है।

## विविध भाषाओं का ज्ञान

भइया जी ने अनेक भाषाओं का अध्ययन किया है। संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं के ये प्रकाण्ड पण्डित हैं—यह कथन पुनरुक्ति मात्र होगा। इन्होंने इन तीनों भाषाओं का हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन ही नहीं किया प्रत्युत अनेक ग्रन्थों की रचना भी की है। **प्राकृत प्रकाश** का दो अप्रकाशित टीकाओं के साथ सम्पादन इनके प्राकृत के गम्भीर ज्ञान पर प्रकाश डालता है। इसी प्रकार से भरत के **नाट्य शास्त्र** का काशी में प्रथम बार विमर्शात्मक सम्पादन इनकी गम्भीर विद्वत्ता को प्रकट करता है।

भइया जी ने हिन्दी भाषा में कोई कागजी डिग्री तो प्राप्त नहीं की है फिर भी इनका हिन्दी का अध्ययन बड़ा ही तलस्पर्शी है। इन्होंने **"रसिक गोविन्द और उनकी कविता"** का प्रणयन आज से पचासों वर्ष पहिले किया था। **"भारतीय साहित्य शास्त्र"** नामक पुस्तक का दो भागों में प्रणयन तथा प्रकाशन हिन्दी के तथाकथित विद्वानों तथा काव्य-शास्त्रियों को आश्चर्य सागर में निमज्जित कर देता है। इन ग्रन्थों की रचना के अतिरिक्त, इनका हिन्दी-साहित्य का ज्ञान विशेषकर रीति कालीन कवियों का अध्ययन—बड़ा ही गम्भीर है।

भइया जी का बंगला, गुजराती तथा मराठी साहित्य का ज्ञान भी अच्छा है। बंगला को तो ये अपनी मातृभाषा के समान बोल सकते हैं। रवि बाबू की मृदुल रसभरी कविता से इन्हें बड़ा अनुराग है। सन् १९४५ या ४६ ई० में बंगाल के

चन्द्रनगर स्थान में अ० भा० देववाणी सम्मेलन हुआ था जिसमें इन्होंने अध्यक्ष पद को सुशोभित किया था। यहाँ श्रोतागण केवल दो ही भाषाओं को समझ सकते थे। भइया जी का अध्यक्षीय भाषण तो संस्कृत में था। परन्तु इन्होंने उस सम्मेलन के संयोजक श्री मोतीलाल राय को उस समय चकित कर दिया जब धारा प्रवाह बंगला में उनके साथ वार्तालाप करने लगे।

विदेशी भाषाओं में ये जर्मन तथा फ्रेञ्च भाषाओं से परिचय रखते हैं। जर्मन भाषा की संस्कृत के साथ बहुत कुछ समानता होने के कारण, इसका ज्ञान होना स्वाभाविक है। फ्रेञ्च भाषा का भी इन्हें काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त है।

## सादा जीवन तथा उच्च विचार

भइया जी का जीवन बड़ा ही सादा है। ठाट-बाट से रहना अपनी शान-शौकत का प्रदर्शन करना इनकी प्रकृति के नितान्त विरुद्ध है। इन्होंने अपने जीवन में विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा निदेशक के पद को सुशोभित करते हुए भी—कभी ठाट-बाट नहीं दिखलाया। उन दिनों भी इनकी वेश-भूषा धोती, कुर्ता, चादर और चप्पल थी जो आज भी उसी रूप में विद्यमान है, हाँ उस समय ये शिरस्त्राण के रूप में एक लम्बीं (गोलाकार नहीं) टोपी अवश्य धारण करते थे जिसका अब नितान्त अभाव पाया जाता है। जाड़े के दिनों में ये ऊनी कोट अवश्य ही पहिनते थे और आज भी पहिनते हैं परन्तु उस कोट के नीचे कमीज के स्थान पर कुर्ता ही सुशोभित रहता है। पूजा के समय ये पादुका (खड़ाऊ) का उपयोग करते हैं परन्तु निवास स्थान के भीतर भ्रमण करने के लिये बाटा का हवाई चप्पल ही पर्याप्त होता है।

## भोजन

भइया जी का भोजन-छाजन भी बड़ा ही सादा है। भोजन के विषय में वे उपनिषदों में वर्णित श्रेय और प्रेय का बड़ा ही ध्यान रखते हैं। ये स्वभाव से ही मधुर भाषी होने के साथ ही साथ मधुर-भोजी भी हैं। इसीलिये ये खीर तथा मालपुआ को अधिक पसन्द करते थे। यहाँ भूतकाल का प्रयोग इसलिए किया जा रहा है कि डाक्टरों की सलाह के अनुसार अब इन्होंने घृत-शर्करा समन्वित भोज्य पदार्थों का परित्याग ही कर दिया है। भइया जी दूध तो अवश्य पीते हैं परन्तु चाय-पान से उन्हें अत्यन्त वैराग्य है। एक बार इन्होंने मुझसे अलंकृत भाषा में कहा था कि "मुझे चाय की चाह नहीं है और 'काफी' की चर्चा भी काफी नहीं है।"

## क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे

भइया जी आज तिरासी वर्ष की वय में विद्यमान होने पर भी लेखन कार्य में सतत सक्रिय तथा तल्लीन रहते हैं। परन्तु जहाँ तक लेखन-उपकरणों का सम्बन्ध है वह बहुत ही साधारण कोटि का है। बहुत से लोग एक पत्र को लिखने के लिए भी अपने 'स्टडी रूम' के सेक्रेटेरियट टेबुल के सामने, 'रिवाल्विंग चेयर' (घूमने वाली कुर्सी) पर बैठने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। परन्तु भइया जी के निवास स्थान में कोई 'स्टडी रूम' है या नहीं इसका मुझे सम्यक् ज्ञान नहीं है।

भइया जी जमीन पर बैठकर ही चार-चार, पाँच-पाँच घण्टा लगातार ग्रन्थ लेखन का कार्य किया करते हैं। लिखने के लिये टेबुल के स्थान पर इनके सामने एक छोटी सी 'चौकी' विराजमान रहती है 'जिस पर (सफेद) फुलस्केप कागज के अतिरिक्त सहायक ग्रन्थ भी रखे रहते हैं। अपने उमड़ते हुए हार्दिक विचारों को लिपि की कारा में बाँधने के लिए ये 'फाउण्टेन पेन' का प्रयोग तो अवश्य करते हैं परन्तु वह शेफर और पार्कर की कोटि का नहीं होता, अतः ठीक ही कहा है 'क्रिया सिद्धि : सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'।

## साहित्य सर्जना

भइया जी ने अपनी छात्रावस्था से हिन्दी में लेख लिखना आरम्भ किया। इस विषय में इनके दो प्रेरणास्रोत थे—लाला भगवानदीन जी तथा म० म० पण्डित रामावातार शर्मा। लालाजी १९१९ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उनसे घनिष्ठ सम्पर्क में इन्हें आने का सुअवसर उसी समय प्राप्त हुआ। पण्डित रामावतार जी को एम० ए० कक्षा में वेद तथा साहित्य के अध्यापन काल में इन्हें संस्कृत विषयक नवीन तथ्यों से अवगत कराया। फलतः इन्होंने संस्कृत कवियों के जीवनवृत्त, उनकी कविता की आलोचना आदि का विवरण हिन्दी में प्रकाशित करना आरम्भ किया। लालाजी के द्वारा सम्पादित **'लक्ष्मी'** नामक पत्रिका (गया से प्रकाशित) तथा पण्डित द्वारिका प्रसाद मिश्रा द्वारा सम्पादित **'श्री शारदा'** नामक पत्रिका (जबलपुर से प्रकाशित) में इनके लेख १९२० ई०-१९२४ ई० में प्रकाशित होते थे। दोनों गुरुजनों की विमल प्रेरणा का परिणत फल इन साहित्यिक लेखों में देखा जा सकता है। हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में नियुक्ति के अनन्तर अपने सहअध्यापक पण्डित बटुकनाथ शर्मा के सहयोग से निर्मित **'रसिक गोविन्द तथा उनकी कविता'** नामक परिचयात्मक लघुग्रन्थ (हिन्दी प्रचारिणी सभा, बलिया, १९२७ ई०) इनकी प्रथम रचना है। तब से आरम्भ कर आज तक (१९८२ ई०) लगातार पचास वर्षों तक इन्होंने अदम्य उत्साह, तथा

अश्रान्त परिश्रम द्वारा अपने उपार्जित ज्ञान का वितरण अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के माध्यम से किया है।

## ग्रन्थ-रचना

आपने हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी इन तीनों ही भाषाओं में ग्रन्थ रचना की है जिनकी संख्या तीस से भी अधिक है। इन्होंने वेद, पुराण, साहित्य, दर्शन, काव्य-शास्त्र, जीवनी, आलोचना तथा इतिहास सम्बन्धी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनका मूल्यांकन कोई मर्मज्ञ विद्वान् ही कर सकने में समर्थ है।

महाकवि मुरारि ने यह सत्य कहा है—

"अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरताम् ।
आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ॥

## अद्भुत स्मरण-शक्ति

ऐसा सुना जाता है कि महाराजा विक्रमादित्य की सभा में नवरत्नों में कुछ ऐसे अद्भुत स्मरण शक्ति सम्पन्न कवि थे जो किसी श्लोक को एक बार ही सुन कर उसे स्मरण पथ पर उतार लेते थे। भाई साहब के सम्बन्ध में भी यही बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। इन्हें संस्कृत कवियों के हजारों श्लोक कण्ठस्थ हैं। हिन्दी कवियों में विहारी और घनानन्द की कविता के सैकड़ों पद ये सुना सकते हैं। किं बहुना, बंगला के कवि डी० एल० राय और रवि बाबू के अनेक गीतिमय पद्य इनकी जिह्वा पर नाचते रहते हैं। परन्तु इनकी स्मरण-शक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है किसी कविता को सद्यः सुन कर तत्काल उसे स्मरण कर लेना। नैषधचरित के लम्बे-लम्बे श्लोक इन्हें कण्ठस्थ हैं। कालिदास की सरस तथा मनोहारिणी कविता के विषय में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। इन्होंने अद्भुत स्मरण-शक्ति प्राप्त की है। परन्तु ऐसा क्यों न हो ? आप उस परम मेधावी तथा अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न गुरु ( म० म० रामावतार शर्मा ) के पट्ट शिष्य हैं जिन्होंने अपनी वाल्यावस्था में ही पूरी की पूरी **'चैम्बर्स डिक्शनरी'** को कण्ठस्थ कर लिया था और जिसके विषय में महाकवि श्री हर्ष की यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती थी— "अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी"।

### अभिमान का अभाव तथा विनम्रता की मूर्ति

भइया जी के जीवन में अभिमान का अत्यन्ताभाव पाया जाता है। जब मैंने उनके समक्ष यह सुझाव रखा कि 'काशी की पाण्डित्य-परम्परा'' का जो इतिहास आप लिपिबद्ध कर रहे हैं उसमें आपका भी नाम—अन्त में ही सही, सम्मिलित होना चाहिए तब वे बड़े ही असमंजस में पड़ गये और कुछ सोच विचार कर मेरे प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए बोले कि ''यह महान् विद्वानों का इतिहास है। इसमें मेरी कहाँ गुंजाइश हो सकती है''। परन्तु जब मैंने बाल-हठ पकड़ लिया और कहा कि आपकी जीवनी के बिना यह ग्रन्थ अपूर्ण ही रहेगा, तब इन्होंने किसी किसी प्रकार से आचार्य आनन्द शंकर ध्रुव के विद्यार्थी के रूप में अपना नाम देना स्वीकार किया। फिर भी प्रधान पण्डितों की माला की मनिका बनना इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इनका स्वभाव बड़ा विनम्र है। ठीक ही है। विद्या ददाति विनयम्। किसी से किसी विषय पर शास्त्रार्थ करना इनकी प्रकृति के विरुद्ध है।

### यात्रा से विराग

भाई साहब यात्रा करने से बहुत ही कतराते हैं। परन्तु परिभ्रमण से वैराग्य होते हुए भी, उन्हें देश और विदेश की दर्शनीय वस्तुओं की जानकारी से पूर्ण अनुराग है। सन् १९८० ई० में जब मैं तीनों धाम की तीर्थ यात्रा पर जा रहा था तब मैंने इनसे भी चलने की प्रार्थना की। परन्तु इन्होंने मुझसे कहा कि तुम तीर्थ यात्रा कर आओ, मैं काशी में बैठे हुए ही पुस्तकों के माध्यम से समस्त तीर्थों की यात्रा कर चुका हूँ। तीर्थ यात्रा से लौट कर आने पर जब मैं इनके दर्शन के लिये गया तब इन्होंने मदुराई के सुप्रसिद्ध मीनाक्षी के मन्दिर, तिरुपति के भगवान् वेंकटेश्वर के मन्दिर तथा चिदम्बरम् के नटराज के मन्दिरों का विस्तृत वर्णन कह सुनाया जो विस्मयकारी था। विदेश के दर्शनीय स्थानों के विषय में इनकी जानकारी कुछ कम नहीं है। उस दिन भाई साहब ने मेरे ज्येष्ठ पुत्र (डा० हरिशंकर उपाध्याय) को जो उन दिनों जार्जिया विश्वविद्यालय, अमेरिका में एसोशियेट प्रोफेसर था, आश्चर्य में डाल दिया जब इन्होंने उससे एटलाण्टा में स्थित 'रोमिंग रेस्टोराँ' के विषय में प्रश्न पूछना शुरू किया। हरिशंकर के यह पूछने पर कि बड़े बाबू जी ! आपको इसकी जानकारी कैसे है ? उन्होंने उत्तर दिया कि मैंने इसका वर्णन एक अमेरिकन पत्रिका (स्पैन) में पढ़ा था।

### अभिन्न मित्र

भइया जी इस संसार में 'पुष्करपलाशवत्' निर्लेप रहते थे और आज भी रहते हैं। अतः इन्होंने कभी मित्रों को नहीं 'पाला' और न कभी इनकी संख्या बढ़ाने

का ही प्रयास किया। परन्तु इनके एक अभिन्न मित्र अवश्य थे जिनकी चर्चा के बिना—चाहे वह संक्षिप्त क्यों न हो—यह संस्मरण पूरा नहीं हो सकता। ये अभिन्न मित्र तथा सतत सहचर प्रोफेसर बटुकनाथ शर्मा थे जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इनके साथ ही संस्कृत के अध्यापक थे। भइया जी इनका सत्संग प्राप्त करने के लिए, साहित्य चर्चा के लोभ से नित्य प्रति प्रातः तथा सायं इनके घर जाया करते थे। साथ ही, ये दोनों विद्वान्, एक ही सवारी पर चढ़कर विश्वविद्यालय जाते और साथ ही लौटते थे। उन दिनों भाई साहब का अधिकांश समय इनके ही 'साहित्य सदन' में व्यतीत होता था। वहाँ अनेक साहित्य-चर्चायें छिड़तीं, अनेक कविताओं का पाठ होता था। "वसन्त पूजा" के वैदिक मन्त्रों से उनका कक्ष गूंज उठता था। इस प्रकार वे बड़े ही आनन्द के दिन थे।

## दिनचर्या

पहिले, भाई साहब ब्राह्म मुहूर्त में चार बजे प्रातः ही जग जाते थे। परन्तु अब डाक्टरों की सलाह के कारण, कुछ देर से अर्थात् पाँच बजे के लगभग, सभी ऋतुओं में समान रूप से जग जाते हैं। कुछ देर तक भगवान का भजन तथा ध्यान करने के पश्चात् शौचादि से निवृत्त होकर गंगा-स्नान के लिये चले जाते हैं जो उनके (रवीन्द्रपुरी, न्यूकालोनी) के पास ही है। स्नान कर लौटने के पश्चात् ये प्रतिदिन संकट मोचन हनुमान् का दर्शन करने के लिये जाते हैं। वहाँ से आने के पश्चात् ये भगवान् की पूजा और पाठ करते हैं जिसका क्रम लगभग दो घण्टों तक चलता रहता है। पश्चात् थोड़ा दुग्ध पान (**भइयाजी कभी चाय नहीं पीते**) करने के बाद स्वाध्याय करने बैठ जाते हैं। दस-ग्यारह बजे के आसपास रोटी-दाल का सादा भोजन करते हैं, पश्चात् विश्राम। दो-तीन बजे लगभग जग कर पुनः लेखन या साहित्य चर्चा में प्रवृत्त हो जाते हैं। प्रातः तथा सायं थोड़ा भ्रमण भ. करते हैं। ९ बजे रात को पुनः भोजन के पश्चात् शयन। दूसरे दिन फिर प्रातः उठकर इन्हीं कामों की पुनरावृत्ति करते हैं।

तिरासी वर्ष की वय प्राप्त होने पर भी, भइया जी आज भी, शरीर से सक्रिय और बुद्धि से प्रखर हैं। इनकी स्मरण शक्ति आज भी तेज़ है। साहित्य की सेवा में अद्यावधि सक्रिय योगदान कर रहे हैं। इनके विषय में विश्वास के साथ अब यह कहा जा सकता है कि—

**"अधीतमध्यापितमर्जितं यशो,**
**न शोचनीयं किमपीह विद्यते।"**

अन्त में भगवान् भूतभावन विश्वनाथ से सविनय मेरी यही प्रार्थना है कि वह नम्रता की मूर्ति, निरभिमानी इस मनीषी को शतायु बनायें जिससे वैदिक ऋषियों की यह प्रार्थना चरितार्थ हो सके—

'जीवेम शरदः शतम् । शृणुयाम शरदः शतम् । प्रब्रुयाम शरदः शतम् ।
अदीनाः स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदः शतात् ।''



# आचार्य बलदेव उपाध्याय की भोजपुरी-सेवा

**डॉ० रविशंकर उपाध्याय**
**वाराणसी**

आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। परन्तु सम्भवतः यह तथ्य बहुत कम लोगों को ही ज्ञात होगा कि आचार्यपाद ने अपनी मातृभाषा भोजपुरी की भी अमूल्य सेवा की है।

सन् १९२५ या २६ ई० में बलिया में बलिया जिला हिन्दी प्रचारिणी सभा का प्रथम अधिवेशन हुआ था। सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री डा० सर ग्रियर्सन ने सन् १८८४ तथा १८८५ ई० में भोजपुरी लोक-गीतों के सम्बन्ध में जे० आर० ए० एस० में सर्व प्रथम चर्चा की थी। इसके पश्चात् इस शताब्दी के प्रथम दशक में इन्होंने भोजपुरी भाषा की विवेचनात्मक मीमांसा प्रस्तुत की थी। परन्तु डा० ग्रियर्सन के लगभग पचास वर्षों के पश्चात् आचार्य उपाध्याय जी ही सर्व प्रथम भारतीय विद्वान् हैं जिन्होंने सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के रूप में दिये भाषण में भोजपुरी भाषा का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण कर, भोजपुरी लोक-गीतों का उदाहरण प्रस्तुत किया। आचार्य जी का यह भाषण अनेक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इस भाषण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी भाषा में लिखित भोजपुरी भाषा तथा भोजपुरी लोक-साहित्य की यह सर्व प्रथम विद्वत्तापूर्ण मीमांसा है। इसके पहिले सर्व साधारण जनता 'भोजपुरी' के नाम से भी परिचित नहीं थी।

सन् १९४२ ई० में डा० कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा संकलित तथा सम्पादित भोजपुरी लोक गीतों का सर्व प्रथम संग्रह, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। उपाध्याय जी ने अपने अग्रज आचार्य बलदेव उपाध्याय से इसकी भूमिका लिखने की प्रार्थना की। आचार्य जी ने दो तीन मास के कड़े परिश्रम के साथ इस संग्रह की भूमिका लिखकर प्रस्तुत की। यह भूमिका लगभग १०० (एक सौ) पृष्ठों में लिखी गई है जिसमें भोजपुरी साहित्य के अतिरिक्त लोक साहित्य का सामान्य परिचय बड़ी ही गम्भीरता के साथ निबद्ध है।

इस भूमिका में वर्णित 'लोक साहित्य की भारतीय तथा लोक साहित्य की पाश्चात्य परम्परा' वाले अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यह देखकर कुछ आश्चर्य हुए

बिना नहीं रहता कि जिस विद्वान् ने संस्कृत साहित्य तथा भारतीय दर्शन के अध्ययन और अध्यापन में ही अपना समस्त जीवन खपा दिया हो उसे पाश्चात्य लोक साहित्य का इतना प्रगाढ़ ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ ? सच तो यह है कि पं० कृष्णदेव उपाध्याय ने सन् १९५१ ई० में "भोजपुरी लोक साहित्य का अध्ययन" नामक जो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया वह आचार्य जी की इस भूमिका का केवल पल्लवन मात्र है, अन्य कुछ नहीं।

आचार्य जी ने भोजपुरी भाषा में अनेक निबन्धों की रचना की है जिनमें केवल एक का ही यहाँ उल्लेख करना पर्याप्त होगा। कुछ वर्षों पूर्व आरा से "भोजपुरी" नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुआ करती थी। इसी पत्रिका में आपने "महाभाष्य और भोजपुरी" शीर्षक लेख लिखा था। इस लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि पतञ्जलि के द्वारा उल्लिखित संस्कृत भाषा के मुहावरे (वाग्योग) भोजपुरी में ही प्रचलित हैं, हिन्दी की किसी अन्य बोली में नहीं। भोजपुरी में ये उत्तराधिकार में प्राप्त हुए हैं। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में दिखलाया है कि कृ (करना) धातु के अनेक अर्थ होते हैं जिनमें सेवा करना, साफ करना, मींजना आदि अर्थ भी सम्मिलित है। उदाहरणार्थ, 'पृष्ठं कुरु' तथा 'पादौ कुरु' का अर्थ पीठ को मींजना तथा पैरों को धोकर साफ करना है (उद्मृजानेति गम्यते)। कृ धातु का यह विशिष्ट अर्थ भोजपुरी में उपलब्ध होता है। भोजपुरी मण्डल का सेवक जब कहता है 'गोड़ों कइलीं, मूँडो कइलीं, तबहूँ रउरा खुस ना भइलीं', तब इस संस्कृत प्रयोग के ही भोजपुरी पर्याय का प्रयोग करता है। फलतः भोजपुरी पतञ्जलि के प्रयोग की विशद व्याख्या करती है—यह कथन सर्वथा सत्य है। पूर्वोक्त लेख में उपाध्याय जी ने इसी तथ्य का उद्घाटन किया है।

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इनकी अमूल्य सेवाओं के साथ ही इनकी भोजपुरी सेवाओं को भी ध्यान में रखना पड़ेगा। इस प्रकार हमें प्राचीन मार्ग दर्शकों के ऋण को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

**"नमः पूर्वजेभ्यः ऋषिभ्यः पथिकृद्भ्यः।"**

# महोत्साहा उपाध्यायमहोदयाः

*पं० श्रीरामचन्द्र मालवीयः*

**ऋषिकेशः**

सततं सुरभारतीसमाराधनसुधाऽऽस्वादसन्तृप्तमनसां विदुषां सन्ति विविधाः विधाः। केचन व्याकरण-न्याय-मीमांसादिप्रस्थानेष्वन्यतममेकमेवोपजीव्य यावज्जीवं तस्मिन्नेव कृतभूरिपरिश्रमाः मानेऽसमानास्तत्राद्वितीयविरुदभाजः सञ्जायन्ते। केचन द्वित्रेषु शास्त्रेषु विषयेषु वा सममेव प्रावीण्यं समधिगत्य महापण्डितपदवीभाजो विभ्राजन्ते। केचनापरे दिव्यप्रतिभा पुरस्कृताः सर्वेष्वपि शास्त्रेष्वगाधाबाधबोधाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा इति ख्याताः प्रातः स्मरणीयाः सञ्जायन्ते। केऽपि च सुरगवीमधुरिममुग्धमानसाः न्यायमूर्त्ति-वाक्कील-महासचिवादिविविधेषु स्वेषु स्वेष्वधिकारेष्वभिरता आङ्ग्लभाषा हिन्दीभाषामाध्यमेन वाऽवकाशक्षणविहिताध्ययनावाप्तयोग्यताकाः संस्कृतानुरागिणो विद्वांसः कथ्यन्ते। कतिपये वैदेशिका वैदिकविज्ञानविमोहिता वेदं कञ्चनैकमाश्रित्य कस्यचित् सुकवेः काव्यमेकं धर्मशास्त्रादिविषयम्वाऽऽधारीकृत्याध्ययनशीलाः ऐतिहासिकतत्त्वान्वेषणैषणाः भारतीयैः सुवहुमानिताः संस्कृतविद्वांसो गण्यन्ते। एतेष्वपि च प्रायशोऽध्यापने प्रवचने लेखने च पृथक् पृथगेव कुशलाः नराः सञ्जायन्ते, तत्रापि केचनैव धन्याः शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठिताः कालिदासीयामिमामुक्तिं स्मारयन्ति।

> **श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।**
> **यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।**

अन्ये पुनः केचन प्रवचनपटवः स्वकीयया गम्भीरपदया सरस्वत्या द्विषामपि मनांसि मोहयन्तः भारवेरिमामुक्तिं चरितार्थयन्ति।

> **विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।**
> **प्रवर्त्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥**

किन्तु प्रवचनेऽध्यापने लेखने च समानमधिकारमावहन्तः केचन विरला एव

जयन्ति ते सम्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये ।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित् प्रकाशताम् ।।

इत्युक्तिं सफली कुर्वन्ति ।

तथा च संस्कृतसभाजे विश्वविश्रुतयशसः श्री बलदेवोपाध्यायाः अनिवार्य-रूपेणावकाशग्रहणकालं यावत् भारतस्यात्यन्तं सुप्रतिष्ठिते काशीहिन्दूविश्वविद्यालये संस्कृतविभागाध्यक्षपदमलङ्कुर्वन्तोऽनन्तरञ्च गुणैकपक्षपातिभिः वाराणसेयसंस्कृत-विश्वविद्यालयस्य प्रथमोपकुलपतिभिः श्री आदित्यनाथझामहाभागैः पुराणविभागा-ध्यक्षपदे प्रतिष्ठापिताः शिष्यैः प्रशिष्यैश्च प्रशंसिताः स्वीयां काञ्चनापूर्वामध्यापन-क्षमतां प्रकटीकृतवन्तः । पुनश्च बह्वीषु संस्कृतहिन्दीपरिषत्सु साभापत्यं विधाय स्वीयमपूर्वं प्रवचनपाटवञ्च प्रख्यापयन्तस्तथा च विश्वविद्यालयीयोच्चतमकक्षासु पाठ्यत्वेनाङ्गीकृतांस्तथा सहृदयानां संस्कृतज्ञानाञ्च कृते ज्ञानवर्धकान् परीक्षार्ण-वोत्तरणाय च पोतस्वरूपान् बहून् विशालान् ग्रन्थान् हिन्दीभाषायां विलिख्य संस्कृते चानेकेषां ग्रन्थानामनुशीलनात्मकं सम्पादनम्विधाय बहुमाना ह्येते देशस्य मान्यै-र्मनीषिभिरभिनन्दिताः सभाजिताश्च बभूवुः ।

## लेखने राष्ट्रियभावना

आङ्गलानां शासनकाले भारतीयशिक्षापद्धतौ महत्परिवर्त्तनं जातमित्या-कलयन्त्येव शिक्षाविदो विपश्चितः । भावे भाषायां भूषायाञ्चैते भारतीया अभारतीया यथा भवेयुर्येनास्माकं शासनं सुदृढं स्यादित्यासीन्मैकालेप्रभृतिकूटनीतिज्ञानां नीतिरत एव संस्कृतं वैकल्पिकविषयमङ्गीकृत्याध्येतॄणां कृते सर्वास्वपि परीक्षासु संस्कृतस्यापि प्रश्नानां समाधानमाङ्ग्लभाषायामेवानिवार्यमभूत्तथा च ए० बी० कीथ, विण्टरनित्ज, मैकडानल्प्रभृतीनामाङ्ग्ललेखकानामेव पुस्तकानि पठित्वा छात्राः परीक्षासूत्तीर्णतां लब्धवन्तः । तैर्लिखिता एव संस्कृतवाङ्मयसम्बद्धा ऐतिहासिका विषया उचिता अनुचिता वाऽस्माकं कृते मान्या अभवन् । ये खल्वाङ्ग्लभाषायां नैपुण्यमभजन् ते श्रेष्ठरङ्कैः समुत्तीर्णा बभूवुरथ ये च तत्रानिपुणास्ते संस्कृतग्रन्थानां स्फुटतरमाशयं जानन्तोऽप्याङ्ग्लभाषायां यथावत्तत्प्रकटयितुमक्षमा मध्यमावरश्रेण्यामेवोत्तीर्णा अभवन् । विषमामिमां परिस्थितिं विलोक्योपाध्याय-महाभागैर्विमृष्टं यद् यावद्धि नास्माकं हिन्दीभाषा समृद्धा भविष्यति तावन्नैव जनोत्साहो भविष्यति तस्यामेव सर्वकार्यसम्पादनार्थमथतदर्थमाग्रहादिविधानञ्च । यथार्थतस्तदानीं हिन्दीभाषायां संस्कृतवाङ्मयस्य विषयानवबोधयितुं कीथादिलिखितग्रन्थवत् संस्कृतकाव्य-नाटकादि-प्रणेतॄणामितिहासः काव्यादिसमीक्षासारश्च नोपष्टब्ध आसीत् । तथा चैभिराङ्ग्लभाषायां वर्त्तमानान् तादृशान् ग्रन्थान् सम्यगालोड्य तेषां त्रुटीः सुसङ्गतेन तर्केण सुदृढेन प्रमाणेन च निराकृत्य अनेकानुपादेयान् आवश्यकग्रन्थान-लिखन् ।

एतैर्लिखितानां ग्रन्थानामिदमस्ति किञ्चिदपूर्वं वैशिष्ट्यं यद्दुरूहा दुर्बोधा अपि शास्त्रीयाः भावाः सरलातिसरलास्तथा मन्दैरपिसुबोधाः सञ्जायन्ते चिराय हृदि प्रतिष्ठाञ्च लभन्ते । बहुभिरुपेक्षितं कञ्चनोपादेयं नूतनं विषयमाश्रित्य लिखितेष्वेतेषां ग्रन्थेष्वैतिहासिकानि नूतनानि तथ्यान्युपलभ्यन्ते । आद्यशङ्कराचार्यविषये तथा सायणमाधवयोर्विषये हिन्दीभाषया लिखितयोर्पुस्तकयोर्विदुषां कृते सन्ति बहूनि ज्ञातव्यान्यैतिहासिकानि तथ्यानि यानि बहूनां ग्रन्थानामालोडनेनोपाध्यायमहाभागैर्नव-नीतवत् समुद्धृतानि ।

**एतेषां लेखनप्रकारः**

संस्कृतविश्व-विद्यालयेऽनुसन्धानसञ्चालकपदे प्रतिष्ठितानामेषां प्रायः प्रत्यहं दर्शनेनाहमेतेषां स्नेहपात्रं जातः । एकदा धार्ष्ट्यादहमपृच्छम्—उपाध्यायमहाभागाः ! आदिवसं विश्वविद्यालयीयकार्येषु व्यापृताः भवन्तः कदा गभीरमध्ययनं कुर्वन्ति कदा च ग्रन्थराशीन् लिखन्ति ? तैरुत्तरितम्—समयच्युतिं परां हानिं मन्यमानानां कृते नास्ति कस्यचिदपि कार्यस्य कृते समयाभावः । यद्यपि सूर्येऽस्तङ्गते नाहं लिखामि नैव च पठामि तथाऽप्यस्ति बहुः कालः । लेखनार्थमहं सर्वमपि क्षणं चिन्तयामि किं लेख्यम्, कथं लेख्यं केषाञ्च कृते लेख्यमिति अथ लब्धे स्वल्पेऽप्यवकाशेऽहं लेखने प्रवृत्तो भवामि । तदर्थमहं सर्वदैवास्यच्छ्वसुर-गृहादानीतस्य "ठाकुर जी" विग्रहस्य समक्षं स्वल्पं काष्ठफलकमाधारीकृत्य लिखामि ।

इतो बहोः कालात् पूर्वं मया कतिपयसंस्कृतविदुषामितिवृत्तं हिन्दीभाषायां लिखितं यत् "संस्कृत के विद्वान् और पण्डित" इति नाम्ना पुस्तकरूपेण प्रकाशितम-भूत् । उपाध्यायमहोदयैस्तदपि पठितं पुनश्चाशीर्वादरूपेणोक्तं नवीनोऽयं शुभोपक्रमो हिन्दीभाषायामतोऽन्येषामपि विदुषां वृत्तं लेखनीयम् । एतदनन्तरं संकटमोचनदर्शन-प्रसङ्गेन यदायदाऽऽवयोर्मेलनं जातं तदा तदोपाध्यायमहोदयैः बहुशः प्रेरितोऽप्यहं परिस्थितिपारतन्त्र्यात्तेषां सत्प्रेरणां सफलीकर्त्तुं नापारयम् । परन्त्वचिरादेव हिन्दू-विश्वविद्यालयीयप्राङ्गणे निष्पन्ने विश्व-संस्कृत-सम्मेलने संयोगादेव संमिलितैरुपाध्याय-महोदयैः सर्वप्रथममेतदेव निगदितं यद् भोः भवान् बहुशः प्रेरितोऽपि न किञ्चिद-करोतिति मया यथाशक्ति ज्ञातानां समेषां संस्कृतविदुषां विषये यावद्धि ज्ञातव्य-मासीत्तत्सर्वं विलिख्य मुद्रणाय दत्तम् । श्रुत्वैतन्मे मनसि महानाह्लादः समजायत यदे-तेषां महानुभावानां मनोहारिण्या शैल्या विलिखितं विद्वच्चरितं किञ्चिदपूर्वमेव मधुरिमोद्गारं भविष्यति विदुषां छात्राणाञ्च कृते येन तपः पूतानामध्ययनाध्यापनं-व्यतिरिक्तविषयविमुखानां प्राचां विदुषां विलोभनीयं वृत्तं विविच्य यदि नाम केचनाल्प-सङ्ख्याका अपि छात्रा आधुनिकान् दोषान्विहाय स्वाध्यायं समाचरिष्यन्ति तर्हि नून-मिदानीमस्माकं ह्रासमुपेयुषी सुरगवी पूर्ववज्जाज्वल्यमानं गौरवमवाप्स्यति ।

## भारतीयसंस्कृतेरनुगमनम्

सरलता शुचिताऽऽडम्बरहीनता च भारतीयसंस्कृतेर्वैशिष्ट्यम् । तथाहि राष्ट्रपतिसकाशात्पुरस्कारमवाप्तुमथवा प्रात्यहिककार्यसम्पादनायापणादिगतानामेतेषां वेषाकारयोः स्वल्पोऽपि विभ्रमो नैव विलोकितः । आकण्ठमावृतं सोत्तरीयं कञ्चुकं धार्यमाणानां कुङ्कुमोज्ज्वलभालदेशानामेषां वेषः सर्वथा भारतीयः । पुनश्च संस्कृत-विदुषां कृते यस्य कस्यापि देवस्येष्टत्वेनाराधनं स्वाभाविकं भवतीति काशीस्थाः सहृदया जानन्त्येव कथमेते नियतेषु दिवसेषु नियतं देवमन्दिरेषु दर्शनार्थं गच्छन्ति प्रात्यहिक-भोजनपानादिवन्नियमेन सप्तशत्यादिपाठस्तुप्रचलत्येव । सततं काश्यां निवसन्तोऽपीमे ताम्बूलतमालपत्रादिसेवनव्यसनानभिभूता सदैव व्यसनानभिभूताः सुखं तिष्ठन्ति ।

एतेषां सम्मानार्थं गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठस्य सहृदयधुरीणानां शास्त्रमर्मज्ञानां प्राचार्यमहोदयानां डा० गयाचरणत्रिपाठिमहोदयानामभिनन्दन-विशेषांकप्रकाशनरूपः प्रयासः सर्वथा प्रशंसार्हः ।



# संस्मरण

***डा० बाबूराम सक्सेना***

**इलाहाबाद**

१९२० में म्योर सेण्ट्रल कालेज से एम० ए० पास करके गुरुदेव डा० गंगानाथ झा के आदेश से मैं संस्कृत का उच्चतर अध्ययन करने के लिये बनारस गया। पण्डित जी उस समय गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल थे। उनके निर्देश से मैंने गुरुवर पं० गोपीनाथ कविराज के पास "संस्कृत साहित्य में अलंकारों का विकास" पर अनुसन्धान करना आरम्भ किया। रहने की कोई सन्तोषपूर्ण व्यवस्था नहीं थी। मित्रवर पं० परशुराम चतुर्वेदी के सुझाव पर मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रो० ए० बी० ध्रुव तथा प्रो० रामावतार शर्मा के पास भी काम करना आरम्भ किया और मुझे किंग एडवर्ड होस्टल में रहने के लिये कमरा मिल गया। वहीं रहकर मैंने जून १९२२ तक अनुसन्धान किया। अन्तिम डेढ़ वर्ष मैंने प्रायः सर्वांश में प्रो० आर० एल० टर्नर के चरणों में बैठकर 'अवधी का विकास' विषय लेकर रिसच का काम किया।

पं० बलदेव उपाध्याय उसी काल में संस्कृत-विषय में एम० ए० की पढ़ाई कर रहे थे। उनके सहपाठी पं० चिम्मन लाल गोस्वामी, पं० हरदत्त शर्मा और पं० उमेश मिश्र थे। एक ही विषय के विद्यार्थी होने के कारण हम सब का परस्पर अच्छा परिचय हो गया। बलदेव जी कविराज जी के पास भी आते थे और इसलिये परिचय और गाढ़ा हो गया।

बलदेव जी ने साहित्य विषय लेकर अध्ययन किया था पर संस्कृत-वाङ्मय की वेद, दर्शनादि अन्य शाखाओं का भी उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। रिसर्च में उनकी विशेष रुचि नहीं थी। इसीलिये उन्होंने रिसर्च की कोई डिग्री नहीं ली। हिन्दी में संस्कृत साहित्य के विविध अंगों पर उन्होंने बहुत अच्छी पुस्तकें लिखी हैं जो संस्कृत के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिये बड़े काम की हैं। बलदेव जी को लिखने का व्यसन रहा है। भर्तृहरि ने महात्मा के प्रकृति सिद्ध लक्षणों में लिखने-पढ़ने के व्यसन को एक लक्षण बताया है जो कि बलदेव जी में पर्याप्त मात्रा में है।

कई वर्ष पहले की बात है कि बलदेव जी ने भेंट होने पर मुझसे पूछा कि "आप नियमपूर्वक ग्रंथ सृजन करते हैं या नहीं।" मैंने कहा कि, "मुझे तो जब अन्दर से बहुत प्रेरणा मिलती है तभी मैं लिखने बैठता हूँ।" बलदेव जी ने हँसकर कहा "तभी आपके प्रकाशन बहुत कम हैं। मेरा तो नियम है कि जब तक मैं कम से कम ३-४ पन्ने लिख नहीं लेता तब तक भोजन नहीं करता"। मुझे विश्वास है कि इस वृद्धावस्था में भी उनका यही क्रम जारी है। निस्सन्देह उनके ग्रंथ बड़े उपयोगी और ज्ञानवर्धक हैं और यह उनकी संस्कृत जगत् को अमूल्य देन है।

आचार विचार में वे कट्टर ब्राह्मण हैं और बड़ी निष्ठा से आचार के नियम का पालन करते हैं। वे मेरे समवयस्क हैं। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वे ऐसे ही काम करते हुए सौ वर्ष तथा उससे भी आगे जियें।



# स्वाध्याय की प्रतिमूर्ति पण्डित बलदेव उपाध्याय

*डा० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'*

वाराणसी

लम्बी सुडौल काया, तेजोद्दीप्त विहँसता मुखमण्डल, घुटनों तक साधारण धोती, कुर्ता और चप्पल, विशेष अवसरों पर दुपट्टा और कभी-कभी टोपी—यह है अकृत्रिम सीधा-सादा व्यक्तित्व पण्डित बलदेव उपाध्याय का। प्रातःकाल गंगास्नान और देवदर्शन—भारतीय संस्कृति पर पूर्ण आस्थावान्।

उपाध्याय जी का सिद्धान्त है—'मस्तिष्क की खिड़कियाँ खुली रखो, चारों तरफ से ज्ञानरूपी मातरिश्वा का निर्बाध प्रवेश होने दो।' उनका स्वाध्याय यज्ञ निर्बाधरूप से आज भी चल रहा है। उसके लिये वे समिधाओं का समाहरण चलते-फिरते स्वयं किया करते हैं। अपरिसीम ज्ञानपिपासा! ऋषि-ऋण-निर्यातन के प्रति अटूट जागरूकता।

श्री उपाध्याय के स्वाध्यायी व्यक्तित्व को उजागर करने वाले कुछ संस्मरणों को छाँटकर यहाँ ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिन्हें सन् १९६७ से ६९ तक दैनन्दिन पुस्तिकाओं में लिखा गया था।

## विद्वत्प्रेमी

दिनांक ११-२-६९। आज पण्डित बलदेव उपाध्याय का भाषण आयोजित था। इंग्लिशिया लाइन स्थित डॉ० मंगलदेव शास्त्री के घर पाँच बजे सायंकाल। वे मुझे साथ ले गये। ४॥ बजे डॉ० मंगलदेव शास्त्री के निवास पर पहुँचे। वहाँ डॉ० शास्त्री तथा श्री ब्रजवल्लभ द्विवेदी बैठे थे। पश्चात् काशी विद्यापीठ के पीठ-स्थविर डॉ० राजाराम शास्त्री तथा पुस्तकाध्यक्ष श्री खुशालचन्द्र गोरावाला आ गये। उसके अनन्तर श्री जगन्नाथ उपाध्याय, श्री रामशंकर त्रिपाठी, श्री मित्तल, डॉ० चौहान, डॉ० रायगोविन्दचन्द्र तथा श्री गौरीनाथ पाठक पहुँचे। भाषण प्रारम्भ हुआ। श्री उपाध्यायजी ने बताया—यद्यपि भक्ति शब्द ऋग्वेदादि में उपलब्ध नहीं होता तथापि भक्तिभाव-परक मन्त्र वहाँ मिलते हैं—पितृभक्ति-परक, पतिभक्ति-परक। यह भक्ति '**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' है। गोपियों में वह भक्ति विद्यमान है। एक

बार नारद जी द्वारका पहुँचे और श्रीकृष्ण ने पूछा—आपको सबसे अधिक स्नेह कौन करता है? श्रीकृष्ण ने कहा—गोपियाँ। नारद जी बोले—'सत्यभामा, रुक्मिणी आदि की बात कहते तो ठीक था, बात कहीं आपने गोपियों की। श्रीकृष्ण ने कहा—अच्छा आप स्वयं जाँच लीजिये। जाकर कहिये, श्रीकृष्ण का सिर पीड़ा के मारे फटा जा रहा है। अपने पैरों की एक मुट्ठी धूल दे दो तो ठीक हो जायेगा। नारद जी ने रुक्मिणी, सत्यभामा के घर पहुँच कर श्रीकृष्ण की बात सुनाई, तो रानियाँ बोलीं—हमें क्यों नरक में ढकेलते हो, जाओ अपना काम करो। पश्चात् नारद जी वृन्दावन गये। गोपियों से कहा तो वे बोलीं—'एक मुट्ठी क्या, दो मुट्ठी ले जाओ, जिससे हमारे कन्हैया का कष्ट दूर हो।' नारद जी ने कहा—तुम नरक में पड़ोगी? गोपियों ने कहा—'हम नरक में पड़ें कोई चिन्ता नहीं, हमारे कन्हैया का दुःख तो दूर हो जायेगा। विलम्ब मत कीजिये, जल्दी जाकर यह धूल लगाइये।'

श्री उपाध्यायजी ने कहा—वैदिककालीन इन्द्र का स्थान धीरे धीरे विष्णु लेने लगे। श्रीकृष्ण ने उनका मानमर्दन भी किया। जो लोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण दो हुए—एक रास रचाने वाला तथा दूसरा गीतोपदेश करने वाला—वे लोग कान खोल कर सुन लें—कृष्ण एक ही हुए थे। राजसूय यज्ञ में जब यह प्रश्न उठा कि अग्रपूजा किसकी हो तो भीष्मपितामह ने श्रीकृष्ण का नाम सुझाया। शिशुपाल से यह बात सह्य नहीं हुई। उसने कृष्ण की एक एक लीला को लेकर आलोचना करनी प्रारम्भ की। "वह छकड़ा क्या था? पूतना क्या थी? एक चिड़िया थी, गोवर्धन-पर्वत क्या था? बाँबी थी"। इस प्रकार शिशुपाल ने यह सिद्ध कर दिया कि अग्रपूजाभाक् श्रीकृष्ण गोपियों के साथ लीला करने वाले श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं थे।

राधा का नाम वस्तुतः प्राकृत भाषा की 'गाथासप्तशती' में मिलता है। उसके पश्चात् यह भास के नाटक में और तदनन्तर पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, गीतगोविन्द और राधा सम्प्रदाय-प्रवर्तक के ग्रन्थ में मिलता है। श्रीमद्भागवत में राधा नाम का सुस्पष्ट उल्लेख नहीं है पर "एक सखी रह गई, पदचिह्न कृष्ण के साथ देखे गये" लिखा है।

भक्ति का तात्पर्य वस्तुतः 'समर्पण' है। जिसमें स्वार्थ रहित दान हो, वह भक्ति और जिसमें स्वार्थ हो वह काम। दसवीं शताब्दी में राधा को बंगाल में तान्त्रिकों ने अपनाया परकीया के रूप में।

श्री उपाध्याय जी ने कथावाचकों की शैली में मंगलाचरण श्लोक पाठ से प्रारम्भ कर "रट ले हरि नाम अरी रसने, फिर अन्त समय में हिली न हिली" से समाप्त किया। उन्होंने बताया कि राधा साहित्य गुजरात से आया था। श्री रामकुमार चौबे बोल पड़े—इसीलिये तो गोपियों को गूजरी कहा जाता है।

पीठस्थविर श्री राजाराम शास्त्री ने परकीया को लेकर एक मजाक सा बनाया 'किसी दूसरे की स्त्री हुए बिना वह परकीया हो नहीं सकती, तब राधा दूसरे किसकी स्त्री थी' ?

## जिज्ञासा

दिनांक ३१-५-६८। मैं उनके संचालकीय कक्ष में बैठा था कि डॉ० रामशंकर जी भट्टाचार्य आ गये। उपाध्याय जी ने उनसे पूछा—"**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**" का उदाहरण दीजिये। भट्टाचार्य ने—"**त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः** तथा **त्वत्कपितृकः, मत्कपितृकः**" उदाहरण दिये। महाभाष्यकार के अनुसार **त्वकत्पितृकः मकत्पितृकः** "**अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः**" और सूत्रकार के अनुसार '**मत्कपितृकः स्वार्थे कः**'। उपाध्याय जी बोले—युधिष्ठिर मीमांसक "**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**" को सिद्धान्त-कौमुदी की उपज बताते हैं। मैं बोला—"कैयट ने लिखा है सर्वप्रथम उसे।

दिनांक ३-६-६८। श्री उपाध्याय जी ने बुलवाया मुझे डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य से। उपाध्याय जी ने मुझसे पूछा—**गृहाः दाराः बालुकाः** और **वर्षा** ये शब्द बहुवचन के रूप में ही क्यों प्रयुक्त होते हैं, इसका कारण बताइये। मैंने कहा—**गृहिणी गृहमुच्यते**। गृह शब्द बहुवचनान्त तथा पुंलिंग है। कुल्लूकी और स्त्री पुरुषवत् होती है। इसलिये **दाराः** शब्द पुंलिग और बहुवचन है। पुरुष को ससुराल में रहना पड़ता है। कुछ स्त्रियाँ परिवारों का विदारण करने में चतुर होती हैं। बुन्देलखण्ड में तो दारी शब्द गाली के रूप में प्रचलित है। वर्षा में अनेक बूंदे तथा बालू में अनेक कण होते है। अतः उनका भी बहुवचन होना जंचता है। बोले—यार आपने बात तो खूब सुझायी।

उन्होंने मुझे एक पुस्तक दिखाई "Enquiry of relation in Sanskrit and Tamil"। वे शिव को द्राविड़ शब्द न बताकर संस्कृत ही दिखाने के लिए उस पुस्तक से सहायता ले रहे थे। उपाध्याय जी बोले—आर्य अग्निपूजक थे, यह भस्म-लेपन आदि कहाँ से आ गया ? बात यों है—अग्नि-ज्वाला का प्रतीक शिव-प्रतिमा है। गँड़ारी अग्निकुण्ड का द्योतक है और अग्नि से निकलने वाली भस्म त्रिपुण्ड है।

दिनांक १३-६-६८। श्री उपाध्याय जी ने मुझे अपने संचालकीय कक्ष में बुलवाया। वहाँ पण्डित बदरीनाथ शुक्ल के अतिरिक्त एक और सज्जन बैठे थे—श्वेत केश और दाढ़ी, कुर्ता कुछ भगवा वर्ण का था। श्री उपाध्याय जी व्याकरण के सम्बन्ध में अपनी नवीन उपलब्धियाँ बता रहे थे। वे "**अपमित्यं याचते**" आदि कह रहे थे। मैंने कहा—"**आपमित्यकम्**" भी होता है। बोले—कहाँ होता है ? क्या अर्थ है ?"

मुझे अर्थ ध्यान में नहीं आया उस समय कि याञ्चयाप्तं याचितकं निमयादापमित्य-कम् (२।९।४) अमरकोश में है। वे श्वेतकेश बोले—"यह तद्धितान्त प्रयोग है"। उन्होंने उपाध्याय जी से मेरा परिचय पूछा। वे बोले—"ये हमारे सहायक हैं। व्याकरण के अच्छे विद्वान् हैं। यह देखिए इनके द्वारा लिखा गया ग्रन्थ।" यह कह कर उन्होंने **पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा** दिखा दी।

## निरन्तर अन्वेषण की ललक

दिनांक ११-९-६८। श्री उपाध्यायजी ने बताया—रायमुकुटमणि की 'पदचन्द्रिका' नामक व्याख्या **अमरकोश** पर प्रकाशित हुई है संस्कृत कालेज कलकत्ता से। अद्भुत व्याख्या है। मैं कल कुलपति डॉ० गौरीनाथ शास्त्री जी की टेबुल से यह पुस्तक ले गया और रात के ११ बजे तक पढ़ता रहा। प्रतिदिन ९ बजे ही सो जाता हूँ। उसमें **चन्द्रमाः** शब्द पर व्याडि की उत्पलिनी का उदाहरण है, जिसमें मास् शब्द का ही अर्थ चन्द्रमा बताया है। चन्द्र शब्द मास् का विशेषण है। जब मैं पढ़ता था तब मैक्समूलर के Lectures on Science of the Language नामक पुस्तक में इस शब्द के सम्बन्ध में पढ़ा था। उसमें मास का अर्थ चन्द्रमा और चन्द्र को उसका विशेषण बताया था। पर्सियन में महताब—चन्द्रमा और आफ़ताब्—सूर्य। इसी मास (चन्द्र) से मासों का निर्माण, गणना-कार्य आदि होते हैं।

इसके आगे उपाध्याय जी बोले—**'पदचन्द्रिका'** में माठर शब्द के विवरण में सूर्य के ११ गण बताये गये हैं। 'अलगर्त' शब्द का पाठान्तर "अलगर्द" है। इसका अर्थ **पदचन्द्रिका** में बताया गया है—"वह सर्प जिसका अर्ध भाग अलग पृथ्वी पर न लगता हो—अ + लग् + अर्ध"।

## प्रतिक्षण स्वाध्याय

दिनांक १९-१२-६८। श्री उपाध्याय ने मुझे नारायण बहादुर (अर्दली) द्वारा बुलवाया। बोले—सुना है आज के डायरेक्टर आप हैं। 'आज' के इसलिए कहा, क्योंकि प्रायः प्रतिदिन डायरेक्टर बदला करते हैं। कृपया आप अपने अधिकार से मुझे "**प्रक्रियाकौमुदी**" मँगा दें लाइब्रेरी से। शेषकृष्ण की टीका उसपर है। भट्टोजि दीक्षित के दो अन्य शिष्यों का पता लगा है—(१) वनमाली मिश्र (कुरुक्षेत्र) तथा (२) श्री नीलकण्ठ शुक्ल (**शब्दशोभा** ग्रन्थ के लेखक)।"

योगशास्त्र में "स्वाध्याय" को क्रियायोग कहा है। "**तपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः**" (२, १)। इसका आश्रय लेने वाले व्यक्ति को इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है। "**स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः**" (२, ४४)। श्रीमद्-

भगवद्गीता में स्वाध्याय को यज्ञ कहा गया है—**स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च** । उपाध्याय जी एक तपस्वी और समाधिस्थित उस मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, जो स्वयं के लिये तप करता है, समाधि लगाता है, वह पुण्य उसे स्वयं मिलता है । उपाध्याय जी तो ज्ञान-धारा में पहले स्वयं अवगाहन करते हैं, तब उसे प्रकाशित कर समष्टि को अवगाहन के लिए अवसर देते हैं । ऐसे कर्मयोगी मनीषी के शतायुष्ट्व के लिए जगदीश्वर से प्रार्थना है ।

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।**
**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।** (ईशावास्य० २)

—८—

# पण्डित श्री बलदेव उपाध्याय : एक अलंघनीय व्यक्तित्व

डा० जगन्नाथ पाठक

इलाहाबाद

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता ।
अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि ।।

माघ, शिशुपालवध २।४८

भगवान् विश्वनाथ की परम पावन नगरी काशी तपःस्वाध्यायनिरत विद्वानों की "खनि" रही है। प्रवर्तमान में उसके अलंकरणस्वरूप जिन अंगुलिपरिगणनीय विद्वानों का नामोल्लेख किया जा सकता है उनमें पूज्य पण्डित बलदेव उपाध्यायजी अन्यतम हैं। जहाँ पण्डितजी का व्यक्तित्व हिमालय की सी ऊँचाई को अपने आप में समेटे हुए प्रतीत होता है वहीं वह समुद्र की सी गहराई से भी व्याप्त है।

स्मृतियों के पलटते हुए पन्ने....काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का शान्त-स्निग्ध परिसर....एक धोतीधारी लबी कायावाला व्यक्ति, जिसकी लम्बाई सिर की गोल टोपी के कारण कुछ और बढ़ गयी है, माथे पर तिलक....सहज प्रसन्न आकृति। फिर भी चिन्तन में डूबा-डूबा....गम्भीर गति से अकेला शनैः शनैः बढ़ता जा रहा है, अपने पीछे दूर तक अनुभूतिगम्य सी आभा-राशि बिखेरता हुआ....हम जैसे अज्ञात-अपरिचित शिष्यों की "मनहिं मन" प्रणतियों को स्वीकार करता हुआ वह फिर कुछ ही क्षणों में ओझल हो जाता है, वृक्षों के झुण्ड में। क्या यही तो पूज्य पं० बलदेव उपाध्यायजी नहीं हैं ?

मैंने १९५० ई० में का० हि० वि० वि० में संस्कृत की शास्त्री कक्षा में प्रवेश लिया। संस्कृत साहित्य के इतिहास के अध्ययन के क्रम में पण्डितजी की रचना अंशतः पढ़ी और पुनः कुछ समय बाद "भागवतसम्प्रदाय" पढ़ने का अवसर मिला। पण्डितजी के अनेक शिष्यों के मुख से उनके बारे में सुनकर उनका अन्तेवासित्व प्राप्त करने की उत्कण्ठा हुई। अध्ययन के क्रम में उनकी **बौद्धदर्शन मीमांसा** भी पढ़ने का अवसर मिला। हिन्दी में लिखित अन्य ग्रन्थ भी पढ़ने को मिलते, किन्तु जिज्ञासा की

सहजपूर्ति पण्डितजी के ही ग्रन्थों से होती और यह भी होता कि अब कौन सा ग्रन्थ पण्डितजी की लेखनी से निर्मित हो रहा है।

उन्हीं दिनों २५ दिसम्बर की एक संध्या में स्व० महामना मालवीय जी महाराज की जयन्ती के प्रसंग में सभा का आयोजन रुइया छात्रावास के सामने हुआ। पण्डितजी मुख्य वक्ता थे। तब प्रथम बार उनके श्री मुख से महामना के विषय में सुनने का सौभाग्य मिला। उसी क्रम में उन्होंने बताया था कि मालवीय महाराज हिन्दी भाषा के प्रबल समर्थक थे। उसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों की "छौंक" के विरोधी थे। पण्डितजी ने महामना के श्रीमुख से सुनकर ही इस शब्द का प्रयोग किया था। स्वयं पण्डितजी की भाषा भी कुछ उसी प्रकार छौंक-निर्मुक्त होती है। जहाँ तक उनके लेखन की विशिष्टता को मैं समझ सका हूँ, पण्डितजी बड़े गम्भीर विषय को बड़ी सरलता से थोड़े में कह जाते हैं। तब नैषध की वह बात सही लगती है—**"मितञ्च सारञ्च वचो हि वाग्मिता"**।

यथासम्भव १९५९ की बात है। पण्डितजी विश्वविद्यालय में अध्यापन से अवकाश ग्रहण करने वाले थे। मैं संस्कृत एम० ए० (प्रथम वर्ष) का छात्र था। भारती संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ० राजवली पाण्डेय, जो पंडितजी के शिष्य थे, की प्रेरणा से सबने मिलकर पंडितजी का सौप्रस्थानिक अभिनन्दन का आयोजन किया था। सभा हुई तो पंडितजी के ही प्रिय शिष्य, हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष आचार्य पं० हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने सभापतित्व किया। मुख्य वक्ताओं में डॉ० सूर्यकान्त, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल और डॉ० टी० आर० वी० मूर्ति थे। डॉ० मूर्ति ने, जो बौद्ध दर्शन के विश्वविख्यात विद्वान् माने जाते हैं, यह कहा कि पण्डितजी की **"बौद्ध दर्शन मीमांसा"** से उन्हें बौद्धदर्शन के विषय में सही जानकारी हुई है।

सभापति के पद से पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने अपनी सहज वैनोदिक शैली में "आलोचकजी" और "लक्ष्मीजी" वाली कहानी सुनाई थी। और निष्कर्ष रूप में कहा था, "वास्तव में पण्डितजी इतने अच्छे हैं कि इन्हें इतना अच्छा नहीं होना चाहिए। कुछ कम अच्छे होते तो अच्छा होता।"

मुझे जब से पंडितजी की निकटता प्राप्त हुई तब से मैंने अनुभव किया है कि **"गीता"** में जो "विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण" का उल्लेख हुआ है वह यदि पंडितजी के समग्र व्यक्तित्व का आकलन किया जाय (जो सम्भव नहीं) तो अक्षरशः सत्य सिद्ध होगा। एक दिन बात-चीत के प्रसंग में मैंने देखा कि पंडितजी के शिष्य श्रद्धेय डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का गला भर आया और पंडितजी की विद्योपासना की प्रशंसा वे नहीं कर पाये।

उस वर्ष पंडितजी हम शिष्यों को मेघदूत पढ़ा रहे थे। तव पंडितजी का कक्षा में पहुँचना, श्लोक पढ़ना और कुछ विशेष स्थलों पर रुककर रहस्य खोलना मुझे सर्वाधिक प्रभावोत्पादक लगा था।

स्व० पंडित हजारी प्रसादजी द्विवेदी ने आचार्य रामानन्दजी के विषय में लिखते हुए "महागुरु" शब्द की व्याख्या की है और कहा है कि महागुरु का व्यक्तित्व "आकाशधर्मा" होता है, उसमें नाना परस्परविरोधी जीव अपनी सामर्थ्य के अनुसार उड़ते रहते हैं, किन्तु वह निर्लिप्त बना रहता है। एक प्रसंग में उन्होंने यह भी सम्भवतः लिखा है कि वह (गुरु) अपना सब कुछ उलीच कर शिष्यों को अर्पित कर देने वाला होता है। वास्तव में पूज्य पंडितजी कुछ इसी प्रकार के "महागुरु" हैं। उन्हें मेरा शतशत प्रणाम ! इस प्रसंग में "पंडितराज" का यह पद्य पंडितजी के विषय में उद्धृत करने की इच्छा का संवरण नहीं कर पा रहा हूँ—

"अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम्।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्तहृद्या
विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥"

# आचार्य बलदेव उपाध्याय : अध्यापक के रूप में

*डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी*

**दिल्ली**

आचार्य बलदेव उपाध्याय मेरे पूज्य गुरू हैं। उन्होंने मुझे न केवल एम० ए० के दोनों वर्षों में विधिवत् पढ़ाया है अपितु महिमभट्ट की महनीय कृति "व्यक्ति-विवेक" को लेकर शोध करने की प्रेरणा के स्रोत भी वही रहे। ऐसा प्रायः देखा जाता है कि जो सफल लेखक है वह उत्तम कोटि का अध्यापक नहीं होता तथा उत्तम अध्यापक की प्रवृत्ति लेखन में अधिक नहीं होती, पर पण्डितजी इसके अपवाद हैं। उनका लेखन जितना पुष्कल एवं सप्राण है, अध्यापक के रूप में उतने ही वे छात्रों की अनन्य श्रद्धा के भाजन भी हैं। कक्षा में उनसे पढ़ने का एक विशेष ही सुख था। पढ़ाते-पढ़ाते विषय के साथ वे इतने विभोर हो जाते थे कि उनका चेहरा तमतमा जाता था।

कक्षा में छात्रों को प्रश्न पूछने के लिए वे सदा प्रोत्साहित करते थे। उनका कहना था कि अध्यापक तो मधु की मक्खियों की तरह ही होता है जिनका यदि लिहाज ही किया जाये तो वे अपना मधु स्वयं ही चाट जाती है। अतः निर्मोह होकर उनको खोदा जाता है तभी शहद प्राप्त होता है। पर ऊटपटांग प्रश्न पूछने पर वे बिगड़ते भी कम नहीं थे। उन्होंने छात्रों के ज्ञान एवं श्रम का कभी शोषण नहीं किया प्रत्युत शायद ही कोई छात्र ऐसा हो जिसे किसी न किसी रूप में उपकृत न किया हो। अतएव आज भी उनसे पढ़ा हुआ प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो गया हो, उनके प्रति कृतज्ञता से अवनत है।

जब मैं आगरा कालेज में नियुक्त हुआ तो एक पत्र लिखकर मैंने उन्हें इस बात की सूचना दी। उत्तर में उन्होंने जो लिखा था वह मुझे अब भी याद है— "अध्यापक का सर्वस्व छात्र ही होता है, उसकी पूर्ण तुष्टि ही अध्यापक-जीवन की सफलता है।"

मेरी पुस्तक महिमभट्ट की भूमिका लिखकर उन्होंने मुझे बहुत ही अनुगृहीत किया। इधर जब बहुत दिनों तक मैं उनसे मिल नहीं पाया, न ही मेरी कोई कृति

उन्हें दृष्टिगोचर हुई तो उन्हें लगा कि मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ। उनका पत्र मुझे मिला—"सरस्वती की आराधना में शिथिलता नहीं आनी चाहिये।" मेरी बुद्धितन्त्री झंकृत हो उठी जिसका परिणाम मेरी नयी कृति 'रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष" है। उसे देखकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और अपने आशीर्वचनों से हमें कृतकृत्य कर दिया।

छात्र-जीवन का एक संस्मरण सुनाये बिना नहीं रहूँगा। हम लोग एम० ए० फाइनल में थे। सत्र का अवसान हो रहा था। हम फाइनल के छात्रों की विदाई का आयोजन पूर्ववर्षीय छात्रों ने बड़ी धूमधाम से किया। संयोग की ही बात थी, उन दिनों भारत के प्रायः सभी राज्यों के छात्र हमारी कक्षा में पढ़ते थे। सबसे आग्रह किया गया कि वे अपने अपने यहाँ के लोकगीत गायें। मैसूर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डॉ० मल्लदेवरु उसी बैच में थे। उन्होंने कन्नड़ का गीत गाया। सिंहल के छात्र वीर सिंह ने सिंहली गीत सुनाया, आन्ध्र की पी० सीता ने तेलुगु का गीत सुनाया। केन्द्रीय विद्यापीठ, पुरी के वर्तमान प्राचार्य डॉ० हरिहर झा ने भी मैथिली में रचित विद्यापति का गीत सुनाया। इसी प्रकार गुजराती, बंगला एवं भोजपुरी के गीत भी सुनाये गये। जब सभी गीत सुनाये जा चुके और पण्डितजी से कुछ बोलने का आग्रह किया गया तो उन्होंने कहा कि मैथिली और बंगला के गीत ठीक से सुनाये नहीं गये अतः वे स्वयं उनके गीत सुनायेंगे। लोगों के आश्चर्य एवं प्रसन्नता का ठिकाना न रहा जब पण्डितजी ने बड़े ही मधुर स्वरों में दोनों के गीत गाकर सुनाये। इस पर हम सभी अभिभूत थे।

पू० गुरुदेव का स्वभाव गंगा की तरह निर्मल तथा वैदुष्य चन्द्रिका की तरह धवल है। इन जैसे के लिए ही भवभूति ने कहा है—

**रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते।**



# संस्कृत साहित्य के मन्दराचल

*डॉ० गंगासागर राय*

**वाराणसी**

## आदर्श व्याख्याता

उपाध्याय जी की विषय-प्रतिपादन-शैली अपूर्व है, चाहे कक्षा हो या सभा-मंच। उनकी "अन्तर्हृदा" मनसा "पूयमाना" सरस्वती जब मुखरित होती है तो चाहे कक्षा के विद्यार्थी हों या सभा के विचारक श्रोता या भागवत् प्रेमी सामान्य जन, सभी समभावेन, आप्यान्वित होते हैं। वस्तुतः यथार्थ में उपाध्यायजी का ज्ञान उनके जीवन में ओत-प्रोत हो गया है। वे जो कहते हैं वह उनके अन्तर्हृत् से निकल कर वाणी के माध्यम से मुखरित होता है। शुष्क मानसिक व्यायाम नहीं होता--ज्ञान का नाटकीय मन्थन नहीं होता। इस लेखक को उपाध्याय जी का विद्यार्थी होने का सौभाग्य प्राप्त था। जो बात दूसरे अध्यापक एक घण्टे के कठिन परिश्रम के बाद समझाने में समर्थ होते थे, उपाध्याय जी उसी बात को पाँच मिनट में छात्रों में संक्रमित कर देते थे। कालिदास का वह पद्य, जिसमें अवबोध और संक्रमित करना ये दो गुण अध्यापकों में गिनाये गये थे और जिसमें वे दोनों गुण एकत्र हों वह अध्यापकों का मूर्धन्य बताया गया है, उपाध्याय जी में पूर्णतः चरितार्थ होता है। शिक्षकों में मूर्धन्य स्थान के अधिकारी आदर्श शिक्षक की इस कमनीय पद्य में प्रशस्त प्रशंसा की गई है—

> श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
> संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
> यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
> धुरिप्रतिष्ठापयितव्य एव ॥
>
> (मालविकाग्निमित्रम् १।१६)

जब ज्ञान जीवन रस से सिक्त होता है, तब यह चरम स्थिति प्राप्त होती है।

उपाध्यायजी के व्याख्याता रूप का भव्य दर्शन लेखक को १९६२-६३ के वर्षों में मिला था। थियोसोफिकल सोसाइटी कमच्छा के सभागृह में उपाध्याय जी के व्याख्यान की घोषणा थी। सभागृह प्रबुद्ध श्रोताओं से खचाखच भरा था। उपाध्याय जी का व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। विषय था "दक्षयज्ञ" और "प्रह्लाद चरित" का प्रतिपादन—उनकी प्रतीकात्मकता। उपाध्याय जी के व्याख्यान का सारांश यह था कि दक्ष "कलाकार" का प्रतीक है। दक्ष का शब्दार्थ है 'चतुर', 'कुशल' या 'कलाकार'। शिव लोकमंगल के प्रतीक हैं। सती—दक्ष की कृति, शिव—लोकमंगल से संगत होती है जिसका फल सर्वथा भव्य और कल्याणमय होता है। पर जब दक्ष शिव के विरुद्ध होता है, तो दक्ष भी नष्ट, कृति भी नष्ट और दक्ष के सहकर्मी भी ध्वस्त। कलाकार की कला का समन्वय लोकमंगल से होना आवश्यक है। जब वह लोकमंगल के विरोध से खड़ा होता है, कला-कला के लिये घोषित करता है तो कला और कलाकार दोनों नष्ट होते ही हैं, महाविनाश भी होता है।

"प्रह्लाद चरित" की व्याख्या में इन्होंने कहा कि "प्रह्लाद" का अर्थ है "आनन्द"। हिरण्यकशिपु का अर्थ है स्वर्ण की शय्या वाला—महासमृद्ध। "कशिपु" का अर्थ है 'शय्या'। जब समृद्धि का उपयोग "ईशावास्यमिदं सर्वम्" की भावना से होता है तो वह आनन्दोत्पादक होती है, जब वह भोग-विलास की वस्तु होती है तो आनन्द तो दूर, वहाँ भी सर्वनाश ही होता है। प्रह्लाद उससे दूर भाग जाता है। उपाध्यायजी ने जिस स्वाभाविक मुद्रा में सरलता के साथ आवर्जक रूप में इसका प्रतिपादन किया उससे सभी श्रोता मंत्रमुग्ध की भाँति सुनते रहे। व्याख्यान के बाद बधाई देने वालों का तांता लग गया।

### प्रकृष्ट रचनाकार

उपाध्याय जी ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान को, शिष्यों को प्रत्यक्ष दान के अतिरिक्त, अपने साहित्य के माध्यम से लोकहिताय लिपिबद्ध किया। वस्तुतः सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र में उपाध्याय जी ही ऐसे प्रकृष्ट लेखक हैं जिनके साहित्य के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, धर्म और शास्त्र का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस दृष्टि से कालिदास की भाँति वे "कनिष्ठिकाधिष्ठित" हो गये हैं और "अनामिका" सार्थवती हो गयी है। १९२० से ५० के बीच जब पठन-पाठन-लेखन का माध्यम एकमात्र अँग्रेजी थी उपाध्याय जी ने राष्ट्र भाषा की सेवा का व्रत लिया और हिन्दी के माध्यम से ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ किया। इसमें तत्कालीन विद्वत् समाज में उनको त्याग करना पड़ा और देश तथा राष्ट्रभाषा की सेवा के निमित्त आंग्लभाषा-भाषी विद्वानों का तिरस्कार भी सहना पड़ा, परन्तु "प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति" को लक्ष्य रख

कर उन्होंने हिन्दी-सेवा की। नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्र-भाषा परिषद्, हिन्दी समिति और हिन्दुतानी एकेडमी के वे सदा सहयोगी रहे। उनकी कृतियाँ इन संस्थाओं के माध्यम से प्रचारित हुईं। तत्कालीन हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान्—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि—किसी शास्त्रीय समस्या के आने पर उपाध्याय जी का ही एक मात्र स्मरण करते थे। उपाध्याय जी में प्रामाणिकता के साथ ही साथ प्रतिपादन कौशल था जिसकी वे भूरिशः प्रशंसा करते थे।

## शिष्यों की सुदीर्घ परम्परा

उपाध्याय जी ने अपने अध्यापन के ४५ वर्षों में व्युत्पन्न शिष्यों की सुदीर्घ परम्परा खड़ी कर दी है। इन शिष्यों में अनेकों ने विद्या के क्षेत्र में चरम प्रतिष्ठा प्राप्त की और अनेकों ने प्रशासन में सफलता प्राप्त की। उपाध्याय जी ने कभी वैदिक ऋषियों के तुल्य वेद का प्रवचन किया तो कभी नैमिषीय ऋषियों की भाँति इतिहास-पुराण का उपदेश किया। कभी साहित्य के मूर्धन्य ग्रन्थों का पाठन किया तो कभी दर्शन में जीव-जगत् का यथार्थ विवेचन किया। ज्ञान की जिज्ञासा और यथार्थ प्रति-पादन उनका लक्ष्य रहा है। आजकल के लेखकों की भाँति बिना पढ़े ही पढ़ाने या लिखने बैठ जाना उपाध्याय जी ने कभी नहीं किया। १९८० ई० में जब वे भारतीय दर्शन लिख रहे थे तो शास्त्र पढ़ने के साथ ही एक विशुद्ध आस्तिक की भाँति माघ मास में वेदव्यास का दर्शन किया जिससे वे ब्रह्मसूत्र का यथावत् प्रतिपादन कर सकें। कौन आज यह करने जाता है? इसी निष्ठा और पाण्डित्य के कारण उनके विद्यार्थी आज भी उनमें वही अनुराग, भक्ति और श्रद्धा रखते हैं। अब तो उनके प्रशिष्यों की भी सुदीर्घ परम्परा खड़ी हो गयी है।

"शिष्योपशिष्यैरुपगीयमानाः"।

## सर्वत्र समादृत

उपाध्याय जी अपने पाण्डित्य, विद्या-सेवा एवं दान तथा उत्तम मानवीय गुणों के कारण सर्वत्र समभावेन समादृत हुए हैं। इनके ग्रन्थों पर मंगलाप्रसाद पुरस्कार, डालमिया पुरस्कार और प्रान्तीय सरकारों के पुरस्कार बहुशः दिये गये। उत्तर प्रदेश ने शास्त्र-सेवा के लिये विशिष्ट पुरस्कार भी प्रदान किया। भारत के राष्ट्रपति ने संस्कृत के विशिष्ट विद्वान् के रूप में उन्हें सम्मानित किया। संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय ने उन्हें अपनी सर्वोच्च वाचस्पति उपाधि देकर अपने को गौरवान्वित किया। किन्तु उपाध्याय जी इन सम्मानों से निर्लिप्त रहकर एकाग्र भाव से सरस्वती की सेवा कर रहे हैं।



# आचार्य बलदेव प्रसाद उपाध्याय–एक संस्मरण

डॉ० देवव्रत सेन शर्मा

कुरुक्षेत्र

सन् १९४७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बी० ए० कक्षा में छात्र के रूप में प्रविष्ट होने के बाद मैंने श्रद्धेय आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय जी के प्रथम दर्शन किये। प्रथम दर्शन से ही उनके असामान्य व्यक्तित्व, सौम्य मूर्ति, मुस्कराता चेहरा, प्रशस्त ललाट पर कुङ्कुम का टीका आदि की एक छवि मानस पटल पर अंकित हो गयी जिसे आज ३५ वर्षों के बाद भी मैं भुला नहीं सका। उपाध्याय जी अध्ययन के कार्य को सुचारु तथा नियमित रूप से करते थे। वे प्रतिदिन ठीक समय पर कक्षा में आते तथा पाठ्यपुस्तक को इस प्रकार पढ़ाते थे जिसका हृदय पर सीधा प्रभाव पड़ता था। उन दिनों पठन-पाठन का माध्यम अँग्रेजी था, और अँग्रेजी में ही अपने अध्यापन विषय को बड़ी सुन्दर नपी तुली भाषा में प्रस्तुत करते, जिसे सभी विद्यार्थी बड़े ध्यान से मुग्ध होकर सुनते थे।

उनके अध्यापन की दो विशेषतायें मुझे सदा स्मरण रहेंगी, एक—शब्दों का सुन्दर चयन; दूसरे—कम शब्दों में गम्भीर भाव को स्पष्ट रूप में प्रकट करने का सामर्थ्य। उनका संस्कृत उच्चारण बहुत स्पष्ट था और छन्दोबद्ध प्रकरणों को छन्द तथा यति का ध्यान रखते हुए मधुर स्वर में प्रस्तुत करते थे। भवभूति के उत्तररामचरित को पढ़ते समय ऐसा लगता था कि मानों हम आँखों से उत्तररामचरित को देख रहे हों। वाचन कला से ही विषय को सजीव बना देना उनके अध्यापन की विशेषता रही है जो सहृदय श्रोता में साहित्य के प्रति रुचि को उत्पन्न कर देती है। एम० ए० कक्षा में जब उन्होंने भारतीय दर्शन के कतिपय ग्रन्थों को पढ़ाया तब ऐसा प्रतीत हुआ कि आचार्य प्रवर का विशेष क्षेत्र साहित्य नहीं अपितु दर्शन ही है। वास्तव में वे जिस विषय को पढ़ाते उसे इतनी तन्मयता और योग्यता से प्रस्तुत करते थे कि विद्यार्थियों को यह पता नहीं चल पाता था कि उनकी विशेष योग्यता का क्षेत्र कौन सा है। संस्कृत वाङ्मय में सभी विधाओं के साधिकार अध्यापन की विलक्षण क्षमता उनमें पायी जाती है।

स्व० डॉ० पी० एल० वैद्य के प्रेरणा, सत्परामर्श और आशीर्वाद से जब मैं अनुसन्धान के कार्य में प्रवृत्त हुआ तब आचार्य जी के अधिक निकट जाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। मैंने शोध-विषय के रूप में काश्मीर के अद्वैत शैव दर्शन को चुना था जिसके आधारभूत ग्रन्थों को पारिभाषिक शब्द-बहुलता के कारण पढ़ना और उनके अर्थ को समझना बड़ा ही दुरूह व्यापार था। उपाध्याय जी ने बड़े परिश्रम के साथ **शिवसूत्र विमर्शिनी** नामक ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ाया और दर्शन की जटिलताओं तथा रहस्यमय आध्यात्मिक विचारों से अवगत कराया। बाद में जब काशी के विख्यात महामनीषी महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज जी से इस विचारधारा के अन्य ग्रन्थ जैसे **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, परमार्थसार, तन्त्रसार, तन्त्रालोकादि** को वर्षों तक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब आचार्य प्रवर के चरणों में बैठ कर प्राप्त विद्या बहुत काम आई। त्रिक दर्शन की दृष्टि में साधना पर जब मैंने पी० एच० डी० स्तर का शोधनिबन्ध लिख लिया तब आपने इसका आद्योपान्त निरीक्षण कर उसका संशोधन कराया। इस अवसर पर अनेक बार समय असमय उन्हें कष्ट दिया लेकिन आचार्य प्रवर ने सर्वदा प्रसन्न मुख से मेरी समस्त शंकाओं तथा समस्याओं का समाधान कर उत्साह बढ़ाया, कभी मुझे हताश या निरुत्साहित होने नहीं दिया। सर्वदा विद्यार्थियों की सब प्रकार से सहायता करना, उनके समय असमय में मार्गदर्शन करते रहना---उनकी महनीय विशेषता है।

वास्तव में उन जैसे पूज्य गुरुचरणों के आशीर्वाद का ही यह फल है कि मेरे जैसे नगण्य मन्दबुद्धि विद्यार्थी भी वाग्देवी सरस्वती की सेवा में यत्किञ्चित् योगदान दे सके हैं।

●

# सात्विक अध्यवसाय की प्रतिमूर्ति

*श्री शिवदत्त त्रिवेदी*

**इलाहाबाद**

आचार्य बलदेव प्रसाद उपाध्याय भारतवर्ष के उन समादृत विद्वानों में हैं जिन पर राष्ट्र को गर्व है। संस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाने के लिये उन्होंने जो कृतियाँ प्रस्तुत की हैं, वे उज्ज्वल रत्न के सदृश स्वतः प्रकाशित हैं।

आचार्य जी से परिचय का सौभाग्य मुझे उनके सुयोग्य पुत्र श्री गौरी शंकर उपाध्याय के माध्यम से प्राप्त हुआ। वे अनेक स्थानों पर मेरे सहकर्मी रहे हैं और सम्प्रति अवकाश प्राप्त करके काशी में ही निवास कर रहे हैं।

आचार्य जी से मैंने प्रथम दर्शन के अवसर पर ही जिज्ञासा की थी कि उनके शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक चेतना का क्या रहस्य है। उन्होंने संक्षिप्त उत्तर दिया था 'सात्विक अध्यवसाय'। ये दो शब्द मेरी स्मृति-पटल पर अमिट छाप छोड़ गये हैं। यदि हमारे विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं में सात्विक अध्वसाय की उज्ज्वल परम्परा दीप्तिमय हो उठे तो भारत एक बार फिर गौरव के शिखर पर पहुँच जाय।

आचार्य जी के सम्बन्ध में एक और संस्मरण स्मृति को दीप्त कर रहा है। उनके एक परम प्रिय शिष्य उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की प्रशंसा कर रहे थे। आचार्य जी को अपनी प्रशंसा सुनकर बड़ा संकोच हो रहा था। जब बात और आगे बढ़ी तब संकोचपूर्वक उन्होंने कहा कि मैं साहित्य रचना क्या करता हूँ—केवल एक कोठरी के धान दूसरी कोठरी में रखता हूँ। शिष्य भी कुछ कम न थे उन्होंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि एक कोठी के धान दूसरी कोठी में यदि न रखें जायें तो वे सड़ जाएंगे। इस पर वातावरण हँसी और ठहाकों से गूंज उठा।

आचार्य जी केवल संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं वरन् भारतीय संस्कृति के जीते जागते स्वरूप हैं। उन्होंने न केवल भारतीय संस्कृति को आत्मसात् किया है वरन् युगानुरूप उसकी नवीन व्याख्या भी की है जिससे उसकी श्री में वृद्धि हुई है।

वे सच्चे अर्थों में एक सद्गृहस्थ हैं जो साधना का प्रत्यक्ष सुफल है।

परम प्रभु परमात्मा उन्हें शतायु बनावें जिससे वे संस्कृत वाङ्मय की सेवा अबाध रूप से करते रहें।

# आचार्य बलदेव प्रसाद उपाध्याय

## दिव्य मनीषा की एक झलक

*पं० सत्य नारायण मिश्र*

**वाराणसी**

**वाल्मीकि रामायण** में अंगद के भाषण पर हनुमान् ने यह अनुमान लगाया कि इनमें बुद्धि के जो आठ गुण हैं, वे निश्चित रूप से वर्तमान हैं। ठीक उसी प्रकार हमारे चरित नायक में भी बुद्धि के नीचे लिखे हुए आठ गुणों का समावेश पाया जाता है। वे आठ ये हैं—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

कामन्दकीय नीतिसार ४।२१

तदनुसार छात्रों के अध्यापन काल में बुद्धि के इन आठ गुणों का आपने सर्वथा उपयोग किया है। लेखन कला में भी आपने स्वान्तःसुख और मानव समाज की कल्याणसाधिका श्रुति और स्मृति के अविरुद्ध अष्टाङ्ग बुद्धि का पूर्ण परिचय दिया है। जैसा कि स्कंदपुराण माहेश्वरखण्ड कुमारिका खण्ड ४६।२३ में इसकी चर्चा है—

"अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्या, सर्वश्रेयोविधायिनी।
श्रुतिस्मृत्यविरुद्धा सा बुद्धिस्त्वय्यस्ति निर्मला॥

आपने जो अपनी संचित विद्यानिधि ज्ञानराशि का पुस्तक-लेखन अध्यवसाय से भारत तथा विश्व में प्रचार किया है तथा करते जा रहे हैं वह भारतीय संस्कृत-विद्वानों के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय है। बीसवीं शताब्दी में संस्कृत साहित्य का ऐसा कोई मर्मज्ञ पौरस्त्य विद्वान् नहीं दिखलाई पड़ता है, जो हमारे वेदों, शास्त्रों, पुराणों, उपनिषदों, दर्शनों, काव्यों, नाटकों और इतिहास में पड़ी हुई गम्भीर गुत्थियों

के सुलझाने का प्रयास करे। आपने जिस अष्टाङ्ग बुद्धि का लेखन एवं स्वाध्याय में परिचय दिया है और जिससे समस्त विश्व का निस्संदेह कल्याण सम्भव है और जिसकी ज्ञानराशि से सारा विश्व आलोकित होता है उस सम्बन्ध में कामन्दक का नीचे लिखा श्लोक विद्वत् समाज के लिए सर्वथा अनुकरणीय और श्लाघनीय है। यथा—

गुरुस्तु विद्याधिगमाय सेव्यते,
श्रुता च विद्या मतये महात्मनाम्।
श्रुतानुवर्तीनि मतानि वेधसा
ह्यसंशयं साधु भवन्ति भूतये॥

(कामन्दक १।६९)

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का आपके चरणों से सम्पर्क सम्वत् १९८४ में हुआ। आपके छोटे भाई डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय से मेरी मित्रता ने ही आपके श्री चरणों तक मुझे पहुँचाया। वे साहित्य के छात्र थे और मैं साहित्य पढ़ रहा था। **साहित्य दर्पण** पढ़ने के विचार से मैं आपके यहाँ जाने लगा। उन दिनों 'राजकीय संस्कृत कालेज' की परीक्षा की स्थिति बड़ी दयनीय थी। उत्तर पुस्तिकाओं पर गुरुओं का नाम लिखना अनिवार्य था। काशी के संस्कृत पंडितों का राग द्वेष चरम सीमा पर था। एक परीक्षक दूसरे परीक्षक के छात्र को अनुत्तीर्ण कर दिया करते थे। उस समय इस प्रकार के अनेक त्रुटिपूर्ण दोष परीक्षा प्रणाली में विद्यमान थे। आपके सत् परामर्श से मैंने तथा डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय ने एक "संस्कृत छात्रसंघ" की स्थापना की। लेखक को मन्त्री बनाया गया और तत्कालीन भारत प्रसिद्ध वैद्यराज कविराज स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण शास्त्री उस "संघ" के अध्यक्ष नियुक्त हुए। संघ ने अपनी तत्परता एवं कर्मण्यता से अनेक दोषों को तत्कालीन गवर्नर के पास लिखकर और उनसे मिलकर दूर किया, इसका संस्कृत छात्रों पर बड़ा आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ा। इसका समस्त श्रेय आपको ही है।

आप जन-सम्पर्क से प्रायः मुक्त रहते हैं। आप में अहंकार का नाम भी नहीं है। आप किसी कार्य को धैर्य और उत्साह से करते हैं। कार्य में यदि कदाचित् असफलता भी मिली तो उससे आपके मन में विकृति नहीं होती है। आप सात्विक कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति हैं। भगवद्गीता का निम्नांकित श्लोक आपके जीवन में अक्षरशः चरितार्थ होता है—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते। २६ (अ० १८)

"अरतिः जनसंसदि" गीता की इस उक्ति के अनुसार ही आपका जीवन है। दुर्भाग्य से प्रायः आज के संस्कृत के अधिकांश विद्वान् परस्पर ईर्ष्यालु, द्वेषी और परनिन्दक होते हैं। आप इससे बहुत दूर हैं। काशी में रहते हुए आपने अपने ब्रह्मण्य भाव को सर्वथा सुरक्षित रखा है। प्रतिदिन गंगा स्नान, देव-दर्शन, पूजा-पाठ, भागवत का पारायण, निरन्तर चलता रहता है। परान्न, परद्रव्य, मार्ग में या घर में, किसी का गिरा हुआ द्रव्य छूना आप अपराध मानते हैं। यह ब्रह्मवृत्ति का ज्वलंत उदाहरण है जैसा कि शास्त्रों में कहा है—

**परान्नं परद्रव्यं वा, पथि वा यदि वा गृहे।**
**अदत्तं नैव गृह्णीयात्, एतद् ब्राह्मणलक्षणम्।**

पतिव्रता धर्मपत्नी, मनोनुकूल उपलब्ध लक्ष्मी, सुयोग्य पुत्र-पौत्रादि से परिपूर्ण आपके परिवार को देखकर बरबस यह कहना पड़ता है कि शास्त्रकारों की इस उक्ति—

**यदि रामा यदि च रमा, यदि तनयो विनयधीगुणोपेतः।**
**तनये तनयोत्पत्तिः, सुरवरसदने किमाधिक्यम्॥**

के अनुसार आपको प्रत्यक्ष स्वर्ग सुख तो है ही, आप जीवन्मुक्त भी हैं। काशी का वास आपके लिये सारूप्य मुक्ति का प्रत्यक्ष साधन है।

आप पवित्र वेश, निर्मल संस्कृति तथा राष्ट्रभाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति, देशाचार और कुलाचार के कट्टर पक्षपाती हैं—

**भाषां वेषं च धर्मं च, सभ्यतां चैव संस्कृतिम्।**
**देशाचारं, कुलाचारं, प्राणान्दत्वा समुद्धरेत्॥**

इस प्रकार आपका परम पवित्र जीवन एवम् आपका परिवार सरस्वती और लक्ष्मी का अक्षय भंडार है। ईश्वर आपको शतायु प्रदान करे, जिससे काशी और भारत की गरिमा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। शम्।



# अपभ्रंश साहित्य और पं० बलदेव उपाध्याय

डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय

वाराणसी

आचार्य प्रवर पं० बलदेव उपाध्याय के सहज-सरल व्यक्तित्व और प्रकांड पाण्डित्य की अमिट छाप जिसके ऊपर पड़ी है, वह उन्हें कभी नही भुला सकता। वे 'सादा जीवन और उच्च विचार' के साक्षात् प्रतीक हैं। उनका एक ही व्यसन है—काव्य-शास्त्र-विनोद। उनका पूरा समय सरस्वती की उपासना में व्यतीत होता है। उनके जैसे अध्ययनशील, अध्यवसायी और विद्याव्यसनी विरले ही मिलेंगे। वे पौर्वात्य एवं पाश्चात्य साहित्य के गम्भीर अध्येता हैं। वे सच्चे साधक और तपस्वी हैं—ऋषि-मुनियों की परम्परा की एक सशक्त कड़ी। संस्कृत साहित्य और दर्शन-कला में उनकी अबाध गति है। उनके अनेक ग्रन्थों की रचना से विद्वत्मंडली परिचित है। हिन्दी पाठक संसार को संस्कृत साहित्य से परिचित कराने का जितना श्रेय इस आर्य पुरुष को दिया जाय, थोड़ा है। मैं जिन विद्वानों को जानता हूँ उनमें सबसे सहज, सरल, प्रवाहपूर्ण और माधुर्य से सनी मोहक शैली पं० बलदेव उपाध्याय की है। उनमें पंडिताऊपन की गंध तक नहीं आती। हिन्दी के कितने ही ऐसे पंडित हैं जिनकी शैली पंडिताऊ, ऊबाऊ तथा अपच संस्कृत के शब्दों की भरमार से बोझिल हो जाती है। उनके लेखन में स्वच्छता, स्पष्टता और प्रभावोत्पादकता का गुण उनकी साधना के परिणाम हैं। **भारतीय दर्शन, संस्कृत साहित्य का इतिहास** आदि कई ग्रन्थों में इसे भलीभाँति देखा जा सकता है।

पंडित जी हर तरह के उच्च साहित्य में गहरी रुचि लेते हैं। अपभ्रंश साहित्य की ओर तो इनका विशेष आकर्षण है। इस साहित्य से इनके गहरे लगाव का एक प्रसंग मुझे याद आता है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के तत्वावधान में "हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण" लिखने की योजना डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के कार्यकाल में बनी थी। आचार्य उपाध्याय जी भी समिति के सम्मानित सदस्य थे। उसमें कुछ अपभ्रंश जानने वाले एक शोध-सहायक की आवश्यकता थी। सौभाग्य से इंटरव्यू कमेटी में पंडितजी उपस्थित थे। उन्होंने यहाँ मुझसे

अपभ्रंश भाषा-साहित्य पर कई प्रश्न पूछे। वहीं मुझे इस साहित्य में उनकी गहरी पैठ और विशेष रुचि का परिचय मिला।

मुझे यह कहने में रंचमात्र संकोच नहीं कि वे मुझे अपने ज्ञान और व्यक्तित्व में पूर्णतया अपभ्रंशगंधी लगे। उनमें अपभ्रंश की सुवास है। उसकी ताजगी है। सहजता-सरलता है। जिस प्रकार अपभ्रंश भाषा का साहित्य धर्म, नीति, सत्व, संयम की विजयश्री-पताका फहरा रहा है, उसी प्रकार पंडितजी के व्यक्तित्व में ये गुण लहरा रहे हैं। जिस प्रकार यह भाषा बल, वीर्य, ओज, शौर्य, प्रेम और शक्ति का संपुंज है, इसी प्रकार पं० जी का व्यक्तित्व इन शक्तियों से ओत-प्रोत है। जिस प्रकार यह भाषा जीवन के ताजे रस से सराबोर और लोकशक्ति से समन्वित है, उसी प्रकार पंडित जी भी समस्त प्राचीन साहित्य के उदात्त रसों को खींचकर लोकभाषा हिन्दी को संपुष्ट बना देने की संकल्पित पूत भावना से प्रेरित हैं। जैसे अपभ्रंश के महान् कवि स्वयंभू, पुष्पदन्त, त्रिभुवन, हेमचन्द्राचार्य आदि शास्त्रीय परम्परा के गम्भीर अध्येता तथा अलंकार, रस, पिंगल में निष्णात होने के बावजूद शैली की सहजता, भाषा की मधुरता एवं मर्मस्पर्शिता तथा लोकभाषा के प्रेमी और पक्षधर थे, उसी प्रकार पं० बलदेव उपाध्याय, अपने प्रकांड पांडित्य के रहते सहजता, सरलता, मधुरता और साधारणीकरण के जबर्दस्त पक्षधर हैं। अतः इस पूत तपस्वी की वंदना में अपभ्रंश के एक दोहे के माध्यम से मैं यही कहना चाहता हूँ कि जिस प्रकार अपभ्रंश का सौन्दर्य आभूषण के भार से दबी किसी सुन्दरी का नहीं, अलंकरणविहीन ऐसी रमणी का है, जिसके सिर पर जरा-जीर्ण लुगरी और गले में बीस मणियाँ तक नहीं हैं पर अपने सहज सौन्दर्य से अनेक मुग्ध महानुभावों को उठक-बैठक करा देती है—

**सिरि जर-खंडी लोअडी गलि मणियडा न बीस।**
**तो वि गोट्ठडा कराबिआ मुद्धए उट्ठ-बईस।**

उसी प्रकार पंडित जी का सहज सौन्दर्य से भरा ज्ञान-रस विद्वानों को मुग्ध कर देता है।

अपने सहज और महत्तम व्यक्तित्व में तो वे उस महान् वटवृक्ष के समान लगते हैं जिसके सिर पर शकुनियाँ (चिड़ियाँ) चढ़ती हैं, चहलकदमी करती हैं, फल खाती हैं, डालों को तोड़ती-मरोड़ती हैं फिर भी वह महाद्रुम उनका अहित नहीं करता। पंडित जी का व्यक्तित्व भी इससे अभिन्न है—

**सिरि चडिया खंतिप्फलइं पुणु डालइ मोडंति।**
**तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करंति।**



# आचार्य बलदेव उपाध्याय : स्मृति के वातायन से

डा० जनार्दन उपाध्याय

वाराणसी

अध्यापन की क्या कला है, अगर सीखना है तो कोई पंडित जी से सीखे। घटना करीब सन् १९५६-५७ की है। पंडित जी बस में गीता पढ़ते हुए विश्वविद्यालय आ रहे थे। मैंने समझा पाठ कर रहे हैं। इसलिए उसमें व्यवधान न उपस्थित करने के उद्देश्य से उस समय कुछ न पूछ सका। बस से उतरते समय मैंने पूछ ही लिया : "पंडित जी—क्या पाठ कर रहे थे" ? उनका उत्तर था—"नहीं बच्चा, पाठ नहीं था, आज इसे कक्षा में विद्यार्थियों को पढ़ाना है"। नित्यकर्म में गीता का रोज पाठ, जीवन के इस काल तक न जाने गीता का कितना मनन चिन्तन। पर आज कक्षा में पढ़ाना है, इसलिये उसे पढ़कर जाना है। यह अध्यापक के लिये एक आवश्यक निर्देश है। चाहे कितना भी विज्ञ क्यों न हो, नित्य पाठ ही क्यों न करते हो, पर कक्षा में पढ़ाना है, तो उस पाठ को पढ़कर जाओ। आज इस परम्परा के अध्यापक कम हैं।

भारतीय मिथों (Myths) की "अप्सरा कथाएँ" और ग्रीस मिथ की 'फेयरी टेल्स' की अवधारणा की मूल चेतना क्या रही है ? इस सन्दर्भ में मेरे सामने अनेक प्रश्न उठते रहे हैं और स्पष्ट-अस्पष्ट समाधान भी पाता रहा हूं। पर कभी सन्तोष नहीं मिला। पंडित जी के एक संकेत से समूचा रहस्य खुल गया। मिथ प्रकृति एवं मानवीय सम्बन्ध जनित भावनाओं का कथापरक रूपायन (Form) है। कैसे प्राकृतिक दृश्य भावमयी कथात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं ? मार्गन ने **लैंग्वेज एण्ड मिथ** (Language and Myth) में इस दृष्टि से भाषा के मिथपरक विकास का चिन्तन प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में पडित जी का एक संस्मरण द्रष्टव्य है। भ्रमणकाल में एक दिन प्रातःकाल गंगा के किनारे सूर्योदय का दृश्य था। उषा की आभा गंगा की लहरों पर पड़ रही थी। पंडित जी ने कहा : "देखो बच्चा ! यह अप्सरा रोज आती है, कितनी सुन्दर, कितनी रमणीय"। फिर शब्द का व्युत्पत्तिमूलक रूप

सामने रखा—"अप्सु सरति इति अप्सरा" जो जल पर चले; वह अप्सरा है। निश्चय ही आदिम मानव ऐसे ही मनोज्ञ अरुणोदय को देखकर कह उठा था—देखो कैसी सुन्दर अप्सरा तैर रही है। इसका एकमात्र प्रेमी सूर्य कैसे उसका पीछा कर रहा है। वह दिन भर उसका पीछा करता है और शाम को संध्या की लालिमा में जब वही अप्सरा उषा लुप्त हो जाती है, सूर्य विरह दग्ध मानस से दूसरे दिन उसके आने की प्रतीक्षा में लीन होता है। यह समूचा प्रकरण प्राकृतिक दृश्य का भावमय-कथात्मक प्रकाशन है। उस दिन मुझे लगा अप्सरा की कथाएँ कल्पना या गल्प नहीं हैं उनमें जीवन की सच्ची यथार्थ अनुभूति का संवेदन है और वे इसी धरातल पर लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न कर देवोपम सौन्दर्य (Divine Beauty) को प्राप्त करती हैं।

शब्दों के ठेठ भोजपुरी का मूल संस्कृत रूप क्या है, इसका एक उदाहरण पंडित जी से हुई वार्ता से ही प्रस्तुत है। एक दिन पंडित जी ने मुझसे पूछ लिया "बच्चा! 'घाख' कैसे बन गया।" प्रतिदिन के व्यवहार का शब्द है। हमेशा चतुर (Cunning) के लिए यह प्रयुक्त होता रहा है। कभी इस पर ध्यान नहीं गया कि इसका अर्थ-बिम्ब किस प्रकार मूल शब्द से उठकर अपने अपभ्रंश में ज्यादा बल से जीवित है। इसका मूल शब्द 'ध्वांक्ष' है। ध्वांक्ष = [ध्वंक्ष् + अच्] कौआ, [कभी कभी तिरस्कार प्रकट करने के लिए समास के अंत में प्रयुक्त होता है जैसे टीर्थध्वांक्षः] ढीठ व्यक्ति (संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे पृ० ५०४)। तीर्थे ध्वांक्ष इव रवतीति तीर्थध्वांक्षः।।" पक्षियों में काक सबसे अधिक चतुर माना जाता है, अब जो मनुष्य धूर्ततापूर्ण चतुरता से युक्त हो तथा ढीठ पुरुष हो वह "ध्वांक्ष" अर्थात् "घाख" है।

पंडित जी के स्वभाव में सरलता, बाल सुलभ भोलापन है तथा वे जिज्ञासु हृदय हैं। "मानस" की कथा, संगीत आदि में विशेष रुचि है। कथा किसी भी प्रकार की क्यों न हो पंडित जी पूर्ण भक्ति भाव से अंत तक उसका श्रवण करते हैं। दुर्गाकुण्ड पर संगीत का कार्यक्रम चल रहा था। काशी के प्रसिद्ध वयोवृद्ध कलाकार पं० महादेव मिश्र मालकोश में गा रहे थे।

> देखो री हरि नंगम नंगा।
> जलसुत भूषन अंग विराजत वसन हीन छवि उठत तरंगा।
> अंग अंग प्रति अमित माधुरी निरखि लजित रति कोटि अनंगा।
> किलकति दधि सुत मुख ले मन भरि सुरहंसत व्रज जुवतिन संगा।

सभी मन्त्रमुग्ध थे। गान समाप्त होने पर पंडित जी ने कहा "यह भारतीय

वैष्णवता है जो प्रभु के अनावृत सौन्दर्य का पान करते हुए भी उत्तेजित नहीं होती, अपितु आह्लादित होती है। आह्लाद आत्मा का धर्म है, उत्तेजना, लालसा, इन्द्रिय संवेदन है, उसमें सिडक्शन है, ईहा, मोह, क्षुधा है। इससे मन मथ उठता है। चिर विश्रान्ति, सुख-दुःख से ऊपर आनन्द की अनुभूति आह्लाद की स्थिति में ही सम्भव है। ऐसा सौन्दर्यमय, प्रेममय, चरितनायक विश्व साहित्य में नहीं है। रूप से परे अरूप, सान्त से अनन्त का संस्पर्श करा दे, यही भारतीय भाव बोध का उत्कर्ष है।''

संस्कृत वाङ्मय के प्रौढ़ मनीषी, प्राच्य विधा के अप्रतिम साधक और भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं वैदिक मनीषा के आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय भारतीय प्रज्ञा के गौरव-पुरुष हैं।



## पं० बलदेव उपाध्याय की रचनायें

### *मौलिक हिन्दी ग्रन्थ*

| वर्ष | ग्रन्थ नाम | प्रकाशक |
|---|---|---|
| (१) १९३२ | सूक्ति मुक्तावली | हरिदास एण्ड कम्पनी, मथुरा |
| (२) १९३२ | संस्कृति कवि चर्चा | मास्टर खेलाड़ी लाल, वाराणसी |
| (३) १९३४ | संस्कृत साहित्य का इतिहास | शारदा संस्थान, वाराणसी, दशम सं० १९७८ |
| (४) १९४१ | भारतीय दर्शन | शारदा मन्दिर, वाराणसी, नवीन संस्करण, चौखम्भा विश्वभारती, काशी |
| (५) १९४६ | आचार्य सायण और माधव | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग |
| (६) १९४६ | बौद्ध दर्शन मीमांसा | शारदा मन्दिर, वाराणसी<br>चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी<br>तृतीय सं० १९७८ |
| (७) १९४७ | धर्म और दर्शन | शारदा मन्दिर, वाराणसी |
| (८) १९४७ | आर्य संस्कृति के मूलाधार | शारदा मन्दिर, वाराणसी। द्वितीय सं० १९५५ नन्दकिशोर एण्ड सन्स, काशी |
| (९) १९४८ | भारतीय साहित्य शास्त्र द्वितीय खण्ड | प्रसाद परिषद, काशी |
| (१०) १९४९ | भारतीय साहित्य शास्त्र प्रथम खण्ड | भारतीय परिषद, काशी |

| वर्ष | ग्रन्थ नाम | प्रकाशक |
|---|---|---|
| (११) १९५० | आचार्य शंकर | हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद |
| (१२) १९५४ | भागवत सम्प्रदाय | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी |
| (१३) १९५४ | वैदिक साहित्य और संस्कृति | शारदा मन्दिर, काशी। पंचम सं० १९८० शारदा संस्थान |
| (१४) १९६० | संस्कृत आलोचना | हिन्दी साहित्य समिति, लखनऊ तृतीय संस्करण |
| (१५) १९६६ | वैदिक कहानियाँ | शारदा मन्दिर, वाराणसी |
| (१६) १९६५ | पुराण विमर्श | चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी द्वितीय सं० १९८० |
| (१७) १९६५ | संस्कृत वाङ्मय | शारदा मन्दिर, काशी |
| (१८) १९६६ | काव्यानुशीलन | रमेश बुक डिपो |
| (१९) १९६९ | संस्कृतशास्त्रों का इतिहास | शारदा मन्दिर, वाराणसी |
| (२०) १९६९ | भारतीय दर्शन स्तर | सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली |
| (२१) १९७० | महाकवि भास | चौखम्भा विद्याभवन, काशी |
| (२२) १९७५ | ज्ञान की गरिमा | सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली |
| (२३) १९७७ | भारतीय धर्म और दर्शन | चौखम्भा विश्वभारती, वाराणसी |
| (२४) १९७८ | संस्कृत सुकवि समीक्षा | चौखम्भा विद्याभवन, काशी द्वितीय सं० |
| (२५) १९७८ | संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास | शारदा संस्थान तृतीय सं० १९८२ |
| (२६) १९७९ | भारतीय दर्शन की रूपरेखा | चौखम्भा विश्वभारती, काशी |
| (२७) १९८० | वैष्णव सम्प्रदायों का इतिहास और सिद्धान्त | चौखम्भा अमर भारती, काशी |
| (२८) १९८२ | काशी की पाण्डित्य परम्परा | विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी |

## सम्पादित संस्कृत ग्रन्थ

| | वर्ष | पुस्तक का नाम | प्रकाशक |
|---|---|---|---|
| (१) | १९२६ | वररुचि-प्राकृत-प्रकाश (वसन्तराज की संजीवनी, सदानन्द की सुबोधिनी, भामह की मनोरमा, कात्यायन की कारिका से युक्त) | सरस्वती भवन, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय परिवर्धित संस्करण १९७५ |
| (२) | १९२८ | भामह-काव्यालङ्कार | चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी |
| (३) | १९३१ | हर्ष-नागानन्द | चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी |
| (४) | १९२४ | भरतनाट्यशास्त्र | चौखम्भा संस्कृत सिरीज़ द्वितीय सं० १९८० |
| (५) | १९४० | सायण-वेद-भाष्यभूमिकासंग्रह | चौखम्भा संस्कृत सिरीज, द्वितीय सं० १९८० |
| (६) | १९४३ | माधवाचार्य-शङ्करदिग्विजय | श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार। तृतीय सं० १९७५ |
| (७) | १९६९ | भक्ति चन्द्रिका (शाण्डिल्य भक्तिसूत्र की व्याख्या) | संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी |
| (८) | | अग्नि पुराण | चौखम्भा संस्कृत सिरीज |
| (९) | | कालिका पुराण | चौखम्भा संस्कृत सिरीज |

## प्रस्तावना

(१) भगवद्गीताभाष्यम्—भट्टभास्करविरचितम्—सरस्वतीभवन ग्रंथमाला (ग्रन्थसंख्या ९४) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६५।

(२) **प्रक्रिया कौमुदीविमर्श**—लेखक आद्याप्रसाद मिश्र ( सरस्वती भवन अध्ययनमाला १६) प्रकाशन पूर्ववत् १९६६ ई० ।

(३) **भारतस्य सांस्कृतिको दिग्विजयः**—मूललेखक श्री हरिदत्त वेदालंकारः अनुवादकः श्री कालिका प्रसाद शुक्लः सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला ७, प्रकाशक पूर्ववत् १९६७ ई० ।

(४) **अभिधम्मत्थ संगहो**—हिन्दी अनुवाद एवं अभिधर्म प्रकाशिनी व्याख्या से विभूषित । व्याख्याकार—भदन्त रेवतधम्म तथा रामशंकर त्रिपाठी, पालिग्रन्थमाला संख्या १, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९६७ ई० (दो भाग) ।

(५) **भक्ति रत्नावली**—श्री विष्णुपुरीकृतकान्तिमालाव्याख्यासहिता । सम्पादक डा० कृष्णमणि त्रिपाठी, ( गंगानाथ झा ग्रन्थमाला ३ ), प्रकाशक पूर्ववत् १९६८ ई० ।

(६) **बृहत् संहिता**—वाराहमिहिरकृत । भटोत्पल रचित व्याख्या समन्वित, मूलसम्पादक महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, द्वितीय संस्करण दो भाग, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ संख्या ९७, प्रकाशन वर्ष १९६८ ई० ।

(७) **वाक्यपदीय**—भर्तृहरि विरचित—पं० रघुनाथ शर्मा कृत अम्बाकर्त्री टीका समन्वित—भाग द्वितीय, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला संख्या ९१, १९६८ ई० ।

(८) **हयत ग्रन्थः** ( अरबीय सिद्धान्त ज्योतिष )—श्री मुखानन्द उपाध्याय द्वारा विरचित अरबी ज्योतिष ग्रन्थ, सरस्वती ग्रन्थमाला ९६, सम्पादक पं० विभूति भूषण भट्टाचार्य १९६७ ई० ।

(९) **पारसीकप्रकाशः**—श्री बिहारी कृष्णदास विरचित पारसी भाषा का संस्कृत व्याकरण । पं० विभूतिभूषण भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित । सरस्वती भवन ग्रन्थ-माला ग्रन्थसंख्या ९५; १९६५ ई० ।

(१०) **नित्याषोडशिकार्णवः**—( योगतन्त्रग्रन्थमाला सं० १ ) सम्पादक पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी, १९६८ ई० वाराणसी ।

## *अभिनन्दन ग्रन्थों में प्रकाशित लेख*

१. **पण्डित गोपीनाथ कविराज**—साहित्यिक तथा आध्यात्मिक संस्मरण । (गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ, लखनऊ १९६८ ई०)

**२. वाङ्मयार्णवकोश**—एक आलोचना ( डा० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन ग्रन्थ, दिल्ली, १९६९ ई०) ।

**३. महामना मालवीय जी के साहित्यिक संस्मरण—**

प्रज्ञा—शताब्दीविशेषांक (१९६१ ई०),

" —हीरक जयन्ती अंक (१९७६-१९७७ ई०)

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

**४ श्रीकृष्ण का लौकिक चरित विमर्श**—(पं० सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी अभिनन्दन ग्रन्थ, गोरखपुर) ।

**५. पोद्दारजी—आध्यात्मविभूति**—( हनुमान प्रसाद पोद्दार स्मृतिग्रन्थ, गोरखपुर २०२८ वि० सं०) ।

**६. आध्यात्मशिक्षण की आख्यानशैली**—(पं० राजबली पाण्डेय स्मृति ग्रन्थ, गोरखपुर) ।

**७. स्वामी करपात्री जी के अभिनन्दनार्थ सन्मार्ग का विशेषांक—**

शिव तथा शक्ति तत्त्व—तन्त्र विशेषांक १९७९ ई० ।

गुरुतत्त्व : आगमिक दृष्टि—आगम विशेषांक १९८० ई० ।

ब्राह्मण : श्रुति का अविभाज्य अंग—वेद विशेषांक १९८१ ई ।

**८. मिश्रवाणी**—सांख्ययोग के इतिहास में वाचस्पति का स्थान। प्रका०—पं० बलदेव झा, वाचस्पति मिश्र की (वाचस्पति विशेषांक) जन्मस्थली, जिला—दरभंगा, बिहार १९६२ ई० ।

## *विशिष्ट लेख*

जो विशिष्ट ग्रन्थों के परिच्छेद रूप से प्रकाशित हैं—

**१. हिन्दी साहित्य में धार्मिक तथा दार्शनिक आधार और परम्परा**—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग (पृष्ठ ४१९ = ५५९) काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९५७ ई० ।

२. "भारतवर्ष में मध्ययुग की धार्मिक तथा दार्शनिक स्थिति" हिन्दी साहित्य प्रथम खण्ड पृष्ठ ७८-११० । प्रकाशक—भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग १९६२ ई० ।

३. भोजपुरी लोकगीत—स्वरूप तथा साहित्यिक महत्त्व—'भोजपुरी लोकगीत' (प्रथमभाग पृ० १-१२५) लेखक—डा० कृष्णदेव उपाध्याय; प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

४. हिन्दी में वैष्णवपदावली का प्रथम रचयिता—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक वि० सं० २०१८ (=१९६१ ई०) काशी ।

५. श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण—( भारतीय भाषाओं में कृष्ण ) मध्य प्रदेश साहित्य परिषद्, भोपाल, १९७९ ई०) ।

६. पाश्चात्य दर्शन का परिचय—( भारतीय दर्शन, पंचम संस्करण पृ० ४९५ से लेकर पृ० ५३३, काशी) ।

## लेख

### हिन्दी

| | विषय | प्रकाशन स्थान |
|---|---|---|
| १. | अथर्ववेद में कौटुम्बिक अभिचार | प्राच्य मानव वैज्ञानिक |
| २. | हिन्दी जगत् की एक विभूति | नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका, काशी । |
| ३. | जवनिका | नागरी प्रचारिणी संवत् २००५ |
| ४. | वैदिक आर्यों का आर्थिक जीवन | नागरी प्रचारिणी संवत् २०१० |
| ५. | हिन्दी में वैष्णव पदावली का प्रथम रचयिता | नागरी प्रचारिणी संवत् २०१८ |
| ६. | शिवपुराण तथा वायुपुराण का स्वरूप निर्णय | नागरी प्रचारिणी संवत् २०२० |
| ७. | श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व—एक विवेचन | परिषद् पत्रिका, वर्ष ४ अंक ३ |

| | विषय | प्रकाशन |
|---|---|---|
| ८. | कथाकार क्षेमेन्द्र | विहार राष्ट्रभाषा पत्रिका, पटना |
| ९. | उच्चारण की विचित्रता | बिहार राष्ट्रभाषा पत्रिका, पटना |
| १०. | मानव धर्म की आधार भूमि | मानस मयूख वर्ष १ प्र० १ |
| ११. | गाय की आत्मकथा | मानस मयूख वर्ष १ प्र० ४ |
| १२. | श्रीमद्भागवत की महापुराणता | मानस मयूख वर्ष १ प्र० २ |
| १३. | धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् | मानस मयूख वर्ष २ प्र० ४ |
| १४. | संस्कृत में कोष विद्या का इतिहास | हिन्दुस्तानी, प्रयाग |
| १५. | वैभाषिक साहित्य | हिन्दुस्तानी, प्रयाग |
| १६. | संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना | त्रिपथगा, लखनऊ |
| १७. | नाट्यकला तथा शान्त रस | सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग |
| १८. | रूपक की रम्यता | कलानिधि, भारत कलाभवन, काशी |
| १९. | संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीयता | प्रज्ञा १९५९, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी |
| २०. | महामना के कतिपय संस्मरण | प्रज्ञा १९७६-७७ |
| २१. | रुद्र की वैदिक कल्पना | विश्वभारती १९९९ वि० |

## संस्कृत

| | | |
|---|---|---|
| १. | बृहत्संहितायाः विमर्शः | गंगानाथ झा शोध संस्थान पत्रिका, १९७० |
| २. | नाचिकेतोपाख्यानस्य वेदेतिहासपुराणयोः विकासः | पुराणम्, काशी, १९६४ |
| ३. | इतिहासपुराणयोः श्रीकृष्णस्य लौकिकचरितविमर्शः | पुराणम्, काशी, १९७४ |

| | विषय | प्रकाशन स्थान |
|---|---|---|
| ४. | श्री योगेश्वरशास्त्रिणां जीवनेतिवृत्तम् | सारस्वती सुषमा, काशी |
| ५. | काव्यप्रेरणा | सारस्वती सुषमा, सं० २००७ |
| ६. | प्राचीन नाट्यशास्त्रम् | सारस्वती सुषमा, सं० २००८ |
| ७. | गोरात्मकथा | सारस्वती सुषमा, सं० २०२२ |
| ८. | वेदान्तोपदेशविधेर्वैज्ञानिकत्वम् | सारस्वती सुषमा, सं० २०२३ |
| ९. | संस्कृतस्य महत्त्वम् | सारस्वती सुषमा, २०२४ |
| १०. | संस्कृतभाषायाः अभिनवकोशो वाङ्मयार्णवः | सारस्वती सुषमा, २०२५ |
| ११. | भर्तृहरेः वाक्यपदीयस्य उपोद्घातः | सारस्वती सुषमा, २०२५ |
| १२. | संस्कृतकाव्येषु प्रगतिशीलत्वम् | सारस्वती सुषमा |
| १३. | संस्कृतपरिषदः प्रथमाधिवेशनस्य सभापतेः अभिभाषणम् | छत्तरपुर |

### अंग्रेजी

| | | |
|---|---|---|
| १४. | *A Devotional Drama in Sanskrit* | Indian Historical Quarterly, 1939 |
| १५. | *New Verses of Paṇini* | Indian Historical Quarterly, 1937 |
| १६. | *A Brief Servey of the Purāṇas on the Kṛṣṇa Līlā* | Purāṇa 1969 |
| १७. | *Review from mind to Supreme mind* | |

# हिन्दी विश्व कोश में प्रकाशित लेख

## प्रथम खण्ड

## द्वितीय खण्ड



## तृतीय खण्ड

| | पृष्ठ | | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| कृष्णाष्टमी | ४६ | कोलब्रुक | २१६ |
| कुन्तक | ४९ | कौल | २३५ |
| कुट्टिनी | ५९ | कौलाचारमत | २३५ |
| कुमारीपूजन | ७५ | क्षेमेन्द्र | ३१२ |
| केवल ज्ञान | १५९ | गाथा | ४१७ |
| केवलव्यतिरेकी | १६० | गीतगोविन्द | ४३९ |

## चतुर्थ खण्ड

| | पृष्ठ | | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| गोदान | २०-२१ | भाग ७ ब्रह्मवैवर्त पुराण | २५६ ५७ |
| चन्द्रकीर्ति | १३४ | भाग ८ भागवत पुराण | ४४०-४१ |
| चम्पू | १४८ | भागवत धर्म | ४४१-४४३ |
| भाग ५ तुंबरू | ३९४ | भाग १० राधा | ८८-९१ |
| भाग ६ दिवाली | ६१ | भाग १२ सायण | ५२-५४ |
| नचिकेता | २२३ | | |

हिन्दी विश्वकोश के समग्र १२ खण्डों का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने किया है। प्रकाशन वर्ष १९६० ई०-१९७० ई०।

## आचार्य बलदेव उपाध्याय के अन्य भाषाओं में

### अनूदित ग्रन्थों की सूची

| भाषा | ग्रन्थ का नाम | अनुवादक | प्रकाशक |
|---|---|---|---|
| उड़िया | भारतीय दर्शन | श्री गोविन्द चन्द्र मिश्र | उत्कल साहित्य एके-डेमी, १९६६ |
| उर्दू | संस्कृत साहित्य का इतिहास | | सेण्टर आफ प्रोमोशन आफ उर्दू लिटरेचर, नई दिल्ली |

| भाषा | ग्रन्थ का नाम | अनुवादक | प्रकाशक |
|---|---|---|---|
| कन्नड | आचार्य शंकर | श्री एस० रामचन्द्र शास्त्री | काव्यालय प्रकाशन मैसूर, १९६४ |
| कन्नड | भारतीय दर्शन | श्री एस० रामचन्द्र शास्त्री | इन्स्टीट्यूट आफ कन्नड स्टडीज़ गंगोत्री, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, १९७० |
| कन्नड | भारतीय साहित्य शास्त्र दोनों भाग (यंत्रस्थ) | | " |
| कन्नड | संस्कृत साहित्य का इतिहास | श्री एस० रामचन्द्र शास्त्री | बंगलोर विश्वविद्यालय बंगलोर १९८० |
| तेलुगू | भारतीय दर्शन (श्रौत भाग) | श्री 'रामशरण' वेंकट | साधना तेनाली ग्रन्थ-मण्डल, गुन्टूर आन्ध्र प्रदेश |
| नेपाली | संस्कृत कवि चर्चा | | काठमांडू, १९३५ ई० |
| बरमी | बौद्ध दर्शन मीमांसा | | रंगून |
| सिंघली | बौद्ध दर्शन मीमांसा | | कोलम्बो, श्रीलंका |

## विशिष्ट सम्मान एवं पुरस्कार

### सम्मान

१. देवभाषा परिषद् (पटना) के चन्द्रनगर अधिवेशन के सभापति, १९४५ ई० ।

२. हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) के ३३वाँ अधिवेशन उदयपुर के दर्शन विभाग के अध्यक्ष, १९४५ ई० ।

३. रामदीन सिंह व्याख्याता (पटना विश्वविद्यालय, १९५०) व्याख्यान का विषय—वैष्णव धर्म का इतिहास तथा दर्शन ।

४. हिन्दी साहित्य सम्मेलन (सीवान, बिहार) के भोजपुरी परिषद् के सभापति, (१९५९ ई०) ।

५. अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के तृतीय (गया) अधिवेशन के सभापति (१९५८ ई०)।

६. संस्कृत परिषद् (छत्तर पुर, मध्य प्रदेश) के सभापति (९ मार्च १९५७ ई०)।

७. जनपद संस्कृत सम्मेलन (चतुर्थ अधिवेशन) के सभापति। स्थान— देवाश्रम मठ, लार जिला, देवरिया (१० मई १९५८ ई०)।

८. अखिल भारतीय कालिदास जयन्ती समारोह (उज्जैन) के सभापति, (११६८ ई०)।

९. विहार राष्ट्रभाषा परिषद् के विशिष्ट व्याख्याता। विषय —'भारतीय वाङ्मय में श्री राधा' (जो परिषद् द्वारा ग्रन्थ रूप में प्रकाशित किया गया है)।

१०. विक्रम विश्वविद्यालय में 'पुराणसाहित्य में श्रीकृष्णचरित' पर दो व्याख्यान जो 'भारतीय भाषाओं में कृष्णचरित' ग्रन्थ में प्रकाशित है।

११. आलइण्डिया ओरियन्टल कान्फरेंस (काशी अधिवेशन, १९६८) के स्थानीय मन्त्री।

१२. अखिल भारतीय काशीराज न्यास (राम नगर दुर्ग) के न्यासी, (१९८० ई०)।

| पुरस्कार | धनराशि | संस्थान |
|---|---|---|
| (१) **मंगला प्रसाद पुरस्कार** ('भारतीय दर्शन' पर) | १२००) | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। १९९८ वि० सं० |
| (२) **डालमिया पुरस्कार** ('बौद्धदर्शन मीमांसा' पर) | २१००) | सेठ रामकृष्ण डालमिया मन्दिर, हरिद्वार १९४३ |
| (३) **श्रवणनाथ पुरस्कार** ('शंकर दिग्विजय' पर) | ११००) | श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार १९४३ |
| (४) **साहित्यिक पुरस्कार** (बौद्ध दर्शन मीमांसा) | १२००) | हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ १९४८ |

| | पुरस्कार | धनराशि | संस्थान |
|---|---|---|---|
| (५) | साहित्यिक पुरस्कार ('भारतीय साहित्यशास्त्र' पर) | १०००) | वही, १९४९ |
| (६) | साहित्यिक पुरस्कार (श्रीशंकराचार्य) | ८००) | वही १९५० |
| (७) | वही | १२००) | हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद |
| (८) | साहित्यिक पुरस्कार (भागवत सम्प्रदाय पर) | ७००) | उतर प्रदेश शासन, लखनऊ, १९५५ |
| (९) | साहित्यिक पुरस्कार (वैदिक साहित्य और संस्कृति) | ५००) | वही, १९५६ |
| (१०) | साहित्यिक पुरस्कार ('भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' पर) | २०००) | हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९७० |
| (११) | बिड़ला पुरस्कार तथा रेडिचे पदक | २००) | नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी |
| (१२) | विशिष्ट साहित्यिक पुरस्कार | १५,०००) | उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, १९७५ |

## मानद उपाधियाँ

| | |
|---|---|
| साहित्यवारिधि | हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६२ ई० |
| वाचस्पति | संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७ ई० |
| सार्टिफिकेट ऑफ आनर | राष्ट्रपति जाकिर हुसेन, १९६ ई० |
| कालिदास साहित्यरत्न | कालिदास अकादमी, उज्जैन, १९८२ |

●

# THE THEORY AND PRACTICE IN INDIAN ARTS

## (A discussion of the terms *Śāstra* and *Prayoga* and the concept of *Mārgī* and *Deśī* in Indian Arts)

DR. KAPILA VATSYAYAN

*New Delhi*

The seemingly opposites, the conceptual models in all disciplines of Indian tradition such as *śāstra* and *prayoga, mārga* and *deśī, nāṭya-dharmī* and *lokadharmī,* sacred and the profane etc. are into a continuam or as a segments of a circle rather than a line and should be re-examined by the sociologists and the art historians by studying texts and contemporary regional traditions. The word *Śāstra* and *prayoga* cannot be equated to the words 'theory' and 'practice'. The efficacy of *Śāstra* lies in its utility and practicability. The words *dharma, artha, Kāma, Śilpaśāstra, nāṭyaśāstra* etc. denote the disciplines including applicability. The words *Śāstra* and *prayoga* etc. may be extended to spheres outside the fields of arts as well.

The future of Indian studies either at the theoretical or at the empirical levels lies in an intensive study of the regional traditions of India both diachronically and synchronistically by both a study of texts as also the living continuities. I believe that in India, there were conceptual models which the tradition itself provides and therefore, it may be useful to examine the models themselves, rather than the attempt to fit in data within an alien or so-called universal model. In short methodologically it should be possible to first examine whether in a given culture, there has been any debate or consideration of 'conceptual models' and empirical data, and if so, whether these are valid in an examination of the living continuities. This is an approach somewhat different from either the inductive or deductive.

I propose here to consider the terms *Śāstra* and *Prayoga* as well as *Mārga* and *Deśī* as a conceptual model which are relevant for a study of the Indian arts but which are probably also relevant for a study of social system and perhaps, therefore even the sociology of religion.

First and foremost thus would be the question of defining the word *śāstra* and to find a viable English equivalent which can be used in all the varied context in which the Sanskrit term is used. Despite the Sanskrit lexicographers explaining the term in the generic sense for a body of knowledge pertaining to any single discipline,[1] the term has been largely used during the last hundred years or more for the English term 'theory' or 'theoretical'. This is almost universally accepted in many contexts and disciplines. At the outset it needs to be clarified that the term 'theory' in its primary meaning excludes applicability or the practical and suggests an insistence on the speculative and contemplative. It implies knowledge or pure science as such without reference to its practical application. Further it is agreed that a 'theory' is a tentative statement of a supposed principle or relationship as of cause and effect, in short a working hypothesis. Only in its derivative meanings does it suggest the abstract principles and universal truths of any body of related facts. Now if we return to the word *śāstra* and examine the varied contexts in which it is used as a suffix it will be immediately clear that while the second derivative meanings of 'theory' can serve as a rough equivalent in some contexts, the primary meaning of the 'theoretical' as pertaining exclusively to the 'speculative' and the 'contemplative' (from its Greek roots and terminology) is almost ruled out. We find that the term appears to be used in the

1. Monier Williams, *Sanskrit English Dictionary*, 1974. *Śāstra*, p. 1069 ; *prayoga*, p. 688.

Indian context invariably to disciplines which have an 'applicability' aspect inbuilt into the theoretical system. Neither the *Dharma, Artha, Kāma, Cikitsāśāstra,* the *Śilpaśāstra* or the *Nāṭyaśāstra,* appear to exclude the practical, the applied, and the empirical if we may call it as such. If we extend this argument, even if somewhat facetiously to ask the question why the Indians never thought of suffixing the last *'Puruṣārtha' mokṣa* with the word *śāstra,* the answer will be self-evident. Also while there is a *Ātma Vidyā,* there is no *ātmaśāstra* or *brahman śāstra,* the two key words of Indian speculative thought. The absence of these is indicative of the fundamental approach of significance and cannot be lightly discussed, even if it has been facetiously stated. In short, the *śāstra* appears not to concern itself only that which is purely 'speculative', 'contemplative', 'ideational' opposed to the empirical or practical. In short, all aspects of life which pertain to the physical material, socio-economic, political, physiological, even psychical can be abstracted to a set of principles or norms, a framework or a hypothesis, but the spirit, the intangible that transcends them all and runs through them all cannot be bound within the walls of a formal theoretical framework. The methodologies of attaining a psychical state of 'beautitide' an experiential state of bliss are set forth, but not the state or the nature of the last final experience. It was perhaps the recognition of this distinction between theoretical, speculation and *śāstra,* that has led many others to use the words textual 'manual', 'treatise' canon as equivalent or cognates for the same word *śāstra.* Now it begins to shed all the nuances of speculative thought and certainly the ideational and acquires a technical meaning of a 'manual', a set of rules whose efficacy lies only in its utility and practicability. This would be particularly true of all that we today recognize as 'technical sciences' and the 'crafts'.

The term assumes yet another dimension when we begin to look at a sphere of life which is today called the 'behavioural sciences'. Here we repeatedly come across the *śāstrācāra*' and '*lokācāra* or '*kulācāra*'[2] as antonymns. A related pair *daivaka* and *laukika*[3] has also been used by modern sociologists to analyse the behavioural pattern of Indian society, by often dissociating them from the original contexts in which they were used, we are aware that the Brahmanical, Buddhist and Jaina pantheons, the gods and goddesses were classified as *śāstrika* or *śāstrīya* (that which is sanctioned by codified sacredotal texts) and *laukika* or sanctioned by the practice and conventions of people. Today they are being equated largely to the behavioural (and not just ritual patterns) to a socio-economic or cultural elite within a caste structure and to a popular culture mostly identified as rural or tribal. This has led to a tacit acceptance of a seeming diachatomy between the two—a hostility rather than a 'continuam' or differentiation within a system. Little wonder thus that the 'tribal', 'rural', 'urban' classification of sociologists, placed in a unilinear progressive graph has not been able to contain the complexities of the Indian social structure, where the so-called *śāstric* is equated to theory or 'sacred or textual', and the '*maukhika*'[4]

2. *Śāstrācāra* : conduct according to precept
   *Lokācāra* : conduct sanctioned by practice
   *Kulācāra* : conduct sanctioned by conventions of the groups.
3. *Daivaka* (celestial) pertaining to tne gods, eternal, perennial, the sacred.
   *Laukika* (terrestrial) pertaining for the world innerdance. For discussion on these pairs of words see Ray N. R. *Approach to Indian Art*. Chandigarh.
4. *Maukhika* derived from *mukha* or mouth. Referring to the oral traditions or the spoken word.

equated to the *laukika* where the terms begin to denote the 'literate' and the 'non-literate' or 'oral traditions' of this society. By a perverse logic the '*śruti*'—would then become *maukhika* and a perverse logic *laukika*. And can this be accepted? The discussion has acquired further complexity by the use of the terms 'sanskritisation' and vernacularization' in the purely sociological context where they denote the processes by which a less affluent or privileged class of people begin to acquire the behavioural patterns of an elitiest society.

Leaving sociology alone for the time being, although relevant to our discussion when we turn to the arts, we find that the term 'classical' is being largely equated to the term '*śāstric*' or '*śāstrīya*' and it is in this sense that many are using the term *Śāstrīya saṅgīta*[5] or *Śātrīya nṛtya, śāstrīya kalā* etc., somewhere vaguely taking into account the sacredotal and the elitist mentioned above, and again tacitly rejecting the speculative and the conceptual. Here also *deśī*[6] or loka are used antonyms and equated to tribal or rural or more imprecisely folk in the sociological sense. Conversely the word 'classical' is also used as a term for periodisation, to indicate sometimes pre-8th century, at other times pre-10th century and in some cases even pre-6th century developments in Indian art. Then classical is opposed to medieval.

This is obviously a transference of the Greek term 'clas-

---

5. Common usage of the terms. Literally they would be translated into theoretical music, dance or art, in fact they denote the practice of music (*Saṅgīta*) dance (*nṛtya*) and the arts (*kalā*) according to finalised grammar and system.

6. *Deśī* is derived from *deśa* local or spatially circumscribed. Popularly it is equated o rural or folk.

*Loka* derived from *loka* terrestrial, world, mundane, popularly used for masses, or folk and rural.

sical' used in the Western context to denote both a period and a qualitative artistic genres. Examples from other spheres could be added to lay bare the complexities of the situation in which we appear to have accepted where the same terms are being used to denote vaguely but not precisely the Indian connotations.

It is also evident from the above thus that the terms *śāstra* in contemporary terms can stand for a theory, as an abstraction from a set of facts, a 'technical manual', or treatise, sociological term for the behaviour of certain groups, a term to distinguish the literature, textual from the oral and a term for differentiating qualitative artistic excellence. The word theory on the other hand does not quite often open out all these avenues of exploration. An examination of the 'manuals' treatises and formulae will make it clear that the '*śāstra*' indeed was a deduced conceptual model which provided for applicability and thus variation and modification. Each '*śāstra*' is only a framework or structure and thus rather more universal than local, but in no event is it a scripture as ordinarily understood. All it does is to break up the constituents into its smallest parts or units and then builds an edifice through a schematic design of inter-relationships. This is true of the *Vāstu, Śilpa, Saṅgīta* and *Nṛtya śāstras* and others.

Now for the term *prayoga* and all that it has been used to writing. Again, except for its primary meaning of joining together or of throwing a missle, it has been broadly used for applicability. In its extended meaning as constant practice, with a stress on the empirical, it has connotated experimentation, innovation and variability. Indeed the nuance of experimentation, has led to a literary school of the experimentalists in Hindī and other Literatures called *Prayogavāda*. We had observed that the antonym in the

sociological sense to *śāstrācāra*[7] was *lokācāra* or *deśācāra*. In the artistic sphere *prayoga* has not been equated to *deśī* or *loka* but has certainly conveyed the insistence on *vyavahāra*,[8] *abhyāsa* (practice) and all that we understand by the empirical, the practical, the experiential and related to a specificity of time and space. In this last sense it comes closest to *deśī*, is almost a cognate, but not a synonym, but clearly differentiated from the universal movement or constant flow of the *śāstra*. In the context of language alone, we encounter the phrase *devabhāṣā* or Sanskrit (or refined) and *Deśī* equated to the regional or local. The perusal of the discussion on the term *prayoga* again clearly unfolds the complexities, and the varied contexts in which it has been and can be used.

This brief enumeration of the two terms and the possibilities of variety of approaches from the academic to the sociological to the purely artistic will perhaps make it clear that the terms denote concepts and processes which cannot be easily contained in their English equivalents so far precisely or imprecisely used. Each of these would need to be pursued first separately in the specific disciplines and contexts and then taken together in their underlying organic inter-relationship and inter-action of disciplines and areas.

I should like to raise one other question at this stage and this is the new insistence on an inter-disciplinary

---

7. See note 2 above *Śāstrācāra* conduct according to the treatises of *dharma* : *ācāra* is literally conduct, behaviour, norms of social relationships.

8. *Vyavahāra* denotes social dialogue, conduct modes of behaviour. It emphasises practice as opposed to theory.

*abhyāsa* is constant practice, in the sense of repititive routine leading to discipline or perfection ; considered essential for any art.

approach. If we look at the Indian system, we find that an inter-disciplinary approach was at the core of the vision and structural system and some of the complexities of terminology arise only because cognizance of this inter-disciplinary system is not taken into account. No one discipline could be understood in its totality without taking into account the findings in other disciplines or to put it simply that the *śāstra* was just that ability to cull out the 'universals' from a series of empirical facts drawn from a variety of related or cognate disciplines. The story of *Viṣṇudharmattora*[9] of the conversation of Vajra and Mārkaṇḍeya crystallises pithly the vision and methodology in the arts. But it is so in other disciplines and spheres of life. My other submission thus is to stress the need for identifying the contours of this inter-disciplinary approach where the inter-connections and inter-dependence in all levels and spheres of life was being taken for granted or was fundamental to the study of any one discipline. So far scholars of Indian studies have identified and have dealt in great detail on the micro-classifactory system contained in each unit or discipline but have not placed these micro-classifactory details and distinctions in a total perspective where each unit was serving as an indispensable role in a larger organic system full of concordances, synthesis, with a clearly identifiable pattern of distinctiveness, autonomy, multilayering and inter-action. The system has a staggering complexity which almost belies identification, but closely observed it has the rigorous organisational pattern and structure of, let us say, the London Tubes, the Paris Metro, or nearer home the Body system. It is no accident that the image of kan as *Puruṣa* has been uniformally used as a term of reference in all disciplines and spheres of life, rang-

9. *Viṣṇudharmottara Purāṇa,* See chapter III section.

ing from the cosmological to the purely physical as one symbolising coordinated activity where each part is interconnected with the other.

One could adopt the historical chronological approach and trace the history of the Indian arts over a period of two thousand years, i. e. what is termed as a diachronic study of the two terms, or the synchronic approach and trace it through space, in a given period. I am with purpose departing from this standard method and am instead trying to understand the Indian arts from the point of view of (a) their conceptual speculative base (which can be called *śāstric* with provisions) ; (b) the structural framework which provides the methodology the *vidhi*[10] of creation ; (c) to see the relationship of what was laid down in the *śāstra* (canons, treatises, theory) and all that we understand by the term creativity ; (d) and finally to point at the fact that in this sphere all that we often recognize as the *śāstric* need not be operative or seen at the urban, elitest level, of society but may be discerned in forms genres which are normally called *deśī laukika* (folk or tribal) in sociological terms.

All this will naturally necessitate taking mighty leaps in time and space within the physical time at our disposal today. In order to illustrate my theme, I shall focus on a seemingly unimportant aspect of the *nāṭyaśāstra* (the theatre arts) namely *āṅgikābhinaya,* called simply dance or movement generally considered unworthy of any academic discussions. But this one concern with movement, or dance itself may take us ultimately to underline and identify how a simple seemingly spontaneous rhythmic use of the body cannot really be understood in its entirety with-

10. *Vidhi* methodology. Originally used as a technical term in the context of Vedic ritual of the Yajña.

out taking into consideration disciplines as far flung as *cikitsāśāstra* on the one hand and mathematics or early geometry or trignometry on the other.

So thus, to return to the *Nāṭyaśāstra*. This is a *śāstra* both in the primary sense of presenting a theory or a conceptual framework of artistic creation, but it is also a *śāstra* in its extended meaning in so far it is a compendium of technical details of applied methodologies and skills required for a successful presentation of *drama*. But what is of greatest significance is the fact that this *śāstra* takes cognizance of the empirical, the applied in its fundamental conceptual framework and in this sense it is unique on one level, but representative of the Indian system on another, because it may well be a *śāstra* of *prayoga* or a *prayogaśāstra*. If this sounds a contradiction in terms, let us very briefly examine the text itself, the text in all its manifold complexities and the corrupted form in which it has come down to us not withstanding the heroic effort put in by Rama Krishna Kavi, Ramaswami Sastri and others and without as far as possible the help of Abhinava Bhāratī. The latter not because it is not a significant but because we should try and understand the text as it stood at least eight hundred years before Abhivana interpreted it with the aid of the *śaivite darśana* or of others who examined it from the several yardstick or positions of the specific system of *darśana-s*. I am with purpose not using the term philosophy here

The very first verse raises the problem of terminology, because Bharata begins by saying : 'I shall now explain the canons of Drama'—(*Nāṭyaśāstra* and *Nāṭya*). Fortunately, it is not necessary for us to point out that *Nāṭya* does not denote a literary work alone but it deals with the creative effort of both the 'Kavi' and the theatric director, thus

*śravya* and *dṛśya.* Indeed Abhinavagupta may be brought to aid for he too insists on pointing at both the literary and the non-literary here.

This object of diversion or play (*NS* I-V 7-12) was created for all the *varṇas* including the *śūdras.* In making what appears to be a simple statement to be welcomed in a society wedded to the goals of egalatarinism, Bharata in one stroke through two phrases has opened up a whole Pandora box which would demand reconsideration of all sociological deductions of equating the *śāstric* or *śāstrācāra* to the behavioural patterns of the upper classes in terms of status and position and the preserve of literate society and also if *śāstric* is equated again to the 'literate' or the written word. If we transport ourselves in time to the 4th or 2nd century A.D. whichever lower or dating for the *Nāṭyaśāstra* and re-read this within the framework of the normally accepted notion of an insulated hierarchical society that these verses so far slurred over by most commentaries and modern interpreters. We may as well come to the conclusion that this was a most extraordinary radical almost revolutionary statement. For us it holds a crucial key to an understanding of what follows. Bharata does not stop at throwing the doors open by an insistance on the equalising role of theatre but proceeds further by basing his base text on all that which is considered 'sacred' pure and beyond the pale of secularity the profanity. After all, why this insistance on drawing upon the four *vedas* and why the term *śāstra* and why open it to all and sundry not just make it another exclusive category for the lowly in status and socio-economic conditions. This statement as we know is made in answer to a question which asks "How did the *Nāṭyaveda* similar to the *vedas* originate and for whom is it meant, how many parts does it possess, how

far does it extend and how is it to be applied? The answer goes further by stating that it will incorporate all the *śāstras* (M. M. Ghosh[11] translates this as scriptures here I.15) and all the arts and crafts (i. e. *Śilpa*). This is the *śāstra* of *Nāṭya* and is not an exclusive *śilpa* or a theory, it is a combination or amalagm of the theoretical, the conceptual· i. e. the *śāstric* universals of all disciplines and the practice of all the arts (*Śilpa*). Does it not already point at the organic relationship of the conceptual and the empirical and does it not open the door to what follows in thirtysix long chapters? These pithy statements themselves will make it clear that the *śāstra* and the *prayoga* were not to be considered as exclusive categories and that also a clear distinction was made between *śāstra* and *śilpa*.

Somewhat later the word *prayoga* is used in the more specific sense of a performance, when the Devas are considered unfit (*Ayogya*) to do anything with drama (*nāṭya*, i. e. actual dramatic performance). This is followed by the positive answer that the sages (ṛṣis) who have kept their vows alone have the capacity to put this into practice (*vrata* I.23) finally the statement that the art was learnt from Brahman from whom Bharata and his sons studied both it and its application or usage (*prayoga* I.25).

The use of the term *prayoga* recurs in this chapter, in many contexts including the adaption of different styles (*vṛttis*) the special place of the *prayoga* (use) of *Kaiśikī*.

A reading of the first ninety odd verses of the *NS* makes it clear that the *śāstra* was not dissociated from the *prayoga* at any state and in fact the latter was almost primary (See I.46-47, 53, 54, 58) (in the context of the dismemberament of the *Daityas* I-64 or when the *daityas* object

11. *Shastra scripture,* Ghosh M. M. (transl. by) *Natyasastra* Calcutta University Press, 1967, pages 3.

—76-78 or for dramatic performance 76, 96, 97, 99, 100 etc.).

Now then it is clear that in conceiving a major artistic theory of creation (aesthetics), Bharata was at no time even aware that there existed or could exist an irreconcilable diachotomy between theory and practice in the modern sense. In short, the abstract and the concrete, the conceptual and speculative and empirical were inbuilt into one single system.

However, we must pass only to one crucial pair which I spoke of initially, namely *mārga* and *deśī* and a subsidiary pair related to these *Nāṭyadharmī* and *Lokadharmī*.

In a brilliant essay on the Nature of Folk-lore and Popular Art Coomaraswamy discusses the twin concepts of *mārga* and *deśī* and sacred and profane. Mircea Eliade also in a different context examines the sacred and profane not only in the Indian context, but also in other world culture. Sociologists and anthropologists like Milton Singer and Baidyanath Saraswati have examined these concepts on the operative level through field studies. Milton Singer examines the role of the 'cultural performance' in Madras City and Saraswati investigates the social organisation of Kashi.

We may begin with an examination of these concepts first on the theoretical level in Sanskrit Literature and as interpreted by creative writers and critics and then examine their validity in the contemporary artistic manifestation both in sociological and artistic terms.

Coomaraswamy equates the word *mārga* to a highway and traces its derivation from *mṛg* "to chase" or "hunt especially by tracking". "In the *Ṛg-veda,* we are told it is

familiar that what one hunts and tracks by its spoor is always the deity, the hidden light the 'Aditi', Sun or Agni, who must be found and is sometimes referred to as lurking in his lair. Coomaraswamy cites the verses in the *Ṛg-veda* where the word is repeatedly used in this sense. "In *Ṛg-veda* VIII.2-6 men are said to pursue (*mṛgayante*) Indra, as one pursues a wild beast (*mṛgam na*) with offerings of milk and kine : in *Ṛg-veda* VIII 87-6 Varuṇa is compared to a "fierce-beast" (*mṛgas tuviṣaman*) : in *R.V*.X.46.2 the Bhṛgus eager seekers after Agni track him by his spoor (*padaiḥ*) like some lost beast (*paśuṃ na naṣṭaṃ*)". Coomaraswamy concludes "that *Mārga* is then the creatures "runaway" the track to be followed" (*padaviya*). One sees clearly what values are implied in the expression *mārga* (way) and how inevitably that which is *mārga* is likewise (*Vimukti-dā*) since it is precisely by the finding of the hidden light that liberation is effected".

The *Sāma-veda* on the other hand is the first to distinguish two levels of musical expression. The *mārga* here can be equated to a definite combination of notes in a given order, and belonging to the sphere of celestial music of the *gandharvas* : this is distinct from the music of 'man' which can be regional and local. The *Śatapatha Brāhmaṇa* makes a similar distinction (III.2-4) in connection with the seduction of *vāc,* who is won over by the *Devas* from the *gandharvas.* The word *mārga* is discussed again in the *Puṣpasūtra.* I.1.8 1 & 2 2.11.1.4—and 8 and 2.2.4.2). The *Maṣakakalpasūtra* mentions it in the same way. The real discussion on the subject however continues in the technical context of music in the *Nāṭyaśāstra* (28.31), the *Viṣṇudharmottara Purāṇa* (III 18.4-12), the *Devībhāgavata Purāṇa* (8.15.8), and of course practically all the musical texts ranging from *Saṅgīta-ratnākara* (1.4. 11), to *Saṅgītamakaranda* (I.1.60), the *Nṛtyaratnakośa*

(I.1.185), the *Saṅgītadarpaṇa* (I.4-6) and many others. The texts on drama and aesthetics also discuss the subject and Dhanañjaya in the *Daśarūpaka* (I.15) applies the terms to the relative use of gestures and instrumental music. Here the term is used in its generic sense and as part of discussion on the *Madhyamagrāma.*

An equally significant almost pervasive discussion takes place on the term *deśī* both in the context of music as also dance and drama. It is extended to the field of languages in most part of India and this we shall refer to in due course.

Coomaraswamy's interpretation is again significant and valuable. He derives *deśī* from *'diś'* to indicate and hence *"diś"*, "region" or "quarter" or "local". He draws attention to the phrase *desam nivis* to settle in a given locality, *deśa vyavahāra* or *deśācāra* "local custom", "way of world" and deśya "native". He goes on to explain that these are not merely terms that could be derogatively employed by city people or courtiers to countrymen in general, but that could be employed by dwellers in the city of God or in any Holy land with reference to those beyond the pale. Heaven lies "behind the falcon", the worlds are 'under the sun' and in the 'power of death'; "world" is 'Logus' logically from Latin 'Locus' a place defined by given conditions; and *'Laukika'* 'mundane' is literally "local"; it is precisely here (*iha*) in the worlds that the kindreds are "settled", "localised" and "native". He concludes "From the celestial or solar point of view *deśī* is thus mundane, human and devious as distinct from super mundane, divine and direct: and this distinction of *mārga* (=*svarga*) from *deśī* as sacred from profane is in full agreement with the sense of expressions *rañjaka* (pleasing impassioning, affecting, etc.) and *vṛthā* "Waṇton raṇ-

dom as you like in the manner it has been used in the context of the *Śatapatha*. These conclusions of Coomaraswamy we shall examine shortly but it may be added that several texts of music and dance which follow the *Nāṭyaśāstra* continue to use the term in the primary sense. Later a whole class of composition is termed as *deśī* both in music and dance. *Deśī* is both a category of *rāgas* as also a particular *rāga*. In dance also, it is both a particular dance as also a category of dance specially of the *nṛtta* (abstract type). The *Saṅgītaratnākara* clearly distinguishes the *deśī rāgas* from the *margi* or *gandharva* music (5.4 and 6.358) and also defines the *deśī rāga* as belonging to a particular region (6.713). The particular model scale of the *deśī rāga* is defined as one in which Re is used as *Grahāṃśa* and *Nyāsa*, excludes the *pañcama* has a *mandra gāndhāra*, and a frequent use of Ma Ni and Sa a (II.2.102). In several other places he refers to the term specially in the context of the discussion on the *jātis* and *tālas*.

Writers of the *Saṅgītamakaranda*, *Rāgavibhoda* (1.6.4.2) the *Saṅgītapārijāta* (21), *Bhāvaprakāśa* (10.296.12) more or less follow the *Saṅgītaratnākara*. The *Bhāvaprakāśa* (10.299.17 & 10.296.10), the *Daśarūpaka* (11.9), along with the *Saṅgītaratnākara* (Chapter VII) also discuss *deśī nṛtya* or *nṛtta* in several contexts. The text on *Śilpa* the *Samarāṅgasūtradhāra* (31.58) also includes a discussion on the subject. We could enlarge this list of references, but the few cited above make it clear that in the arts, there appears a recognition of two categories distinct, but related like many other pairs of opposites in Indian thought and religion. A little later, we shall examine whether or not the categories pertained to celestial and terrestrial or as Coomaraswamy suggests sacred and profane, or to a few purely formal elements or technique,

However, at this stage it is necessary to point out that in all these texts ranging from the *Sāmaveda* to the *Brahadesi* there is no suggestion of hierarchial stratification in terms of *gandharva* or *mārgī* implying a category of music and dance which belongs to the elite *brahamins* and the upper privileged classes and *deśī* to the lower group of the *vaiśyas* and *śūdras*. Also there is little to support the view that one form was tribal, rural and village-based and the other town or urban-based. Celestial and terrestrial are qualitative artistic terms, not sociological categories. It would have been perfectly understandable for the theorists to relate the *mārgī* or *gandharvagāna* to the *nāgara* and the *deśī* to the *grāma* in sociological terms, and the terms placed in a hierarchy of status. The system of establishing correlatives and correspondences was so pervasive and so well established that the addition of one more set of correspondences in sociological terms in a total framework would be logical. Its absence is a significant pointer at the fundamental approach to the concepts. From this primary source material there is no basis to establish a correlation of the *mārgī* with the urbane and the *deśī* with the village or tribal. Alas, in much contemporary popular and even scholarly writing this simple correspondence has been tacitly accepted as a working hypothesis. *Mārgī* is considered 'classical' temple or court based, and *deśī* rural or tribal based, almost implying socio-economic levels, rather than qualitative differences in artistic terms.

The classification of the *mārgī* and the *deśī* in music and dance texts does not assume the proportions of a debate or a controversy: it is only a statement of differentiated categories. In the field of literature the terms (it must be remembered, that the terms were originally used in the sphere of music and dance) are transferred and

extended to connote two parallel and related traditions often in tension. In contrast to the fields of music and dance there is a clear evidence of an awareness of polarity. a consciousness of both hierarchy and opposition. From the East to the West, and North to South, but particularly in the East and South India, the differentiation between *Saṃskṛta* (refined sophisticated) and *prākṛta* between Sanskrit and *deśī bhāṣās* was known and much discussed. It ran parallel to the discussion on the concepts of *śāstrācāra* and *deśācāra* or *lokācāra* in the field of social conduct. The *śāstric* began to denote categories also of all that was sanctioned by texts, and *laukika* all that was sanctioned by practice and conventions of the particular group of people. Indeed this pattern in literature and social conduct or what one would term as religious practices was an uniform pattern in all parts of India. While in literature there was controversy and debate of the relevant merits of each, in the field of social conduct and life-cycle ritual, these were clearly complimentary categories. A history of Telugu and Kannada literature brings out the contours of the controversy particularly in the period ranging between the 12th to the 18th century. A similar although not as marked a debate can be traced in Bengali, Oriya and possibly other languages.

It will be recalled that in the case of music and dance (and for that matter sculpture and painting) the codifiers take into account the local or regional styles and give *śāstric* sanction to the regional developments, without establishing hierarchics or evaluation. This is largely a post 10th century phenomenon. In literature, there is an undertone of tension and some resistence from either side. Much effort and energy was spent both by creative and critical writers on the use of the *devabhāṣā* or *deśībhāṣā*. The

parallel development of Sanskrit and regional languages continued well into the 18th century, but the emergence of full-fledged languages was a new factor.

It is not necessary for us to go into the details of these literary developments particularly of the medieval period, but it is necessary to bear in mind that the spatial situation of different strata of society does not necessarily coördinate with the categories of *mārgī* and *deśī* as discussed in the theoretical texts, in the context of literature. In texts of music, dance and sculpture they refer to regional distinctiveness and variation as distinct from a formal language, and grammar of Art. Modern sociologists and cultural anthropologists have tried to understand these terms from their particular point of view. Dr. V. Raghavan in his paper "Popular music and classical music", comes to the conclusion that there are two rhythms in cultural change.

Answering the question whether the great tradition is undergoing a transformation in a metropolitan environment and whether it is a process of secularization, he says:

"It would be inaccurate to apply the western concepts of secular urban mass culture and art for art sake in interpreting these changes. There are indeed secularising tendencies, but they have not yet cut off urban culture from the traditional matrix of sacred culture. There is no sharp dividing line between religion and culture, and the traditional cultural media not only continue to survive in the city but have also been incorporated in novel ways into an emerging popular and classical culture". And finally after an examination of the phenomenon in Madras he concludes: "Many of the media or elements of them enter into the performances of more popular culture—

*purāṇic* recitations, devotional plays *bhajans,* since the difference between popular and classical culture rests not on a sharp difference in kind of media or theme but depends rather on the degree of sophistication and technical refinement and the balance among aesthetic, devotional and entertainment values that characterise the performance".

The views of an anthropologist who with great sensitivity takes into account aesthetic qualities have to be supplemented with the views of Dr. Niharranjan Ray from an art-historian's point of view. He cites many examples of the gradual chiselling and sophistication of many tribal and village forms in the field of sculpture, music and dance and arrives at the conclusion that "no objective historian of Indian art should necessarily follow the logical construct of social anthropologists and sociologists of Indian situation in regard to their classification and categorisation of 'tribal' folk and 'civilized' or 'high as mutually exclusive and distinctively separate categories. The differences and differences are many and various, one must admit but they are not so much of kind as a degree of chasteness and elegance, of subtlety and sophistication, of complexity and comprehension of a higher level of technical knowledge and experience of vision and imagination. One may argue that these are all qualitative and hence operate towards making of art objects which are formally different which indeed they are aesthetically speaking. But the so called 'tribal' or 'folk' have also their own forms and aesthetic standards. They are not merely of magical or ritualistic significance".

It will be obvious from these quotations that the matter of the levels of artistic expression viewed from com-

12. Ray. N. R., *An Approach to Art.*

pletely divergent positions does fall into some sort of a pattern, where although categories can be clearly discerned, there is a continuam. Indeed it would appear that what Milton Singer identified as the matric of traditional sacred culture is a large module comprising both *mārgī* and *deśī* elements. The village based traditional culture enters the city and metropolitan centres like Madras, and becomes either more sophisticated and refined in aesthetic terms or takes on another garb of popular city culture but still community based as in the case of *Harikathā, Bhajanas,* etc. he cites as examples. In short, the *Mārgī* of village culture could become the *deśī* of popular city culture in artistic terms. Also one could analyse Milton Singer's statement about the 'secularisation' of the 'sacred culture' in other contexts, and may perhaps come to the conclusion that the 'traditional pattern' itself was an amalgam of the sacred and the secular. Sanskrit drama began with a ritual for propiating the Gods and deities, but even in the prologue, transformed itself into a secular drama in the portions called *'Nāndī'* and *procchana.*[13] In the context of the temple, while the *'devadāsī'* or the *mahari* danced inside the temple, there was always the 'man' dancer in women's garb in the temple court yard, village square, who presented identical themes but with a slightly different purpose. Indeed a continuam between the two is evident, in most spheres of Indian art (notwithstanding Coomaraswamy and Singer's valuable point) the *mārgī* and the *deśī* cannot be equated simply to 'sacred' and mundane, because in a single 'performance' or a single piece of work both may be contained.

The analysis of both Dr. Raghavan and Dr. Niharranjan Ray bears out that they believe that the *deśī* or popular

13. *Nāṭyaśāstra* tr. by M. M. Ghosh, Calcutta University Press, 1967, Pages 37, 67.

allows for greater freedom and a comparative absence of rules and codifications. Implied in their analysis is an assumption that the chiselled the sophisticated was also not rigorously but rigidly codified and that although it assimilated tribal and folk elements, it evolved an almost static position. Coomaraswamy alone amongst these scholars clearly sees the logic of the *mārga* in its initial meaning of a dug path, a high-way which is constantly on the move but in a particular direction with a specific purpose. It may perhaps, be more appropriate to see what Coomaraswamy calls *deśī* or 'a by way' 'inspite of the insights into the etymological roots Latin *locus* and *loka* which imply a specificity of a spatial situation) as the circumscribing or limiting of eternal universal paths into the mannerism and styles of a region or a 'given' time situation. Indeed from this point of view the two terms appear to connote not levels of society but only universalisation and specificity. This is certainly not what the terms 'classical' and 'folk' in common parlance denote. In their original meaning they stand for a running path or stream along a highway which flows into a 'region', a locality, acquires a specificity of distinctiveness, and then continues flowing in a definite direction. In the course of its journey it does receive the waters of other streams or pools, but its own course of movement does not lose direction. The cognisance of the possibility of the *mārgī* becoming *deśī* at any given moment is inherent in the very nature of their relationship. If the one is celestial and the other terrestrial in *śāstric* terminology, it only goes to prove that the aestheticians were taking over the frame of reference of Vedic mythology in which the inter-dependence of the celestial and the terrestrial is taken for granted. We must remember that the analogy of the celestial and the terrestrial whether in Bharata or the later writers was highly contextual and was loaded with reference

to the three fires of the ritual separate but all integral to the ritual. The celestial and the terrestrial are thus not to be understood as high and low in modern sociological terms. We have to consider the celestial and terrestrial also as the eternal and the temporal. Both were never considered exclusive, but inter-dependent. Just as God depends on Man and is the *Puruṣa* after the image of *Puruṣa* so also the mundane and sacred are inter-connected and mutually dependent. Indeed, we may go further and suggest that in so far as this is concerned, the categories of the sacred and the profane are not exclusive categories, which even Coomaraswamy and Eliade seem to suggest. They are clearly differentiated in time and space, but are not mutually opposed, indeed they are inter-dependent. The same space consecrated is sacred, and it is mundane profane at another time. Time too is both limited and profane on one level and consecrated cosmic on another level.

The *Nāṭyaśāstra,* the several texts of the *Vāstuśāstra, Śilpaśāstra* bear this out. The temple itself embodies both the sacred and profane aspects of life. The two are never in opposition. This is also borne out in the field of religion and a social conduct by Baidyanath Saraswati in his study on Kashi. After an analysis of a vast variety of reliable data, he concludes that the two are not polarities but two sides of the same coin

From the above, it will be clear that Coomaraswamy's very valuable analysis of the root word *mṛg* and of *deśa* provides us with a significant criterion of differentiation and artistic levels. The 'runaway' path, the directed flow of a river, over a period of times with possibility of future growth and development, along with ever renewing chisel-ling refinement is characteristic of the first, the clearly de-

fined contours, in limited space and time with the possibility of stagnation and annihilation, while providing the milieu for distinctive growth are the characteristic of the other. These however are not equivalent to the categories of sacred and secular as suggested by Coomaraswamy. Dr. Singha's hypothesis inspite of sociological validity, is also not borne out by an analysis of tribal, rural and sophisticated form of artistic creation. There is both a continuam and dialogue.

This puzzling zig saw of categories or of the co-existence of levels and of the inter-action and inter-penetration of levels can be solved only if we look at the Indian cultural phenomenan as a continuous movement of sheathing and of over-layering without annihilations and obliteration of levels whether in anthropological or sociological or artistic terms.

An analogy for this phenomenon can be drawn from the sphere of astronomy. Each cultural region may be soon as a sphere with an inbuilt inner structure all of which revolves around a regional axis. One face of this sphere is naturally like a disc. The disc has levels. These levels are naturally made up of races—linguistic, social and caste classification. There is a continuous dialogue which takes place between these levels in a given region. Certain aspects of life style of the people are shared whether it is at the tribal level or at the highly ritualistic Brahmanical level. Each of these levels of the disc may be identified in terms of tribal, rural (*grāma*) and *nagara*. A movement of communications takes place amongst these levels determined by regional axis. Along side there is a second system of communication where particular levels interact with parallel levels in other spheres. The orbit is large comprising many regional areas, but there are micro-grouping

and macro-grouping of contiguous areas. Thus there is a very clear connection between the artistic expressions of the tribals of Ganjam district, even the Juangs, the Paiks, the dances of Mayūrabhanj Chhau, the dramatic techniques of the Jātrā players, the dance and acrobatic techniques of the Gotipuas, of the Akhāras and the Maharis of the temples in Orissa. All these belong to different levels of society, but are held together by a regional style and channels of communication can be seen in painting styles and architecture styles in these regions as also in Kerala. In Kerala we find the same continuam between the Theyattam, Theriyattam, Koodiyattam, Kathakalī along with all the elements of commanlity, universally amongst sophisticated forms of dance, such as Orissi, Bharatanāṭyam, Kathak, and Maṇipurī, belonging to different regions of India. What is true of the performing arts is equally true of the plastic arts. While there is a connection between the simplest huts and agricultural field patterns and great architecture within a region, as in Bengal or Tamil Nadu, there is a connection between the tribal arts of contiguous regions and between the sophisticated arts of different regions. This fact is borne out by a study of architectural style and sculptural modes in different parts of India.

Within this orbit, one can discern a clear movement of the rhythm of a flow of a river touching each sphere or region giving it a distinctiveness at different levels and to the region as a whole and moving on with a uniform pace in time. The fixed centre which we had spoken of is still and changeless only in a very special sense of the adherence to certain principles remaining constant, invariable, but not in terms of an evolved form becoming static. The concepts of *śāstrācāra* and *deśācāra* or *lokācāra* and those of *mārgī* and *deśī* and finally of a *nāṭyadharmī* and *lokadharmī*

fall into a pattern where the members of each pair are distinct but inter-connected and mutually dependent. The sociological situation and spatial environment shapes them and gives them a definite identity in specific periods, whether it is in the context of the evolution of the *deśī bhāṣās* or regional time-speciflic schools of architecture, sculpture, painting or music and dance but these are inherently ephermal, subject to change and flux. The chiselled sophistication which emerges has a continuam of the river and its course is constant. The pools are formed ; they dry up or become stagnant, but the river flows. Thus, while there is a multiplicity of pools or pockets in space and time, there is the continuity of the flow of a river. This movement pattern has provided the rhythms of continuity and change in artistic terms, whether it is at the tribal level where many changes are taking place in life style and artistic expression or at the urban level of a metropolitan city like Madras, where village and rural forms so to say are acquiring a different type of chiselling and sophistication, but are indeed not cut off so far as Singer rightly suggests from their traditional matrix rooted if we may suggest in village culture. In short many things we term as 'classical' in the modern sense, belong not so much to the city culture, but are a renovated or restructured aspects of village culture. Contrarily many aspects of the high sophisticated culture of the past can be seen in forms which only in contemporary socio-economic terms belong to the tribal or the rural culture, we may call these survivals or continuities but they are certainly specimens of the highest artistic sophistication. These ranges from floor designs, paintings, terracotta work, music and dance performances.

The constant inter-changeability of the *Mārg* and the *Deśī* of the *Śāstrācāra* and *deśācāra* makes it clear that neither at the theoretical level nor at the empirical level

have these pairs been considered as absolute categories and nor can these terms be equated to their English equivalence namely theory and experimentation or classical and folk.

We have thus to re-examine both the Indian tradition as also critical writing in the English language which has constantly categorised the Indian tradition into the textual and the oral, the highly Brahaminised, Sanskritised and the vernacular, the sophisticated, the literate and the illiterate and finally the classical and the folk. Our analysis will have shown that at no point within the tradition, were these seeming binary opposite rarely considered opposites. They were certainly differentiated categories but placed either into a continuam or as I have said earlier placed as segments of a circle rather than a line. We could go on adding to the terminology and the conceptual models which have been used in English language for understanding the Indian traditions. A subsidiary pair such as *Nāṭyadharmī* and *lokadharmī* have been often created to idealism and realism.

If all that we have considered above is even partially correct, then quite obviously the distinction which is being made between idealism and realism does not hold good when we consider the concept *Nāṭyạdharmī* and *Lokadharmi*. The final extension of consideration of these pairs would be the religious and the secular, or for that matter, the sacred and the profane. This pair has been considered by practically every writer of religion, sociology, arts and the Indian tradition has been divided into these two categories. A closer look at the level of religious institutions or artistically manifestations makes it clear that while in the Indian context there was certainly the comprehension of the *Daivika* and *Laukika*, the *Ādhyātamika* and the *Bhautika*, these cannot be equated to the terms 'sacred' and 'profane'

or religious and secular, nor were they insular categories. Thus to call in India the *'Dhārmika'* and the *'Dharmanirapekṣa* is a total misnomer.

One could go on multiplying these pairs of binary opposites in all disciplines in the Indian traditions and the English equivalence both in terms of concepts and terminology a hundred-fold. Perhaps it is not necessary to do so but it is necessary to realise that the conceptual models so far available to the sociologists or the art historians need further investigation and perhaps a re-formulation.

All that I have said above can be demonstrated through the empirical data which regions like Maṇipur, Orissa and Kerala provide where different levels of artistic manifestations as also religious practices can be seen in their living continuities. We can thus extend the terms *śāstra* and *prayoga, mārga* and *deśī* to spheres outside the arts and will probably be convinced that the tradition itself provided a conceptual model which can be profitably used in many spheres including that of religion.

# BIRTH OF AGASTYA AND VASIṢṬHA

DR. ANAM CHARAN SWAIN

*Bhubaneswar*

In *Ṛgveda,* Agastya and Vasiṣṭha are said to be born of the *'retas'* of the twin divinities Mitra and Varuṇa, through Urvaśī. Vasiṣṭha's second or human birth is also briefly mentioned. The Purāṇas later analyse and elaborate this story in their own interesting way. The author in this paper has tried to trace the gradual development of the myth regarding the birth of these two divine Sages in the Vedas, Epics and the Purāṇas.

Vasiṣṭha is one of the foremost seers of ancient times. In the *Ṛgveda* he appears as the family priest of Sudāsa and Bharatas. He is regarded as "the seer" of the entire seventh Maṇḍala of the *Ṛgveda.* It was the sage Vasiṣṭha at whose request Indra made the river Paruṣṇī shallow and easily fordable to enable king Sudāsa to escape to the other bank (*Ṛgveda* VII.18.5). As referred to by Prof. Velankar, (*Ṛgveda Maṇḍala VII,* Introduction p. XXIV) the seers of the Vasiṣṭha family represented the orthodox priests in contrast to the Viśvāmitras, the progressive group of bold reformers. In *Rāmāyaṇa* there is one Vasiṣṭha who is the preceptor of the ruling family of Ayodhyā ; (*Rāmāyaṇa* II.5.1). An independent treatise like *Yoga-Vāsiṣṭha* is attributed to Vasiṣṭha. Lastly the most remarkable aspect in the character of Vasiṣṭha is that he is one of the Saptarṣis (group of seven seers).[1] It is clear that in the

1. The seven sages representing the constellation called Ursa Major are Mārīci, Atrī, Aṅgiras, Pulastya, Pulaha, Kratu and Vasiṣṭha.

cultural tradition of our country the Vedic sage Vasiṣṭha and the seers born in his family, the Vasiṣṭhas, occupied a pre-eminent position. The other sage Agastya is no less important. He is the seer of the hymns 165-189 of the first maṇḍala of the *Ṛgveda*. Āryan expansion to the south is reflected in the story of Agastya meeting the Vindhya mountain and responsible for altering its height. The Vindhya-mountain growing in its height obstructed the path of the Sun. It is the venerable sage Agastya at whose feet the lordly mountain bends down in humility and makes the southern region easily accessible for the sage (*Mahābhārata*, Āraṇyaka Parvan, 104.1-115). In the *Rāmāyaṇa* he marries Lopāmudrā, the daughter of the king of Vidarbha (*Rāmāyaṇa* V.24.11). Like Vasiṣṭha, one of the Saptarṣi, the brightest star in the southern hemisphere bears the name of Agastya. The purpose of the present study is to trace the birth of these two venerable sages in the Vedic texts, Epics and the Purāṇas.

## Vedic Texts And Ancillaries

*Ṛgveda* VII.33.9-14 : No doubt the *Ṛgveda* is a collection of hymns composed by the ancient seers in honour of the different divinities. Though primarily it contains hymns in honour of various divinities of nature, through diffierent myths, legends and anecdotes the *Ṛgveda* refers to the stories of secular nature like the episode of Purūravas and Urvaśī, (X.95) the incest of Yama and Yamī (X.10.1-14) etc. Likewise the hymn No. 33 of the 7th maṇḍala referring to the Dāśarājña war speaks of Vasiṣṭha who played a prominent part in it. In order to glorify the family of the Vasiṣṭhas, the *Ṛgvedic* seer almost deifies Vasiṣṭha. The hymn No. 33 is devoted

to the description of the circumstances under which Vasiṣṭha referred to as direct descendant of one of the chief gods of the Vedic Aryans came down to dwell among the Bharatas to help and guide them. The particular mission for which Vasiṣṭha comes down to this world of mortals is for fostering worship and sacrifice to the Vedic gods among the Vedic Āryans. And in narrating the circumstances which led to the celestial birth of Vasiṣṭha, it (*Ṛgveda* VII. 33.9-14) says : "Mitra and Varuṇa were the presiding deities of a Soma sacrifice. In the sacrifice at the sight of the celestial nymph Urvaśī they became very passionate which resulted in their dropping of the semen. The semen partly fell in an earthern pitcher and partly outside it. The semen falling outside the pitcher was held by the gods in a lotus flower and carried to Urvaśī for disposal and finally Vasiṣṭha was born (9d-10ab). So the *Ṛgvedic* poet calls Vasiṣṭha a son of Mitra and Varuṇa born of Urvaśī, but born from her mind (मनसोऽधिजातः), not from her body. This is the first birth of Vasiṣṭha. From the semen deposited in the pitcher Māna (Agastya) was born. It is Agastya who brought away Vasiṣṭha from the celestial clan to the people i. e. the Bharatas. In the mantra No. 14 the poet of the hymn calls upon the Bharatas, who wait upon him with devotion as he had chosen to be with them, brought his descendants, always supporting the latter in their priestly work.

In the above account we get two different aspects of the birth of Vasiṣṭha. It is the semen of the twin divinities Mitra and Varuṇa which is the cause of the birth of Vasiṣṭha. Along with divinities Mitra and Varuṇa, there is Urvaśī. Added to that by the magical power of a celestial hymn (ब्रह्मणा दैव्येन) the Viśvedevāḥ held the semen of both the divinities in a lotus. Thus Vasiṣṭha's divine

birth has been kept unsullied: Mitra and Varuṇa, the twin divinities famous in *Ṛgveda,* Urvaśī, the divine nymph, Visvedevāḥ the protector of the semen, the divine mantra chanted for its protection. The poet speaks of Vasiṣṭha's second birth as a human sage though not in detail. It merely says that Agastya took him to the people (Bharatas) who were greatly benefited by the efficacy of his priestly services. Incidentally the hymn refers to the birth of Māna from the semen deposited in the pitcher. On a comparison of the birth of Vasiṣṭha and Agastya one can notice that Vasiṣṭha has been represented both as divine and earthly (Agastya introduces him to the human society) i. e. he is a semi-divine sage. But in case of Agastya his divine birth (कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्, ततो ह मान उदियाय मध्यात्) has been referred to and his birth as a human sage has been completely neglected.

*Atharvaveda*: In *Atharvaveda* (IV.29.3) Mitra and Varuṇa—the dual divinities show their special favour to Agastya and Vasiṣṭha along with other sages like Atri, Aṅgiras and Jamadagni. The seer of this hymn is Vasiṣṭha and the hymn deals with praise and prayer to Mitra and Varuṇa.

*Nirukta*: Yāska, (6th cent. B.C.) while expounding the meaning of the word Urvaśī quotes the eleventh mantra of the 33rd Sūkta of the 7th maṇḍala. In his comment (V.13) on the said mantra he repeats the myth as related in the *Ṛgveda.* At the sight of Urvaśī, the seminal fluid of Mitra and Varuṇa falls down, and Vasiṣṭha is born from that seminal fluid held by Viśvedevāḥ in a puṣkara[2] (the

2. By Puṣkara Yāska does not mean the lotus. Instead he attributes three other different meanings to it: a) atmosphere b) Water c) Lotus.

atmosphere). Thus Vasiṣṭha is spoken of as born from the mind of Urvaśī.

*Bṛhaddevatā* : The *Bṛhaddevatā* (4th cent. B.C.) is the oldest systematic collection of legends. Through Aditi, one of the daughters of Dakṣa, Kaśyapa had twelve sons (dvādaśādityāḥ). The *Bṛhaddevatā* just refers to the names of these twelve Ādityas, but with respect to Mitra and Varuṇa the text (V.143-155) in *Ṛgvedic* tradition develops the story leading to the birth of Agastya and Vasiṣṭha. At the sight of the nymph Urvaśī at a sacrificial session the semen of Mitra and Varuṇa was effused and fell into a jar.[3] Both the ascetics Agastya and Vasiṣṭha were born. Vasiṣṭha was found standing on a lotus supported by Viśvedevāḥ.

The *Ṛgveda* (VII.33.10) referred to the two births of Vasiṣṭha ; the semen of Mitra and Varuṇa and its final disposal by Urvaśī, the first birth, Agastya taking him to the people, the Bharatas, the second birth. Unlike *Ṛg Veda* the *Bṛhaddevatā* does not speak of Agastya introducing

3. In giving the logical sequence of the story the lines (151, 152 first half. p. 62) in the text *Bṛhaddevatā* have been purposely ignored. In editing the *BD* Macdonell refers to two groups of manuscripts A and B and he is of opinion that the manuscripts of A group are more correct than those of the B group. And the three lines referred to above belong to the B group. As the learned author himself says, "we have a later addition in these three lines". The story as developed in these three lines appears somewhat disconnected. In the preceding verse 149 when it is clearly said that the semen of Mitra and Varuṇa fell into a jar, here it is said that the semen fell in various ways—in a jar, in water and on the ground. Agastya was produced from the jar, Matsya was produced from the waters and Vasiṣṭha was produced on the ground.

Vasiṣṭha to the human society. But with the sole purpose of emphasizing the glory and importance of Vasiṣṭha as a divine sage the text adds an interesting anecdote to Vasiṣṭha. The *Ṛgvedic* text very often with reference to Vasiṣṭha has given an etymological explanation of the name (II.9.1, VII.1.8, X.15, 8, X.95.17 where it is used as an adjective meaning best, excellent (*Vasumattama, Vasayitṛtama*). Śaunaka takes up this thread and says : नामास्य गुणतः जज्ञे वसतेः श्रेष्ठचकर्मणः—156a —the name Vasiṣṭha is derived from the root *"Vas"* meaning pre-eminence. And in order to justify this pre-eminent nature of Vasiṣṭha Śaunaka introduces a new story, (*Bṛhaddevatā*-V.156-159) ; Indra, the supreme divinity was invisible to the seers. But it was only Vasiṣṭha, who, by the power of his penance could have the vision of Indra. As a result Indra was pleased and made the announcement that he (Vasiṣṭha) should receive shares in the soma sacrifice.[4] Since then Vasiṣṭha and his descendants began to officiate as Brahmā priests, worthy of the highest fees (दक्षिणीयत-ाः).

With regard to Agastya the *Ṛgveda* speaks of his birth from the middle of the jar (ततो' ह मन उदियाय मध्यात्–*RV*.VII.33.13). Designated as Māna Agastya takes away Vasiṣṭha from the celestial clan and introduces him to the human society. The *BD* directly refers to the sage Agastya and instead of calling him Māna, introduces him as Mānya either because he was Śamyāmātra (being the length of a peg) or because he was produced from a jar which is used as a measure of capacity (*Bṛhaddevatā* V.153, P. 62). A change in the nomenclature of Agastya and the anecdote

4. This special privilege accorded to Vasiṣṭha by Indra is primarily traced in the *TS* III 5.2

of Vasiṣṭha's penance leading to his promotion to the post of Brahmā are the two conspicuous additions to the *Ṛgvedic* myth of Agastya and Vasiṣṭha.

*Sarvānukramaṇī*: The *Ṛgveda Sarvānukramaṇī* (1. 166) in course of introducing the Agastya hymns speaks of the divine birth of Agastya and Vasiṣṭha when at the sight of Urvaśī the semen of Mitra and Varuṇa fell into a jar containing water that stood overnight. There is no addition, no elaboration.

## EPICS AND PURANA-TEXTS

When we come to the age of the Epics, we notice that very often the great epic *Mahābhārata* refers to Vasiṣṭha as the mind-born son of Brahman.[5] Apart from it, when Bhīṣma expounds the greatness of Śrī-Kṛṣṇa, (*Mahābhārata,* XIII.143.18a), he says that it is Kṛṣṇa who gave birth to the old seer Vasiṣṭha (स कुम्भरेता ससृजे पुराणं यत्रोत्पन्नं ऋषिं आहुः वसिष्ठम् "It is He (Kṛṣṇa) who caused the vital seed (of the gods Mitra and Varuṇa) to fall within a jar, whence sprang the sage known by the name of Vasiṣṭha". The other Epic *Rāmāyaṇa* ignores the myth as available in the popular editions of the text.

After the Epics we come to the *Purāṇa Pañcalakṣaṇa* text. Kirfel has made quite a deep study of the Purāṇas. In order to find out the urkern of the Purāṇas, he has depended upon the five chief characteristics. These five characteristics known as Sarga, Pratisarga, Manvantara, Vaṃśa, Vaṃśānucarita form the kernal of the Purāṇa-texts. The different Purāṇas, as are available at present have rather

5. *Mahābhārata*-I 174.5, II 11, 18-19, III. 31.12, VII 6.6, XII. 166.15-16,

expanded and elaborated the subjects referred to in this *pañcalakṣaṇa*-text. Different topics like festivals, rituals, glorification of different gods and goddesses or holy places are definitely additions of a later age. Therefore before analysing the different Purāṇas it is better to go through the common basic text of all the Purāṇas available at present. Thus *Purāṇa-Pañcalakṣaṇa* by W. Kirfel is the compilation where the original texts of the Purāṇas have been put in a chronological order. With this *Purāṇa-Pañcalakṣaṇa* text as the base, it is better to begin our investigation of the history of these two sages.

In course of giving an account of the geneology of the king Nimi the *Vaṃśānucarita* text (P. 338.984) refers to the curse of Vasiṣṭha in consequence of which Nimi, son of Ikṣvāku, was disembodied from his self. And this Nimi founded the dynasty of Videha in which line ruled kings like Mithi (Janaka), Udāvasu and Nandivardhana, etc.

In giving an account of the geneology of Yadu race the *Pañcalakṣaṇa* text (P.410-418) speaks of Arjuna, the son of Kṛtavīrya when the king was on the summit of his glory and prosperity, and the subjects led a happy life under the righteous administration of the king, Lord Agni approached Kārtavīrya as a suppliant. When the king donated him all the seven continents, Agni very much hungry burnt down all these continents including the hermitage of the revered sage Vasiṣṭha. Enraged at this Vasiṣṭha, also called Āpava who got the blissful birth as the son of Varuṇa (यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भास्वन्तमुत्तमम् वसिष्ठं नाम स मुनिः स्यात् आपव इत्युत–42) imprecated a curse upon Kārtavīrya to the effect that he would incur a defeat at the hands of Paraśurāma. (*Pañcalakṣaṇa* text—P.418, 42).

So in the *Pañcalakṣaṇa* text, the urkern of the Purāṇa literature we just get this much information that Vasiṣṭha

who was known as Āpava was the son of Varuṇa. Nimi had become disembodied from his self because of Vasiṣṭha's curse for which he became Videha and the geneology of Videha started from him. The other king cursed by Vasiṣṭha is kārtavīryārjuna whose defeat at the hands of Paraśurāma was predicted.

*Vāyu and Brahmāṇḍa*: Next we come to Purāṇa texts—*Vāyu* and *Brahmāṇḍa*. As observed by Kirfel and Pergiter both these texts are rooted in one text-kernel. And this text kernel is the oldest specimen of Purāṇa literature, having embodied in it the five characteristics of Purāṇa-*Purāṇa pañcalakṣaṇa*. Both these texts make a passing reference to the curse of Vasiṣṭha in consequence of which Nimi was disembodied from his self (स शापेन वसिष्ठस्य विदेहः समपद्यत) *Vāyu* 27.3-4a, *Brahmāṇḍa* III. 64.3-4a).

The *Vāyu* and *Brahmāṇḍa* give this laconic reference to Vasiṣṭha. We do not know as to what is the motive of his curse to Nimi. Leaving apart the *Purāṇa Pañcalakṣaṇa* text, which has been treated separately as it forms the nucleus of all the Purāṇas available at present, we come to a detailed analysis of the different versions of the myth of Agastya and Vasiṣṭha as available in the popular Purāṇa literature.

*Viṣṇu Purāṇa* (IV.5.1-12): The *Viṣṇu* gives an elaborate version of this story which is presented in a logical form. "King Nimi, son of Ikṣvāku institutes a sacrifice to continue for a thousand years and invites Vasiṣṭha to officiate in the sacrifice. Vasiṣṭha because of his pre-engagement with Indra for five hundred years advises Nimi to wait for sometime. After completion of the sacrifice of Indra he would take up the task of officiating in his sacrifice.

The king gives no answer. With the idea that king Nimi is willing to wait, Vasiṣṭha goes to Indra and performs his sacrifice. After Indra's sacrifice is over, he returns to Nimi with a view to conducting his sacrifice for which he has already promised. In the meantime Gautama is found to be busy in conducting the sacrifice of Nimi, who himself is then asleep. At this Vasiṣṭha very much enraged and displeased pronounces a curse upon Nimi to the effect that he would be disembodied from his self (अयं विदेहो भविष्यति). Because of inflicting a curse upon him without his (Nimi's) knowledge Nimi in return curses Vasiṣṭha to the effect that he too would be disembodied from his self (तस्मात् तस्यापि देहः पतिष्यति). As per the curse of the king, Vasiṣṭha looses his bodily existence and his subtle body is united with the spirits of Mitra and Varuṇa.[6] In course of time the twin divinities—Mitra and Varuṇa become passionate at the sight of the nymph Urvaśī when their semen gets effused and from that semen Vasiṣṭha is born with a different body.

In consequence of the curse of Vasiṣṭha when the sacrifice of Nimi is continuing, the king too is disembodied from his self. But the corpse of Nimi was preserved from decay by being embalmed with oils and resins. At the conclusion of sacrifice the gods appear to have their shares of the sacrifice. The priests appeal to the gods to confer a blessing on Nimi, the sacrificer. Gods are willing to restore him to bodily existence, but Nimi points to the misery of human existence and refuses to be born with a mortal body again. Once his soul has departed from the body, that should be final, and no more he would have to

6. तत् शापाच्च मित्रावरुणयोस्तेजसि वसिष्ठस्य चेतः प्रविष्टम् । उर्वशीदर्शनात् उद्भूतबीजप्रपातयोस्तयोः सकाशात् वसिष्ठो देहमपरं लेभे । *Viṣṇu Purāṇa* IV.5.12.

experience the woe of death. His desire of living in the eyes of beings was assented to by the gods. Since that time he is placed in the eyes of all living creatures (असौ अशेषभूतान नेत्रेषु अवतारितः IV. 5.18'.

*Bhāgavata Purāṇa* (IX.13.1-13): It is nothing new but an abridged version of *Viṣṇu*. It does not mention the name of the sage appointed by Nimi for conducting the sacrifice. And the birth of Vasiṣṭha from Urvaśī as the son of Mitra and Varuṇa is just referred to without expanding the idea of the meeting of the dual divinities with Urvaśī or the effusion of their semen. It also speaks of the fact that the dead body of Nimi is preserved from decay by applying fragrant substances and lastly when Nimi declines to have any mortal frame, by churning his body the priests produce a son as the next heir to the throne. With only thirteen verses in very precise and concise manner the legend is narrated here without any addition or elaboration.

*Devī Bhāgavata* (VI. Ch. 14-15): It is actually the *Devī Bhāgavata* which has assimilated all the different versions of the different Purāṇa texts; the legend has been presented in a logical systematic manner. Nimi requests his preceptor Vasiṣṭha to officiate in the sacrifice. Vasiṣṭha speaks to him of his inability at the time as he has appointment with Indra. Vasiṣṭha advises him to wait.

Nimi puts forth his point that he has collected all the materials for the sacrifice. Vasiṣṭha is his family-priest. It does not behove him to disappoint him.

With the departure of Vasiṣṭha for Indra's sacrifice, Nimi does not care for him and conducts the sacrifice with the help of Gautama. Vasiṣṭha returns from Indra and waits to meet the king who is asleep. Servants do not dare

to wake him up. So Vasiṣṭha feels humiliated and curses Nimi to be disembodied

Attendants schocked to listen to the curse of the sage wake up Nimi. Nimi pleads his innocence and appeals to his good self referring to his learning and wisdom. He charges him with his greed for dakṣiṇā. When his prayer for withdrawing the curse is not heeded, the king curses the sage to be disembodied.

Vasiṣṭha approaches Brahmā for help. Brahmā advises him to enter into the self of Mitra and Varuṇa. As per the command of Brahmā, Vasiṣṭha goes to the abode of Varuṇa. There his self enters into the body of Mitra and Varuṇa.

Urvaśī purposely enters into the abode of Varuṇa. Mitra and Varuṇa excited to see the beautiful nymph invite Urvaśī to remain with them. When Urvaśī remains with Mitra and Varuṇa strongly attached to them, the semen of Mitra and Varuṇa is dropped in a jar and the two ascetics—Agastya and Vasiṣṭha are born.[7]

When in course of the sacrifice, the sacrificer Nimi was cursed by Vasiṣṭha, the priests engaged in his sacrifice kept alive the body of king Nimi by chanting various mantras. By worshipping the body with various *mantra-śaktis* they prevented the body from decay. On the completion of the sacrifice the different divinities as prayed for by the sages and the seers came to the spot. The divinities aware of the condition of the body of the king offered him the boon of taking an excellent birth as the fruit of performing the sacrifice. But Nimi humbly replies that no more he wants

7. विहरस्व यथाकामं स्थानेऽस्मिन् वरवर्णिनि ।
तथोक्ता सा ततो देवी ताभ्यां तत्र स्थिता वशा ॥63॥
कृत्वा भावं स्थिरं देवी मित्रावरुणयोः गृहे ।
सा गृहीत्वा तयोः भावं संस्थिता चारुदर्शना ॥64॥

to have a mortal body which is always liable to destruction. On the advice of the gods the king devotedly prays the Devī Bhagavatī. When she appears before him, the king asks of her the following boons : He would be granted the knowledge which would lead to final liberation. He would be able to reside on the top of the eyes of all the beings. (नेत्रेषुसर्वभूतानां निवासो मे भवेदिति– VI.15.18). Devī Bhagavatī grants him both these boons[8] and disappears. After the Devī vanishes, the sages churn the body of king Nimi by placing Araṇi on it. Then there is born a son—looking like a second Nimi. As the son is born due to the churning of the Araṇis (अरण्या मथनात्) the boy is named Mithi. Besides as it is born (जननात्) it is called Janaka. As the king Nimi became bereft of his body, all his descendants are known as *Videhas*.

The *Ṛgvedic* legend had brought great disgrace and discredit to the character of dual divinities—Mitra and Varuṇa. They stooped so low as they had effused their semen at the sight of the beautiful nymph Urvaśī. The *Viṣṇu Purāṇa* though maintaining the lascivious character of Mitra and Varuṇa gives a logical sequence to the birth of Vasiṣṭha. In *Ṛgveda* the semen of Mitra and Varuṇa falls outside the pitcher. The gods carry the semen in a lotus flower to Urvaśī for disposal. Thus Vasiṣṭha becomes a son of Mitra and Varuṇa born of Urvaśī but born from her mind. In this account the birth of Vasiṣṭha seems to be accidental and illogical. The *Viṣṇu Purāṇa* by introducing the story of Nimi and Vasiṣṭha explains the reason as to what led to the birth of Vasiṣṭha by Mitra and Varuṇa. In *Ṛgveda* the birth of Vasiṣṭha from Mitra and Varuṇa is designated as the first birth ; and he gets his birth as a human sage when

---

8. ज्ञानं ते विमलं भूयात् प्रारब्धस्यावशेषतः ।।19।।
नेत्रेषु सर्वभूतानां निवासोऽपि भविष्यति ।।20।।

F. 6

Agastya introduces him to the human society, but as per the version of the *Viṣṇu Purāṇa* Vasiṣṭha had already acquired a high position in the society. The curse came only when his position as a Brahman priest had been established. So in *Viṣṇu Purāṇa* the first and second birth of Vasiṣṭha as referred to in the *Ṛgveda* are reversed. The divine birth comes only after his birth as a human sage. As Prof. Velankar (*Ṛgveda,* Maṇḍala VII, P. 83) points out *Ṛgvedic* hymn 33 of maṇḍala VII "is conceived as a dialogue between Indra and the leader of the Vasiṣṭha family". The leader of the family in composing this hymn had the definite purpose of giving a glowing account of the Vedic sage Vasiṣṭha and his pre-eminence as Brahman priest. The *Viṣṇu Purāṇa* version points to the fact that the Vedic tradition (*BD* V.156-159, *TS* III.5.2) was still alive by 8th Century A.D. or so when the *Viṣṇu Purāṇa* was composed and the position of Vasiṣṭha as a sacrificial priest was very high. Both Indra the Lord of gods and Nimi, the founder of a dynasty are anxious to get the services of Vasiṣṭha for their sacrifice. And when Vasiṣṭha fails to oblige Nimi, he is cursed.

In *Ṛgvedic* version Mitra and Varuṇa effused the semen and Vaṣiṣṭha is born. Definitely the *Viṣṇu* version makes the birth of Vasiṣṭha truly divine when it says that the subtle body of Vasiṣṭha entered that of Mitra and Varuṇa. Only after the subtle body of Vasiṣṭha had entered into the souls of the two divinities when the question of dropping the semen came, Vasiṣṭha was born.

The anecdote in the *Bṛhaddevatā* (vide Ante P. 5) referring to the vision of Indra by Vasiṣṭha through his austerities and grant of Indra to Vasiṣṭha for shares in the Soma sacrifice has been reflected in the above myth where Vasiṣṭha officiates in the sacrifice of Indra even at the cost

of displeasing Nimi. The redactor of the *Viṣṇu* might have elaborated it because of the fact that it was Indra who blessed Vasiṣṭha to officiate as a Brahmā priest. And it is natural that in the capacity of a Brahmā priest he would reciprocate his good will. As we notice, the story relating to Nimi has become part and parcel of the story relating to the birth of Vasiṣṭha from Mitra and Varuṇa. It is definitely a new development of the Vedic version of the myth where Nimi had never come to the picture. At the same time we must admit that the stray reference to Vasiṣṭha cursing Nimi in *Pāñcalakṣaṇa* text (Kirfel P. 338, 984) is taken up here in detail. The other difference that comes to our notice is that in the Vedic version the birth stories of both Agastya and Vasiṣṭha were joined together and Agastya was born along with Vasiṣṭha. This version drops the birth story of Agastya.

Though the *Devī-Bhāgavata* preserves the traditional form of the legend, one very often comes across the tantric bias of the redactor of this *Upa-Purāṇa*. King Nimi performs the sacrifice for propitiating the Goddess Ambikā. Indra's sacrifice too is meant for the propitiation of the highest Śakti. The peculiar feature of *Devī-Bhāgavata* is that it is the sage Vasiṣṭha who approaches Brahmā for getting relieved of the curse. In *Viṣṇu* the gods who had come to partake of their shares in the sacrifice of Nimi accede to the latter's request of living in the eyes of beings. In *Devī-Bhāgavata* the gods present in the sacrifice advise Nimi to propitiate Devī Bhagavatī to grant him the boon of residing on the top of the eyes of all the creatures. And the Devī pleased with the prayer of Nimi grants him this boon. In *Viṣṇu* even though Nimi is dead, his corpse is preserved from decay by being embalmed with fragrant oils and resins, and it looks as if the king has just died.

When the dead body is preserved with all care, the soul of Nimi meets the Gods who bless him with the boon that he would have his residence in the eyes of all the creatures. The *Bhāgavata* (IX. 13) repeats the same fact that the corpse of Nimi was preserved by embalming it with fragrant substance. But in *Devī-Bhāgavata* the question of preserving the dead body with application of artificial means does not come up. The priests officiating in the sacrifice of Nimi keep alive the body of the king by chanting various mantras. Moreover by adoring the body with various *mantra-Śaktis* they prevent the body from decay.

The *Viṣṇu* version relates the curse of Vasiṣṭha and Nimi to each other in a prosaic manner. It is just mechanical. Vasiṣṭha curses because Nimi has humiliated him by appointing another priest. Nimi too curses because Vasiṣṭha had cursed him without his knowledge when he was asleep. The motive of each cursing the other is same in the *Bhāgavata*. But the *Devī-Bhāgavata* rather elaborates the motive of the curse. When Vasiṣṭha returns from Indra's sacrifice, the sage Gautama had already finished the performance of the sacrifice. With bountiful gifts the priests had already returned from the sacrifice. The king Nimi was fast asleep. The servants though present did not wake him up from the sleep and the king too did not care to meet the sage. Consequently Vasiṣṭha felt insulted and cursed the king. The text in further expounding the reasons of the curse goes on : Vasiṣṭha, his life-long preceptor has been ignored. His clear direction for not beginning the sacrifice without his presence has been violated and king Nimi has been initiated in the sacrifice by sheer force. In *Viṣṇu* Nimi curses Vasiṣṭha only because he had been cursed when he was asleep. The *Bhāgavata* text too repeats this point. But the *Devī-Bhāgavata* creates

the occasion for a meeting between Nimi and Vasiṣṭha. Having come to know of the curse of Vasiṣṭha, Nimi approaches the sage with all humility. Though addressing Vasiṣṭha as knower of *Dharma* ( धर्मज्ञ ) and declaring himself as his Yajamāna, he brings the charge against Vasiṣṭha that he did not care to officiate in his sacrifice, only because of the greed. Even though as the son of Brahmā, he is well-versed in Vedic lore, he has shown his ignorance of the Brahmanic religion. The argument of Nimi appears like a sermon on morality when Nimi says: anger is much disgraceful than a Caṇḍāla; the righteous should overcome it by all means.[9] Because Vasiṣṭha infuriated with rage has cursed him for absolutely no fault on his part, Nimi curses Vasiṣṭha right away. Thus as in *Viṣṇu* and *Bhāgavata,* here in *Devī-Bhāgavata* the character of Nimi is not dull and lifeless. Servants wake him up. He justifies his stand for performing the sacrifice. He appeals to the good sense of Vasiṣṭha for withdrawing the curse, he tries to prove his innocence, when all this fails, he equates Vasiṣṭha's conduct and behaviour with that of a Caṇḍāla and curses him. Thus in this *Purāṇa* we meet the king Nimi as a man of vigour, vehemence and personality. It must be admitted that the character of the king is very much life-like.

The version in *Viṣṇu Purāṇa* follows the Vedic tradition when it makes the simple statement that Vasiṣṭha was born of Mitra and Varuṇa when their semen effused because of their excitement at the sight of Urvaśī. The *Bhāgavata* presents it in a more laconic manner when it says that Vasiṣṭha was born of Urvaśī as the son of Mitra and Varuṇa

---

9. त्याज्यस्तु सुजनैः क्रोधश्चण्डालादधिको यतः ।
वृथा क्रोधपरीतेन मयि शापः प्रपातितः ॥
*Devī Bhāgavata* VI.14, 49,

(मित्रावरुणयोः जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः IX. 13.6)
Unlike the versions in *Viṣṇu* and *Bhāgavata* the version in *Devī-Bhāgavata* gives a different turn to the story. After having been cursed by king Nimi Vasiṣṭha takes shelter with Brahmā. Very pathetically he appeals to Brahmā on two different counts: 1) he would like to have his birth with a body like the present one; 2) In his new birth with the body he would have the recollection of his past life. Brahmā advises him to enter the self of Mitra and Varuṇa. Accordingly Vasiṣṭa proceeds to the abode of Varuṇa where his self enters into the body of Mitra and Varuṇa. In the meantime Urvaśī comes to the residence of Varuṇa. The two divinities-Mitra and Varuṇa request Urvaśī to put up with them. Urvaśī agrees to the proposal. In course of time when Urvaśī begins to remain there strongly attached to them, the semen of Mitra and Varuṇa is dropped in a jar and the two ascetics–Agastya and Vasiṣṭha are born.

In *Viṣṇu* without the direction or guidance of any God or Goddess the self of Vasiṣṭha is united with the self of Mitra and Varuṇa. When they are excited at the sight of Urvaśī, there is the birth of Vasiṣṭha to the exclusion of the sage Agastya. The *Bhāgavata* too speaks of Vasiṣṭha "reborn of Urvaśī as the son of Mitra and Varuṇa". Unlike these two texts, the *Devī-Bhāgavata* refers to Urvaśī residing in the company of Mitra and Varuṇa. When she remains strongly attached to them, the semen of Mitra and Varuṇa is dropped in a jar and the two ascetics are born. Agastya is the first child and Vasiṣṭha the second child. In all the three texts there are two divinities who drop their semen. But in *Viṣṇu* and *Bhāgavata* in spite of the parentage of both Mitra and Varuṇa it is only Vasiṣṭha who is born. But in *Devī-Bhāgavata* in conformity with the parentage of Mitra and Varuṇa the two sages–Agastya and Vasiṣṭha are born. And Vasiṣṭha is the younger of the two.

Another point is the peculiarity of the birth of Vasiṣṭha. The *Viṣṇu* never speaks of the physical union of the twin divinities with the nymph Urvaśī. As the text puts it, through the passion of Mitra and Varuṇa for Urvaśī, the sage is born again in a different shape. (उर्वशीदर्शनात् उद्भूत-बीजप्रपातयोस्तयोः सकाशात् वसिष्ठो देहमपरं लेभे) Though the *Bhāgavata* presents a concise version of the *Viṣṇu*, it seems, the redactor of the *Bhāgavata* has not cared to drop the physical union of Mitra and Varuṇa with Urvaśī. The text of *Bhāgavata* reads :—"Great-grand father (Vasiṣṭha) is reborn of Urvaśī as the son of Mitra and Varuṇa". (मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः) The *Devī-Bhāgavata* is very clear on keeping apart the twin divinities and Urvaśī. In order to emphasise this point that Agastya and Vasiṣṭha are born from the semen dropped in a jar, and not from the womb of Urvaśī, the *Devī-Bhāgavata* puts one extra boon in the blessings of Brahmā. Vasiṣṭha had asked for two things 1) taking a birth with the old body 2) retaining the recollections of the past life. Besides conferring these two boons asked for by Vasiṣṭha Brahmā blesses him that in due time he would get a body not born of any womb. In keeping with the old Vedic tradition the *Devī-Bhāgavata* puts his peculiar birth of Agastya and Vasiṣṭha (who are born from the semen dropped in a jar) among the three boons of Brahmā. Brahmā blesses the sage Vasiṣṭha : "You will be born not of any womb" (तस्मादयोनिजः काले भविता त्वं न संशयः).

Besides elaborating on different aspects of the myth preserved in *Viṣṇu*, the *Devī-Bhāgavata* is rather critical on the question of Vasiṣṭha cursing Nimi and Nimi cursing Vasiṣṭha. The text (part-I. 19) raises a pertinent issue as to how Nimi who had been earlier cursed by Vasiṣṭha to be disembodied could remain alive to curse Vasiṣṭha. The text solves this ticklish problem with the statement that the

soul of Nimi, even though bereft of body was still endowed with the five elements like earth, water, fire, air and ether.[10]

*Matsya Purāṇa* (Ch. 200): The *Matsya Purāṇa*[11] gives a new turn to this story. Vasiṣṭha is engaged as the officiating priest in the sacrifices conducted under the patronage of Nimi. Quite a number of sacrifices are performed, Vasiṣṭha feels tired and exhausted. In the meantime Nimi approaches Vasiṣṭha to conduct some more sacrifices on his behalf. The sage very humbly replies that he would begin the sacrifice only after he feels recouped. At this reply of the sage, king Nimi gives a long discourse on the frailty of human life (ślokas 6—12). The king says the last word that if Vasiṣṭha would not come forward for officiating in his sacrifice, he would get it performed through some other priest. Very much hurt by these unkind words, Vasiṣṭha pronounces the curse upon Nimi—"you want to get rid of me ; and you propose to appoint another priest, when I am feeling so tired and exhausted; be devoid of your bodily form."[12] The king in return curses the sage in these words—"you too become devoid of your bodily form because you are an obstacle in the path of my righteousness". In consequence of the curse both the sage and the king are bereft of their bodies, and their souls go to Lord Brahmā. Brahmā, the primeval father of all the beings protects both of them. He gives the foremost place to Nimi by advising him to be constantly present

10. *Devī Bhāgavata*, Book I.19
महाभूतानि सर्वत्र निःसंगः क्व भविष्यसि *Devī -Bhāgavata*, I.19. 30,

11. The version of *Matsya* is almost identical with the version of *Viṣṇudharmottara* (Part I.117)

12. श्रान्तं मां त्वं समुत्सृज्य यस्मादन्यं द्विजोत्तमम् । धर्मज्ञस्तु नरेन्द्र त्वं याजकं कर्तुमिच्छसि ।
*Matsya Purāṇa* Ch. 200. 14-15.

in the eyes of all the creatures.[13] The sage Vasiṣṭha is consoled with the blessings that he would be born as the son of Mitra and Varuṇa. Then he would be known by his old name Vasiṣṭha. Besides he would have recollection of his previous birth (जन्मद्वयमतीतं च तत्रापि त्वं स्मरिष्यसि, chapt. 200).

Once upon a time it so happens that in the hermitage Badarikā Mitra and Varuṇa are engaged in practising penance. When the spring season had given a new colour to the surroundings, Mitra and Varuṇa catch sight of Urvaśī the paragon of beauty dressed in a fine attire of red colour. Both the sages greatly agitated at the sight of this divine beauty drop their semen on the skin of a deer. Afraid of a curse from Urvaśī both the sages[14] collect the semen in a pitcher full of water. And out of it are born the sages—Agastya and Vasiṣṭha.

On a comparative analysis of the two legends in the *Devī-Bhāgavata* and *Matsya,* in the *Devī Bhāgavata* the dispute arises when Nimi's request for starting the sacrifice immediately is not heeded by Vasiṣṭha. Nimi very fervently pleads for his cause. Vasiṣṭha returns from Indra with the hope of beginning the sacrifice of Nimi, but as the text reads, there was no justification for Vasiṣṭha to return to Nimi as the latter had never assured that he would wait. Vasiṣṭha's curse to Nimi is rather unwarranted. Even after Vasiṣṭha had imprecated the curse, Nimi does not retaliate imme-

---

13. अद्यप्रभृति ते स्थानं निमिजीव ददाम्यहम् ।
नेत्रपक्ष्मसु सर्वेषां त्वं वसिष्यसि पार्थिव ।
त्वत्सम्बन्धात्तथा तेषां निमेषः सम्भविष्यति ।
-*Matsya Purāṇa*-Ch. 200 18-19.

14. The only difference between *Matsya* and *Viṣṇudharmottara* is on this point that in the latter afraid of a curse it is Urvaśī who herself collects the semen of Mitra and Varuṇa.

diately. With patience and sincerity he refers to the status and dignity of the sage. It would not be befitting for him to curse the innocent king. Of course, sometimes we find, the king has crossed the bounds of decency when he charges the reversed sage with his greed for dakṣiṇā. Nimi's curse to Vasiṣṭha comes only when the sage remains firm and does not withdraw the curse.

On the other hand the *Matsya Purāṇa* version of the legend is rather interesting. There is no question of Vasiṣṭha officiating in the sacrifice of Indra. From the very beginning the illustrious sage is busy in performing a number of sacrifices for Nimi. Naturally he is tired and exhausted. Therefore, it is quite unjust for the king to force him for performing some more sacrifices. Naturally here in this legend of *Matsya,* Vasiṣṭha draws our sympathy, when he pronounces the curse upon Nimi. In the same way one can't find fault with Nimi, if one takes into account the solid sound and vigorous argument that he has put forward for continuing the sacrifice without delay. In eight verses[15] (5-12) the king presents a vivid picture of death and uncertainties of life. The redactor of *Matsya* has done a nice job of presenting both the characters—the king and the sage in a lively manner. In face of the argument of the sage that Nimi should wait for sometime because he is tired and exhausted, we have the counter argument of the king—"Righteous deeds must be performed immediately; there is no certainty of life". The argument of Vasiṣṭha is equally valid like the forceful discourse of the king. Each curses the other. The reader is actually in a fix as to who is to blame.

---

15. The stanzas numbering 5 to 12 because of the ennobling and glorifying ideas contained in it deserve a place in the ascetic literature of Sanskrit.

Thus we notice that in *Devī Bhāgavata* Vasiṣṭha is presented as a sage very much comparable to Durvāsas. Inspite of being implored with convincing arguments Vasiṣṭha never relents. In *Matsya* both the king and the sage stand on an equal footing. In sketching the character of the sage and the king the redactor of *Matsya* has done a a fine job. The reader fails to find any flaw in the stand taken by either of the two. In *Devī Bhāgavata* the point of dispute is Vasiṣṭha's preference for officiating in the sacrifice of Indra; in *Matsya* the bone of contention is not that the sage disappoints Nimi for the sake of Indra, but rather it is a question of giving opportunity to Vasiṣṭha to rest and relax.

Both the versions are almost identical in the development of the legend after each curses the other. The only extra favour (?), if it can be called a favour of blessing Vasiṣṭha to have his birth not from any Womb noted in *Devī Bhāgavata,* has been dropped altogether in *Matsya.* Otherwise their refuge in Brahmā and the boons granted by the primal father are almost the same.

In *Devī Bhāgavata* the twin divinities Mitra and Varuṇa do not conduct themselves in keeping with their position as celestials. Like ordinary human beings hit by the arrows of Cupid, they run after Urvaśī. After Urvaśī has spent some days in the company of Mitra and Varuṇa their semen is dropped in a jar (vide the extra favour of Brahmā that Vasiṣṭha would be *ayonija*) and there is the birth of Agastya and Vasiṣṭha. On the other hand in *Matsya* (Ch. 200) the passion and excitement noticed in the character of Mitra and Varuṇa is not something so despicable. For the redactor of *Matsya* Mitra and Varuṇa are two sages practising penance. Like so many sages who have fallen from the height of their

glory at the sight of some lovely damsel or heavenly nymph, these two sages are excited to see Urvaśī. In the *Devī Bhāgavata* "dropping of the semen in the jar" is mantained in keeping with the Vedic tradition. *Matsya* makes the semen drop on the skin of the deer, seated on which they are practising penance. It is more natural and realistic; but at the same time we must admit that the redactor of *Matsya* has not shown the sign of good taste when he makes the two sages collect their own semen dropped on the skin of the deer and then deposit it in a pitcher. In both the versions though only Vasiṣṭha was blessed by Brahmā to be born as the son of Mitra and Varuṇa, Agastya too takes his birth along with him. None of these versions gives the reason as to how Agastya could have his birth along with Vasiṣṭha but though the texts have not supplied us with any information about the antecedents of Agastya we must remain satisfied with the fact that the Purāṇa texts closely followed the Vedic tradition.

## Conclusion

In the different Purāṇa texts reviewed uptilnow we notice that Agastya and Vasiṣṭha are born from the semen dropped by Mitra and Varuṇa. Introduction of the curse of Nimi to Vasiṣṭha is the antecedent for which Vasiṣṭha takes his birth from Mitra and Varuṇa. In the Vedic texts without assigning any reason there is the plain statement that Agastya and Vasiṣṭha are born. The Purāṇa texts like *Viṣṇu, Bhāgavata, Devī-Bhāgavata, Matsya* and *Viṣṇudharmottara* developed only a part of the legend when they justified the birth of Vasiṣṭha by introducing the curse of Nimi but the question of Agastya went unnoticed. For the first time here in the *Matsya* Ch. 61 we find that Agastya has been born from Mitra and Varuṇa for which there is a definite cause.

*Matsya* (*Ch.* 61) *version of the story*[16]: This text introduces the story of the mythical fight between the gods and the demons. The demons taking shelter inside the waters of the ocean continue troubling the gods and the sages again and again. At this Indra, the Lord of gods directs Fire and Wind to dry up the ocean. Both Fire and Wind refuse to carry out the command of Indra, as in their opinion drying up the ocean would lead to the destruction of innumerable beings taking shelter in its waters. With his order flouted both Fire and Wind are cursed to be born jointly by assuming one body among the mortals in the form of the sage Agastya. In consequence of the curse both Fire and Wind come down to the earth ; and they are jointly born out of the pitcher by the semen of Mitra and Varuṇa and come to be known as Agastya, the younger brother of Vasiṣṭha.[17]

The motive of the birth of Vasiṣṭha is retained as before. Nimi curses Vasiṣṭha who takes refuge in Brahmā. Brahmā blesses Vasiṣṭha that he would be born from Mitra and Varuṇa. Thus the text gives a connected whole with reference to the curses leading to the birth of Agastya and Vasiṣṭha.

After these two sages are imprecated with a curse, the *Matsya* gives a new turn to the story. Viṣṇu, son of Dharma practises penance on the summit of the Gandha-mādana mountain. Indra, terribly afraid of it sends a group of nymphs to disturb and destroy his penance. Viṣṇu unmoved by these distractions produces from his thigh

---

16. The version of *Matsya* (Ch. 61) is almost identical with that of *Padma* (I. 22).

17. मित्रावरुणयोर्वीर्याद् वसिष्ठस्यानुजोऽभवत् ।
अगस्त्य इत्युग्रतपाः सम्बभूव पुनर्मुनिः ।।61.19।।

the nymph Urvaśī,[18] a damsel of exquisite beauty. Gods become enamoured of her. Then Mitra requests her for

---

18. Yāska in giving the etymological meaning of the word Urvaśī says: Urvaśī is a nymph (so called because she pervades the wide regions (*Uru+...aś* "to pervade") or she pervades by means of thighs (*Uru+ aś* "to pervade") or her desire is great (*Uru aś* "to pervade") or her desire is great (*Uru Vaś* "to desire") उर्वशी अप्सरा, उर्वभ्यः अश्नुते, ऊरूभ्यां अश्नुते, ऊरूर्वा वशोऽस्याः The *Bṛhaddevatā* in II.59 refers to Urvaśī as Uruvāsinī. In this etymological explanation of the word, the *BD* differs from any of the three derivations given in the *Nirukta* पुरूरवसमाह एनं स्ववाक्येन ऊरुवासिनी "Uruvāsinī (Urvaśī) in her own words calls him Purūravas." It might be that Yāska's derivation of Urvaśī (ऊरुभ्या-मश्नुते, she pervades by means of thighs) or *Bṛhaddevatā's* reference to Urvaśī as Uruvāsinī might have prompted the redactors of the Purāṇas to connect the birth of Urvaśī with *Uru* and to develop a myth out of it. *Mahābhārata,* Ādiparvan Ch. 169-170 speaks of a divine sage Aurva who was born after tearing open the thigh of his mother ( स और्व इति विप्रर्षि रूरुं भित्वा व्यजायत– 170.8). The *Harivaṃśa* speaks of one Urva of the Bhṛgu race who stretched forth his thigh into the fire. After rubbing it with a blade of Kuśa-grass there arose the fire *Aurva* (उर्वस्योरू विनिर्भिद्य और्वो नामान्तकोऽनलः–50) This Aurva was given shelter in the mouth of a mare. And Brahmā directed it to reside in the ocean. Besides *Matsya* referring to birth of Urvaśī from the thigh of Viṣṇu and Skanda (V. Avantikhaṇḍa (–1) 9. 1–16) which speaks of the birth of Urvaśī from the thigh of Nara, all the Purāṇa texts like *Vāmana* (6. 1–3, 7. 1–20) *Devī Bhāgavata* (IV. 5-6) *Skanda* (V. Avantikhaṇḍa (-3) 192. 5–193.66) are unanimous on the point that it is the sage Nārāyaṇa who produces from his thigh a beautiful damsel known as Urvaśī. This motif of the birth from the thigh is put differently in the *Viṣṇu-dharmottara Purāṇa* Part I Ch. 129. With the sap of a mango tree Nārāyaṇa draws a picture of a woman on his thighs. Then, with the help of that drawing he gives birth to Urvaśī.

co-habitation and she gives her consent. Next in a passionate mood lustful Varuṇa pulls her by the hem of her garment. But Urvaśī tells him that already she had come to be the wife of Mitra and naturally she could not be his wife again. When Varuṇa prayed her to keep him in her favour, Urvaśī assented. Mitra coming to know of Urvaśī's favour to Varuṇa cursed her to be born among the mortals and get married to Budha, the son of the moon because of behaving like a courtezan. Just then both Mitra and Varuṇa drop their semen in a pitcher of water out of which Agastya and Vasiṣṭha are born.

Out of the three different versions of the myth, in the first version[19] it is only Agastya who is born from the semen of Mitra and Varuṇa, though the particular text refers to Agastya as younger brother of Vasiṣṭha. But the common parentage of Agastya and Vasiṣṭha is clearly presented in the two other versions.[20]

In the texts both Vedic and Purāṇic we have reviewed uptil now nowhere there is any reference as to how and why Agastya could have his birth from the semen of Mitra and Varuṇa. *Viṣṇu* and *Matsya* (Ch. 200) gave the reason for the birth of Vasiṣṭha from Mitra and Varuṇa. It is

---

19. The *Padma* version differs from the *Matsya* only on this ponit. In all the three versions in *Padma* (I.22) both Agastya and Vasiṣṭa are born from the semen of Mitra and Varuṇa.

20. जलकुम्भे ततो वीर्यं मित्रेण वरुणेन च,
प्रक्षिप्तमथ संजातौ द्वावेव मुनिसत्तमौ ।
वसिष्ठोऽप्यभवत्तस्मिन् जलकुम्भे च पूर्ववत् ।
× × × ×
अगस्त्य इति शान्तात्मा बभूव मुनिसत्तमः ।।

*Matsya Purāṇa-ch.* 61.31.36

only the *Matsya* (Ch. 61)[21] which logically analysed the events leading to the birth of Agastya from Mitra and Varuṇa. In *Matsya* (Ch. 200) the Purāṇa-text just narrates the fact that Mitra and Varuṇa, engaged in practising penance, are enamoured at the sight of Urvaśī and from their semen Agastya and Vasiṣṭha are born. But the *Matsya* (Ch. 61) dramatically presents the union of the dual divinities—Mitra and Varuṇa with Urvaśī. Viṣṇu practises penance. Indra deputes nymphs to disturb his penance. Viṣṇu befools Indra by producing Urvaśī from his thigh. Then Mitra requests Urvaśī for co-habitation and she gives her consent. Later Varuṇa pulls her by her attire. There arises a dispute between the two. Mitra curses Urvaśī to be born on earth and then only Vasiṣṭha and Agastya are born when the divinities let their semen drop in a jar. As in *Devī Bhāgavata* here in this text Mitra and Varuṇa come face to face with Urvaśī when Mitra's co-habitation is clearly mentioned, and Varuṇa's is suggested.[22] Naturally the Vedic reference to Vasiṣṭha as a son of Mitra and Varuṇa born from the mind of Urvaśī is totally ignored. The same is the case with Agastya. But in keeping with the Vedic tradition the redactor all at once makes the statement that Mitra and Varuṇa had their semen dropped in a pitcher of water, from which both the sages were born. On the other hand Urvaśī asserts before Va-

21. "It is noteworthy that no reason is given why Agastya was so born (born of Mitra Varuṇa), such as is given for Vasiṣṭha". Indian Historical Tradition P. 238. In face of this version of *Matsya* Ch. 61 giving a logical account of the events leading to Agastya's birth from Mitra-Varuṇa, I think the learned scholar's view is mistaken.

22. ततः कामयमानेन मित्रेणाहूय सोर्वशी ।
उक्ता मां रमयस्वेति वाढमित्यब्रवीत्तु सा ।।
गच्छन्ती चाम्बरं तद्वत् स्तोकमिन्दीवरेक्षणा ।
वरुणेन धृता पश्चात् वरुणं नाभ्यनन्दत ।। *Matsya* Ch. 61.27-28.

ruṇa मित्रेणाहं वृता पूर्वमद्य but still then when she assents to Varuṇa's request to keep him in her favour Mitra curses her as वेश्याधर्म एष त्वया कृतः ।

The next point of difference of *Matsya* (Ch. 61) from the preceding texts (like *Viṣṇu, Matsya* Ch. 200) relates to the feud between Nimi and Vasiṣṭha. In *Viṣṇu* Vasiṣṭha's partiality for Indra leads to his curse by Nimi. In *Matsya* Ch. 200 Indra does not come to picture. It is Nimi's insistence for performing the sacrifice when Vasiṣṭha is tired and exhausted that results in Nimi's curse to Vasiṣṭha. This particular text *Matsya* (Ch. 61) alludes to a very common and popular motif of the curse. Nimi is engaged in the game of dice with women. Vasiṣṭha happens to be there. Nimi fails to give due regard to Vasiṣṭha. In consequence Vasiṣṭha curses Nimi and Nimi in retaliation curses Vasiṣṭha. Unlike these versions of *Viṣṇu* and *Matsya* Ch. 200 this text is rather dull and dry. The reader may find some justification for the curse of Vasiṣṭha to Nimi but there is no support, no basis for Nimi to curse Vasiṣṭha. One may remember in *Viṣṇu,* Vasiṣṭha had cursed Nimi when he was asleep. That is why Nimi had retaliated. In *Matsya* Ch. 200 Nimi had cursed Vasiṣṭha because the latter happened to be an obstacle in his sacrifice. Of these three texts relating to the episode of curse of both Nimi and Vasiṣṭha to each other, this text Ch. 200 is most interesting from the point that both the king and the sage stand on a sound footing for cursing each other. In that point the version of *Matsya* Ch. 61 is the least logical where Nimi curses Vasiṣṭha just in a mechanical way.

The *Narasiṃha Purāṇa*[23] has no claim to be regarded

23. Also called *Nṛsiṃha-* (or Narasiṃha) *Purāṇa,* it is one of the oldest and most important of the extant Vaiṣṇava Upa-Purāṇas. In the opinion of Hazra it must have been written not later than 850 A.D. (*Studies in Upa-Purāṇas* Vol. I, P. 287). Kane puts it around 9th Century A.D.

as a Mahāpurāṇa. The Vaiṣṇava Upa-Purāṇas like *Viṣṇudharma, Viṣṇudharmottara* and *Narasiṃha Purāṇa* are of quite early origin : these texts enjoy very wide reputation as respectable authorities on Dharma. Particularly or specially the *Narasiṃha Purāṇa* translated into Telugu about 1300 A.D. is profusely drawn upon by the commentators and Nivandha writers both early and late. Vallālasena who is very cautious in utilising the different Purāṇas for his *Dānasāgara* rejects Purāṇas like "*Garuḍa, Brahma, Āgneya, Vaiṣṇava,* and *Liṅga* as spurious. On the other hand he draws upon the *Narasiṃha Purāṇa* without the least shade of doubt as regards its authenticity, antiquity, and non-tantric character". Hazra is of opinion that by the first half of the 11th century A.D. *Narasiṃha Purāṇa* had attained a pre-eminent position.

In *Narasiṃha Purāṇa* (Ch. 6)[24] Varuṇa is no more just an Āditya. As the guardian of the quarters he presides over the western sea. On the peak of Śaileśa—a beautiful golden mountain there is the city Viśvāvatī fashioned by Viśvakarman. Directed by Brahmā the Āditya Varuṇa stationed in this city protects all these worlds. Gandharvas and heavenly damsels use to attend upon him. Once upon a time Varuṇa in the company of Mitra besmeared with divine fragrant substance goes to the lovely sacred place Kurukṣetra, and both of them practise penance there. In the forest region of Kurukṣetra there lies a beautiful lake "Pauṇḍarīka" by name. Once they go for a stroll and come across Urvaśī who is taking her bath in the lake. In six verses (26-33) *Narasiṃha Purāṇa* gives a glowing description of the matchless beauty of Urvaśī—her lotus like lustre, glossy dark tresses of hair, wide expansive eyes, lovely

24. According to Hazra, the *Narasiṃha Purāṇa* Ch. 6 dealing with the birth of Agastya and Vasiṣṭha is most probably comparatively late addition (*Studies in Upa-Purāṇas* Vol. I, P. 252).

nose, slender waist, handsome arms and feet. On the whole she appears like a full moon with the gait of an elephant. Added to the amorous gestures of Urvaśī who used to sing in sweet melodious voice, there blows the sweet fragrant breeze; the surrounding resounds with the humming of the bees and the sweet note of the cuckoos. Thus when the stage is all set for the full flash, Urvaśī casts her side long glances at Mitra and Varuṇa. Mitra and Varuṇa greatly agitated and excited effuse their semen. The self of Vasiṣṭha who has been disembodied by the curse of Nimi takes refuge in the semen emitted by these two gods. The Viśvedevāḥ appear there and make a prophecy that Vasiṣṭha would be born as the son of Mitra and Varuṇa. And it is also approved by Brahmā. The seminal fluid lies scattered in three different places—the lotus, the land and the water. From the semen deposited in the lotus is born Vasiṣṭha; from the semen scattered in land Agastya is born and from the semen deposited in the water, the Fish of great effulgence ( जले मत्स्यो महाद्युतिः ).[25] In the meantime Urvaśī leaves for heaven. The twin-gods Mitra and Varuṇa along with the sages Vasiṣṭha and Agastya come back to their hermitage and continue their rigorous penance as before. Brahmā comes there and informs the two divinities that they have been blessed with progeny. They would attain further favours from Viṣṇu. They should remain firm in their position (and practise austerities as before). Having said so Brahmā disappears.

In analysis of the myth of the *Narasiṃha Purāṇa* given above, we are surprised to find that the myth of Agastya and

---

25. A verbatim repetition of *Bṛhaddevatā* 152 which has been ignored by us on the authority of Macdonell. This reading is based on the manuscripts of 'B' group which contain later additions and naturally unreliable.

Vasiṣṭha given in all its details with its anecdotes in *Matsya* (Ch. 61) and *Padma* (I.22) has been presented here in a short simple way. The myth relates to the central concept of the *Ṛgvedic* Sūkta 7.33.9-14. The earlier versions of the myth in the Purāṇa texts presented the dispute between Nimi and Vasiṣṭha in the most interesting and dramatic manner. This particular anecdote is totally ignored with but a slight reference to Nimi's curse (मुनेः शापादथोत्क्रम्य स्वदेहान्मुनिसत्तम)- The reason for dropping out the curse stories may be traced to the fact that the myth of the miraculous birth of Agastya and Vasiṣṭha has been recounted in this Purāṇa text with the sole purpose of enabling people to be blessed with male progeny. The *phalaśruti* of the chapter states that this legend of *Puṃsavana*[26] (the rite through which a male child is born) relating to Varuṇa is destroyer of all sins. These persons desirous of getting male children lead a righteous life and listen to this particular legend, very soon are favoured with the birth of sons; there is no doubt in it.[27] Naturally the curse story relating to Nimi and Vasiṣṭha, the feud between Indra on one hand and Fire and Wind on the other have become irrelevant.

In all the preceding texts after the birth of Agastya and Vasiṣṭha the reader fails to find that love and affection which one expects from a father. Mitra and Varuṇa are unconcerned about their progeny. But in this text Mitra and Varuṇa guide their sons to their hermitage and the birth of Agastya and Vasiṣṭha is referred to by Brahmā as a favour. And for primal father Brahmā the fatherhood

---

26. For a detailed discussion of Puṃsavana, *Hindu Saṃskāras* v.2; *India of Vedic Kalpasūtras*—p. 257-260.

27. इदं पुंसीयनाख्यानं वारुणं पापनाशनम् ।
पुत्रकामास्तु ये केचिच्छृण्वन्तीदं शुचिव्रताः
अचिरादेव पुत्रांस्ते लभन्ते नात्र संशयः ।।42।।

of Agastya and Vasiṣṭha is a great achievement for the twin divinities (मित्रावरुणकौ देवौ पुत्रवन्तौ महाद्युती)।

In *Narasiṃha Purāṇa* we see Varuṇa[28] in a new form. He is the guardian of western quarters. Directed by Brahmā Varuṇa protects all these worlds. In the city Viśvāvatī the great celestial city of gold situated on Śaileśa (the Lord of mountains), Varuṇa shines there in all his splendour. The preceding Purāṇa texts refer to Varuṇa as an āditya, just one of the twelve ādityas born of Aditi by Kaśyapa. By referring to Varuṇa as a Lokapāla, a position of authority the *Narasiṃha Purāṇa* has given a new turn to his position and status. He is subservient only to Brahmā, who occupies the foremost position in the hierarchy of the gods.

The question of Varuṇa ruling over the western quarters with his residence in the most gorgeous city of Viśvāvatī going to practise penance in the company of Mitra appears inconsistent. The Purāṇa fails to adduce any motive for the king to leave the throne and to go to the forest for practising penance. But still then under the influence of *Matsya* (ch. 200) and *Viṣṇudharmottara* (Part-I. 117) the *Narasiṃha Purāṇa* retains the old motive—meeting of Urvaśī at the time of penance. The two divinities Mitra and Varuṇa come across Urvaśī in the forest where they are practising penance. But the difference is that in the *Nara-*

---

28. In *Ṛgveda* Varuṇa is the god of morality and righteousness. He is the up-holder of the cosmic order of the universe (*Ṛtasya patiḥ*). In the Vedic literature his relation with the rivers and the oceans is not wanting and he is spoken of as sending rain and refreshment from the sky (*RV*.7.64.2; 8.25.6). In the *MBh*. (śalya parvan, Ch.46. 5-11) Varuṇa's position becomes conspicuous; he is coronated as the king of the waters. In *Rāmāyaṇa* (Uttarakāṇḍa ch.3.9-18) along with Indra, Yama and Vaiśravaṇa is appointed by Bhrahmā as the guardian of the quarters.

*siṃha* text Varuṇa abandons his regal mansion along with all its attendant pleasures and leaves for the forest. In both the texts (*Matsya* ch. 200, *Viṣṇudharmottara* I. 117) Mitra and Varuṇa engaged in penance in the hermitage Badarikā catch sight of Urvaśī when she is busy in plucking flowers. It is a fitting situation no doubt to make the union of Mitra and Varuṇa agitated and excited. Urvaśī comes to the notice of the two divinities when she is singing and smiling, her physical beauty and charm is exposed to them in its entirety.

In *Ṛgveda* the semen of Mitra and Varuṇa had fallen in an earthern pitcher and partly outside it, from which Agastya and Vasiṣṭha were respectively born. The *Bṛhad-devatā* makes both the ascetics born from their semen after it had dropped in a jar. The *Viṣṇu Purāṇa* ignores the question of birth of Agastya and follows the *Ṛgveda* in the statement that Vasiṣṭha was born from the semen after it had dropped ; but in order to justify the birth of Vasiṣta the *Viṣṇu Purāṇa* is consistent in so far as in the preceding sentence it has referred to the fact that the soul of Vasiṣṭha who had already become disembodied because of the curse of Nimi, had taken refuge in the semen of Mitra and Varuṇa. (तत् शापाच्च मित्रावरुणयोस्तेजसि वसिष्ठस्य चेतः प्रविष्टम्) The *Matsya* (Ch. 200) unlike *Viṣṇu* does not give the prior information that the soul of Vasiṣṭha has taken refuge with Mitra and Varuṇa. But the story does not appear so incongruous or inconsistent. After referring to the blessings of Brahmā that Vasiṣṭha would be born from Mitra and Varuṇa, the former has its birth from their semen when it drops. In *Matsya* Ch. 61 the self of Vasiṣṭha after he is disembodied goes to Brahmā and as per the order of Brahmā Vasiṣṭha is born of the pitcher which contained the semen of Mitra and Varuṇa. In *Devī-Bhāgavata* the self of Vasiṣṭha as directed by

Brahmā had entered the *tejas* of Mitra and Varuṇa and when their semen had effused, from there along with Agastya Vasiṣṭha was born.[29] Of all the Purāṇa-texts it is only *Narasiṃha* which has rather pulled down Vasiṣṭha from his dignified celestial status. Only after the semen of Mitra and Varuṇa had dropped when they were agitated at the sight of Urvaśī, the self of Vasiṣṭha leaves its mortal body and enters into the semen. Further the *Narasiṃha Purāṇa* speaks of the three divisions of the semen in three different places—lotus, land and water (स्कन्दतस्तावुभावपि निमेः शापादथोत्क्रम्य स्वदेहान्मुनिसत्तम) -6-33.

In *Ṛgveda* like all the myths this myth of the birth of Agastya and Vasiṣṭha is given in a laconic and fragmentary manner. The different Purāṇa-texts in presenting the myth analyse, elaborate and give the pros and cons of the myth. But on one point all the Purāṇa texts agree—sudden break in the continuity of the story when the question of the real birth of Agastya and Vasiṣṭha comes. In *Matsya* (Ch. 61) and *Padma* (I.22) immediately after Urvaśī has been cursed by Mitra because she dangled before Varuṇa, the semen of Mitra and Varuṇa got effused. Inspite of Varuṇa's absence near Urvaśī and Mitra's wrathful state of mind, the *Matsya* and *Padma* make the dual divinities—Mitra and Varuṇa drop their semen. In *Devī-Bhāgavata* (VI. 14) Mitra and Varuṇa had the company of Urvaśī in their residence. When the beautiful Urvaśī remained there strongly attached to them (गृहीत्वा तु तयोर्भावं संस्थिता चारुदर्शना), the semen of Mitra and Varuṇa dropped. But *Narasiṃha Purāṇa* does not speak of Urvaśī living with Mitra or Varuṇa. Urvaśī is taking bath in a lake. Just when Urvaśī casts her side glances at Mitra and Varuṇa they drop their semen.

29. विवेश स तयोर्देहे मित्रावरुणयोः किल ।
जीवांशेन वसिष्ठोऽथ त्यक्त्वा देहमनुत्तमम् ।। VI. 14.59

In other Purāṇa-texts Brahmā appeared to help Vasiṣṭha in his predicament. He had done a favour to Vasiṣṭha in directing him to be born from Mitra and Varuṇa. Otherwise Brahmā himself had nothing to do with Mitra and Varuṇa. But here in the *Narasiṃha Purāṇa* Mitra and Varuṇa appear as if they are the protege of the creator. After the birth of Vasiṣṭha Brahmā comes to these two prominent divinities when they are practising austerities (तपस्यन्तौ सुरश्रेष्ठौ) and congratulates them—"You two divinities,—Mitra and Varuṇa have now been blessed with sons of great effulgence. As the witness of the three worlds you remain firm in your position (and continue your austerities) so that you will attain further blessings of Viṣṇu.[30]

Thus the developments of the story of the birth of Vasiṣṭha and Agastya has been shown phase by phase right from the *Ṛgveda* to the latest *Upa-Purāṇa*. These two divine sages Agastya and Vasiṣṭha have been immortalised in the cultural tradition of our country. They are the teachers of divine wisdom, and their contribution to the growth and development of our religious thought is quite significant. In the assembly of the sages Vasiṣṭha held such an enviable position that a demon assumed the form of the sage and posed himself as Vasiṣṭha.[31] In the drama *Veṇīsaṃhāra* Karṇa has left the battle field in panic. Aśvatthāmā reprimands him for his cowardly nature alluding to his birth in the line of charioteers. स्तुतिवंशकीर्तनविदां सारथीनां कुले (III. 35). At this caustic remark of Aśvatthāmā Karṇa gives a pertinent reply when he says: "charioteer or charioteer's son let me be what I am. Birth in a family is due to providence whereas valour is due to myself".[32] The

30. मित्रावरुणकौ देवौ पुत्रवन्तौ महाद्युती । सिद्धिर्भविष्यति यथा युवयोर्वैष्णवी पुनः ।39। स्वाधिकारेण स्थीयेतामधुना लोकसाक्षिकौ ।
31. Vide Hariappa, *Ṛgvedic legends through the ages*, p. 288.
32. सूतो वा सूत पुत्रों वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं हि पौरुषम् ।।

*Vajrasūcī Upaniṣad,* one of the later Upaniṣads belonging to *Sāmaveda* vehemently argues against the difference of this caste, creed and colour and asserts that it is one's own virtues that count, not the birth. In justifying the statement the text[33] gives a pointed reference to Vasiṣṭha and Agastya, who notwithstanding their birth from Urvaśī or from a pitcher have secred unique position among the sages because of their knowledge and wisdom. In keeping with the glorious tradition of our land India has secured a unique position in the comity of nations as a secular State where difference of caste, creed or colour has been totally ignored.

## BIBLIOGRAPHY


1. *Ṛgveda Maṇḍala* VII. H.D. Velankar, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1963.

2. *Atharvaveda Saṃhitā* (Text)—Ajmer, Vikram Saṃvat 2001.

3. *Atharvaveda-Saṃhitā*—Translated by W. D. Whitney, Harvard University 1905.

4. *The Nighaṇṭu and Nirukta*—L. Sarup (Text & Trans.) Motilal Banarasidass 1967.

5. *Bṛhaddevatā attributed to Śaunaka*—Part I (Introduction & Text) ; Part II (Trans. & Notes) A. A. Macdonell Motilal Banarasidass 1965.

6. *Ṛgveda—Sarvānukramaṇī of Kātyāyana and Anuvākānukramaṇī of Śaunaka*—Edited by U. C. Sharma, Viveka Publications, Aligarh 1977.


---

33. तत्र जात्यान्तरजन्तुषु अनेकजातिसंभवा महर्षयो बहवः सन्ति । ऋष्यशृङ्गो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बुकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यायाम्, शशपृष्ठात् गौतमः, वसिष्ठः उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात् । एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति ।

7. *Mahābhārata* Vol. I, Vol. II, Vol. III, Vol. IV–Critically edited BORI, Poona 1974.

8. *The Purāṇa Pañcalakṣaṇam* Text–W. Kirfel, edited by Suryakanta Sastri, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi 1979.

9. *Vāyu Purāṇa*–Venkatesvara Press–Saṃvat 1990.

10. *Brahmāṇḍa Purāṇa*–Venkatesvara Press, Saṃvat 1992.

11. *Viṣṇu Purāṇa*–Gita Press, Gorakhapur Saṃvat 2033.

12. *Bhāgavata Purāṇa*–Gita Press, Gorakhpur, Saṃvat 2037.

13. *Devī Bhāgavata Purāṇa*–Mansukhray Mor, Calcutta 1961.

14. *Matsya Purāṇa*–Nandalal Mor, Calcutta 1954.

15. *Viṣṇudharmottara Purāṇa*–Part I, Venkatesvara Press, Saṃvat 1969.

16. *Padma Purāṇa*–Part I, Mansukhray Mor, Calcutta 1957.

17. *Harivaṃśa*–Critical edition BORI, Poona 1976.

18. *The Vāmana Purāṇa*–Edited by A. S. Gupta, All India Kashiraj Trust, 1968.

19. *Skanda Purāṇa*–Part V, Venkatesvara Press, Saṃvat 1966.

20. *Indian Historical Tradition*–F. E. Pergiter, Oxford University Press, London 1922.

21. *Narasiṃha Purāṇa*–Gopal Narayan & Co.–Bombay 1911.

22. *Studies in the Upa-Purāṇa*–Vol. I, R. C. Hazra, Sanskrit College, Calcutta 1958.

23. *History of Dharmaśāstra*–Vol. V, Part II, P. V. Kane, BORI, Poona.

24. *Hindū Saṃskāras*–R. B. Pandey, Motilal Banarasidass, 1976.

25. *India of Vedic Kalpasūtras*–Ram Gopal, National Publishing House Delhi, 1959.

26. Uttarakāṇḍa-*Vālmīki-Rāmāyaṇa*–Edited by U. P. Shah, Oriental Institute, Boroda 1975.

27. *Ṛgvedic legends through the ages*–H. L. Hariyappa, Deccan College Post-Graduate & Research Institute, Poona 1953,

28. *Upaniṣad Saṃgraha*—Edited by J. L. Sastri, Motilal Banarasidass, 1980.

29. Veṇī Saṃhāra—Edited by S. Viswanathan, Sri Balamanorama Press, Mylapore, Madras 1961.

----

# RV 1.154.6 : A Study In Sectarian Interpretation*

Dr. S. G. Kantawala

*Baroda*

It is believed that the Vedas are the source of everything. Even when somebody put forward a new theory, he would quote some Vedic mantras, of course, interpreting them in his own way, in support of his theory. The interpretation of *RV*.1.154.6 by Vallabhācārya—The exponent of Śuddhādvaita Vedānta philosophy—is one of the examples of this practice.

The *RV* 1.154.6 is in honour of Viṣṇu "who is celebrated in not more than five whole hymns and in part of another".[1] "He occupies a subordinate position....but his personality is at the same time more important than would appear from the statistical standard alone".[2] And from the point of view the significant role played by him in the evolution of the basic mythology of the Veda he "may be regarded as the major Vedic divinity"[3] and in the classical Hindu mythology he is elevated to the prominent position of the supreme god and he came to be identified with Kṛṣṇa with the passage of time.[4]

---

* Paper read at the seminar on the occasion of "The Kuppuswami Sastry Birth Centenary celebrations" (June, 19-21. 1981) organised by the Kuppuswami Sastri Research Institute, Madras.

1. Macdonell, A. A., *Vedic Mythology,* 1971, p. 37.
2. Macdonell, A. A., *op. cit.,* p. 37.
3. Joshi, J. R., *Minor Vedic Deities,* p. 6.
4. *Vide* Dandekar, R. N., *Viṣṇu in the Veda, Mythological Tracts,* pp. 68, 89.

It is quite well-known that there are various aspects of Vedic interpretation and certain principles have been enunciated to interpret the Veda.[5] And a sectarian aspect is one of them.[6] Different *ācāryas* have drawn upon the Vedic texts to support, bolster up and establish their tenets of philosophy and religion.

Amongst the five great *ācāryas* who have commented upon the *Brahmasūtras, Vallabhācārya* (=V.) (1473-15v1 A.D.)[7] is one of them. He is the exponent of the *Śuddhādvaita-Vedānta* (Pure Monism) philosophy. In the religion

5. For a brief survey of the principles of Vedic interpretation *vide* Bhawe, S. S., *The Soma-Hymns of the Ṛgveda: A Fresh Interpretation,* Part I, pp. 2-3; on the different approaches to Vedic mythology *vide* Joshi, J. R., *op. cit.*, pp. 12 ff.
6. *Vide e.g.* Modak, B. R., *Sectarian Interpretation of the Veda: The View of Śrī-Madhvācārya,* Summaries of Papers Presented at the Winter Institute (Seminar) on "Aspects of Vedic Interpretation" held under the auspices of the Centre of Advanced Study in Sanskrit & Department of Sanskrit and Prakrit Languages, University of Poona, Poona (January, 28-31, 1980), pp. 23-24; Tiwari, A.S., *Sectarian Interpretation of the Veda with special reference to Madhva and his disciple-commentators*, *ibid.*, pp. 16-17; Ph. D. thesis: *"Madhva and the Veda: A Study of Dvaita Interpretation and Vedic Myth, Ritual and Philosophy"* by A. S. Tiwari, accepted by The University of Poona, Poona, in 1976-77.
7. Bhatt, G.H., *The Birth-Date of Vallabhācārya,* the Advocate of the Śuddhādvaita Vedānta, Shri Vallabhacharya and his Doctrines (A collection of Nine Articles, edited by K. K. Shastri), p. 1 ff. There is a difference of opinion on V.'s date amongst the scholars.

and philosophy of V. Kṛṣṇa is the highest Brahman[8] who is described as the Highest Reality in the Upaniṣadas. According to V. "the fruit of the *brahmajñāna* and *bhakti* forms the subject-matter of the last chapter (of the *Brahmasūtra*)...It deals with the question of liberation from the stand-point of *puṣṭibhakti*".[9] And "the pleasures of enjoyment with Brahma are not to be met with even in Vaikuṇṭha; they are found in Gokula and the mount Govardhana wherein the *līlās* of the Lord are witnessed".[10] It is in the context of this topic that V. quotes *RV* 1.154.6 in extenso in his *Aṇubhāṣya*[11] on the *Brahmasūtra* 4.2.14 *i.e.* "*tāni pare tathā hy āha*". It is, therefore, proposed in this paper to discuss it (i. e. *RV* 1.154.6 which speaks of Viṣṇu's abode) in the light of V's interpretation thereof. Viṭṭhaleśa (=Vi.) has also explained it in his *Vidvanmaṇḍana*.[12]

8. *Vide paraṃ brahma tu Kṛṣṇo hi/Siddhāntamuktāvalī* 2. With V. the three terms *Brahman, Paramātman* and *Bhagawat* are synonymous and refer to Kṛṣṇa, the highest deity. (Bhatt, G. H., *The Puṣṭimārga of Vallabhācārya, ibid.*, p. 19).
9. Shah, J. G., *A Primer of Aṇubhāṣya,* (1960), p. 206.
10. Shah, J. G., *op. cit.*, pp. 223-224.
11. About the authorship of the *Aṇubhāṣya* it may be noted that it "has been written by Vallabhācārya and his son Viṭṭhaleśa, that the latter's *bhāṣya* begins from III.2.4 and that Vallabha's *bhāṣya* came to an abrupt end..... (hence) there is double authorship of *Aṇubhāṣya*". (Bhatt, G. H., *ibid.*, p. 44). *En passant* it may be noted that N. K. Bambhania holds that the introductory *kārikās* to the *Aṇubhāṣya* of the fourth *adhyāya* of the *Brahmasūtra* are by V. [*Brahmasūtrāṇubhāṣyānuvāda* (Adhyāya IV) Preface, p. 1 (1974)].
12. "*Vidvanmaṇḍana*" of Viṭṭhalanāthadīkṣita with the 'Suvarṇasūtravyākhyā' of Puruṣottamajī, pp. 175 ff. Jagannātha Sārasvata quotes *RV* 1.154.6 to indicate a Vedic source of the *Bhāgavata-Purāṇa* 10.31 (*i. e.* Gopīgīta) .1 (Gopīgīta with Gangeshvarananda's commentary edited by Svami Govindanand and Gautam Patel, Guru-Gaṅgeśvara-Granthamālā, No. 10, Bombay).

The *ṛc* under consideration is as follows :—

ता वां वास्तू॑नि उश्मसि गम॑ध्यै
यत्र गावो भूरि॑शृङ्गा अयासः।
अत्राह तदु॑रुगायस्य वृष्णः
परमं पदमवं भाति भूरि॑ ॥

For ready reference the translation according to H.D. Velankar may be given here :

> "We desire to reach those dwelling places of you two where there are many-horned and untiring cows. Here surely it is that highest footstop of the wide-striding bull richly shines down."[13]

The earlier *ṛc* i.e. *RV* 1.154.5 describes Viṣṇu's abode.[14]

*Interpretation and Discussion* :

The *ṛc* i. e. *RV* 1.154.6 is explained by V. as follows : tā=*tāni te padārthāḥ*, *tā* (=*tāni*) is syntactically connected with *gāvaḥ etc.* These *gāvaḥ* are those which are in Gokula which is an explanation of the vocable *yatra.* Vi takes *tā=tāni*. *Vasanti* is supplied as a verb by V. and Vi. *Vāstūni* : *vastūni* : *i.e*. objects which are connected with Bhagavān and the *antaraṅga bhakta*. It may also be noted that *vāstūni=vastūni* is against *padapāṭha* which reads as

---

13. Velankar, H. D., *Ṛksūktaśatī* (1972), p. 126; for notes *vide ibid.*, p. 126; Macdonell, A. A., *A Vedic Reader for Students* (1954), p. 36; Peterson's, *First Selections of Hymns from the Ṛgveda,* (1905), p. 112; Ram Gopal, *Vaidikavyākhyānavivecana,* (Hindi) (1976), p. 84.

14. The *ṛc, i. e., RV* 1.154.5, runs in translation as follows: "May I attain to that dear protectorate of his, where god-devoted men rejoice; for here, indeed, is (to be enjoyed) (famous) friendship of the wide-striding (Viṣṇu). In the highest step of *Viṣṇu* there is the spring of the sweet (nectar)." Velankar, H. D., *op. cit.*, p. 126.

*vāstūni*. *V*. appears to take ā-as *metri causa* and hence he reads it as *a i.e. vastūni*. It is significant to note that *YV* 6.3 reads *dhāmāni*.[15] (*Cf*. *yā te dhāmāny uśmasi gámadhyai yátra gāvo bhūriśṛṅgā ayāsaḥ/átrāha tad ūrugāyásya Viṣṇoḥ paramám padám áva bhāti bhūri//*). Vi. takes *vāstūni* as *sthānāni* (abodes, places). With reference to the reading *tāni* in the *Brahmasūtra* 4.2.15, V. remarks that it (i.e. the aphorism) should read *te* (*cf. te padārthāḥ*), because *padārthāḥ* is masculine[16] and he explicates that the aphorism has *tāni* because of the *viṣayavākya i. e. tā vāṃ vāstūni*, where *vāstūni* is neuter as observed by Icchārāma Bhaṭṭa (*c*. second half of the 18th century A.D.[17]) in his Pradīpa (p. 388) on the *Brahmasūtrāṇubhāṣya*.

*Vām* is interpreted by V. to refer to Bhagavān and his *antaraṅgabhakta*, whereas Vi. interprets it as to refer to Kṛṣṇa and Rāma, *i. e*. Balarāma, or *gopīs* and *Mādhava*. G. H. Bhatt notes both the interpretations of *Vām* i. e. as referring to Kṛṣṇa and Balabhadra, or Kṛṣṇa and *gopīs*.[18] The above mentioned *vāstūni* belong to *vām*.

*gamadhyai*=*prāptum* (V. and Vi.) *i. e*. to obtain the *vāstūni*.

---

15. For the discussion of *dhāman vide* J. Gonda's monograph : "The Meaning of the Sanskrit Term Dhāman". He renders it as "dwellings" and remarks that "the kine are probably the stars and reference is to a 'celestial region' ". (*Ibid*., p. 61). *Vide* also *TS* 1.3.6.1 ; *MS* 1.2.14 : 23.16).
16. Bambhania, N. K., *op. cit*., p. 45.
17. Bhatt, G. H., *Brahmasūtrāṇubhāṣyānuvāda* (Gujarati), Introduction, pp. 23-24.
18. Bhatt, G.H. Vallabhācārya's Subodhinī on *Bhāgavata* X.26-32 (Rāsalīlā chapters), Prof. M. G. Shastri Memorial Series, Vol. 7, (1943), Introduction, p. 9.

*uśmasi=kāmayāmahe* (V. and Vi.) *i. e.* "We desire".

*gāvaḥ bhūriśṛṅgāḥ* : The vocable *gāvaḥ* refers to those in Gokula and these *gāvaḥ* are explained as deer *ruru* and others by V. Vi. adds *gāvaḥ i. e.* cows to V's explanation and it, *i. e.* the word *gāvaḥ*, signifies sylvan as well as domesticated animals. Puruṣottamajī refers to the interpretation of this *ṛc* in the *Nirukta* (2.7) where it is explained with reference to the sun. Raising a possible objection of its interpretation with reference to Gokula he explains it away by remarking that it is possible on the ground of the consideration of the context and points out that having observed *raśmayaḥ gāvaḥ* the *ṛc* is interpreted accordingly and moreover there is no declaration to take it as referring to the *sūrya-nirūpaṇa* there.[19]

*bhūriśṛṅgāḥ* : This qualifies *gāvaḥ* and means *bahuśṛṅgāḥ* according to V. and *dīrghaśṛṅgāḥ* according to Vi.

*ayāsaḥ* : *Śubhāvahāḥ* according to V ; and *śubhāḥ* according to Vi. This also qualifies *gāvaḥ*.

*atra=bhūmau* (V) : "on (this) earth". *atra sthāne bhūmau* (Vi.) ; "here on this place, earth".

*aha* : This expresses sorrow and dejection on the part of "Śruti" which is not able to perceive this divine place (V.), *i. e. paramaṃ padam, i. e.* Viṣṇu's *līlāsthāna* (Vi. *ibid.*, p. 178).

*tad* : "qualified by those qualities" (V.) ; "renowned in the Veda and world and it refers to Gokula" (Vi).

---

19. For such a deviation in interpretation Puruṣottamajī mentions Vyāsa and Vidyāraṇya as interpreting the *Lakṣmīprakāśaka-mantra "ado yad dāru plavate...."* with reference to Jagannātha in the context of *Puruṣottamamāhātmya*. (*Suvarṇasūtravyākhyā* on Vidvanmaṇḍana, p. 175).

*Urugāyasya vṛṣṇaḥ* : This refers to Bhagavān[20] and it is explained further that the *gopīs* sing of him incessantly. He is called *vṛṣā* because he fufils the wishes (√ *vṛṣ*) of theirs and devotees of such categories (V.). *Urugāyaḥ* means "one having wide renown" and it refers to Bhagavān and He is said to fulfil *gopikās'* wishes. The two adjectives *urugāya* and *vṛṣan* significantly suggest that Lord's greatness and glory are sung everywhere but the *kāmavarṣaṇa* of Bhagavān is only towards His devotees (V.).

*paramaṃ padam* : "highest place" *i. e.* it refers to Gokula; *Parama* implies "which transcends primordial matter and time".

*pada* : "abode" which is Vaikuṇṭha ; but it is *paramaṃ padam* here, and hence it refers to a place which is higher than Vaikuṇṭha *i.e.* Gokula (vide Vi).

*avabhāti bhūri* : "shines (here : *atra* on this earth) (below) more" : (Vl). *bhūri is bahurūpa* (V.) i.e. multiform *i. e.* to say it is multiform in the form of the sandy banks of the Yamunā, groves and bowers on its banks, caves and caverns and the Govardhana mountain (VI). The purport is that such a place shines for ever because of the presence of Bhagavān.

V. goes on to say that we long for such abodes which are so characterised and Vi. adds that because of *bhūritva*, *paramatva* and *bhagavatsthānatva* the *nityatva* is proved. Thus the *ṛc* according to V. may be rendered as follows :

"We long to obtain (such) things i.e. abodes related to you both (i.e. Bhagavān and the *antaraṅgabhaktas)*, having cows which are auspiciousness-bringers and have many horns. Here (on this earth) it (*i.e.* Gokula) is that highest place of

20. Bambhania, N. K., *op. cit.*, p. 44.

the wide renown and the fulfiller of wishes shines in multiform in this world (alas ! which the "Śrutis" are incapable of perceiving)."

This will show that V. has explained the *ṛc* in keeping with his philosophy and religion and has tried to trace the antiquity of some of his thoughts to the *Ṛgveda*.

-----

# THE CROSS-CHAIN ORNAMENT IN SĀÑCHĪ BAS-RELIEFS AND ITS IDENTIFICATION

DR. A. L. SRIVASTAVA

*Allahabad*

The author draws our attention to a forgotten ornament composed of two chains worn by men and women in a manner that formed a cross over the chest as well as at the back and generally decorated with flowery designs tucked at the cross, shoulders and hips. The author does not agree with scholars who trace the origin of this ornament as military equipment *channavīra* well known in Gupta sculpture. On the contrary, he traces the tradition of the ornament to the prehistoric times and its continuance upto the 18th century A.D. and identifies it with *Vaikakṣyaka,* quite different to *channavīra.*

A very peculiar ornament being worn by both men and women in the panels of the Sāñchī bas-reliefs was composed of two chains arranged in a way that forms a cross below the breasts. Over the cross there was attached a flowery medallion. Similar medallions were also attached to the chains on both the shoulders and hips. The ornament also formed a corresponding cross at the back with a medallion over it which is quite evident from the scene of the Māra's army represented on the middle architrave of the Northern Gateway (Fig 6)[1]. At least three varieties of the ornament are quite noticeable—the first composed of gold chains (Fig. 4), the second of pearl strings (Figs. 1, 2) and the third of straps studded with a row of pearls or small gems (Figs. 5, 6).

1. NG, Middle architrave, Back.

At Sāñchī this ornament is seen on the figures of the śālabhañjikās standing on the lower architrave (Fig. 1)[2], demons of the Māra's army gathered for temptation of the Buddha at the rear of the middle architrave (Fig. 6)[3] and the ladies in pairs holding swords in a design on the outer face of a pillar[4] of the Northern Gateway. One of the kīcakas or kumbhāṇḍas on the Small Gateway and Western Gateway capitals (Fig. 5) and another within a design of Tree of Life on the lower architrave of the Southern Gateway[5], a queen in a *jala-krīḍā* scene,[6] a lady with a harp in her lap enjoing picnic with her spouse[7] and the female dancers on the Western[8], Eastern[9] (Fig. 3) and Small Gateways[10] (Fig. 4) also wear it.

This cross-chain ornament has a long tradition. Its representation is found in stone sculptures and reliefs, bronzes, ivories and terracottas. The fashion of wearing this ornament goes back to very ancient times. It is evident from terracotta statuattes from Sārī Ḍherī in the north-west region. One of them is in the Museum of Fine Arts, Boston[11]. Here, it is without medallions on the hips (Fig. 7). Another terracotta figure from Sārī Ḍherī, now in the Victoria and

2. NG, Śālabhañjikās standing on lower architrave.
3. NG, Middle architrave, Back, Māra's armymen.
4. NG, West pillar, West face.
5. SG, Lower architrave, Front, second panel.
6. SG, Front, West end lintel.
7. SG, Front, East end, Middle lintel, now in the National Museum, New Delhi, Arch. Gall. Acc. No. A-22/59-62.
8. WG, South pillar, Inner face, Upper panel.
9. EG, Northern pillar, Front, second panel.
10. Small Gateway, West pillar, Back, Lower panel.
11. See Rowland, Benjamin, *The Art and Architecture in India*, Hermondsworth, 1956, pl. 6a.

Albert Museum, is profusely decorated with ornaments and flowers. The cross-chain ornament on this figure is composed of double chains and double medallions on the hips and shoulders (Fig. 8).[12]

A Besnagar Yakṣī[13] and the Yakṣī Chūlakokā of Bharhut,[14] both in the Indian Museum, Calcutta wear this ornament which is quite similar to that of Sāñchī. A female terracotta figurine from Kauśāmbī assigned to ca. 255—185 B.C.[15] also decorates her body with this ornamental band. The lady of a donor couple sculptured on the left of the *caitya* facade at Kārlī also wears it.[16] A queen sitting with the king and two of her maid servants are seen wearing this cross-chain ornament in a panel from the Amarāvatī sculpture[17]. An ivory female figurine of Begrām (Afghanistan), the old city of Kapiśā is also illustrated with this cross-band.[18] Here it consists of only one medallion at the cross in front, presumably having the corresponding one at the back (Fig. 9). The figurine, having Hellenistic appearance, has differently been dated by scholars between ca. 1st century B.C.[19]

12. Jeannine Auboyer, *Daily Life in Ancient India*, Oxford, 1967, fig. 18.
13. See Coomaraswamy, A. K., *History of Indian and Indonesian Art*, New Delhi 1972, pl. III, fig. 8.
14. See Cunningham, A., *The Stūpa of Bharhut*, pl. XXXII. 3; Zimmer, Heinrich., *Art of Indian Asia*, vol. 2, New York 1964, pl. 33b.
15. Sharma, G. R., *The Excavations at Kauśāmbī*, Allahabad 1960, p. 76, pl. 45b.
16. See Zimmer, *op. cit.*, pl. 82.
17. Ramaswamy, N.S., *Amarāvatī*, Hyderabad 1975, pl. XIII.
18. See *Mārg*, vol. XXIV, No. 3 (June 1971), p. 27, fig. 55.
19. J. Le Roy Davidson, 'Begram Ivories and Indian Stones; *Mārg*, op. cit., pp. 31-45; Motichandra, 'Ancient Indian Ivories', *Bulletin of the Prince of Wales Museum of Western India*, No. 6, 1957-59, p. 36.

and 2nd-3rd century A.D.[20]

Examples of this ornament are found on the figures of the Māra, the Nāgarāja Apalāla and the two dwarfs in the Ikṣuvāku art of Nāgārjunakoṇḍa.[21] A fragment of sculpture from Nagārjunakoṇḍa showing the Mother Goddess in sitting pose also represents the ornament made of chains and the medallions in the shape of *nandipadas*[22] (Fig. 10).

Another example of a cross-chain ornament is found on a terracotta panel of the Gupta period (5th century A.D.) from Ahicchatrā, now in the National Museum, New Delhi. The male rider sitting on the back of a centauress (*kiṃpuruṣa*) wears this ornament composed of a single central medallion and double chains (Fig. 11)[23] Similar ornament is seen on one of the *gaṇas* of Śiva devastating the *yajña* of Dakṣa in another terracotta panel from Ahicchatrā of the same period in the same museum.[24] This cross-chain ornament is also noticed on the figures of Rāma and Lakṣmaṇa in the stone

---

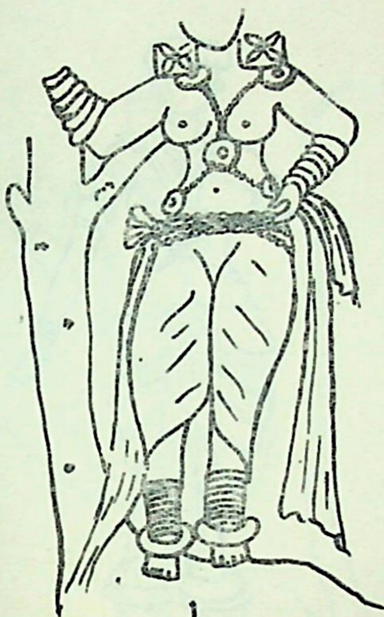
20. Jeannine Auboyer, 'Private Life in Ancient India as seen from the Ivory Sculptures of Begram', *Mārg*, op. cit., p. 47; 'Ancient Indian Ivories from Begram', *JISOA*, vol. XVI, p. 35; Joseph Hackin & J. R. Hackin, 'Researches Archeologiques a Begram', *Memoires de la delegation archeologique francaise en Afghanistan*, vol. IX, Paris 1939, 2 vols

21. Krishnamurthy, K., *Nāgārjunakoṇḍa : A Cultural Study*, Delhi 1977, p. 79.

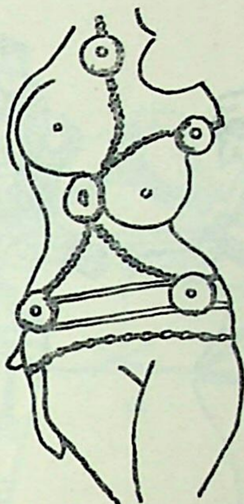
22. See Naidu, V. Krishnamurthy (Publishers), *Telugus Through Ages*, Hyderabad 1975, fig. on p. 48.

23. Sree Sivaramamurti, C. & Bussagli, Mario., 5000 *Years of the Art of India*, New York/Bombay, fig. 143 on p. 131.

24. *Ibid.*



1



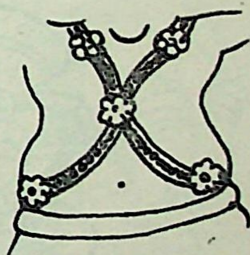
2



3



4



5



6

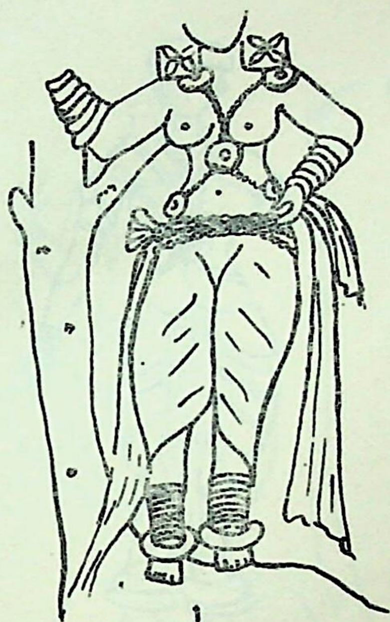
and 2nd-3rd century A.D.[20]

Examples of this ornament are found on the figures of the Māra, the Nāgarāja Apalāla and the two dwarfs in the Ikṣuvāku art of Nāgārjunakoṇḍa.[21] A fragment of sculpture from Nagārjunakoṇḍa showing the Mother Goddess in sitting pose also represents the ornament made of chains and the medallions in the shape of *nandipadas*[22] (Fig. 10).

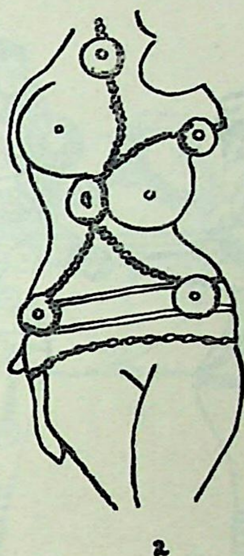
Another example of a cross-chain ornament is found on a terracotta panel of the Gupta period (5th century A.D.) from Ahicchatrā, now in the National Museum, New Delhi. The male rider sitting on the back of a centauress (*kiṃpuruṣa*) wears this ornament composed of a single central medallion and double chains (Fig. 11)[23] Similar ornament is seen on one of the *gaṇas* of Śiva devastating the *yajña* of Dakṣa in another terracotta panel from Ahicchatrā of the same period in the same museum.[24] This cross-chain ornament is also noticed on the figures of Rāma and Lakṣmaṇa in the stone

---

20. Jeannine Auboyer, 'Private Life in Ancient India as seen from the Ivory Sculptures of Begram', *Mārg*, op. cit., p. 47; 'Ancient Indian Ivories from Begram', *JISOA*, vol. XVI, p. 35; Joseph Hackin & J. R. Hackin, 'Researches Archeologiques a Begram', *Memoires de la delegation archeologique francaise en Afghanistan*, vol. IX, Paris 1939, 2 vols.
21. Krishnamurthy, K., *Nāgārjunakoṇḍa : A Cultural Study*, Delhi 1977, p. 79.
22. See Naidu, V. Krishnamurthy (Publishers), *Telugus Through Ages*, Hyderabad 1975, fig. on p. 48.
23. Sree Sivaramamurti, C. & Bussagli, Mario., 5000 *Years of the Art of India*, New York/Bombay, fig. 143 on p. 131.
24. *Ibid.*



1



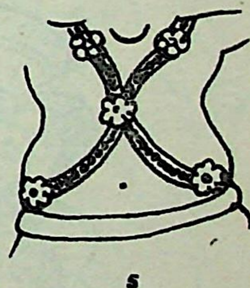
2



3



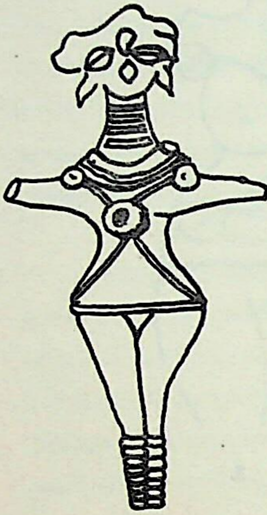
4



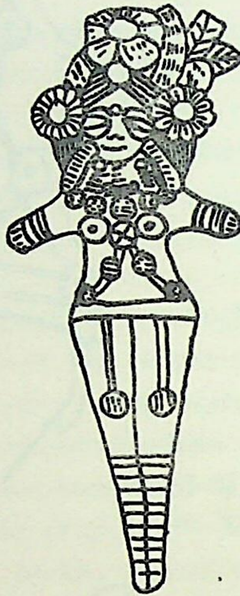
5



6



7



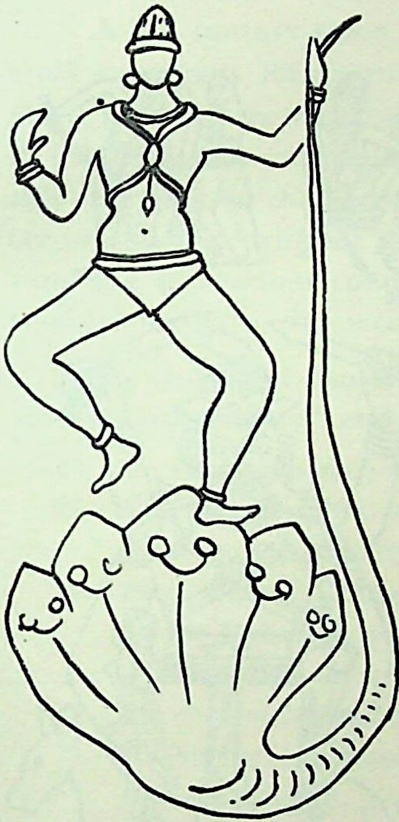
8



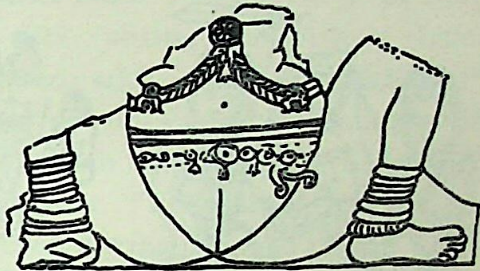
9



11



12



10



13



15



16



17



18



14

panels from Deogaṛh[25] and Shringverapur,[26] both belonging to the 5th century A.D.

A 7th century stone panel from Temple no. 2 of Nālandā represents Rāma and Sītā sitting beneath a tree. Here, Rāma wears the cross-bands with a central medallion.[27] A Pahāṛpur terracotta plaque provides another example of this ornament on the body of a man who is said to be a dancer or a warrior without a weapon. The plaque was found from the excavations conducted during 1926-34 from the level belonging to the period from ca. 770 to 815 A.D.[28]

The fashion of this ornament further went on, and it is seen on many male[29] and female[30] figures of the south as

25. See Coomaraswamy, A.K., *op. cit., pl.* XLIV, fig. 167.
26. See Pramodchandra, *The Stone Sculptures in the Allahabad Museum,* Cat. No. 221, pl. LXXIX.
27. Photo seen in the unpublished thesis on Nālandā submitted to the University of Sāgar for Ph.D. degree by Dr. B. N. Misra.
28. See *Ancient India,* No. 9, 1953, p. 155, pl. LXXV d.
29. See Varāha, Nagalapuram (Rao, TAG., *Elements of Hindu Iconography,* vol. 1, pl. XXXIX.1); Brahmā, Kalugumalai (Stella Krimrisch, *The Art of India,* London 1955, pl. 93): Kṛṣṇa dancing on serpent Kāliya (*Ibid.,* pl. 110). Also see a terracotta plaque representing a male dancer wearing this ornament excavated from Pahāṛpur in Rājshāhī distt. of East Bengal dated ca. 770-815 A.D. (Ancient India, No. 9, p. 155, pl. LXXV d).
30. A goddess in a rock sanctuary, Aihole (Zimmer, *op. cit.,* pl. 123): Bracket female figures in Bādāmī caves (*Ibid.,* pls. 128, 130, 131); The lady of a flying couple in the ceiling medallion in cave No. 1, Bādamī (*Ibid.,* pl. 135): Indrāṇī, Ellorā (*Ibid.,* pl. 243); Gaja-Lakṣmī, Māmallapuram (*Ibid.,* pl. 280).

late as the 9th century A.D. Now the ornament consisted of only one medallion, round or quadrangular in shape, at the cross below the breasts (Figs. 12, 13).

A stone sculpture of Cāmuṇḍā Durgā, a *tāmasika* form of Devī as Mahiṣāsuramardinī belonging to the 12th-13th century A.D., now in the Museum of Fine Arts Boston, wears this cross-bands.[31]

The cross-chain ornament is also seen on the figures of Combodia, Nepal and Sri-Lanka. A bronze statue of Hanumāna in the guise of a warrior from Phnom Penh, Cambodia belonging to the 12th century A.D.[32] and a stone figure of the same deity from Bhaktapur, Nepal belonging to the 18th century A.D.[33] have cross-bands on their person. The four-armed Sūniyam yakā from the wall paintings of the Śaṅkhapāla vihāra in Sri-Lanka belonging to the 18th century A.D. is also seen with the cross-chest bands (Fig. 14).[34] This shows that the fashion of wearing this cross-chain ornament was present in Indian society from the very ancient times to the 18th century A.D. But it was comparatively more popular among both men and women of the Śuṅga-Sātavāhana periods.

The ancient nomenclature of this ornament is not known for certain. Sivaramamurti identifies it with *vaikak-*

---

31. See Coomaraswamy, A. K., *Catalogue of the Indian Collections in the Museum of Fine Arts, Boston,* Pt. I & II, Cat. No. 17-1014. Reprint Varanasi, 1978, p. 72, pl. V.
32. See Aryan, K. C., & Aryan, Subhashini, *Hanumana in Art and Mythology,* Rekha Prakashan, Delhi, pl. V.
33. *Ibid.,* pl. III.
34. See *East and West,* Vol. XXVI, Nos. 1-2, 1976, p. 206, fig. 3.

*ṣyaka;*[35] when made of gold it was called *hema-vaikakṣyaka.*[36] But Rao calls it *channavīra.*[37] *Channavīra,* according to him, is an ornament which may be rightly called a double *yajño-pavīta.*[38] On the basis of a verse quoted by him without its reference, he says, "In this (ornament) two *yajñopavītas* thrown one on each shoulder, pass through the middle of the chest where they are connected with the *ura-sūtra* or the chest-bands, from which they turn to the back and hence to the shoulders".[39]

To Sivaramamurti *channavīra* was a warrior's cross-bands on the chest[40] as is seen on the figures of Rāma and Lakṣmaṇa represented in a panel on the Gupta temple at Deogaṛh (ca 5 century A.D.) in a scene depicting the disfiguring of Śūrpa-ṇakhā by Lakṣmaṇa (Fig. 15)[41]. In other scenes also Rāma and Lakṣmaṇa both have been shown equipped with this

---

35. Sivaramamurti, C., 'Mirrors of Indian Culture', *MASI*, No. 73 1955, p. 64.
36. *Viracitakucabhārā hemavaikakṣyakeṇa sphuṭavivṛtanitambā vāsasārdhorukeṇa*
 *Vicarati calayantī kāmināṁ cittameṣāṁ kisalayamivalolāṁ cañcalaṁ veśavalyāḥ.*
 *Pādatāḍitakaṁ,* 45 vide above.
37. *Elements of Hindu Iconography,* vol. 1, p. xxxi.
38. *Ibid.*
39. *Urassūtraṁ samālambya stanādaṣṭāṅgulāntare*
 *Yajñopavītavatkāryaṁ skandhayorubhayorapi*
 *Pārśvayoścaiva yonyūrdhve (ccha) nnavīramidaṁ viduḥ.*
 *—Elements of Hindu Iconography,* p. xxxi, f. n.
40. Sivaramamurti, C., *Kalugumalai,* Glossary.
41. See Coomaraswamy A.K., *History of Indian and Indonesian Art,* New Delhi, 1972, pl. XLIV, fig. 167 ; Vyas, S. N., *India in the Rāmāyaṇa Age,* Delhi, 1967, fig. 38.

cross-bands (Figs. 16, 17).[42] A contemporary panel from Shringverpur showing Rāma and Lakṣmaṇa with monkey kings also represents this cross-bands on the body of Rāma and Lakṣmaṇa.[43]

But, identifying the cross-chain ornament of a Śrīvatsa sculpture from Kāveripakkam, now in the Madras Govt. Museum, assignable to ca. 9th century A.D. (Fig. 18), Sivaramamurti says. "The *channavīra* as the name itself suggests has a military origin and in early sculptures it is worn by warriors............. This later came to be treated in a more delicate fashion and has become a mere ornament for women and children and is thus to be seen worn by Devīs and Bālakṛṣṇa."[44]

Now Sivaramamurti's identification of this ornament with *channavīra* is alright if we accept its meaning as an ornament as shown by Rao. But Sivaramamurti's interpretation of this term as a warrior's cross-band and its evolution as an ornament from that band do not appear to be convincing. This is probably because he considers the evidence of only Gupta and post-Gupta periods, particularly from south India and appears to have not taken into account the representations of the ornament in the pre-Gupta arts; and only therefore, he believes in its military origin. But, since its popular use by ladies as an ornament is found as early as the Śuṅga-Sātavāhana age as shown above, it cannot be accepted as a later development of its previous form of a military equipment. Its presence as an ornament in the pre-Gupta period invalidates the thesis of its origin as war-

---

42. See Agrawala, V. S., *Gupta Art*, Varanasi, 1977, Text figs. 2, 3.
43. See Pramodchandra, *op. cit.*, Cat. No. 221, pl. LXXIX.
44. Sivaramamurti, C., 'Lakṣmī and Her Symbols', *JUPHS*, vol. XIV, p. 22.



19



rior's cross-band in the so called early sculptures (belonging to the Gupta period).

Actually, the cross-chain ornament was quite different from the warrior's cross-band. While the former was composed of gold chains with attractive flowery medallions and used for personal decoration, the latter was made of metallic or leather bands devoid of any decorations and served the purpose of armour or fastening band of the quiver at the back. Moreover, whereas the cross-chain ornament was composed of two chains, the warrior's band was made of three or more. It is quite evident from the chest-bands of Rāma and Lakṣmaṇa in different panels from Deogaṛh and Shringverapur. Besides the two cross-band there is an additional one which is attached horizontally at the cross, apparently in order to make the fastening of the quiver possible. It is quite obvious that while in exile Rāma and Lakṣmaṇa could not have worn an ornament. Hence, it is nothing but the fastening band of a quiver. Another example of a similar chest cross-band may be cited from a panel on a pillar of the West Gateway of the Great Stūpa at Sāñchī. In this scene of the *Sāma Jātaka,* the king of Vārāṇasī is represented as an orcher. He is seen equipped with this cross-band of many straps (Fig. 19). Thus, it is very clear that the cross-chain ornament and the warrior's cross-band were the two different articles.

As for the question of the interpretation of the two terms, *channavīra* and *vaikakṣyaka,* is concerned we have already seen that the derivation of one from the other is not possigle. There is, on the other hand, some indication of their simultaneous prevalence. Its identification is, therefore, to be sought in the context of their respective appearance. We think, whenever a cross-band appears in a heroic

45. WG, North pillar, South face, Upper panel.

context it may be taken to be a *channavīra* but when exhibited in a decorative perspective with the express purpose of improving the personal looks, it can be nothing else than a *vaikakṣyaka*. The cross chain representations in the Sāñchī bas-reliefs, therefore, were the ornaments for personal decoration and hence they may safely be identified with *vaikakṣyaka, hema-vaikakṣyaka* or *muktā-vaikakṣyaka**.

*[It is a revised and enlarged version of the paper presented to the Bombay Session of the Indian History Congress in Dec. 1980].

# ṚGVEDIC PARUṢṆI AND THE PRASUN RIVER IN KAFIRISTAN

D. V. CHAUHAN
*Bombay*

On the basis of the evidences available, the author has tried in this paper to prove that the *Ṛgvedic* river *Paruṣṇi* is the Prasun of the Kafiristan.

It is already known, that the *Ṛgvedic* rivers *Ārjīkīyā*, *Ūrṇāvatī*, *Suvāstu* ; *Kubhā*, *Krumu*, *Hariyūpīyā*, *Yavyāvatī*, *Tūrṇāśa*, *Sarasvatī*, and *Dṛṣadvatī* are all located in the north eastern and southern Afghanistan.[1] That the *Ṛgvedic* mountains *Mūjavant* and Śaryaṇāvat, and the Śveta Parvata are the branches and offshoots of the Hindukush mountains in Afghanistan is also known.[2]

Great *Ṛgvedist* stawlwarts have applied themselves in the identification of the river *Paruṣṇi*. Their efforts have been summarised by Macdonell in his Index.[3] Having missed the Qutochthony of the *Ṛgvedic* Aryan people and *locale* of the Bharatas and Sudāsa, their efllorts did not proceed in the right direction. In these attempts, Afghanistan, her physical geography and her people and languages had no place. The name of the river *Paruṣṇi*, as noted

1. *The Journal, Bharata Itihasa* Samshodhak Mandal, Pune, Vol. 58, 1979 ; D. V. Chauhan, p. 150f.

2. A paper, read in the Centre of Advanced Sanskrit Studies, Pune, January, 1979, D. V. Chauhan.

3. *Vedic Index,* A. A. Macdonell and A. B. Keith (1912) Delhi, 1967.

context it may be taken to be a *channavīra* but when exhibited in a decorative perspective with the express purpose of improving the personal looks, it can be nothing else than a *vaikakṣyaka*. The cross chain representations in the Sāñchī bas-reliefs, therefore, were the ornaments for personal decoration and hence they may safely be identified with *vaikakṣyaka, hema-vaikakṣyaka* or *muktā-vaikakṣyaka**.

---

*[It is a revised and enlarged version of the paper presented to the Bombay Session of the Indian History Congress in Dec. 1980].

# ṚGVEDIC PARUṢṆI AND THE PRASUN RIVER IN KAFIRISTAN

D. V. CHAUHAN
*Bombay*

On the basis of the evidences available, the author has tried in this paper to prove that the *Ṛgvedic* river *Paruṣṇi* is the Prasun of the Kafiristan.

It is already known, that the *Ṛgvedic* rivers *Ārjīkīyā, Ūrṇāvatī, Suvāstu ; Kubhā, Krumu, Hariyūpīyā, Yavyāvatī, Tūrṇāśa, Sarasvatī,* and *Dṛṣadvatī* are all located in the north eastern and southern Afghanistan.[1] That the *Ṛgvedic* mountains *Mūjavant* and Śaryaṇāvat, and the Śveta Parvata are the branches and offshoots of the Hindukush mountains in Afghanistan is also known.[2]

Great *Ṛgvedist* stawlwarts have applied themselves in the identification of the river *Paruṣṇi*. Their efforts have been summarised by Macdonell in his Index.[3] Having missed the Qutochthony of the *Ṛgvedic* Aryan people and *locale* of the Bharatas and Sudāsa, their efforts did not proceed in the right direction. In these attempts, Afghanistan, her physical geography and her people and languages had no place. The name of the river *Paruṣṇi,* as noted

1. *The Journal, Bharata Itihasa* Samshodhak Mandal, Pune, Vol. 58, 1979 ; D. V. Chauhan, p. 150f.

2. A paper, read in the Centre of Advanced Sanskrit Studies, Pune, January, 1979, D. V. Chauhan.

3. *Vedic Index,* A. A. Macdonell and A. B. Keith (1912) Delhi, 1967.

by the *Index*, has occurred seven times in the *Ṛgveda* and only once in the *Atharvaveda*. Excepting a mention in the *nadī-stuti* in the tenth book, all the other notices are in the older *saṃhitā*. Next to the *Sarasvatī*, *Paruṣṇi* is the more oft-mentioned river. The notices of the *Paruṣṇi* occur in the *Sūktas* devoted to Indra (*Rv*.4.22.2, 7.18.8, 9, 8.93.13) or to the Maruts (*Rv*.5.52.9). It is well known that the Marut *gaṇa* (*Rv*.1.14.3 ; 38.15 ; 64.12 ; 5.52.13 ; 5.3.10 ; 56.1, 3, 58.1, 2 ; 6.16.24 ; 8.94.12 ; 10.36.7) is a great source of strength to Indra, the Aryan Coloniser. In fact, Indra is often called as *Marutvan* ·(*Rv*. 2.33.6 ; 4.5.6 ; 50.1 ; 4.21.3 : 8.36.1 : 76.7 ; etc.). In a stanza (*Rv*.1.169.1) Indra's achievement is attributed to the Marut tribe. In another one (*Rv*.1.170.2) Indra is implored to have brotherly relations with the Maruts.

To Indra and the Maruts horse was an indispensable animal. In a stanza (*Rv*.8.74.15).

*Satyam it tvā mahe nadī Paruṣṇi ava dediśaṃ /*
*na īm āpo aśvadātaras śaviṣṭhād asti martyaḥ / /*

it is stated that the *Paruṣṇi* valley abounds in horses. This might have led to a closer contact of the Marut group with the *Paruṣṇi* river. The Maruts are known being *Āśuaśvas* (*Rv*.5.58.1) and possessed of horses *sadaśvas* (5.58.4).

The Kabul, the *Ṛgvedic* Kabhā (*Rv*.5.53.9, and 10.75.6) Greek *Κωφην* divides eastern Afghanistan north south. Its northern tributaries *Ārjīkīyā*, *Ūrṇāvatī*, and *Suvāstu* have already been, on linguistic considerations and otherwise, identified as the *Alingar*, the *Kunar* and the Swat. In the eastern north half of the country, the Kunar is the most potential water-shed. All Afghan rivers in the territory here concerned find their way into the Kabul river, either directly to the south, as in the case of the *Panjshīr*, Tagau and Alingar, or after mingling their

waters with those of the Kunar river. The Bashgul river, the right bank tributary of the Kunar river empties itself at Arandu. As described by the sensitive, and rather immortal, observer of the Kafirs, Sir George Robertson[4] the Presun, another right bank tributary of the Kunar, further downstream, is formed by the Wezgul drainage which includes that of the Skorigul pass, the Mamipass and that of the Uzhamezhalgul of the kungani pass. It is joined on the right bank by a considerable stream from the Shidgul (p. 64-65). At the village Shtevgram, the Prasun river is joined by the mountain stream from the Kamah pass, and flows placidly down the valley through meadowland set aside for the service of Imrā, the God Yamarāja as identified by G. Morgenstierne. Some little distance lower down, now named the Tsarugul river, it receives on its right the Kti river. The point of junction is a very sacred place in the Kafir imagination. The Prasun river (Tsaru) joins the Kunar at Chighar Sarai. The Prasun river is often called the Pech, and is referred to by Bellew and Lumsden as the Kamah (Robertson, p. 66). He further notes that during the winter, Kafiristan is practically converted into a number of isolated communities with no means of inter-communications. In the Bashgul valley, during the times, the hills are under snow, the only way to reach the Kafir people who inhabit the upper part of the district is to travel from the Kunar valley through the territory first of the Kam and then of the Madugal tribe.

The people inhabiting this river valley are called Presun by Grierson.[5] They are *safed-posh* tribes of Kafiristan. He notes on the authority of Sir Robertson (p. 78), that the Presuns are called Veron by their Muhammadan neigh-

4. *The Kafirs of the Hindukush*, G. S. Robertson, Karachi, 1974.

5. *Linguistic Suevey of India*, Grierson, Vol. 8, p. 59.

F. 12

bours and are probably a very ancient people. Grierson has called their language Veron or Wasi-Veri. In another source[6] he calls their language by the names Veron, Presun, or Wasi-Veri. Turner calls the language Prasun (C.D.I.A.L., P. XIC). Robertson has given the six villages populated by the Presun tribes : 1. Shtevgrom, 2. Pontzgrom, 3. Diogrom, 4. Kstigigrom, 5. Satsumgrom and 6. Puskigrom (Robertson, p. 80). *Grom* 'village', Skt. *grāma* is invariably used by the Presums in their village names, though Grierson, in his Piśāca Languages, (p. 85) says that it so happens in the kalasa only. Beyond the Presungul territory also the word *grom* has retained its presence in the village-names Ptsigrom (Robertson, p. 76, 479) and Mergrom (Robertson, p. 256-70). Robertson's map, an excellent one, shows Panchgram in the upper reaches of the Alingar river and Abargram on the western tributary of the same river.

The institution of a village, *grāma* does not seem to be very consolidated in the *Ṛgvedic period* (*RV* 10.28.19). Firstly the word occurs, of the 13 times in the Saṃhitā independently, only 3 times in the older portion and 10 times in the later one and secondly there were still some moving villages.[7]

It is proposed here to identify the *Paruṣṇi* with the Prasun or the Pech river of the Kafiristan, the right bank tributary of the Kumar meeting the latter, some 40 kilometres north of the Kabul river. The fact that the Ārjikīyā is the Alingar, the *Ūrṇāvatī* the Kunar and the *Suvāstu* the modern Swat, all flowing in the land of the *Piśāca* languages, renders such an identification, on geographical and sociolo-

---

6. *The Piśāca Languages,* G. A. Grierson, Delhi, 1964 (1906) p. 6.

7. *RV* 10.27.19.

gical grounds, quite plausible. Linguistically the identity of *Paruṣṇi* with Prasun can easily be seen as a routine change. In the modern term the anticipation of *r* has taken place. This type of anticipation of *r* in the Piśāca languages attracted the attention of Grierson. He explains the situation. In compounds of which *r* is the first member, there is (as in Shahbazgarhi) a strong tendency to transfer the *r* to a preceding consonant. Thus *Karṇa* leads to Kalasa *Kro, Parṇa* to Khowar *pron,* Karma to Ṣīna Kron, *dīrgha* to Kalasa *driga* and so on.[8] In this *milieu Paruṣṇi* would lead to Prasun. More seducive changes have occurred in this, one of the most polyglot areas of the Indo-European group as observed 452 years ago, by Babur,[9] the founder of the Mughal empire in India. Sindhu-ka, Hindu-ka has yielded, as noted by G. Morgenstierne[10] Yudgha, Yidgha, the name of the language and *asru yask,* 'tear', the patronomic *Yāska,* the name of the etymologist, in the Yidgha-Munji language. The alternate name Veron is derivable from *Paruṣṇi* and seems to be an earlier form from another dialect, where *p* has yielded *v* with the loss of the sibilant. The alternate name Pech Seems to be a Piśāca linguistic product of the stem Prasun with the loss of *r* and the sibilant changing to *c*. As seen by Grierson (The Piśāca Languages, p. 128) in the words Skt. Śuṣka changes to Khowar *cuco* 'dry', Skt. *paś* to Shina *pac,* Avesta *asi* to Kalasa, Khowar *ec* Bashgali, Wai āla *ace.*

In considering the *milieu* of the Prasun, the term *Kubhanyu,* in the *Rv.* 5.52.12, the *ekapadika* in Indian field, deserves our attention. The river *Kubhā* has been recorded by Greeks in the form *Κωφην, Kofan* which retains the nasal. It is an adjective of the Maruts. They are *Kubhanyu,* belong-

8. *The Piśāca Languages,* Lac. at p. 21.

9. *Babur-Nama,* A. S. Beveridge, New Delhi, 1970, p. 207.

10. *Indo-Iranian Frontier Languages,* Vd 2, G. Morgenstierne Oslo, 1938, pp. 16, 57, 80.

ing to, hailing from, the *Kofan* river. *Sāyaṇa's* meaning of the term as *Sektaro vṛṣṭi-udakasya,* is not satisfactory. This whole *sūkta,* alongwith many others, gives geographical and sociological information regarding the Maruts. The Maruts knew many roads (*Mantra* 10) and they controlled extensive areas (*ṛk* 11).

It can be submitted that Paruṣṇī is cognate of the Payoṣṇī, with elision of the *r* and wrongly connected *'payas'* water in the *MBh* and later Literature. It can legitimately be suggested that the two Pūrṇā rivers in Maharashtra, one a Westerly tributary of the Tapi river and the other an easterly one of the Godavari, are a Classical Sanskritic adjustments of the Ṛgvedic Paruṣṇi, linguistically better reminiscent of the original *riktha,* though dfferently clothed.

Grierson's observation (LsI, VIII-2, P. 8) that "the modern Dardic languages still possess, almost unaltered and in common use, words which in India are hardly found except in Vedic Sanskrit", has the force of a *sūtra* deserving exploration from the Piśāca and Galchah languages. It would, indeed, be a gainful effort worth a doctoral dissertation under the guidance of an institution of the type of a Deccan College or a centre of advanced studies in Skt. language.

On the six villages already mentioned, in Pontzgrom, the first component *pontz* has a little variation from *ponja* 'five, 5' current in the Kalasa and Khowar as noted by Grierson (*Piśāca Languages,* p. 78). Ptsigrom is Vedic *pakṣin* with *grāma.* The *t* in *tsi* is diacritical to denote dental base of the palatal. Grierson has noted Kalasa *pachiy* and Gawar-bati *pici,* Skt. *Pakṣin.* (*p*.65, 94). In the village name Pushkigrom, the first component *Pushki* can again be related, possibly, to Skt. *Pakṣin.* The yidgha Munji, a neighbour language of the Kafiri group retains as recorded by Morgenstierne (I. Ir. F. L., P. 66), Skt. *Ks*—Av. *xś*—in *xsira*

'milk' Skt. *Kṣīra, Xśova* 'night' Skt. *Kṣapā, maxśe* mosquito Skt. *makṣikā, waxś*—'to grow' Skt. *wakṣ*—. In *Pushki* metathesis, which is usual, has occurred. Shtevgrom may have a rare stem Skt. *stheman* 'firm, stability' as its source, which latter occurs in the *Taittirīya Saṃhitā*. Similarly in *Kstigi-grom* the first component may have its source in the word *Kṣiti-kṣit* 'ruler of the earth, King'. This can be considered in view of the fact that the village is, as recorded by Robertson (p. 389), the seat of the great god Imrā. "The chief temple to Imra is at Presungul, at Kstigigrom, which is undoubtedly the most sacred village in the whole of Kafiristan. The temple itself is an imposing structure, elaborately ornamented. It is between 50 and 60 feet square, and about 20 feet high".

One or two more terms may be considered to show an ancient relation with the Vedic life. *Pshal* is, as explained by Robertson (p. 497), a stable according to him. Two other developed senses of the term are given by him meaning Kafir's dairy farms' and 'the grazing-grounds'. It may be noted that the term has as its base, Skt. *Paśu*, Av. *Pasu*, I. e. 'Peku' live-stock', Lat. *Pecu* 'money', *Pecunia* 'wealth', as exhaustively examined by Benveniste.[11] The Avestā has another form *fsu*. The Kafiri term *pshal* is related to Vedic *Paśu* with a possessive *l*, which is earlier than *r*. The term *madhula* (*Rv*. 1.19.10-13) may be noted here.

Mergrom is a village name (Robertson, p 256). The first component *mer*- is related to *Mitra*, Av. Mi Ora, Pahlavi mihir and Pashto mīr, mūr. Morgenstierne also has noted (I.Ir.F.L., II, index 'sun') mīr in Wanetsi, *meś* in Ormuri, *Mīra* in Yidgha and *yir* in Wakhi. From Grierson it is con-

11. *Indo-European language and society*, E. Benveniste; London, 1973, p. 415.

firmed (*Piśāca Languages,* p. 78, 'Sun'), that mer, mīr is not of Piśāca formation. Robertson's remark, regarding Merak as a very popular personal name (Robertson, . 116), is worth noting. "There was such a run on the name of Merak, that this individual required not only his father's but his grand-father's name to be refixed to his own, in order to differenciate him from all other *meraks.*" Morgenstierne, while discussing Terich Mir, the imposing mountain, visible from afar, has connected mīr, in this mountain-name, to Skt. Meru.[12] The Indian Meru, being very late, may have reference geographically to Tirich Mir (Altitude 25,426 feet) in the north Chitral, lying in the Piśāca languages area. The immigrating Aryans, unaware of the Himalayas have preserved the sacred memories of Tirich Mir in the form of Meru, the highest snow-clad mountain they had ever seen.

A word about Physical characteristics of the Kafirs may commend itself to probe into the character of the Maruts in the *Ṛgveda.* Robertson has delineated, in a splendid way, the Kafir characteristics. The physique of the Kafirs is magnificent of its kind. They are lightly built men, who seem to be almost always in hard training. Fat men are altogether unknown, their average height being 5 feet 6 inches. As a rule, however, the men of medium height are not only the most active, the fastest runners, and the most enduring travellers, but are generally the most physically powerful as well. The Kafirs have well-developed chests (Robertson, p. 165 ff). On the march Kafirs travel with a quick, rather short, intiring step. As hillmen they cannot possibly be surpassed, their wind being as excellent as their legs and ankles are strong, while all are comparatively light weights, and not too tall. Their pluck is immense ; wo-

12. *Rapson Commemoration Volume,* part 2, G. Morgenstierne, p. 442.

men and boys, apparently overcome with fatigue, still struggle on till they reach their destination. Kafirs can stand all temperatures. Heat does not unduly disturb them, they can sleep comfortably in severe cold in spite of their scanty clothing . They can go without food when necessary, as well as, or better, than probably any other race. Their countenances are of a distinct Aryan type, the nose, as a rule, being particularly well shaped (Robertson, p. 168). Kafirs are wonderfully brave (*ibid.*, p. 190).

The Maruts are, in the *Ṛgveda*, well-known fast walkers *yāmaśruta* (*Rv*.5.52.15), fast-walkers like horses, *aśvāso na āśavaḥ* (*Rv*.10.78.5), walkers like down-flowing waters, *āpo na nimnaiḥ udabhir jigatnavaḥ* (*ibid.*, 10.78.5), goers like rivers, *sindhavo na yayiyaḥ* (*Rv*.10.78.7), goers like wind, *vātāso na sadya-ūtayaḥ* (10.78.2). The Maruts have beautiful physique *citrāḥ susandṛśas* (10.78.1), *supeśasaḥ* (5.57.4), *citrā rūpāṇi darśyā* (5.52.11). They decorate their chests, *rukma vakṣasaḥ* (5.55.1 ; 67.5 ; 10.78.2). They wear helmets on their head, *śiprāḥ śīrṣasu* (5.54.11). Their helmets are mentioned in many *mantras*.

According to Robertson the Kafirs are very hospitable (p. 187-8). *Ṛgveda* repeatedly describes the Maruts being very liberal, donors, *sudānavaḥ* (5.52.5), *dānā* (5.52.14), *jīradānavaḥ* (5.53.5), *rātayaḥ* (10.78.3). In *Rv*.1.64.14. they are called *dhana-spṛta*, who renouce wealth.

Two other traits of the maruts find their reflection in the life on the Presun and other Kafirs. The Presun Kafirs have all pervading influence of the *Paruṣṇi* river in their social and cultural life. The main god Imrā *Yamarāja* has his seat on this river. Their country, and language are so called because of the river. The Maruts in *Ṛgveda* are specially attached to rivers and irrigating lands. They are often called *pṛṣṇi-mātar* (*Rv*.5.59.6 ; 8.7.3) and *sin-*

*dhu-mātar* (10.78.6). The Maruts are utilisers of water, *ukṣaṇas* (*Rv*.1.64.2), *drapsinas* (*ibid*.). They tap the heavenly udder and enrich their land with water (1.64.5) i. e. *duhanti ūdhar divyāni bhūmiṃ Pinvanti payasā*. In the next stanza they are described to milk the inexhaustible water reservoir, *akṣitam utsam duhanti*. Robertson describes the Presun country which is covered with snow in winter. All the passes which lead from Badakhshan into Kafiristan appear to be over 15,000 feet in altitude. Mandal and Kamah passes both are above this height. On the Chitral side also the passes are very high, and are completely closed by snow in the winter (p. 67). It may be remembered here that the permanent snowline of the Hindukush is 15,000 feet. This phenomenon, the *ṛtam*, ensures flowing *avatas*, streams for terrace irrigation. This explains *ṛtam* (meaning *udakam* of Sāyaṇācārya).

The Kafirs are ancestor-worshippers according to Robertson (p. 413-4). The effigies erected to the memories of the dead are sacrificed to, and have their pedestals sprinkled over with blood by descendants. The Maruts are also ancestor-worshippers, *Pitṛṇām na śaṃsāḥ* (*Rv*.10.78.3). In a way, Vasiṣṭha has given a clue that the Ṛgvedic Aryans are ancestor-worshippers (*Rv*.7.33.4)—

*Juṣṭī naro brahmaṇā vaḥ pitṛṇām*

# GREEK ATTITUDE TOWARDS THE INDIANS

Dr. U. P. Arora

*Allahabad*

The present paper discusses the image of the Indians as known to us through ancient Greek Literature. The attitude of Greeks towards the Indians was an idealistic one. The author traces the origin of such attitude in the Greek tradition of idealizing the people living at the extreme edge of the earth. The factor which was responsible for the continuance of such image even in later periods, was the impact felt of Indian philosophers.

The image of any country and its people in the writings of foreigners is of great interest, for they enable us to ascertain the impression of observers with different social background. The purpose of the present paper is to portray in short sketch the image of the Indians as revealed in the Greek texts down to the period of the Roman domination.

In the works of classical authors, India became a land of wonders and prosperity and its people were greatly idealized. Ktesias of Knidos (late 5th C.B.C.), whose interest was mainly in the description of marvels and fabulous wealth of India, was the first to attribute "Uprightness" (*dikaiotatoi*) to Indians. He mentioned them as the most just, long lived, wholesome, and admired their sense of justice and devotion to king.[1]

1. See Ktesias's fragments in F. Jacoby's ***Die Fragmente der griechischen Historiker*** (Berlin, 1923), No. 688, F. 45 (16, 30, 32).

When the Indian king was eulogized in the romance *Cyropaedia*, as very just and impartial, Xenophon had his aim of supporting the monarchical system, for which the romance was written. According to him, Cyrus had requested the Indian king to act as an arbitrator to resolve a dispute between Persia and Assyria.[2]

The tradition of idealizing Indians, as established by Ktesias and Xenophon was continued by the companions of Alexander. Nearchos commended the Indian ingenuity in Arts[3] and following Ktesias he said that the Indians were seldom attacked by diseases, as they lived on simple diet and abstained from wine.[4] Among Alexander's followers the greatest admirer of Indians was Onesicritus. Unlike Ktesias he was not attracted by the fabulous wealth of the country. On the contrary, he took interest in the lives of the Indian Gymnosophists, who had renounced the wealth. It was probably on account of his Cynic background[5] that Onesicritus was influenced by the Gymnosophists, for their austere living despite having everything in abundance was in accordance with the Cynic ideal.

2. Xenophon, *Cyropaedia*, II, 4, 1—9.

3. Nearchos in Jacoby's Fragments, No. 133, F. 23 (Strabo, XV, 1, 67).

4. *Ibid.*, F. 10a (Arrian, *Indika*, XV) : F. 10b (Strabo, XI, 1, 457). Also see Onesicritus, Jac. No. 134, F. 20 (Strabo, XV, 1, 34).

5. Strabo (XV, 1, 65) tells us that Onesicritus was a pupil of Diogenes, who was supposed to be the founder of Cynicism. On Cynicism, see Donald R. Dudley, *A History of Cynicism* (London, 1937), Kurt von Fritz., "Quellenuntersuchungen Zu Leben und Philosophie des Diogenes Von Sinope". *Philologus*, Supplement band XVIII (1926), No. 2, pp. 1—97 ; Farrand Sayre, *Diogenes of Sinope : A Study of Greek Cynicism* (Baltimore, 1938) ; T. Brown, *Onescritus* (Berkley, 1949).

In description of the Indian land of Mousicanos,[6] the attitude shown by Onesicritus towards the life and institutions of those people gives him a place in the romance literature of the Greeks.[7] Two threads run side by side in this account, the prodigality of nature in bestowing so many strange and useful gifts on the inhabitants, and the wisdom with which the inhabitants regulate their lives. The translation of a passage describing the lives of the inhabitants, as quoted by Strabo runs as follows :

"He speaks at length the Land of Mousicanos, praising it in part for what it shares with the rest of India. He mentions their long life, a span of 130 years (though the Seres are said to live even longer), and their frugality and good health despite the fact that the land produces an abundance of every thing. Peculiar to the land of Mousicanos, however is their way of eating together, Laconian-fashion ; for the people have public meals, the meat for which is provided by hunting. Also, while they have mines they do not use gold and silver. Instead of slaves they employ youngmen in the prime of life, just as Cretans use the Aphamiotae and Laconians the Helots. They cultivate one science only, that of medicine, as evil-doing results from studying some of the others such as the science of war and the like. Only murder and assault are actionable there, for no one can avoid suffering from them. The making of contracts, however, depends on the individual, so he ought to endure it if anyone violates his pledge, and rather find out who can be trusted then fill the city with lawsuits."

The Hellenistic age had removed the barrier of East and West. In this new era of cosmopolitanism, the philo-

6. Onesic, Jac. No. 134, F. 24 (Strabo, XV, I. 34).

7. See T. Brown, *op. cit.*, Chap. III.

sophy of Stoicism was propagating the ideal of World-brotherhood, which may be well seen in the famous observation of Eratosthenes, who said that it would be better to divide the human race by the criterion of virtue and wickedness than into Greek and barbarians ; for many Greeks are bad and many barbarians civilized. Among the civilized barbarians, he cited first the Indians, followed by the Romans, Arianes (Persians), and Chartheginians.[8] This attitude was scarcely possible in the chauvinistic and self-centered Greece of Pericles, of Plato, and of Aristotle.

Megasthenes, who stayed for a considerable period in India, continued the tradition of idealizing Indians, probably to show the country of his stay more civilized than others. Murray opines that *Indika* of Megasthenes was a direct reply to Hekataios's *Aegyptiaka,* as it was modelled on the method, form and content of Hekataios's book. His *Indika* was an attempt to show that "India is an even better land than Hekataios's Egypt, a Platonic ideal state with philosophers on the top and that all civilizations spring from India not Egypt."[9]

Like Nearchos, Megasthenes also found the Indians well-skilled in arts which he attributed to their favourable climate.[10] Following Onesicritus, he was also impressed by the fact that despite immense wealth and prosperity,[11] Indians lived in a simple manner.[12] Where Onesicritus

8. Eratosthenes, in *Die Geographischen Fragmente* Das Eratosthenes (Leipzig, 1880), Frag. IIC, 24, p. 168 (Strab., XV, 1, 49).

9. O. Murray, 'Herodotus and Hellenistic Culture' *Classical Quarterly,* Vol. XXII (1972), p. 208.

10. Megasth. Jac. No. 715, F. 4 (Diod. Sic., II, 36).

11. *Ibid.,* Also see F. 8 (Strabo.. XV, 1, 20) ; F. 23b (Strabo, XV, 1, 44) ; F. 27b (Strabo, XV, 1, 57).

12. F. 32 (Strabo, XV, 1, 53) ; F. 33 (Strabo, XV, I, 59-60).

had marked the absence of slavery only in the Indian land of Mousicanos. Megasthenes extended that to India in general.[13] Likewise when Megasthenes said that the Indians made no formal contracts, he was generalising the statement made by Onesicritus for the people of Mousicanos.[14] In India of Megasthenes no one was lying ;[15] truth and virtues were honoured ;[16] thefts were rare ;[17] foreigners were well cared ;[18] and farmers could freely work in their farms even in the war time.[19] The spiritual outlook of the Indians, as observed by Megasthenes, may be described as follows :—

"They believe that the life here is, as it were, that of a babe still in the Womb, and that death, to those who have devoted themselves to philosophy, is birth into the true life ; that is the happy life ; and that they therefore discipline themselves most of all to be ready for death."[20] He further said, "The Indians do not rear monuments to the dead but consider the virtues which men have displayed in life, and the songs in which their praises are celebrated."[21]

In the period of Roman domination the idealistic attitude towards the Indians was continued by Strabo, Aelian, Philostratos, Dionysus Periegetes, Dio-Chrysostomos and many others. India was reported as the greatest of all

13. F. 32 (Strabo, XV, 1, 54) ; F. 16 (Arr., *Ind.*, X, 8).

14. F. 32 (Strabo, XV, 1, 53).

15. F. 15 (Arr. *Ind.*, XII, 5).

16. F. 32 (Strabo, XV, 1, 54).

17. F. 32 (Strabo, XV, 1, 53).

18. F. 4 (Diod. Sic., II, 42) ; F. 31 (Strabo, XV, 1, 51).

19. F. 4 (Diod. Sic., II, 36) ; F. 19a (Arrian, Ind., XI, 9) ; F. 19b (Strabo, XV, 1, 40).

20. F. 33 (Strabo, XV, 1, 59).

21. F. 15 (Arr. *Ind.* X.1).

nations, happiest in lot and blest in the highest degree.[22] "Many are the men who possess this country and happy the lives they lead", remarked Dionysus Periegetes.[23] Basing probably on Megasthenes Aelian reported that the Indians neither put out the money at usury, nor knew how to borrow. It was contrary to established usage for an Indian either to do or suffer a wrong, and therefore they neither made contracts nor required securities.[24] In a manner of Eratosthenes, who had made the division of mankind not on the basis of race but of qualities, Aelian favoured the Indians and other barbarians for they had strong faith in god, while condemned atheists Euhmerus, Diagoras, and Epicurus, although they were Greeks.[25] The benevolence of Indians was noted not only towards human beings but also animals. Aelian had commended the generosity of Indians towards the animals.[26] Clement of Alexandria spoke about the Indian saints, who were deeply engaged in pursuing truth.[27] An anonymous Vatican author of 1st C.A.D. eulogised the Pandaeans of India for they prayed god only to have goodness.[28] The wisdom of Indian philosophers had greatly influenced the traveller Apollonius of Tyana. He was not among those who had visited India for war, negotiation, or Commerce. He was there to learn philosophy from the learned pundits. His observation of the Brahmana philosophers as quoted by philostratos is as follows :—

---

22. Strabo. I, 2, 32 ; II, 5, 32.

23. Dion. Perieg. in *Geographi Graeci Minores* Ed. C. Muller, Vol. II, p. 173.

24. Aelian, *Varia Historia,* IV. 1.

25. *Ibid.,* II, 31.

26. Aelian, *Natura Animalum,* XIII, 25.

27. Clem. Alex., *Strom.,* III, 194.

28. Vaticanus Paradoxigraphus (edition, Keller, *Rerum Naturalim Script,* Vol. I, p. 111), XLIII.

"It is then not unreasonable on my part I think to have devoted myself to a philosophy so highly elaborated and that I am right in considering them to be wise and blessed.... I beheld men dwelling upon the earth, and yet not upon it. I beheld them possessed of nothing, and yet possessed of all things."[29]

Dio Chrysostomos described the Indians as the most heardened (along with the Spartans), longest-lived (400 years), and the most fortunate on this earth. While addressing the inhabitants of Phrygia, he belittled their natural-wealth against the fabulous wealth of India. He gave an account of the idyllic existence of the Indians, describing their miraculous rivers of milk, wine, oil, and honey. The Brahmanas were greatly extolled by Dio, for despite having these miraculous rivers and fabulous wealth, they despised them and preferred the well of truth.[30]

In the Imperial age the general tendency was to claim the superiority of the Greeks and Romans over others. In such an atomosphere it is notable that although the image of other foreigners deteriorated in the eyes of Graeco-Romans, the idealistic attitude towards the Indians remained unaltered. In Philostratos's "Travels of Apollonius of Tyana" the Gods of the Egyptians were attatcked as brutish, and the supremacy of the Indian wisdom over the Egyptians was established.[31] Looking around the inhabited world, the Classical authors of the Imperial-age, leaving Greece and Rome, could see humanity only in distant India. Northern peoples were particularly barbaris in Strabo's opinion : having no civilized traditions, though in religion at least the Romans had eliminated some bar-

29. Philostratos, *Vita Apollonii*, VI. 11.
30. Dio Chrysostomos, *Orationes*, XXXV. 434.
31. Philostratos, *op. cit.*, VI, 10-11.

barians from Gaul. In the view of Apollonius of Tyana, the Thracians were uncivilized ; and had no comprehension of freedom. Similar remarks were made for Armenians. Parthians, Germans, and others.[32]

In what way can be explained the idealist picture of Indians in the works of classical authors? Why an attitude of romanticism was adopted towards the Indians? In search of the query, when we turn over the pages of Greek literature, it is noticed that idealization was not confined to Indians only in classical literature. The Greeks had been idealizing foreign peoples long before their knowledge of India. Homer had mentioned Ethiopians as blameless (*amvmontas*).[33] The Hyperboreans were described by Pindar as living in a state of idyllic bliss.[34] Aeschylus's 'Gabii' were most just and loved foreigners.[35] The explanation for such idealization should thus be sought in ancient Greek view regarding the noble society.

The German scholar Rohde[36] draws our attention towards two different views in Greek speculation regarding the remote past. One of them considered the early society as primitive and uncivilized, while the other looked that as a golden age. The latter view was supported by the

32. J. P. V. D. Balsdon, *Roman and the Aliens* (London, 1979), pp. 63-64.

33. *Iliad,* I, 423-24.

34. Pindar. *Pythian Odes,* X. 30-44.

35. Smith and Jones (Edited and translated in Loeb Edn.), Aeschylus's fragments, No. 110, Vol. II. p. 451.

36. Erwin Rohde, *Der Griechische Roman und Seine Vorlaufer,* 2nd edn. Leipzig, 1900.

philosophers like Plato, Dicaearchus and Stoics.[27] Along with the golden age view, there also existed a belief in Ancient Greece that at the edges of the earth there still existed such righteous society. The imaginery Hyperboreans in the far North and Ethiopians in the far South were supposed to have such societies. With an advancement of geographical knowledge of remote places, the other peoples were also credited to have lived in a state of idyllic bliss. It may be then postulated that with the knowledge of India, its inhabitants too were included to have a noble society, as the Greeks knew them living on the Easternmost limit of the Earth. The knowledge of Scythians in the far North replaced, the imaginery Hyperboreans of Pindar. The Indians in the far East were credited with the same virtues, as were the Ethopians in the far South and Scythians in the far North.[28] Herodotus's remarks that 'India lies at the world's most distant Eastern limit' and 'it would seem that the fairest blessings have been granted to the most distant nations of the world,[29] was in accordance with this view.

The romantic attitude towards the Indians continued even in the period of Roman domination, when the deve-

---

37. *Ibid.*, p. 201, Note 2, Plato made use of both conceptions for his own purposes. For a curious blending of the two, see his *Laws* 678B. In this passage he emphesized the advantages of primitive life. His point of view was not unlike that of Megasthenes with respect to the "simplicity" of the inhabitants. It is interesting that among the advantages of these early days Plato mentioned the absence of law suits a cardinal point in the Land of Mousikanos. See Plato's *Republic* V, 464D.

38. Erwin Rohde, *Op. cit.*, p. 203.

39. Herod., III, 106.

lopment of Indo-Roman trade[40] had greatly widened the knowledge of Indians, and the general tendency of Graeco-Romans was to denounce the foreigners. It may be said here that new informations in this period were brought by the common sailors, whose accounts were not seriously taken by the educated Greeks. Strabo[41] considered them stupid ; from whom serious informations could be hardly expected. Dio Chrysostomos discredited their reports, for they were not in conformity with the traditional romantic image of the Indians. Thus the Imperial age authors did not benefit themselves from their contemporary reports, which were obtained as a result of increased trade contacts with India. When Arrian stated that only Alexander had made an expedition against India, he did not consider Seleucus I, Antiochus I, the Parthians, or the Kushanas and so his *Indika* was in no sense an account of India in Roman times. India continued to remain a distant nation throughout the Graeco-Roman History and so its idealistic image continued, while the image of other foreigners dete-riorated.

We may cite here an instance of Homer in order to corroborate above contention. In Homer's time the dis-

---

40. For Indo Roman trade contact, see especially, E. H. Warmington, *The Commerce between the Roman Empire and India* (revised edition, London 1974) ; R.E.M. Wheeler, *Rome beyond the Imperial Frontiers* (London, 1955) ; M.P. Charlesworth, 'Roman Trade with India, a Re-Survey' in *Studies in Roman Economic and Social History* (in honour of Allen Chester Johnson, ed. P. Coleman-Norton, 1951) ; J.J. Miller, *The Spice Trade of the Roman Empire* (Oxford, 1969).

41. Strabo, XV, 1, 4.

42. Dio Chrysostomos, Orat., XXXV, 22-23.

tant Ethiopians were called "blameless"[43] because the Achaeans had no dealings with them and they remained purely negative, an unknown entity. But on the other hand, the Phoenicians, the great trade rivals of the Greeks, whose coming Mathew Arnold described in the beautiful last stanza of "The Scholar Gypsy" are painted in no flattering colours. They were represented in the *Odyssey* as thieves and robbers who kidnapped children and did great despite to men.[44]

Another reason, which may be thought for this growing superiority of the Indians, was the influence of the Indian philosophers. The Greek philosophers, like Pythagoras,[45] Democritus,[46] Plato,[47] Apollonius of Tyana,[48] were reported to have visited India in search of wisdom and India came to be known as the original home of philosophy.[49] Wearied from the complexities and materialistic outlook of their world, Cynic Onesicritus, Pythagorean Apollonius of Tyana and Cynic-Stoic Orator Dio Chrysostomos found themselves to be corroborated in Indian thought. The difference between the materialistic attitude

43. Homer, *Iliad, I*, 423-24.

44. *Odyssey*, XIII, 272ff.; XIV, 288ff.

45. Philostratos, *Op. cit.*, VIII, 7, for the influence of Indian thought on Pythagoras, see esp. Schroeder, *Pythegoras und die Inder* (Leipzig, 1884); Garbe, *Philosophy of Ancient India*, p. 39 (Chicago, 1897); H. G. Rawlinson, *India a Short Cultural History*, p. 55 (London, 1937); Gomperz, *Greek Thinkers*, Vol. I, p. 127 (1905, London. Reprint 1969); Radhakrishnan, *Eastern Religion and Western Thought*, pp. 142-43. (Oxford, 1939).

46. Aelian, *Varia Historia*, IV. 20; Diogenes Laertius, IX. 34.

47. Pausanias, IV, 32, 4.

48. Philostratos, *op. cit.*, I 18.

49. Lucian, *Drapetai* (Runways) 6, 8.

of the Graeco-Romans and the simplicity of the Indians, was repeatedly emphasized in the works of classical authors. Thus in a passage of Onesicritus,[50] the Indian philosopher Mandanis is said to have commented that "he regarded the Greeks sound minded in general, but that they were wrong in one respect, in that they preferred custom to nature; for otherwise, Mandanis said, they would not be ashamed to go naked like himself and live on frugal fare." Megasthenes[51] distinguished the peace loving Indian rulers with that of Alexander. He said that Alexander overthrew in war all whom he attacked and would even have conquered the whole world had his army been willing to follow him. But on the other hand, a sense of justice prevented any Indian king from attempting conquest beyond the limits of India. The text attributed to some Pseudo-Callisthenes[52] adopted the theme of Alexander's meeting with the gymnosophists, the intention of which was to contrast the evils of gross materialism of the Greeks with those of the true and simpler lives of the Indians. In an interpolation made by Palladius[53] in this text, it was remarked that Alexander who had subdued many nations was overcome by an old naked man. We may conclude our discussion with one reference of a fabricated letter written to Alexander by the philosopher Dandanis. The letter[54] which

---

50. Onesic., F. 17a (Strabo, XV, 1, 65).

51. Megasth., F. 14 (Arrian, *Ind.*, IX, 9-10).

52. See the text edited by W. Kroll, *Historia Alexandri Magni*. by Pseudo Callisthenes, Vol. I (Berlin., 1926). For English translation of Kroll's text see E.M. Haight, *The Life of Alexander of Macedon* (New York, 1955).

53. For the text of Palladius see J.D.M. Derrett, "The History of Palladius on the Races of India and the Brahmanas", *Classica et Mediaevalia*, Vol. XXI, 1960, pp. 64-135.

54. Quoted from Walter Eagne Clark's article "Hellenism and Indic Philology", *Classical Philology*, Vol. XIV-XV, 1919.

furnished an interesting account of the differences between Indian and the Greek outlook runs as follows :—

"We do not know tumultuous gatherings those games and spectacles which cause you delight. What good would be your comedians among a people which despises that profession and which does nothing which could be turned into ridicule. There does not take place among us suited to furnish material for your tragedies. The Brahmanas would shudder if they saw young persons exposed to savage beasts or saw strongmen attatck and kill each other with sang-froid."

# A FRESH APPROACH TO THE CONCEPT AND ORIGIN OF TEMPLE ARCHITECTURE IN INDIA

## (A ŚILPAŚĀSTRIC AND ARCHAEOLOGICAL ANALYSIS)

LAL MANI DUBEY
*Allahabad*

The contemporay art historians trace the origin of temple architecture in India between Maurya and Gupta period and treat temple as an expression of Brahmanism and monotheism but the present paper suggests a chalcolithic origin of temple in India as an expression of the Vedic and Pre-Vedic ideas of *bhakti*.

Much has been written on the origin and evolution of temple architecture in India.[1] But the present paper suggests that the origin of temple in India goes back to chalcolithic period and that the concept of temple is not confined to a particular religious complex—either Brahmanism or monotheism. Different theories regarding the concept of temple have been examined in the light of the works on Śilpaśāstra, while the origin and evolution of temple are

---

1. D.D. Kosambi. *The Culture and Civilisation of Ancient India in Historical Outline*, p. 64; Niharranjan Ray, *An Approach To Indian* Art, p. 255 ; T.P. Bhattacharya, *The Cannons of Indian Art*, p. 268; V.C. Srivastava, *Sun Worship In Ancient India*, p. 322; V.S. Agrawala, *Evolution of The Hindu Temple And Other Essays*, Varanasi (1979), pp. 1-10 ; Krishnna Deva, *Temples of North India*, pp. 6-7; R.C. Majumdar, *The Age of Imperial Unity*, p. 360.

based on the archaeological and Śilpaśāstric evidence. Bhakti in the general sense of devotional faith and as a complex mixture of fear, awe, fascination and dependence is Vedic and Pre-Vedic, whereas temple as a *garbhagṛha—maṇḍapa* combination is chalcolithic in its historical tradition.

The word temple defined as a place of worship,[2] when applied to the Indian context, denotes a class of buildings consecrated to Hindu gods and goddesses.[3] In tracing the origin of temple architecture, therefore, one is naturally faced with the problem if one should understand by temple architecture all such buildings which can be called temple in the widest sense of the term[4] or one should restrict its meaning to the Indian usage of it. If temple is understood in the widest sense of the term all the religious structures will come within its purview[5] and obviously all of them can not be called temple in the sense of its usage in the Indian religious context. Restricting its meaning to its Indian religious usage one is again faced with the problem if the definition of temple should be understood by a common sense view of it what is to be understood by temple. We have, therefore, no option but to take resort to the

2. *Encyclopaedia of Religion and Ethics,* edited by James Hastings, Vol. XII, pp. 236-237; K.R. Srinivasan, *Temples of South India,* p. 1; *Aparājitapṛcchā,* 104. 19-20.

3. Stella Kramrisch, *Hindu Temple,* I, p. 118; H.C. Bhiyani, *Aspects of Jain Art and Architecture,* edited by U.P. Shah and M.A. Dhaky, p. 23; George Michael, *The Hindu Temple,* pp. 61-62; P. K. Agrawala, *Gupta Temple Architecture,* pp. 3-4; T. P. Bhattacharya, "The Canons of Indian Art", pp. 264-265.

4. K.R. Srinivasan, *Temples of South India,* pp. 7-17; *Encyclopaedia of Religion and Ethics, op. cit.*

5. K. R. Srinivasan, *op. cit.*

definition of a temple laid down in the works on Śilpa-śāstra. The texts on architecture usually call a temple a *prāsāda* because the *prāsāda* associated with the *rājā* or meaning of palace. This makes it clear that there is no distinction between a temple and a palace or a temple and an ordinary house (terms like *devālaya, devagṛha, deva-sadma* etc. contain words standing for ordinary houses) on architectural level.[7] It is only at the level of the use to which palatial or ordinary structure are to be put that the distinction can be seen. A *prāsāda* is distinct from *rāja-prāsāda* because the *prāsāda* associated with the *raja* or king, is put to a different sort of use whereas *devaprāsāda*, or *prāsāda*, as the temple was usually called, was put to the religious use. Similarly the association of *deva*,[8] *Hari*[9] *Puruṣa*,[10] *Śiva*, and *Śákti*[11] with the terms *ālaya*, *gṛha*, *veśma*, *sadma* or *prāsāda* shows a house made exclusively for a religious use. Temple or *prāsāda* or *devagṛha* in the opinion of Śilpśāstra was, thus, a special kind of building devoted exclusively to religious use. This definition unless further restricted would not exclude buildings like those

---

6. P. K. Acharya, *A Dictionary of Hindu Architecture*, pp. 430, 551-552; Stella Kramrisch, *op. cit.*, p. 134; *Aparājitapṛcchā*, 69.29; *Mānasāra*, XLI, 1-51; *Mānasāra*, IV, 23.

7. Klaus Fisher, 'Bengal Brick Temples During the Indo-Islamic Period', *Studies in Indian Temple Architecture*, edited by Pramod Chandra, New Delhi, 1975, p. 195.

8. *Kṣīrārṇava*, 15.49.

9. *Agnipurāṇa*, 61.19-27.

10. *Śilparatnam*, XVI, 121-123.

11. *Īśānaśivagurudevapaddhati*, pt. III, Ch. XII, 16; also see Stella Kramrisch, *op. cit.*, pp. 135-136; *Kṣīrārṇava*, 9.19; *Dīpārṇava*; 7.4; 13.6.

of a *maṭha*[12] or *vihāra*[13] which were meant for religious use but were not temples. A difficulty further arises when we are confronted with the question : if a *stūpa*[14] is to be called a temple or if a sacred shrine erected round a sepulchre[15] or primitive popular divinity[16] is to be called a temple. The position of texts on Śilpaśāstra with regard to this question is difficult to determine. Though some of them like the *Samarāṅgaṇasūtradhāra* (18.57) include in the category of *prāsāda* even *caityas,*[17] and *caitya* can be defined as a Buddhist Stūpa, sepulchral monument, sacred place or a tree, any cult object, and fire-altar (*citi*), with or without shed.[18] It is doubtful if all these monuments and places of worship could be called a temple. Ordinarily it should not, because the *śilpa* texts do not lay down the rules of the architecture of a *stūpa* or a megalith. A fire-altar is also distinct from a temple. This shows that they were referring to some particular aspect of the various meanings of the term *caitya* and not to all its meanings. It

---

12. H.C. Bhiyani, op. cit., p. 23 ; U.P. Shah, *Studies In Jain Art*, p. 43.

13. *Ibid.* : K. R. Srinivasan in *Archaeological Remains Monuments And Museums,* pt. I, A.S.I., p. 107; G.C. Pande, *Bauddha Dharma Ke Vikāsa Kā Itihāsa*, p. 205.

14. *Encyclopaedia of Religion and Ethics, op. cit.*, p. 238 ; K. R. Srinivasan, *op. cit.*, pp. 15-16.

15. A. K. Coomaraswamy, *Yakṣas,* I. pp. 17—23 ; *Encyclopaedia, op. cit.*, p. 237 ; G. C. Pande, *op. cit.*, pp. 23-24 ; P. K. Agrawala, *op. cit.*, p. 63.

16. *Samarāṅgaṇasūtradhāra*, 18.57 ; Stella Kramrisch, *op. cit.*, p. 118.

17. Sushila Pant, *The Origin and Development of the Stūpa Architecture,* Varanasi, 1976, p. 36 ; Stella Kramrisch, *op. cit.*, p. 148.

18. Krishna Deva, *Temples of North India*, pp. 4-5.

is clear from the contents of the *śilpa* texts that only a particular sort of architecture was denoted by the term *prāsāda* or *vimāna* or *devālaya* which, if applied to a Buddhist, Jain or Hindu object of religion, would have constituted a temple. Structures not in agreement with those canons will be anything but not a temple.

The essential characteristics of a *prāsāda* architecture,[19] as laid down in the *śilpaśāstras,* are only a sanctum (*garbhagṛha*) and a hall (*maṇḍapa*) which may have a further elaboration effected by the optional features of a *śikhara* (spire) and an ambulatory passage (*pradakṣiṇāpatha*). The unmistakable pieces of temple architecture, still extant, go back to Gupta period.[20] Before that we have the examples of Sonkh[21] (near Mathura) and Nagarjunikonda[22] where remains of apsidal structures with a *maṇḍapa* and *grabhagṛha* have been found. It is also significant to note that the actual architectural evidence of the knowledge of the technical know-how of the principal of the construction of a domical or curvilinear *śikhara* is traceable to the time of the Kusana phase of palace architecture at Kausambi,[23] though an indigenous tradition of some sort of spiral construction as its prototype may be taken back by a few centuries to the Maurya-Śuṅga period.[24] Furthermore, we

19. Krishna Deva, *op. cit.*, pp. 8-9.

20. *Ibid.*, p. 7.

21. H. D. Sankalia, *Indian Archaeology Today,* 1979. pp. 135-136.

22. Krishna Deva, *op. cit.*, p. 6.

23. G. R. Sharma, *Kusana Studies,* Allahabad, 1968, pp. 31-32 and 62-63.

24. U. P. Shah, *Studies in Indian Temple Architecture,* edited by Pramod Chandra, p. 85 ; U. N. Roy, *Studies in Indian History and Culture,* Vol. I, Allahabad, 1969, pp. 85-87 ; L. M. Dubey, 'Nāgara, Drāvida and Vesara in the Śilparatnam of Śrīkumāra', paper presented to the Waltair session of *Indian History Congress,* Dec. 1979, and published in the *Journal of the Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapitha,* Vol. XXXV, July-Dec. 1979, parts 3-4, pp. 1—10.

have the remains of *pīṭha* (socle), *garbhagṛha, Maṇḍapa* and ambulatory in Temple 40 at Sanchi[25] in the 2nd century B.C. Remains of other temples of a comparable date are known from Nagari, Besnagar[26] and Dangawada.[27] Then we come across rock-cut architecture of the *Lomaśa Ṛṣi* and the *Sudāmā* cave of the time of Aśoka which can be called temples because of their having a *garbhagṛha* and *maṇḍapa* pattern.[28] They are also circular in nature. Of about the same time is another structure with the same components from Bairat.[29] Then there ensues a long gap till we come to circa 1800 B.C. when we notice in the excavated chalcolithic remains of the site of Dangawada[30] near Malawa, a rectangular architecture built on a platform having again a *maṇḍapa* and a *garbhagṛha*. In the *garbhagṛha* were also found a few figurines which must have been the object of worship there. This survey shows that the *maṇḍapa-garbhagṛha* combination which appears to be the essential of the *prāsāda* architecture of the *śilpaśāstras* dates back to the chalcolithic age, belonging approximately to 1800 B.C. The history of this type of sacred architecture is not continuous and is full of vast

---

25. Krishna Deva, *Temples of North India*, p. 6.

26. *Ibid.*, p. 6.

27. V. S. Wakankar, 'Chalcolithic Cultures of Malwa', paper presented to *XII Annual Congress of Indian Archaeological Society And VII Annual Congress of Indian Society For Prehistoric And Quarternary Studies*, Allahabad, Dec. 1980, p. 12.

28. Krishna Deva in *Archaeological Remains Monuments and Museums*, pt. I, A.S.I., 1964, pp. 111-112.

29. Krishna Deva, *Temples of North India*, p. 6.

30. V. S. Wakankar, 'Chalcolithic Cultures of Malwa', paper read in *VI Annual Session of Annual Congress of Society for Prehistoric and Quarternary Studies*, Bhopal, 1980.

gaps but its homogenity with the typical architecture of temple laid down in the *śilpaśāstra* clearly indicates the unbroken continuity of the tradition of this type of structure. Arthitecturally, therefore, the temple goes back to circa 1800 B.C.

Temple has often been looked at as an essential component of a religious complex.[31] It is generally believed that there can be no temple without the idea of worship[32] and probably there can be no worship without the idea of *bhakti*.[33] That *bhakti* is not possible without monotheism is also some times held.[34] Temple is, therefore, taken to be a product of a certain set of religious ideas consisting of worship, *bhakti*, monotheism etc. Origin and development of *bhakti* in Indian religious history are again problems fraught with a number of difficulties. It is commonly believed that the Vedic age was devoid of *bhakti*, Buddhism and Jainism had nothing to do with *bhakti* at least in their early phase, and *bhakti* is an early medieval pheno-

---

31. Niharranjan Ray, *An Approach To Indian Art*, p. 255 ; R. N. Nandi, 'Origin And Nature of Saivite Monasticism', *Indian Society : Historical Probings*, edited by R. S. Sharma, pp. 191-192 ; V. C. Srivastava, *Sun Worship in Ancient India*, p. 322 ; Krishna Deva, *Temples of North India*, pp. 2, 8.

32. *Aparajitapṛcchā*, 104.19-20.

33. V. S. Wakankar, *op. cit.*, Bhopal, 1980 ; J. S. Negi, *Groundwork of Ancient Indian History*, Vol. I, Allahabad, 1958, pp. 165-166.

34. R. C. Majumdar, *The Age of Imperial Unity*, p. 360 ; D. C. Sircar, *The Age of Imperial Unity*, pp. 432-433 ; Krishna Sharma in *Problems of Indian Historiography*, edited by Devahuti, Delhi, 1979, pp. 61-62 ; R. N. Mishra, *ibid.*, edited by Devahuti, p. 32 ; D. D. Kosambi, *The Culture and Civilisation of Ancient India in Historical Perspective*, pp. 208-209.

menon being ideological expression of the socio-economic matrix characterised by serfdom and peasant subjection.[35] If that is so, and if temple and *bhakti* are necessarily concommittant, temple architecture should never go beyond the beginnings of early medieval period or at least till the time of the religion of the *Vedas*[36] and Buddhism and Jainism were a force to reckon with. Temple as an architectural form and temple as a religious necessity are, thus, not co-eval. Or else, there could be temples even without the religious necessity of the kind in which *bhakti,* worship and monotheism are necessarily fused together. It is possible to maintain that a particular type of architecture can go beyond the origin of a particular religious complex with which it is essentially associated later on. But the religious association of the buildings defined as temples in the *śilpaśāstras* even with the religious ideas of a different complex is by no means an impossibility.[37] Temple as a particular architectural form will even then be called a temple. If we pursue this line of thought further, wecan find justification for it in our texts as well. The *śilparatnam*[38] of *Śrīkumār* tells us that a *prāsāda* is virtually a manifestation of *Puruṣa* denoting the supreme principle[39] (*prāsādam*

35. R. S. Sharma, 'Problem of Transition from Ancient to Medieval History', *The Indian Historical Review,* March 1974, Vol. I, No. 1, pp. 8-9 ; D. D. Kosambi, *op. cit.;* B. N. S. Yadava, *Society And Culture In Northern India,* pp. 163-164 and 378-379.

36. For *bhakti* in early Vedic Context, see R. B. Pandey, *Hindu Dharma Koṣa,* 1978, p. 464 ; P. V. Kane, *Dharmaśāstra Kā Itihāsa,* Vol. 4th, Lucknow, 1973, pp. 455-456 ; A. C. Bose, *The Call of the Vedas,* Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1960, pp. 79-104.

37. Krishna Deva, *Temples of North India,* p. 6.

38. *Śilparatnam,* XVI, 121-123.

39. Stella Kramrisch, *Studies in Indian Temple Architecture,* ed. Pramod Chandra, p. 40.

*Puruṣam matvā*). It is significant to note that the temple here has not been consigned to any religious complex or creed, it has been identified with an aspect of the Absolute which is the holiest of the holies and includes within itself everything, heretic and orthodox, vedic and non-vedic, monotheistic and polytheistic, primitive and the most advanced. Temple as an architectural form can, thus, be safely associated with any complex of religious ideas provided its form is in agreement with what is known as temple in the *śilpasūtras*.[40]

---

40. P. K. Acharya, *A Dictionary of Hindu Architecture*, p. 430; Stella Kramrisch, *Hindu Temple*, I, p. 133; L. M. Dubey, *Socio-Cultural Study of the Aparājitapṛcchā of Bhuvanadevācārya with Special Reference to Data on Art and Architecture*, D. Phil. thesis submitted to the University of Allahabad, 1982, pp. 179-183.

*Chaupat mandapa*. It is significant to note that the temple here has not been considered to any religious complex or creed, it has been identified with an aspect of the Absolute which is the holiest of the holies and includes within itself everything, theistic and orthodox cults and heterodox, monotheistic and polytheistic, primitive and the most advanced. Literally, it is an architectural form which does not solely associated with any complex of religious ideas provided its form is in agreement with what is known as temple in the *Silpasastras*.[79]

---

79. P. K. Acharya, *A Dictionary of Hindu Architecture*, p. 139; Stella Kramrisch, *Hindu Temple*, I, p. 137; D. N. Dubey, *Socio-Cultural Study of the [illegible] with Special Reference to Data on Art and Architecture*, D. Phil. thesis submitted to the University of Allahabad 1972, pp. 178-183.

# VERSE 59 AND 60 IN KĀLIDĀSA'S MEGHADŪTA

S. V. Sohoni

Noting the similarities of poetic expressions in *Kumāra-Saṃbhavam* VI.66, *Meghadūta's* verse 1.59 and 60 and in Hāla's *Gāthāsaptaśatī* 1.69, the author concludes that Kālidāsa is indebted to the latter.

As noted, Kālidāsa was fascinated with the Prākrit anthology of Hāla and utilised many times some of its ideas and, occasionally, even took over some of its language. The individual verses in *Gāthākoṣa,* which thus formed the raw material in Kālidāsa's literary workshop, have been found to possess a unique individual beauty of their own, which, doubtless, recommended their occasional adaptation.

2. One such verse has a peculiar background, which may be first mentioned—

"पाणिग्गहणे च्चिअ पव्वईएँ णाअं सहीहिँ सोहग्गम् ।
पसुवइणा वासुइकङ्कणम्मि ओसारिए दूरम् ॥ G. S 69 ।"
[पाणिग्रहण एव पार्वत्या ज्ञातं सखीभिः सौभाग्यम् ।
पशुपतिना वासुकिकङ्कणेऽपसारिते दूरम् ॥]"

According to Pītāmbara, the poet who wrote this verse was Anurāga, whereas Bhuvanapāla named Dhruvarāja as its author. It would be useful to analyse the sly humour contained in this *gāthā.* In the first place, it takes into account an observation made by the famous grammarian Patañjali in his *Mahābhāṣya* at 4/1/52, whereby a distinction was drawn between *'pāṇigṛhītā',* which means any

woman whose hand had been caught—*'yasyā hi yathā kathamcit pāṇirgṛhyate, pāṇigṛhītā sā bhavati'*, and *'pāṇigṛhītī'*, which means the wife—*'pāṇigṛhītī, bhāryā'*. The Prākrit poet notes that Pārvatī's intimate friends saw that Paśupati or Śiva had set aside from his wrist, Vāsuki or the serpent which had encircled itself on it. This was a step or movement on the part of Śiva, preliminary to his taking over charge of Pārvatī's hand by catching it. Pārvatī, thus became *pāṇigṛhītī* of Śiva. In the *gāthā*, it has been stressed that the serpent, Vāsuki, had been pushed aside to a long distance.

The friends of Pārvatī were keenly watching Śaṅkara doing so. Earlier, they were aware that Pārvatī would have to face the risk of being very close to this poisonous reptile, howsoever it might have been at home with *Paśupati*—the lord of animals. It was lucky that, the danger was warded off by this action of Śiva. Accordingly, they drew an inference that freeing his hand in this manner was a sign of Pārvatī's good fortune, since what had been taken off was quite dear to *Paśupati*. All these ideas resulted from an observation of a single incident, thereby justifying the use of the locative absolute construction. The change over was welcome to them, as it was a good sign of happy life ahead.

3. The possibility, of a confrontation with serpents on getting married to Śiva had, always existed. It was specially mentioned by Śiva himself and recorded in clear terms in the remarks made by him, when he had gone to test Pārvatī's resolve—

"अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः ।
करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ।।"

*K.S.V.66*

Later on, while describing the details of the wedding ceremony a delicate emphasis was laid on the *Pāṇigrahaṇa* part of it; and as many as three verses were devoted to its description—

"तस्याःकरं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः ।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥76॥
रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत् ।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य ॥77॥
प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद् वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम् ।
सान्निध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ॥78॥" K.S. VII

4. There was yet another element of audacious humour in the *gāthā*. Vāsuki was the chief among serpents or (Geeta X.28) *bhujaṅgamas*; and *'bhujaṅgama'* is an expression for libertine. The implication sought to be conveyed was that Paśupati cleared out his circle of *'bhujaṅgas* at the prospect of getting married to Pārvatī and that the dismissal of such a company had gladdened the hearts of her friends.

5. These references to the topic, as stated in *Kumārasaṃbhavaṃ* are a link between the Prākrit verse and a beautiful picture in stanza 60 of Kālidāsa's *Meghadūta*. The text of this exquisitely pretty stanza is as follows—

"हित्वा तस्मिन् भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता ।
क्रीडाशैले यदि च विहरेत् पा चारेण गौरी ॥
भङ्गीभक्त्या विरचित वपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः ।
सोपानत्वं कुरू मणितटारोहणायाग्रयायी ॥"

*Megha*.I.60

The Prākrit *gāthā's 'Vāsuki kaṅkaṇa'* has been changed into *'bhujaga-valaya'* in the *Meghadūta* stanza, thereby bringing into prominence the bold hint in the Prākrit statement. The proper noun Paśupati has been replaced

by Śambhu—and this is but wholly appropriate, vide the etymological meaning of these two names. The wedding scene has been replaced by that of a walk on *krīḍā śaila,* Gaurī stepping out hand in hand with Śiva. The replacement of Pārvatī by Gaurī, is also meaningful. This extremely fair couple of Śambhu and Gaurī was imagined by the poet to be ascending the polished and deeply blue steps of the stair case formed by the cloud as advised in the second half of the stanza—the Cloud having been described in the immediately preceding stanza as *'snigdha—bhinnānjanābha'* (vide verse no. 59). What a fascinating word picture has been drawn by Kālidāsa, of the Divine Couple taking a walk on Kailāśa ! The poet's preoccupation with the contrast of colours is extremely prominent. It was one of his favourite points. The sharp contrast in adjoining colour's is known as *'parabhāga.* Śaṅkara the famous commentator on Bāṇabhaṭṭa's *Harṣacarita* has explained the term as *'parabhāgo varṇasya varṇāntareṇa śobhātiśayaḥ'*. This stanza 60 is essentially one for the painter and his paint box.

6. It has been indicated, though obliquely, that while the *'bhujagavalaya'* had been shed away, it was but a temporary adjustment consistent with the purpose of the walk up the *Krīḍā-śaila.* This was a meaningful suggestion.

7. Even the Yakṣa's own *krīḍā-śaila* was *"racitasikharaḥ peśalairindranīlaiḥ"* i. e. its top was set with saphires. (*Megha*.II.14). There the imagery is a continuation of the earlier one of *'madhye śyāmaḥ stana iva bhuvaḥ śeṣa vistāra pāṇḍuḥ'* (*Megha*.I.18). The poet's restraint in omitting to refer to this idea while describing the Cloud above the crystal Mount Kailāśa, is worth noting. The erotic atmosphere has been hinted at, but not specified.

8. Let it not be overlooked that this special arrangement was meant to hold good, *if* (*yadi*) Gaurī would take the walk. The delicacy of this idea should be savoured by *a sahṛdaya* in all its aspects. For, on the *krīḍā-śaila,* Gaurī could have a choice among many alternative ways of spending time.

9. The Cloud was advised, *'sopānatvam kuru maṇitaṭārohaṇāyāgrayāyī'*. Kālidāsa has packed into this line much more than appears at first sight. He, definitely, had in his mind the idea of a soft carpet being unfolded on a rising rocky and hilly ground. The Yakṣa advised the Cloud to function like a stair case—which was stretching itself ahead as the Divine Couple would start climbing the Pleasure Mountain. It was desirable that their privacy should not be desturbed. Therefore, the Cloud was directed to be *'agrayāyī'* ! Kālidāsa also clearly anticipated the idea of an escalator, when he wrote this line. The contraption was definitely within the technical competence of carpenters of that period anyway, since it was based on a revised form of the *'kūpaghaṭikāyantra* .

The Mount Kailāśa had slopes set in precious stones, according to Purāṇic geography and Tibetan folklore. The sharp edges had to be avoided. Hence the suggestion of a stair case, soft and adjustable and nice on the feet. The many contrasting colours of the precious stones in the flanks of the mountain top is a deliberately introduced element in the imagery, on which an intensely artistic word picture has been sketched in this magnificent verse. It may be recalled that the position of the Cloud vis-a-vis the Mount Kailāśa, as described in verse 59, showed it coursing at a middle level, as it were. The Cloud was then supposed to go up the Mount. In verse 60, it was assumed to have reached the top. It was very necessary suitable to

caution it not to keep itself overhead the Divine Couple residing there. It was also unthinkable that it should fail to see Śiva and Gaurī in occupation of their favourite resort. Propriety demanded that it should put itself under their feet and not over the heads of the Divine Parents. This purpose was achieved in a very clever manner by the proposal in verse 60.

10. When all this is stated, it would be well to remember that it had begun with a grammarian's observation on the difference between the meanings of *pāṇigṛhītā* and *pāṇigṛhītī*. I confess that this analysis also illustrates the point, *Nāsti acauraḥ kavijanaḥ"*, so emphatically made out by no less a critic than Rājaśekhara himself. But the Himalayan heights of Kālidāsa's genius far exceeded the Sahyādri levels of the poet in the Prākrit anthology of Hāla.

11. Some points of further detail may be noted. While the Prākrit *gāthā* virtually contains a pointed comment by Pārvatī's companions, this stanza 60 in *Meghadūta* omits any reference to Pārvatī's own circle of friends. Whereas the *gāthā* is based on an observation which had, obviously, been made while the wedding ceremony was still in progress, the *Meghadūta* stanza exhibits a normal feature in the subsequent routine of the Divine Couple. Its only link with the atmosphere of the Prākrit anthology is that it recalls, equally effectively, the hint of the divine domestic bliss.

12. The last line in stanza 60 in *Meghadūta* has a number of variant readings. For example, instead of *'sopānatvam'*, Dakṣiṇāvartanātha would read, *'sopānaṃ tvaṃ'* ; and the earlier Vallabhadeva would have, *'sopānatvam kuru sukhapada'* etc. A number of other manuscripts show, *'pada sukha-sparśam—ārohaṇeṣu* , instead of, *'maṇita-*

*ṭārohaṇāyāgrayāyī*. There are a few other variant readings as well. I do not share the elaborate theory which was built up by the late Dr. V. S. Agrawala on the basis of the word *'maṇitaṭa'*, because it flatly contradicts the entire atmosphere of the stanza along with its context in which it is placed. I hold that since the belief that the Mount Kailāśa contains seals of precious stones, is as old as the ages, *'maṇitaṭa'* should be retained as the correct reading. *'Ārohaṇāya'* or *'ārohaṇeṣu'*, is far less picturesque than. *'agrayāyī'*—the former expression will describe the climbing of the steps, an idea already suggested by a 'sopāna', whereas the latter would serve to guide the Cloud in its capacity as a domestic aid in the divine household. Similarly, the variant, *'pada-sukha-sparśamārohaṇeṣu'*, unnecessarily emphasises an obvious detail. Even the Yakṣa's own *'vāpī* had the facility of steps hewn out of emerald, leading into it—*'marakata-śilā-baddha-sopāna-mārgā'*, and therefore, easy on the soles of the feet.

13. Some further observations on the colour scheme, carried forward from verse 59 into verse 60 for further developing the vivid imagery based on it, may now be made here. Kālidāsa gave a perfect illustration of his ability in setting up a complete *upamā* in verse 59. The purely white face of the Mount Kailāśa was imagined being traversed below its top level by the dark blue belt of the Cloud. It was compared to the appearance of the fair face of Balarāma with his stare fixed on account of the surprise felt by him on finding a soft piece of cloth on his shoulders which were, ordinarily, used to feel the weight of a ploughshare. The element of humour may be noted. In Indian art motif, Balarāma is assumed to be, generally in a drunken state and consequently, with bulging and rolling eyes. It was the surprise of finding a soft piece of cloth on his shoul-

ders, which made him have a fixed stare but only for the time being. The word, '*stimita*' has been defined by Sāradātanaya as '*khagocarāmacālyata yat tat stimitamucyate*. The word '*nayana*' signifies, not the side portions but the coloured part of the eye. Further, by "*prekṣaṇīya*' is suggested the complete absorption of the person who sees with the object seen by him, '*avyagraiḥ indriaḥ śuddhaḥ*', as Bharata has defined the spectator. By '*śobhā*' is meant the result of the internal qualities getting promoted—'*siddhaiḥ prayojanaiḥ asiddhasya śubhasanghaṭanam yatra nirṇīyate sūcyate vā iti Singaḥ*'. Another definition is, '*svabhāvasya prakaṭanam, śobhā*'. It is now clear how each word was so carefully selected for enhancing the colour effect. Accordingly, it is not possible to agree with Śāsvata's comment, '*śobhāṃ iti apapāṭha eva iti abhimataṃ asmākaṃ* . He clearly failed to notice the propriety of using the word 'śobhā'. Balarāma is also known as Nīlāmbara (vide *Amarakośa*). But for obvious reasons, attention is focussed here on the 'blue' cloth on his shoulders only.

# *ŚULKA* IN ANCIENT AND EARLY MEDIEVAL INDIA


Dr. O. P. Srivastava

*Allahabad*



The paper endevours to show the reason for levying *śulka* and the policy of assessment which was initially assessed on cost but its edge was shifted to profit during the 11th and 12th centuries on account of a few discrepancies that had crept into the previous practice. In the first phase of the early medieval India, the percentage of profit is too meagre and hazardous to promote the commercial enterprises. But in the next phase an increase in the same resulting in a fillip in trade activities is witnessed. The mode of payment has also been discussed betraying its implication on the socio-economic conditions of the different periods.


*Śulka* is a word of wide connotation. It denotes different meanings[1] such as price, price for bride in *ārṣa* marriage, price paid to courtesans and tax. In the *Amarakośa*[2] which has been assigned to the 5th century A.D., *śulka* is used along

1. In the *Ṛg. Veda* (VII. 82.6 ; VIII. 1.5) the word *śulka* is used to denote price, quoted by A. A. Macdonell and A. B. Keith, *Vedic Index*, (Hindi tr.), Vol. II, Varanasi, 1962, p. 428. For other meanings see the *Vācaspatyam*, Vol. VI, Varanasi, 1962, p. 629 ; the *Śabdakdlpadrum* of Radhakantadeva Bahadur, Vol. V, Varanasi, 1961, p. 124. Ed. Rhys Davids and W. Stede, *Pāli-English-Dictionary*, New Delhi. 1975. pp. 716-17.

2. *Nāmaliṅgānuśāsanam–Amarakośa* with Rāmāśrami commentary of Bhanuji Dikshit, Bombay, 1944, II.8.27.

with *bali* and *kara*. *Bali*[3] denotes dues to be realized on the produce of fields. *Kara* has been dealt with in detail in the light of the available historical data by L. Gopal[4] and D.S. Jha.[5] According to L. Gopal[6] *kara* was a periodical tax to be realized on the property calculated on the basis of land and cattle from villagers over and above the king's normal grain share. D. N. Jha[7] also shares the view. *Śulka* as revealed from the combined evidence of the *Artha-śāstra*,[8] *Mahābhārata*,[9] *Manusmṛti*,[10] *Kātyāyanasmṛti*[11] and the Junāgarh rock inscription[12] of Rudradāman (150 A.D.) a king of the western Kṣatrap dynasty, appears to be an item of revenue different from *bali* and *kara*.

There is a great deal of discussion among scholars about the nature of *śulka;* and it has variously been interpreted by

---

3. Medhātihi on Manu, VIII, 307; Kṣīrasvāmin on *Amarakośa* II.8.27; D. N. Jha, *Revenue System in Post Maurya and Gupta Times*, Calcutta, 1967, pp. 42ff.

4. L. Gopal, *The Economic Life of Northern India* (*ELNI*), Varanasi, 1965, pp. 36-38.

5. D. N. Jha, *op. cit.*, pp. 44-48.

6. L. Gopal, *ELNI*, p. 38.

7. Jha, *op. cit.*, p. 47.

8. *Arth*, II.22.

9. *Mahābhārata* (*Śānti parva*), XII, 71. 10.

10. VIII, 307.

11. Quoted in the *Rājanītiprakāśa* vide P. V. Kane, *History of Dharmaśāstra*, Vol. III, Poona, 1973, p. 199, fn. 258.

12. *EI* (*Epigraphia Indica*), Vol. III, p. 44.

them. Some[13] hold that it is an octroi-duty to be levied on incoming and outgoing merchandise at the city-gates. Others[14] take it as customs and excise duties to be charged on import and export of foreign articles and on exit and entry of saleable articles brought from internal parts of the country. Some scholars[15] are of the opinion that it was a royal share to be levied on the merchandise brought into the towns or at the ports ; while others[16] are of the opinion that it includes octroi, customs, and excise duties. A few[17] of them distinguish it from ferry dues. As there is a considerable difference of opinion among scholars regarding the precise meaning of the term *śulka,* it would be worth while to examine the basis of the relevant evidence.

Though *śulka* had been established as tax by the time of the *Atharva-veda*[18], yet the early references to it denoting the commercial tax occur in the *Dharmasūtras*, the *Aṅgut-*

---

13. K. R. Sarkar, *Public Finance in Ancient India,* New Delhi, 1978, p. 93 ; U. N. Ghosal, *Contribution to the History of the Hindu Revenue System* (*HRS*), Calcutta, 1972 (second edition), p. 92 ; K. A. N. Sastri, *The Colas*, Madras, 1975, p. 599.

14. As for example R. P. Kangle, *The Kauṭilīya Arthaśāstra* (A Study) Part III, Bombay, 1965, p. 178.

15. For example S. K. Maity, *Economic Life in Northern India in the Gupta Period.* Varanasi, 1970 (revised edition), p. 90.

16. E. G. R. K. Mookerji, *Hindu Civilization,* Bombay, 1977, p. 168.

17. U. N. Ghoshal, *The Beginnings of Indian Historiography and other Essays,* Calcutta, 1944, p. 177.

18. *Atharva-veda*, III. 29, 3 : *sa nākambhyārohoti yatra śulko na kriyate abalena balīyase.* Also see Macdonell and Keith, *op. cit.*, p. 428.

*tara Nikāya* and some stories of the *Jātakas*. In the dharmasūtra works of Gautama (X. 25), Āpastamba (II.26.9) and Vasiṣṭha (XIX.37) *śulka* is used to denote the familiar fiscal term for dues charged on merchandise. The legends *vāṇijāṃ suṃkam* (IV.132) and *catūsu dvāresu saṃkam* (VI.347) occurring in some *Jātaka*[19a] stories may be taken to mean toll from merchants to be levied on incoming and outgoing goods at four gates of the city. The term *suṃkadāyikameva bhāṇḍasmim* occurring in the *Aṅguttara Nikāya* (I.53) has been taken to mean "the payer of taxes on merchandise." In the Pali literature *śuṃka,* Sanskrit *śulka,* is used to denote the tolls and custom duties.[19b] It is treated at length in the *Arthaśāstra*.[20] *Śulka*, as described by Kauṭilya, was a custom duty to be levied on imports and export as well as excise duties to be realized on exit and entrance of the merchandise brought from the country side, at the city gates.[21] At another place he says that traders' merchandise is liable to be taxed according to the current port regulation and duties to be charged on ships sailing on the sea within the prohibited area of the port.[22] From the above pieces of evidence Kauṭilya appears to be enumerating customs, excise duties, payable at city gates and the port-dues under one item of revenue, i. e. *śulka.*

---

19a. Tr. Fausboll, London, 1962.

19b. Ed., T. W. Rhys Davids and W. Stede, *Pali-English Dictionary,* New Delhi, 1975, p. 716.

20. *Arthaśāstra,* II.22.1.2.

21. *Ibid.,* II.28.4, 11.

22. Cf. S. K. Maity, *op. cit.,* p. 90.

Manu[23] and Yājñavalkya[24] ordain that king should levy duty on saleable articles for fixing the selling price of it. Here they probably mean (speak of) sales-tax.

The first lexicographer of ancient India, named Amarasiṃha[25] says that *śulka* is to be levied at ferry stations and other such places (*ghaṭṭādideyam*). Commenting on the *Amarakośa* Kṣīrasvāmin[26] explains the term

23. *Manusmṛti*, VIII, 398. The verse reads *śulkasthāneṣu kuśalāḥ sarvapaṇyavicakṣaṇāḥ /Kuryurargham-yathāpaṇyam tato, viṁśati nṛpo haret.* J.D.M. Derrett (ed., idem, *Bharuci's commentary on the Manusmṛti*, Vol. II, *Wiesbaden* (Germany), 1975 VIII, 396/398, p. 206) and G. N. Jha (tr. idem, *The laws of Manu with Bhāṣya of Medhātithi*, Vol. IV, Part II, verse 398) give the meaning of word *tataḥ* 'from that', which does not seem to be applicable to this verse in the light of a verse of the *Yājñavalkyasmṛti* (II.261). Yājñavalkya clearly mentions that *śulka* should be realized for fixing the price. We, therefore, may take the word *tataḥ* to mean 'for doing that. This interpretation is also confirmed by the rule of pāṇini (*Aṣṭādhyāyī*, 2.3.25, *hetau vibhāṣa-pañcamī*). Monier Williams gives the different meanings of word *tataḥ*, such as 'for that reason', 'for doing that', 'in consequence of that' which appear to be more appropriate in case of this verse of the *Manusmṛti*. Moreover, the discussion about the policy of assessment of *śulka* also reveals that it was a tax for fixing the price (see infra.). Sarvajñanārāyaṇa, a commentator of Manu, explicitly states that duty should be charged for fixing the price (*arghakaraṇanimittam*, VIII, 398). Similar rule is laid down in the *Mitākṣarā of Vijñāneśvara* II.261), a commentary on the *Yājñavalkyasmṛti*.

24. *Yājñavalkyasmṛti*, II.261.

25. *Amarakośa* II, 8.27.

26. *Amarakośodghāṭana* of Kṣīrasvāmin on *Amarakośa*, (II. 8.27) ed., T. Ganapati Sastri, Trivandrum.

*ghaṭṭādideyam* as tax to be realized at ferry stations, police and military out-posts and the market places. The *Daśakumāracarita*[27] of Daṇḍin (7th Cent. A.D.) mentions that traders had to pay road-tax. Hiuen-Tsiang, a Chinese pilgrim who visited India in the 7th Cent. A.C., informs us that duties were paid at the river bridges and road barriers.[28] Viśvarūpa[29] (9th Cent. A.D.), a commentator of Yājñavalkya who flourished in the Malwa region speaks of *śulka* to be paid on public roads. Vijñāneśvara[30] (11th C. A.D.) the well known commentator of the *Yājñavalkyasmṛti* in South India, refers to two kinds of *śulka* i. e.. earned through land route and water route. Kullūka[31] (12th C. A.D.), commenting on Manu says that *śulka* is a royal share, to be charged on commercial transactions carried through land and water routes. The *Kathāsaritsāgara*[32] of Somadeva (11th Cent. A.D.) narrates that the traders had to leave their usual route due to fear of excessive *śulka* (taxation). It indicates that it was mainly collected on the public roads. The *Vaijayantī*[33] of Yādavaprakāśa (11th Cent. A.D.) and the *Dvayāśraya*[34] (12th Cent. A.D.) of

27. Ed., M. R. Kale, Delhi, Reprint (1979), Act. VIII. p. 192.

28. *HRS*, p. 304.

29. On *Yājñ*. II, 258.

30. Vijñāneśvara on *Yājña*. II, 263.

31. Kullūkabhaṭṭa on Manu, VIII, 398, *sthalapatha-jala patha-vyavahārato-rājagrāhyo-bhāgaḥ-śulkam*.

32. VI.3.10.5., Nirnaya Sagar Press, Bombay, 1930. tr. C. H. Tawney (*The Ocean of Stories*) Calcutta. 1880-87.

33. Ed. H. Sastri, Varanasi, 1971, VI.5.89 (*pathi deye-śulkam*).

34. XVII, 55, vide S. P. Narang, *Dvayāśraya : A literary and cultural study,* New Delhi, 1972, p. 176.

Hemacandra reveal that the (amount) which is to be given on the public paths is named as *śulka*. The *Abhidhāna-cintāmaṇi*[35] of Hemacandra (12th Cent. A.D.) states that the term *śulka* denotes ferry charge and the charges alike. The *Śukranīti*,[36] though a late text. gives some information relating to early medieval period and mentions that state should impose a tax (*śulka*) for up keep of the roads through which merchandise was carried. In view of the above discussion the word *śulka* also may be taken to mean road-cess and tolls to be charged at ferry stations and on public roads.[37]

There are many pieces of evidence to show that *śulka* was imposed on the retail dealers and Caravan traders. In a passage in *Mahābhārata*[38] Yudhiṣṭhira is said to have been advised by Nārada to impose a custom on the traders indulged in distant land trading to gain the profit. The *Jātakamālā*[39] of Ārya-Śūra, ascribed to the 4th Cent. A.D., reveals that *śulka* is a tax to be paid on the transactions of

35. Ed. Nemichandra Sastri. Varanasi, 1964. III.388, p. 178. *śulkastu-ghaṭṭādideyam.*

36. Tr. B.K. Sarkar. Jhansi, 1975 (reprint). Vv. 257-258. p. 149. Though it is a text of the nineteenth century yet there is some definite evidence to show that it incorporates some ideas of early medieval period. Cf. L. Gopal. *The Śukranīti. A Text of Nineteenth Century*, Varanasi. 1978, p. 108.

37. K. Antonova, G. Bongard-Levin. G. Kotovsky. *A History of India*, book 1. Moscow. 1979. p. 194.

38. *Sabhā parva* (II.5.155).

39. Ed., H. Kern. Delhi. 1972. XXIII. 67. The verse reads *vicitra-paṇya kraya-vikrayāśrayam vaṇigjanam paurajanam tathā nṛpaḥ/na pāti yaḥ śulkapathopakāriṇam virodhamāyāti sa kośa-sampadā.*

different articles made between vendors and buyers. The author of the *Mṛcchakaṭika*,[40] who composed it in the 5th-6th Century A.D.,[41] says in a simile that the trees appear

---

40. Ed., M. R. Kale, Delhi, 1972, (third edition), act, VII, 1.

41. There is some definite evidence to show that this work belongs to the post Gupta times. In a passage of the *Mṛcchakaṭika* (VII, p. 88) it is stated that formerly a son of *gahapati* or trader (for the meaning of the *gahapati* see S. C. Bhattacharya, *Some Aspects of Indian Society*, Calcutta, 1978, pp. 131-132) of Pāṭaliputra had to earn his livelihood by profession of a shampooer in Ujjayini. This shows that in Pāṭaliputra region trade and commerce was on the decline. This tendency may be compared to the situations prevailing in the time of the down fall of the Gupta empire which led to the frequent wars and the rise of feudal states. It may also be noted that though, Buddhism was on the decline yet we find the allusion to its patronization by the ruling kings and princes in the *Mṛcchakaṭika* (II, p. 94). The Bhikṣus appear to have generally been respected. However, a certain prejudice prevailed against them among the upper classes (VII, p. 250). Trend of patronizing Buddhism had fairly become noticeable by the time of the later kings, such as Buddhagupta, Narasiṁhagupta Bālāditya and Vajra, of the imperial Gupta dynasty which might have served as an important factor to the decline of the Gupta rule. This fact becomes evident from the act of setting free to Mihirakula, the Hūṇa king, who was taken prisoner by Narasiṁhagupta Bālāditya, on the petition of her mother. This act of pity, as revealed in the travel-accounts of Hiuen-Tsiang, led the forces causing devastation to the rule of the late Gupta kings. (T. Watters, *On Yuan Chwang's Travel in India*, Delhi 1973 (second edition) pp. 288-289). Again we witness corresponding similarity between the rules laid down in the *Nārada-smṛti* on

like merchants, the flowers stand out like saleable articles and the wandering bees seem to be the men collecting the tolls. Here *śulka* seems to have been a tax to be realized from the traders in the market. The *Kāśikā*[42] of Vāmana and Jayāditya, a commentary on the *Aṣṭādhyāyī*, (6th-7th Century A.D.) explains that *śulka* is to be charged from traders in lieu of the safety granted to them by kings. Medhātithi[43] interprets *śulka* in general sense of duties to be obtained from merchants. Kullūka[44] (12th Cent. A.D.), commenting on Manu says that (the amount) which is to be realised on saleable articles from the land and sea trading merchants at proper place (custom-house) is *śulka*. According to Somadeva, the author of the *Yaśastilakacampū*[45] (10th Cent. A.D.), *śulka* was taken on all sorts of merchandise coming from distant territories and different corners of the country to the market city. The evidences of a nītiwork[46] of the same author, the *Gaṇitasārasaṅgraha*[47] of

---

'the plaint' (Ch. III) and in all essential features of the judicial trial described in the *Mṛcchakaṭika* (Act. IX), which has vary ably been brought out by J. Jolly (ed., F. Max Muller, *The Sacred Book of the East* (*SHE*), Vol. XXXIII, Part I, 1977, P. XVII). Thus, in view of the above characteristics date of composition of the *Mṛcchakaṭika* of Śūdraka may be assigned to the 5th-6th century A.D. However, this topic needs a separate consideration.

42. Ed. A. Sharma, Hyderabad, Vol. II, 5.1.47, 1713.

43. Medhātithi on *Manu*, VIII, 307.

44. Kullūka on *Manu*, VIII, 307.

45. Ed., and tr. by S.L. Sastri, Varanasi, 1971., Vol. II, VII. pp. 326-327.

46. *Nītivākyāmṛtam* of Somadeva Sūri. VIII, 11, p. 37, tr. by R. C. Malaviya, Varanasi, 1972.

47. Ed., A.N. Upadhye and H. L. Jain, J.S.S.S. Sholapur, 1963, VI. 160-133.

Mahāvīrācārya (850 A.C.) and the *Bījagaṇita*[48] of Bhāṣkarācārya (1150 A.D.) reveal that *śulka* was a tax to be imposed on merchants according to their merchandise in the market cities. The *Śukranīti*,[49] which contains some earlier tradition, says that *śulka* was a royal share to be taken from seller and buyer at the market places and streets. If the evidence of the *Purātanaprabandha-saṅgraha*,[50] that a son of minister asked his father to set free the detained persons, who were seen with some sort of articles on their heads and were mistaken for merchants by him, is to be believed, it may be taken to mean that *śulka* was realized from the retail traders. We also know some of miscellaneous duties (*śulka*) to be levied from merchants on their merchandise, such as *sāntheyaśulka*[51] (fair tolls). Thus, the pieces of literary evidence, shown above, tend to reveal that *śulka* may be taken to denote sales-tax on retail dealers and their merchandise.

Port-dues are also enumerated as *śulka*. The *Baudhāyana-dharmasūtra*[52] (500 B.C.—200 B.C.) speaks of *sāmudra-śulka* to be levied on incoming merchandise at the ports. In one verse Manu[53] tells us that the rules formulated regarding the ferry dues, to be charged at river sta-

---

48. Ed., V. G. Apte with *Navāṁkura commentary of* Kṛṣṇadaivajña, Poona, 1930, VII, 10, p. 122.

49. B. K. Sarkar, *op. cit.*, vv. 212-13, p. 147.

50. Ed., Jinvijaya Muni, Singhi Jain Series, No. 2, Calcutta, 1936, p. 103.

51. This aspect has been dealt with in detail by A. Appadorai in the *Economic conditions in Southern India* (1000—1500 A.D.), Vol. I, Madras, 1936, pp. 415 ff.

52. I. 10.15-16.

53. *Manu*, VIII, 406.

tions are not applicable to sea-faring merchants. Commenting on the *Manusmṛti,* Medhātithi[54] (9th Cent. A.D.), who wrote in Kashmir, says that since it is difficult to measure the distance on sea-voyage in absence of measuring points, therefore the fixation (of freight) is not easy. He further says that the time spent in journey, seasons (rainy, winter or summer), weather (fogs, storm, etc.), the depth of water sailing on, and the labour involved on the part of boatmen are the factors to be taken into consideration while estimating the sea freight.[55] Another commentator Kullūkabhaṭṭa,[56] who flourished in Bengal in the 12th century, states that in view of the above considerations, a reasonable amount should be levied on saleable articles *advalorem.* The *Vivādaratnākara*[57] of Caṇḍeśvara, a late text, charges the portage (*sāmudra-śulka*) on incoming merchandise from sea-side. The *Uttara Purāṇa*[58] of Guṇabhadra (9th Cent. A.D), a Jain text, refers to *śulka* as an item of revenue to be paid by the seafarming merchants. The evidence of the *Mānasollāsa*[59] (12th Cent. A.D.) of Someśvara, a king of Western Cālukya dynasty, reveals that *śulka* (portage) was to be imposed on ships arriving at the ports. The accounts of Abu-Zaid[60]

---

54. Medhātithi on *Manu,* VIII, 406.

55. *Loc. cit.*

56. Kullūkabhaṭṭa on *Manu,* 406.

57. Ed., Mm. K. Smṛtitīrtha, Asiatic Society of Calcutta, 1931, p. 305.

58. Ed., P.L. Jain, Varanasi, 1968, 60. 125-128.

59. Ed. G.K. Shrigondekar, G.O.S. No. 28, Baroda, Vol. I, vv. 374-76, p. 62.

60. See, P. Niyogi, *Contribution to the Economic History of Northern India* (From the Ninth to Twelfth Century A.D.), Calcutta, 1962, p. 146.

(916 A.C.), an Arab merchant, also furnishes the evidence of port-charges. He informs us that by his time the chinese ships coming at Quilon to collect waters and provision had to pay thousand *drammas* as duty, while others paid only from one *dīnāra* to ten *dīnāras*. This fact is attested to by the epigraphic evidence as well. The Motupalli record[61] refers to the *abhayaśāsana* granted to the merchants sailing on ships by the Kākatīya ruler Gaṇapatideva (1244-45 A.D.). Earlier to it the traders' merchandise were confiscated, in case their ships arrived at port owing to stormy whether or strong sea-breezes.[62]

References to *śulka* are also found in the inscriptions. The words *suṃgam, suṃkamu* and *ulgu* or *ulku* mentioned in South Indian inscriptions appear to be identical with *śulka*.[63] According to Parimelaḷagar[64] the word *suṃgam* means tax on saleable commodities carried in ships or carts. This would probably includes tolls and customs. No records of the Vākāṭaka, Pallava (except Hirahadgalli plate), Eastern Cālukya and Rāṣṭrakūṭa (except karada plate of Karka II, 973 A.D.) rulers supply us any information about *śulka*. The word *śulka* referred to in the Koha copper plate[65] of Jayantha (C. 493-496 A.D.) denotes the 'octroi duty'. The Anjaneri[66] records from Nasika distance in Maharashtra province, which has been assigned to 709-10 A.D., mentions that a concession was granted to the merchants from paying

61. *EI,* Vol. XII, p. 195.
62. *Ibid.* pp. 195 f.
63. T. V. Mahalingam, *South Indian Polity,* Madras, 1967 (Second edition), pp. 441, 444.
64. K.A.N. Sastri, *Op. cit.,* p. 331.
65. *E. I.* Vol. III, No. 17, p. 122, & 11.
66. *EI,* XXV, p. 237 ; V.V. Mirashi, *C. I. I.,* Vol. IV, Part I, No. 31, p. 151, le. 48; *ibid.,* No. 32, p. 158, 1.32.

*śulka.* V.V. Mirashi[67] takes it as 'octroi-duty'. It is also mentioned in the Kauthem plate[68] of Vikramāditya (1008 R.D.) and the Miraj plate[69] of Jagadekamalla (1024 A.D.), the kings of Western Chalukya dynasty, denoting the duties on ingress and egress of merchandise. Some Candella records[70] mention *śulka* along with other items of revenue, to denote the 'octroi-duty'. *Śulka* is also referred to in the epigraphs of the Cālukyas of Gujarat.[71] A Tamil inscription[72] from Thanjavur district, issued in the 5th regional year of Rajendra Cola III (1216—1279 A.D.) mentions that toll-tax (suṃgam) was levied on loads of merchandise. The term *vartill-ulku*[73] referred to in the Syrian plate[74] appears to be corrupt form of Sanskrit *vartani*, meaning a road-cess. In some of the Telugu records[75] word *āyaśulka* is mentioned along with other revenue terms. D.C. Sircar[76] takes both

67. V. V. Mirashi, *C. I. I.*, Vol. IV, Part I, p. 154.

68. *I. A.* (*Indian Antiquary*), Vol. XVI, p. 24.

69. *Ibid.*, Vol. VIII, p. 18.

70. *EI*, X, p. 99 cited by B.N.S. Yadava, *Society and Culture in Northern India in the Twelfth Century* (*SCNI*), Allahabad, 1973, p. 290.

71. Ghoshal, *HRS*, p. 256; *C. P. S. I.*, p. 158 ff. cited by B.N.S. Yadava, *Op. cit.*, p. 291.

72. Ed., B. K. Thapar, *Indian Archaeology: A Review*, Delhi (1979), published in 1974-75, No. 35, p. 58.

73. Cf. K.P. Velayudhan, "Trade Guilds and the character of State in Early South India", in *P. I. H. C.* (*Proceedings of the Indian History Congress*), 39th Session, Vol. I, Hyderabad, 1978, p. 202.

74. *P. I. H. C.* Vol. I, 1978, pp. 202-203.

75. D. C. Sircar, *Indian Epigraphy* (*I. E.*), Varanasi, 1965, p. 404.

76. *Loc. cit.*

*āya* and *śulka* to mean toll and custom. The use of the term *śulka* in the Kalegan record (1216 A.D.), of Yādava Mahādeva seems to be custom duties, according to Sircar.[77] The terms *anamubadi Saṃkamu* (tax on saleable articles), *ammu-kada-suṃkamu* (tax on shops), *Perrikeadla-suṃkamu* (tax to be levied on oxen loaded with sacks full of merchandise) are also referred to in the inscriptions of the Kākatīya rulers of the Telengana regions of South India.[78]

Thus *śulka* does not include octroi, excise and customs duties alone, it is a generic term denoting all kinds of taxes on transport, export, import, sales, for fixing the prices of saleable articles, for providing the safety on roads, and for upkeep of the roads through which merchandise were carried.[79] On the whole *śulka* amounts to an aggregate of revenue to be given on all kinds of commercial transactions.

*Reasons for levying tax*

The *Mahābhārata*[80] *and the Manusmṛti*[81] mention that the Kings impose tax on merchants for the services they had to render for the safety of the traders. The *Jātakamālā*[82] of of Āryaśūra, a text of the 4th century A.D., explains that the duty to be collected from vendors and buyers for provid-

---

77. *Ibid.*, p. 400.

78. Ed. G. Yazadani, *Dakana-kā-Prācīna Itihāsa* (tr. M. N. Singh and K.M. Srimali), New Delhi, 1977, p. 656.

79. Cf. D.C. Sircar, *Indian Epigraphical Glossary*, Varanasi, 1966, p. 327; D.R. Das, *Economic History of the Deccan*, Delhi, 1969, p. 69; D.N. Jha, *Op. cit.*, p. 76.

80. XII.71.10.

81. VIII, 307.

82. XXIII.67.

ing safety is *śulka*. The evidence of the *Kāśikā*[83] (6th-7th century) of Vāmana and Jayāditya, a commentary on the *Aṣṭādhyāyī* of Pāṇini, reveals that *śulka* was charged for protecting the merchants by the state. Medhātithi[84] (9th C.A.D.) emphasizes the point that *śulka* is to be assessed on merchandise after due considerations of expenses incurred on it in making the security arrangements against the plundering and molestation by the ruling princes, robbers and forest tribes while the caravans were passing through the forest regions. The *Śukranīti*[85] though a late text furnishes some idea of early medieval period and states that the king should enjoy the fruits of duty (*śulka*) for protecting all (the merchants) like a servant. From the pieces of evidence noticed above, it appears that the growing practice of plunder and molestation of the merchants, that became noticeable in the post-Gupta times had become a familiar phenomenon in the 9th and 10th centuries onwards. This fact is further supported by the other literary evidence of this period. Hiuen-Tsiang was twice relieved of his belongings.[86] The combined evidence of the *Samarāiccakahā*[87] (first half of the

---

83. Vol. II, 5.1.47|1713. The verse reads *vaṇijam rakṣā-nirveśo-rāja-bhāgaḥ*. I-tsing, a Chinese pilgrim who visited India in 671 A.D. has noticed in his travel-accounts that the *Kāśikā* was prescribed in the prospectus of Nalanda University. Therefore, its date can not be later than first half of the seventh century A.D. See. M. Winternitz, *A History of Indian Literature*, Vol. III, Part II, Varanasi, 1967, p. 433.

84. Medhātithi on Manu VII, 127. See also Vandyaghaṭīyam on *Amarakośa* II.8.27.

85. B. K. Sarkar, *op. cit.*, v. 259, p. 149.

86. S. Beal, *The Life of Hiuen-Tsiang* by Shaman *Hwui Li*, Delhi, 1973, pp. 60f., 73f., 86, 198ff.

87. Bombay, 1938, II, pp. 91ff.

8th C. A.D.) Haribhadra Sūri, the *Upamitibhava-prapañcakathā*[88] (905 A.D.) of Siddharṣi, the *Kathāsaritsāgara*[89] of Somadeva (11th C.A.D.) and the *Tṛṣaṣṭi-śalākāpuruṣa-carita*[90] of Hemacandra (12th C.A.D.) give an idea of the merchants' fear for robbers. The *Purātana-prabandha saṅgraha*[91] and the Nansi's *khyāt*[92] mention that prince Lakṣmaṇa of Naḍḍūla had robbed a caravan. The *Rājataraṅgiṇī*[93] of kalhaṇa (12th C.A.D.) refers to a robber chief who had become a scourage to wayfarers near Gaya (in Bihar). The *Vastupālacarita*[94] mentions a *māṇḍalika* chief, named Ghughul, who indulged himself in plundering the caravans. Though the fear from robbers and the forest tribes were found in the earlier times in varying degrees yet the fear of molestation and plunder by chiefs and rulers and insecurity on the high ways owing to frequent struggles and wars between them were the special phenomenon that emerged in the early medieval period in the wake of the feudal tendencies.[95] On the whole revenue realized through *śulka* may have been reduced to a considerable extent.

---

88. Ed., Peterson, Calcutta, 1899, p. 863.

89. *K.S.S.* VI.3.117 ; VII.2.75.

90. Tr., H. M. Jhonson, Vol. I, Gaekavada Oriental Series Nos. Ll (1931), p. 8.

91. D. Sharma, *Early Chauhan Dynasties,* Delhi, 1975, pp. 101-102 ; also see pp. 139ff.

92. Sharma, *Loc. cit.*

93. VII, 1009.

94. Yadava, *SCNI*, p. 272.

95. Cf. L. Gopal, *op. cit.*, pp. 101, 103 ; Yadava, *op. cit.*, pp. 271ff.

*Assessment of Śulka*

Regarding the controversies[96] among the commentators[97] of Manu, it can be said that these reflect, to a considerable extent, the change in socio-economic conditions in the particular time and region in which they flourished. Scholars like Derrett[98] and G. N. Jha[99] give the meaning of a verse of Manu[100] that the king should take 1/20 of the price of saleable articles that has been arrived at by men having experience of custom-house and expert in estimating the value of all kinds of merchandise. Thus, they take *śulka* to mean the duty on sale-price of the merchandise.

According to Kauṭilya[101] the price should be fixed by experts, after calculating the cost, rent, interest and other total investments, in case of commodities distant in place

96. D. N. Jha holds that the assessment of the duty, to be made on the basis of cost of commodities or on the profit derived therefrom has been a matter of great controversy among the commentators of Manu (idem, *Revenue System in Post-Maurya and Gupta Times*, Calcutta, 1967, p. 72). U. N. Ghoshal opines that this particular tax mentioned in the *Manu*- (VIII, 398) and *Yājñavalkyasmṛti* (II, 261) is an impost upon the net profit (idem, *HRS*, p. 116).

97. Medhātithi and Sarvajñanārāyaṇa assess the duty on cost of commodities while Govindarāja and Kullūkabhaṭṭa prescribe that *śulka* should be levied on profit gained by traders.

98. Ed., idem, *Bharuci's commentary on Manu*, VIII, 396/398.

99. Tr., idem, *The Laws of Manu with Bhāṣya of Medhātithi*, Vol. IV, Part II, Calcutta, VIII, 398, p. 419.

100. *Manusmṛti*, VIII, 398.

101. *Arthaśāstra*, 1.2.36.

and time. He further allows 5% profit on indigenous commodities and 10% on foreign, over and above the allowed purchase price (*anujñātakrayādupari*).[102] Here the allowed purchase price and fixed price in Kauṭilya's *Arthaśāstra* appear to be the same. The *Yājñavalkya-smṛti*[103] prescribes that the selling price should be fixed after adding profit to the total investment (including cost and all other expenditures) incurred on the saleable articles. Vijñāneśvara[104] (11th Cent. A.D.) a commentator of Yājñavalkya, says that on foreign merchandise a profit of 10% of the total investment should be given. Since Yājñavalkya and his commentators formulate no rule for fixing the prices of indigenous commodities not far distant in place and time and Manu and his commentators also do not clearly differentiate between the indigenous and foreign commodities while charging the *śulka*, this rule may be applied to fix the prices of indigenous commodities also after adding a profit of 5% on the total investment.[105] Though, Manu[106] speaks of several aspects to take into consideration while estimating the prices of commodities, yet he does not mention the rules for fixing the prices as clearly as

---

102. *Ibid.*, 4.2.28.

103. *Yājña*, II, 253.

104. *Mitākṣarā* of Vijñāneśvara, II, 253. The passage reads *deśāntarādāgate paṇye deśāntaragamanapratyāgamanabhāṇḍagrahaṇa śulkādisthāneṣu yāvānupayukto' rthastāvantamarthaṁ pariganya paṇyamūlyena saha meliyitvā yathā paṇaśate daśapaṇo lābhaḥ sampādyate tathā kretṛvikretroranugrahakāryargho rājñā sthāpanīyaḥ.*

105. *Ibid.*, II.252., *evam ca yathārgha nirūpite paṇaśate pañcapaṇo lābho bhavati, tathaivārgho rājñaḥ svadeśapaṇyaviṣaye sthāpanīyaḥ.*

106. *Manu*, VIII, 401.

Kauṭilya[107] and Yājñavalkya.[108] It is a well known fact that Manu was posterior to Kauṭilya and anterior to Yājñavalkya, therefore the same procedure, which we have noticed above, may have been in vogue in the time of the *Manusmṛti* also. In view of this if we follow the rendering of relevant verse of Manu by Derrett[109] and G.N. Jha,[110] we find that the merchants who carried trade in indigenous articles of above category were left with no margin of profit, instead they had to suffer the loss even on the total investment already incurred on saleable articles. On the contrary, if we assess the duty on cost price of saleable articles, they would have certainly been left with some margin of profit. Thus, in the light of above discussion, we can say that the basis of assessment of duty would probably have been the cost price of commodity but not the market price (i.e., sale-price).[111] It is further supported with a verse of the *Mitākṣarā*[112] (11th Cent. A.D.), a commentary on the *Yājñavalkya-smṛti*, written in South India. It states that for fixing the sale price (*argha*)[113] the king should realize 1/20 of the original value (*mūlyādviṃśatitamāṃśaṃ*)[114] of commodities. The testi-

107. *Arth.*, 4.2.36 and 4.2.28.

108. *Yājña*, II, 253.

109. *Op. cit.*, p. 206.

110. *Op. cit.*, p. 419.

111. Cf. D. N. Jha, *op. cit.*, p. 73.

112. *Mitākṣarā* of *Vijñāneśvara* II, 261.

113. It is estimated value (*iyataḥ paṇyasye yanmūlyam ityarghaḥ*, Vijñ. on Yājñ., II, 261) denoting cheapness or dearness of a commodity from its original value (*ibid.*, II, 249, *rājanirūpitārghasya hrāsam vṛddhiṁ-vā*). Also see M. Williams *A Sanskrit-English Dictionary*, Delhi, Reprinted (1976), p. 89.

114. *Mūlya* indicates the original price of a commodity. Cf. Vijñā, on *Yājñā* II, 253 (*paṇyamūlyena-saha-meliyitvā*) For its meaning also see M. Williams, *op. cit.*, p. 827.

mony of this fact is also attested to by the commentaries of Maskari[115] (11th Cent. A.D.) and Haradatta[116] (first quarter of the 12th Cent. A.D.) on the Gautam-*dharmasūtra*, composed in South India. They state that the king should charge as duty 1|20 of vendible articles, i.e., cost price (for making the basis of taxation). In India this practice was in vogue before the end of the 11th century A.D. but in the south the trend of this policy appears to have continued even afterwards.

So far the assessment on merchants' gain is concerned, it can be said that this policy was the outcome of the discrepancy that had crept into the policy of assessment on cost price owing to growing feudal tendencies which, for the first time, was noticed by Viśvarūpa,[117] a commentator of Yājñavalkya, (9th Century A.D.). Viewed in the same context he might have formulated a new policy that duties should be realized on sold articles *(vikrītānāṃ)* from vendors and buyers, both which is manifested in its complete form (present form) in the works of Govindarāja[118] (last quarter of the 11th Cent. A.D.) and Kullūka[119] (12th A.D.), the commentators of Manu. This practice had acquired a prevalence in South India in all probability earlier than the second half of the 12th Century. The *Vivādaratnākara*[120] of Caṇḍeśvara (14th Cent. A.D.), commenting on the *Viṣṇu-smṛti*, says that duties should be

115. Quoted in the Vyavahārakāṇḍa of the *Dharmakośa*, Vol. II, ed. by Laxman Shastri, Satara (India), 1938, p. 1662.

116. *Gautam-Mitākṣarā* of Haradatta, X, 26-29.

117. On *Yājñ.*, II, 266.

118. On *Manu*, VIII, 398.

119. On *Manu*, VIII, 398.

120. *Op. cit.*, p. 304.

assessed on the profit earned by merchants after payment of all the dues on commercial transactions. Thus, the practice of assessing the duty on profit, the traces of which may be found at least a few centuries earlier, had gained a momentum in the 11th and 12th centuries and onwards.

The change in the policy of assessment appears to have been brought about in some definite politico-economic context. The arbitrary[121] and excessive[122] imposition of *śulka* on mercantile communities by local ruling chiefs and the *sāmantas* and consequently the growing tendency of tax-

---

121. R. S. Sharma, *Bhārtīya Sāmantavāda,* Delhi, 1973, pp. 53, 54, 123; idem, *Indian Feudalism,* Calcutta, 1965, pp. 52, 53. 119-20. Yadava, *SCNI* (*Society and Culture....*), pp. 299, 301: *The Indian Historical Review* (*IHR*), Vol. I, No. 1, 1974, p. 24; A. K. Majumdar, *Chalukyas of Gujarat,* Bombay, 1956, p. 251; D. D. Kosambi, *An Introduction to the study of Indian History.* Bombay, 1975 (second edition), pp. 310, 362; *Journal of the Oriental Institute,* Vol. XXIX, No. 1-2 (Sept. Dec.) 1979, p. 83: *Rājataraṅgiṇī* of Kalhaṇa, VIII, 2010; *Viṣṇu-Purāṇa* (Sanātana-śāstram), Calcutta, B. S. 1372, VI, 1, 34-35: *Puṇyāśrava Kathā-kośa* of Sri Rāmacandra Mumukṣu, ed. by A. N. Upadhye and H. L. Jain, Sholapur, 1964, p. 63.

122. *Rhythm of History* (Journal of Rajasthan University) Jaipur, 1976-77, p. 55. *Viṣṇu-Purāṇa,* VII, 1, 34-35; *Puṇyāśrava-kathā-kośa,* p. 63; *Kathā-Sarit-Sāgara,* VI.3.105; cf. R. S. Sharma, *op. cit.,* p. 129; idem, *Indian Feudalism,* pp. 125-126, Yadava, *SCNI,* p. 298; A. K. Majumdar, *op. cit.,* p. 362; Kosambi, *op. cit.,* p. 362; P. Niyogi, *Contribution to the Economic History of Northern India,* (900-1200 A.D.), Calcutta, 1962, pp. 196, 220-221; *Nītivākyāmṛtam* of Somadeva Sūri, VIII, 11.

evasion[123] by merchants must have hampered the trade and commerce in particular. Most probably in order to check the local lords and the *sāmantas* from becoming a powerful rival by amassing the riches on the one hand and to minimise the uncertainity of revenue which is to be obtained from the merchants on the other, the kings might have shifted the basis of assessment of taxation from cost price to profit. This appears to have been connected with the revival of trade and commerce.

The most striking aspect of *śulka,* is the percentage to be assessed on saleable articles in the different periods. Kauṭilya[124] recommends 20% of the merchandise while Manu[125] and Yājñavalkya[126] prescribe 5% of the cost of commodities. The injunctions laid down by Manu and Yājñavalkya were probably followed in practice up to the 10th century A.D. *Govindarāja*[127] (in the end of 11th C. A.D.) and Kullūka[128] (12th C. A.D.), the commentators of Manu, mention that a tax of 5% of the profit should be realised from merchants. Some of scholars,[129] being baffled by the data shown above, hold that a 'draconic measure'

---

123. *Puṇyāśrava-kathā-kośa,* p. 63, *Viṣṇupurāṇa* VII. 1, 34-35; *Uttara-Purāṇa,* 60.125-28.

124. *Arth.,* 2.22.1-2.

125. *Manu,* VIII, 398.

126. *Yājñ.* II, 261.

127. Govindarāja on Manu VIII, 398.

128. Kullūka on Manu VIII, 398.

129. D. D. Kosambi, "Indian Feudal Trade Charters", *Journal of the Economic and Social History of Orient,* Vol. II, p. 292, A. N. Bose, *Social and Rural Economy of Northern India,* Vol. II, Calcutta, 1967, p. 90.

had been enforced to realize the tax in the time of the author of the *Arthaśāstra*.

The pieces of evidence, noticed above, reflect the changing socio-economic situations. The profit ultimately gained by merchants would be the determining factor as regards the nature of the taxation. We have noticed earlier that Kauṭilya[130] allows 5% profit on indigenous and 10% on foreign articles. On the contrary Manu[131] and Yājñavalkya[132] leave a profit of only about 1% on indigenous and 6% on foreign merchandise to the traders. We. again, witness a change in the 11th and 12th centuries. Govindarāja[133] (end of the 11th C. A.D.) and Kullūkabhaṭṭa[134] (12th A.D.) assess the duty on the profit of the merchants and thus they allow about 4.75% profit on indigenous and 9.5% on foreign commodities. The *Vivādaratnākara*,[135] a late text, also allows the same percentage to the traders transacting in indigenous and foreign articles.

In fact, the data pertaining to different times give the reflection of increase and decrease of volume in commercial activities of the periods which they belong. As we know, in ancient India, for the first time, the stable political unity was brought about by Candragupta Maurya in the 4th century B.C., by founding an empire, practically, comprising the whole of India, some regions of modern Pakistan and Afganistan, leaving the far south regions of Indian

130. *Arth.*, 4.2.28.

131. See supra.

132. See supra.

133. See supra.

134. See supra.

135. See supra.

peninsula. Kauṭilya who composed the *Arthaśāstra,* is generally regarded as the prime-minister of great Candragupta Maurya. It is more likely that in such a state of affairs, Kauṭilya would have thought to bring forth a permanent and longer stability to the Mauryan rule, which was not possible without a strong state economy, one of the most important constituents of the state, as described in the *Arthaśāstra.* Trade and commerce is an essential feature of economic life. Therefore, it appears that in order to tempt the merchants community to participate more and more in commercial activities, he would have become liberal towards merchants. No doubt, consequently the merchants and traders had increasingly started participating in trade activities which might have reached the culmination by the time of Manu and Yājñavalkya (between 2nd C. B.C. and 2nd C. A.D.).

A number of pieces of evidence, both, indigenous as well as foreign, reveal that the period 200 B.C.–200 A.D., in which Manu and Yājñavalkya flourished, is known for its brisk trade.[136] The accounts of Strabo[137] (2nd C. B.C.), Eudoxous[138] (the end of 2nd C. B.C.), Periplus[139] (Ist C.

---

136. See, O. P. Srivastava, "Slave Trade in Ancient and Early Medieval India" published in *P.I.H.C.*, Vol. I, (39th session), Hyderabad, 1978, p. 124.

137. *Geographia,* XIV, 5-2, vide 'Mob voilence in the late Roman Republic', Heaton, p. 12.

138. *Ibid.,* II.5.12 quoted by H. P. Chakraborty, *Trade and Commerce of Ancient India,* (C. 200 B.C.–C. 650 A.D.), Calcutta, 1967, p. 185.

139. Ed., Schoff, *periplus of the Erythrean sea,* New Delhi, 1974, Nos. 31, 34, 35, 36, 48, 49.

A.D.) and Athenaus[140] (Ist C. A.D.) also show that India witnessed a vigorous increase in trade and commerce during this period. It was the time when Pliny[141] (Ist C. A.D.) had made a complaint against the heavy drainage of Roman money for the Indian merchandise of luxury. This fact is attested to by the discovery of Roman imperial coins in South India in the early centuries of Christian era.[142] North India which was ruled by the Kuṣāṇas, perhaps, would have been provided with some of the metal for issuing the gold coins. The excavation at Arikamedu[143] near Pondicherri in Madras further strengthens this view. In such a state of increased commercial activities, had the mercantile community been allowed the same percentage of profit what Kauṭilya had allowed (5% on indigenous and 10% on foreign articles), the merchants would have become the main gainers and the king's share would have been, more or less, the same (that was obtained in the time of Kauṭilya). Under these circumstances, there was every possibility of the emergence of the wealthy merchants becoming rivals of the then rulers by amassing the riches. Viewed in this context, it seems that Manu and Yājñavalkya would not have become so liberal in their policy of taxation as Kauṭilya was. Thus, we find that the merchants in the

---

140. *Athenaus Diepnosophisto*, IV, 4, 6 and V, 2, 39; Cf. *Rawlinson, Intercourse between India and the Western World, Cambridge*, 1969, p. 93.

141. *Hist. Nature*, VI, 23 as cited by K. V. R. Aiyangar, *Aspects of Ancient India Economic Thought*, Varanasi, 1965, p. 87, fn. 1.

142. Vidya Prakash, *Coinage of South India, Varanasi*, 1968, pp. 20-23, C.J. Brown, *The Coins of India*, Delhi, 1973, p. 58; P.L. Gupta, *Coins, New Delhi*, 1979 (Ssecond revised edition), p. 49.

143. *Ancient India* No. 2, p. 18 ff.

times of Manu and Yājñavalkya had to bear the more burden of taxation than those in the time of Kauṭilya.

About the conditions of later dates nothing can be said with precision. Since Nārada (100 A.D.—300 A.D.), Bṛhaspati (200 A.D.—500 A.D.), Viṣṇu (3000 A.D.—600 A.D.) and Parāśara (600 A.D.—900 A.D.) speak nothing of the profit, which is to be given to traders, we therefore, have to take into consideration the other factors responsible to determine the tendencies of trade and commerce in the Gupta and the post-Gupta times. The decline of cities,[144] as revealed from archaeological and literary evidence, scarcity of coins,[145] declining state of guilds,[146] Chino-Tibetan rivalary to occupy the Central Asian route,[147] down fall of the Gupta empire leading to frequent struggles

---

144. Y. D. Sharma, "Exploration of Historical Sites", *Ancient India* No. 9, 1953, pp. 116-69; R.S. Sharma, "Decay of Gangetic Towns", *Proceedings of the* I. H.C., 33rd session, Muzaffarpur, 1972; idem, *Journal of Indian History, Golden* Jubilee volume, 1973, pp. 135 ff.

145. R.S. Sharma, *Op. cit.*, pp. 91, 157: idem *Indian Feudalism*, pp. 87-88, 132.53 Yadava, *Op. cit.*, p. 275; B.D. Chattopadhyaya, *Coin and Currency System in South India*, New Delhi, 1977, Chapt. VII, V. Prakash. *Op. cit*. Chap. III ; *ibid.*, pp. 52, 77, 93; R.S. Sharma, *Op. cit.*, pp. 91, 157 ; A.S. Altekar *The Rāṣṭrakūṭas* and *Their Times*, Poona, 1967 (second revised edition), 364; *Rhythm of History*, pp. 59-60.

146. Yadava, *SCNI*, p. 273; *Rhythm of History*, p. 55 ; L. Gopal, *Op. cit.*, pp. 81 ff, For the absence seals of guilds see K. K. Thaplyal. *Studies in Ancient Indian Seals*, Lucknow, 1972 ; *Journal of Indian History, Golden Jubilee* Volume (1973). p. 277; D.C. Sircar, *EI*, Vol. XXXVIII, No. 31, pp. 184 ff.

147. L. Gopal, *Op. cit.* pp. 106-107.

and wars by feudal lords and their *sāmantas*,[148] the growing relation of domination and sub-ordination between feudal lords and the people living in their territories,[149] increased character of *viṣṭi*[150] and the developing tendency towards natural economy[151] characterized by local and closed agrarian set-up, indicate that the commercial activity was on the decline. The decline of Roman empire[152] and the Persian rivalary with Byzantine empire[153] and the Hūṇa invasion of India[154] added an empetus to the declining tendency of trade and commerce which lasted till its revival by the 10th and 12th centuries.

Again we witness the increase in the rate of profit, ultimately to be earned by the merchants in the 10th and 12th centuries than in the Gupta and post-Gupta times. This change reflects the trend of increase in trade and commerce which appears to be a natural sequel to the rising urban economy. The declining state of economy characterized by local and closed agrarian set-up, was incapable of serving the growing needs of feudal chiefs and their

---

148. *Ibid.*, pp. 102-103, U. N. Roy, *Gupta Samrāṭa aur Unkā Kāla*, Allahabad, 1976, Ch. XIV.

149. B.N.S. Yadava's Presidential Address, entitled "The problem of the emergence of Feudal Relations in Early India" section I of the 41st Session of *I.H.C.* Bombay, 1980, pp. 6 ff.

150. *Ibid.*, pp. 32 ff; G.K. Rai, "*Forced Labour in Ancient and Early Medieval India*", *I. H. R.*, Vol. III, No. 1, July 1976, pp. 28-35, 41.

151. R.S. Sharma, *Op. cit.*, Chapts. I and III; idem, *Indian Feudalism*, Chapts. I & III; Yadava, *SCNI*, pp. 250 ff.

152. *Rhythm of History*, p. 57.

153. S. K. Maity, *The Economic Life of Northern India in the* Gupta period, Varanasi, 1970, p. 181.

154. U. N. Roy, *Op. cit.*, pp. 354 ff.

*sāmantas* in equipping them with up-to-date war weapons and paraphernalia[155] such as Persian swords, Arabic, Persian horses etc., the growing demands for luxury articles for pleasures[156] and the uncertainity of revenue owing to growing high handedness of subordinate rulers[157] might have compelled the ruling kings to think in terms of improving their resources in general and trade and commerce in particular. To achieve this end, it would have been found necessary that duties should be levied as such so that the merchants even after making the payment of all dues, may be able to gain a higher percentage of profit than that of the preceding centuries. This befitting policy of assessment must have given a fillip to trade activities during the second phase of early medieval period (10th—12th century). This view is supported by the other developing tendencies of economic life of this period. That, the arrival of Arab merchants and their active participation in foreign as well as indigenous trade,[158] the revival of coinage[159] system due

---

155. The paucity of horses attracted the attention of foreign observers and traders at all times. See, *The Age of Imperial Kanauj*, ed., R.C. Majumdar, Bombay, 1955, pp. 403 f ; ed. idem. *The struggle for Empire,* Bombay, 1957, p. 523; *EI,* Vol. I. pp. 184 ff : Vijñā. on Yājñavalkya, II.30, *hedāvukā* (horse-dealer), etc.

156. *Proceedings of I. H. C.* 39th Session, Vol. I, pp. 126 ff ; Yadava, *SCNI,* Chap. VII.

157. See Supra.

158. *P. I. H. C.,* 39th Session, Vol. I, pp. 125, 279-284.

159. L. Gopal, *Op. Cit,* Chap. IX; B.D. Chattopadhyaya, *Op. cit.,* Ch. VIII; L. *Gopal, Early Medieval Coin Type of Northern India,* Varanasi, 1966 ; Yadava, *SCNI,* pp. 282-283; R. S. Sharma, *Op. cit.,* pp. 262 ff ; idem, *Indian Feudalism,* Calcutta, 1965, pp. 255 ff.

to invasion of Mahmūd Ghazanavī (997 A.D.—1030 A.D.) which brought out money and jewels hoarded in temples, in circulation, and the growth of cities and urban centres[160] provided a suitable environment to the rising trend of urban economy, especially trade and commerce as well as industry in the 11th and 12th centuries.

*Payment of śulka*

It is well known that cash and kind were two types of payment of duties. The payment in cash on a large scale is not possible in absence of a stable currency system. The estimation of cost and sale price of commodities by Kauṭilya,[161] Manu[162] and Yājñavalkya[163] and the assessment of profit in percentage by Kauṭilya[164] and Yājñavalkya,[165] as noticed above, clearly shows that in their times (4th C. B.C.—2nd C. A.D.) the tax was largely realized in cash. This form of payment indicates that there was a well estab-

160. B.N.S. Yadava, *Op. cit.*, pp. 240 ff., 275 ff. In South India also, as noticed by B. Stein, there was a rise of towns during the 12th century (idem, *Peasant State and Society in Medieval South India*. New Delhi, 1980, pp. 250-251). The evidence quoted by him (ibid., p. 249) suggests that this tendency, in all probability, must have been in vogue during the 11th century. K.R. Hall is also of the view that the process of expansion of trade and towns started in 10th and 11th centuries under the Cola Kings (idem, *Trade and state craft in the Age of Colas*, New Delhi, 1980, pp. 162 f.)

161. Supra.

162. Supra.

163. Supra.

164. *Arth.*, 4.2.28.

165. *Yājñ.* II, 252.

lished coinage system. This argument is supported by the literary as well as numismatic evidence. The *Jātakas*,[166] mention the prices of a pair of oxen, dog and fish, in coined money. From the findings of a large number of 'Punch-marked coins of different metals[167] and the coins of Indo-Greek,[168] Kuṣāṇa[169] and Sātavāhana[170] rulers it is evident that the period ranging between 4th century B.C. and 2nd century A.D. witnessed a fairly good currency system, through which most of the commercial transactions were made. Besides, a good number of Roman coins, *denarius*, were also seen serving the needs of Indian market, especially in South as the medium of exchange in the early centuries of the Christian era.[171] It was a time when India was not only enriched with coins of different types and metals but also witnessed a brisk trade with western world.

Nārada (100—300 A.D.) speaks nothing of the mode of assessment of *śulka*, price and profit. Bṛhaspati[172] (200 A.D.—500 A.D.) says that traders should give 1/20 from vendible article as *śulka*. From this peace of evidence it appears that tax was collected in kind. Similar idea is

166. *Jātakas* II, pp. 247, 305-6, 424-425; VI, p. 343.

167. P. L. Gupta, *Op. cit.*, Chap. II; C.J. Brown, *Op. cit.* Chap I.

168. P. L. Gupta, *Ibid.*, Chap. III, C.J. Brown, *ibid.*, Chap. II; A. Cunningham, *Coins of Alexander's Successors in the East*, Delhi, 1970, pp. 258 ff.

169. Gupta, *Op. cit.*, Chap. IV; Brown, *Op. cit.*, Chap. III.

170. P.L. Gupta, *ibid.*, Chap. V; V. Prakash, *Op. cit.* pp. 7 ff.

171 V. Prakash, *ibid.*, pp. 21 ff.

172. Ed., B. Bhattacharya, G.O.S. No. LXXXV, Baroda, 1941, VI, 6 (*Āpaddharma* section).

found in the *Viṣṇusmṛti*[173] (300 A.D.—600 A.D.). It is mentioned in this law book that the king should levy as duty 1/10 of indigenous and 1/20 of foreign articles. Medhātithi[174] (9th C. A.D.), a commentator of Manu, explaining the use of valuation of commodities says that in case of a few articles, such as cloth pieces, it would not be possible to realize the duty without tearing each piece and hence valuation would become necessary. This piece of evidence clearly indicates that duty was largely paid in kind, however, the payment in cash was not unknown. In view of the above reference to mode of payment, it can be inferred that *śulka* was largely collected in kind, from the late Gupta times to the first phase of early medieval period (8th C. A.D.—10th C. A.D.). It is also evidenced by the literary[175] and epigraphica[176] data pertaining to the period. In the *Yavana-jātaka* of Sphujidhvaja, composed in A.D. 269/270, a work on horoscopy, we find the prediction of rules for the gain of coins, but Varāhamihira (6th—7th C. A.D.), who wrote three books (the *Bṛhatsaṃhitā*, *Bṛhajjātaka* and *Laghu-jātaka*) on horoscopy formulates no rule regarding it.[177] This certainly reflects the decreasing significance of coinage in economic life in the time of Varāhamihira.[178] The *Devī-Purāṇa*,[179] which was composed in the 9th century A.D. in Bengal, alludes to the scarcity of coins

173. III, 29-30.

174. Medhātithi on *Manu*, VIII 398.

175. Supra.

176. Supra.

177. B.N.S., Yadava, "The Problem of the Emergence of Feudal Relations in Early India," p. 54.

178. Cf. Yadava, *Loc. cit.*, p. 54.

179. Critical edition by P.K. Sharma, New Delhi 1976, 72.96 vide Yadava, *ibid.*, p. 28.

by referring to the exchange of vendible articles (*paṇya*) in kind, that were brought into the fortified city from outside. The numismatic evidences reveal that, after the down-fall of the Gupta empire there was a paucity of coins, especially gold.[180] The tradition of the gold coinage was revised by the Kalacuri king Gāṅgeyadeva (1019—1040 A.D.) after a long gap.[181] Silver coins were also rarely issued during this period.[182] The records of the period 500 A.D. to 900 A.D., mentioning the payment of *śulka* in cash are much less in number than those to the subsequent period. Thus the weak currency system characterized by payment of duties in kind bears the testimony of declining state of commercial activities which lasted till its revival in the 11th and 12th centuries.

The references to payment of *śulka* in cash can be traced in the commentaries[183] of the *Manusmṛti* and the *Gautamadharmasūtra*, composed in the second phase of early medieval period (11th and 12th Cent. A.D.). We have also noticed earlier that in India during the 11th and 12th centuries, the 'profit based policy' of assessment of *śulka* was in vogue.[184] Money appears to have begun to play a significant role in the payment of *śulka*. The literary[185]

180. SCNI, p. 275, R.S. Sharma, *Indian Feudalism,* pp. 129 ff.

181. L. Gopal, *Op. cit.,* p. 183; idem, *Early Medieval* Coin...., pp. 36, 72; Yadava, *SCNI,* p. 282, R.S. Sharma, *Op. cit.,* pp. 235, 262 ff ; idem, *Indian Feudalism.* pp. 256 ff, 261-262.

182. *SCNI,* pp. 275, 282.

183. Supra.

184. Supra.

185. R.S. Sharma, *Op. cit.* pp. 256, 265; idem, *Indian Feudalism,* pp. 250, 258; Yadava, *SCNI,* pp. 294-295; L. Gopal, *ELNI.* Chap. IX; also See Supra.

and inscriptional evidences[186] also confirm this. The issuing of gold, silver and copper coins in abundance by the rulers of the Kalacuri, Gāhaḍavāla Candella, Parmāra, Cāhmāna, Cālukya of Gujarat, Western Cālukya, Cola, Pāṇḍya and Kākatīya dynasties[187] which flourished in the 11th—12th Century, further strengthens this view that payment of *śulka* in cash may have witnessed an increase in this period.

---

186. *EI,* III,. pp. 56-57, 296-97; VII, pp. 131-32; IX, p. 63, fn. 8; I, p. 97; XIII, p. 26;, XII, p. 120 XLI, p. 203; Yadava, *SCNI*, pp. 290 ff; L. Gopal, *Op. cit.*, Chap. IX; etc.

187. L. Gopal, *op. cit.*, Chap. IX ; idem, *Early Medieval Coin ;* B. D. Chattopadhyaya, *op. cit.*, Chap. VIII ; V. Prakash, *op. cit.*, Chaps. IV, V and VI ; *SCNI*, pp. 282 f.

# A STUDY OF MANTRAS CITED IN PIṆḌAPITṚ-YAJÑA

VIJAY KUMAR SHARMA

*Hoshiarpur*

In Vedic times, the *Pitaraḥ* were regarded as powerful as the gods and hence bestower of the material bliss. In *Piṇḍapitṛ-Yajña* rice-balls, cooked upon the Southern fire, are offered by the *Yajamāna* to the *Pitaras* with certain mantras for attaining house to dwell (*VS.* II.32.14 ; *Ś. Br.* 2.42.24) and for progeny (*VS.* II.33 ; *K. Ś. S.* 4.1.22).

In the Vedic ritual mantras have an unique place and they mostly, if not always, accompany a ritual action. In other words it can be stated that it is the mantras that make a person understand the ritualistic-actions. It is also the mantras through which the performer worships the gods and manes and seeks their help to get his varied ambitions fulfilled. The mantras always do not aim at fulfilling the ambitions. They are helpful in carrying on the ritual performance also. Keeping their importance in view a meek attempt has been made here to study the mantras cited in the *Piṇḍapitṛ-Yajña,* which aims at paying homage to the *pitṛs*. Offering of rice balls to the manes is the main feature of this rite. It is interesting to note that the rituals of this rite are related to the *'South'*. For instance, the rice for preparing the balls are cooked upon the *Southern fire* and all other acts pertaining to the rite are performed having mouth towards the *Southern direction*. *Vājasaneyi Saṃhitā* (*VS*), *Śatapatha Brāhmaṇa*

(*Ś. Br.*) and *Kātyāyana Śrauta Sūtra* (*K. Ś. S.*), have been taken as the basis of the present study of mantras. The description of the rite occurs in the *Ś. Br.* II.4.2. and in *K. Ś. S.* 4.1. ; and the mantras, to be used in the rite, are found in the second chapter of *VS*.

The mantras cited in *Piṇḍapitṛ-Yajña* are found scattered in the following six kaṇḍikās (*VS*.2.29 to 2.34):

अ॒ग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय॒ स्वाहा (1) सोमा॑य पितृ॒मते॒ स्वाहा॑ (2) ।
अप॑हता॒ असु॒रा रक्षा॑ꣳसि वेदि॒षदः (3) VS. II. 29
ये रूपाणि॑ प्रतिमुञ्चमा॑ना॒ असु॑रा॒ सन्तः॑ स्व॒धया॒ चर॑न्ति ।
प॒रा॒पुरो॑ नि॒पुरो॒ ये भर॑न्त्यग्निष्टाँल्लो॒कात्प्रणु॑दात्य॒स्मात् ॥ (4) VS II.(30)
अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्वम् (5) ।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत (6) VS II 31
नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य (7) नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ (8) नमो॑ वः पितरो जी॒वाय॒ (९) नमो॑ वः पितरः स्व॒धायै॒ (10) नमो॑ वः पितरो घो॒राय॒ (11) नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ (12) नमो॑ वः पित॑रः पित॑रो॒ नमो॑ वो (13) गृहान्नः पितरो दत्त स॒तो व॑ः पितरो देष्मै (14) तद्व॑ः पितरो॒ वास॒ऽआध॑त्त । (15) VS II. 32
आध॑त्त पितरो॒ गर्भं॑ कुमा॒रं पुष्क॑रस्रजम् । यथे॒ह पुरु॒षोऽस॑त् (16) VS II. 33
ऊर्जं॒ वह॑न्तीरमृतं॑ घृतं पयः॑ की॒लालं॑ परि॒स्रु॒तम् ।
स्व॒धा स्थ॑ त॒र्पय॑त मे पि॒तॄन् (17) VS II 34 ॥

*Ś. Br.* uses mantras from only four kaṇḍikās i. e. *VS*. 2.29, 30, 31 and 32. In the *K.Ś.S.* mantras from all the above stated kaṇḍikās have been used and thus the *Śrauta Sūtra* uses two more kaṇḍikās than *Ś. Br.* The use of more mantras in the sūtra period itself says the story of growing complication of rituals requiring more and more mantras.

*Gods and Metres* : The total number of mantras in these kaṇḍikās is seventeen, but many of them have some common things among them. For example, the *ṛṣi* of all the mantras, according to *Sarvānukramaṇī* of Kātyāyana, is *Prajāpati*. But, the devatās are found as differing in many mantras. *'Deva'* is the god of first two mantras in *VS* II.29. The god of third mantra in this kaṇḍikā is *'asura'*. *Kavyavāhana* (Agni) is the god of sole mantra in *VS*. II.30. The god of mantras in II.31, 8th and 9th mantras in II.32 and mantras in II.33 is the common one i. e. *'Pitara'*. *'Āpa'* is the god of the mantra in II.34. The *Sarvānukramaṇī* of Kātyāyana has shown the metre of the mantras as follows :

*VS* II.30—Triṣṭup ; *VS* II.33—Gāyatrī ;

*VS* II.34—Virāṭ.

*Ritualistic Study* : What is greatly needed is the study of mantras from ritualistic and sociological view points. *VS*. *Ś.Br*. & *KŚS*. all the three texts are ritualistic in their nature, therefore it seems to be essential to study the mantras from the point of ritualistic in their nature, therefore it seems to be essential to study the mantras from the point of ritualistic view. All the seventeen mantras will be discussed here ritualistically. The Sāra-rice are cooked and with the first two mantras are offered as homa (*KŚS*. 4.1.6). The third mantra is used to draw a line towards the southern direction (*KSS*. 4.1.7). With the fourth mantra a burning brand is placed beyond the line (*KŚS*. 4.1.8), *dakṣiṇataḥ*> comm.). Uttering the fifth (with accentuation) *Adharyu* sits down facing to the north and restrains his breath (*KŚS*. 4.1.13). Then he gives up the breath and having turned towards the rice-balls he utters the sixth mantra (*KŚS*. 4.1.14). With the next seven mantras he folds his hands to pay the homage to the Pitaras (*KŚS*. 4.1.15). With the 14th and 15th, res-

pectively, the *yajamāna* looks towards his wife and places the woolen thread or hair from his chest upon the rice balls. With the 15th the wife of the *yajamāna* consumes middle rice-ball (*KŚS*. 4.1.22). With the last mantra the water is sprinked upon the balls (*KŚS*. 4.1.19).

*Sociological Study* :'Kavya' means an oblation of food to deceased ancestors and Agni was regarded as a 'dūta' carrying the oblations to the gods or manes (cf. *Agnireva devānnām dūta āsa, Ś.Br*. 3.5.1.21). That is why in the first mantra '*Kavyavāhana*' has been stated for the fire which takes the oblations to the manes. From the mantra the faith of the Vedic people upon the manes is very clear. The people did not like the suras i.e. the bad spirits. These Asuras were away by the Agni (*VS. II*. 30, *Ś. Br*. 2.4.2.15). The Agni was regarded as the protector from the Asuras. As the gods were always taken to be powerful than men, similarly the Vedic people regarded the *pitaras* as powerful. They were regarded powerful more than a bull (5th and 6th mantra in II.31). Even the six seasons have been connected to the *Pitras* (cf. mantras 7 to 13 in *VS*.II.32). They were also treated as the living beings. The *yajamāna* used to place woolen threads upon the *piṇḍas* (mantra 15 in *VS*. II.32 ; *KŚS*. 4.1.16), with the thinking that he was providing them clothes to wear. The ritual shows the respect towards the ancestors. They were also thought to be feeling thirst as the men feel. They were satisfied by giving them water also (mantra 17 in *VS*. II.34 ; *KŚS*. 4.1.19). Not only this, these very mantras show that the *Pitaras* were thought in no way less than the gods. They were worshipped as the giver of various things.

The *yajamāna* begs from them house to dwell (mantra 14 in *VS*. II.32; *Ś.Br*. 2.4.2.24). Moreover, the Vedic people used to think that they could get best possible pro-

genies by the good-will of the beneficient *pitaras* And the recitation of "*ādhatta pitaro*' etc. (*VS.* II.33; *KŚS.* 4.1.22) is itself motivated with the desire for a son. The wife of the *yajamāna,* if desired for a son, used to consume the middle one rice-ball reciting this versa. Thus the mantras used in *Piṇḍapitṛ-Yajña* are not only important from the ritualistic view point but they place before us the valuable thinking and ways of the Vedic society.

# SOME EVOLUTIONARY ASPECTS OF VĀKYABHEDA

DR. S. G. MOGHE

*Bombay*

Traces out the evolution of Vākyabheda, a Mīmāṃsā technical term, in the light of different branches of Sanskrit learning.

Vākyabheda is a highly technical term in the Pūrva-Mīmāṃsā literature. It is generally translated as 'Diversity of statements' or 'Split in a sentence', or as 'double assertion'.[1] When in a single sentence, the two injunctions or vidhis are laid down, then this fault of Vākyabheda arises. It is important to note here that the Mīmāṃsakas look upon Vākyabheda as a serious fault and try to avoid it by resorting to several measures.

In this paper, therefore, an attempt is made to bring to light some evolutionary aspects of this highly technical term in the light of the several disciplines of Sanskrit learning. Roughly speaking the evolution is traced from 500 B.C. to 20th century A.D. It will not be out of place if it is casually remarked here that the authorities quoted here are only illustrative and the dates for the authorities are generally taken from Mm. Dr. P. V. Kane's *History of Dharma Sāstra* and Prof. K. V. Abhyankar's Prastāvanā Khaṇḍa of the Mahābhāṣya unless otherwise mentioned.

The survey of the grammatical works would be interesting in tracing the evolution of this highly technical term.[2] At the very ouset, it may be remarked that the term 'Vākya-

1. P. M. Modi—Translation of *Siddhānta-Bindu*—p. 109.

2. S. D. Joshi and J.A.F. Roodbergen-Vyākaraṇa-Mahābhāṣya-Tatpuruṣāhnika-Introduction, p. xix.

bheda' is conspicuous by its absence in Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī*. However, it must be pointed out here that Patañjali (150 B.C.) has used the principle of Yoga-Vibhāga to justify the formation of some of the words in interpreting the sūtras of Pāṇini. Yoga-Vibhāga-actually means the division of the sūtra or breaking up of the Sūtra. The term Yoga-Vibhāga comes very near to the principle of Vākyabheda employed by the Mīmāṃsakas. The use of the principle of Yoga-Vibhāga is treated as a very unhappy measure by the grammarians. Even Kaiyaṭa (1100 A.D.) has come to look upon the vārtikas of Kātyāyana (300 B.C. to 200 B.C.) as serving the purpose of Yoga-Vibhāga. It is interesting to remember here that though Prof. K.V. Abhyankar has pointed out in his '*Dictionary of Sanskrit Grammar*'[3] the use of Vākyabheda as a serious fault, the later grammarians and particularly Bhaṭṭoji Dīkṣita Jñānendra Sarasvatī, Nāgeśa and even Nārāyaṇa-bhaṭṭa do not look upon it as a fault. On the contrary, they used Vākyabheda as an effective weapon to interpret some of the sūtras of Pāṇini and thereby to justify the formation of some of the words. This point can be best illustrated by drawing the attention to the *Siddhānta Kaumudī* in which Bhaṭṭojī Dīkṣita has explained P.A. VI.1.94 by making the *anuvṛtti* of 'Vā *supi* from P.A. VI. 1.92 and has resorted to Vākyabheda for explaining the sūtra. Even Vāsudeo Dīkṣita, sees no fault in resorting to Vākyabheda, though at some places,[4] he is cautioning the readers about Vairūpyalakṣaṇa-Vākyabheda. It is further interesting to remember that Nāgeśa (1670-1750 A.D.) in his *Paribhāṣenduśekhara* has a paribhāṣā No. 13 in which he has explained[5] Pāṇini's

---

3. K. V. Abhyankar-*Dictionary of Sanskrit Grammar*-P. 346.

4. Tattvabodhinī on *Siddhānta-Kaumudī*—Pp. 28, 82 etc.

5. Wadegaonkar-*Paribhāṣendu-Śekhara*-Marathi Translation P. 46.

*Aṣṭādhyāyī* Sūtra '*Ṣaṣṭhī sthane yoga*' and '*sthāne'ntaratamaḥ*' by resorting to the principle of Vākyabheda. Here he, thereby, suggests that in order to understand this sūtra, we should make the anuvṛtti of sthāne and thus two sentences can be formed.

स्थाने अन्तरतमः भवति ।

स्थानेन यः अन्तरतमः स एव भवति ।

It is also surprising that the lead taken by Bhaṭṭojī Dīkṣita and others is also upheld in the commentary[6] 'Prakāśikā' on the *prakriyā Kaumudī* of Nārāyaṇabhaṭṭa. All this survey leads one to the irresistible conclusion that the grammarians do not look upon Vākyabheda as a fault ; but they even go to the extent of treating it as an effective measure in the formation of grammatical forms even by breaking the sūtras of Pāṇini.

The probable period of the Śrauta and Gṛhya Sūtra literature is regarded as 800 B.C. to 400 B.C. The commentators of the sūtra literature have expressed divergent views in the matter of Vākyabheda. Sudarśana,[7] the commentator of the—*Āpastamba Gṛhya Sūtra,* holds that there is no fault in resorting to Vākyabheda in interpreting the Sūtra literature. In the 'Nārāyaṇavṛtti'[8] on the *Āśvalāyana Śrauta Sūtra,* however, Vākyabheda is looked upon as a demerit. Karka whose date is taken by some scholars to be 380' Saṃvat i. e. 324 A.D., considers Vākyabheda as a fault particularly in his Comments on the *Kātyāyana Śrauta Sūtra* XII.1.4.

---

6. Prakāśikā on *Prakriyā Koumudī*—P. 50.

7. न तु सूत्रे वाक्यभेदो दोषः । तात्पर्यदर्शन on आप० गृ० I. 1. 12 P. 15

8. आश्वलायन श्रौतसूत्र p. 439.

XVII.11.12,[9] XXIV.4.20, XXV.5.3 and XXV.11.5 and cautions the readers that by the particular mode of interpretation, there would be the fault of Vākyabheda and tries his best to avoid the same.

In the domain of Pūrva-Mīmāṃsā literature, however, the late Kevalānanda Sarasvatī has collected rich and interesting material on the point of Vākyabheda in his *Mīmāṃsā Koṣa* Vol. VI, pp. 3469 to 3473. Jaimini, the author of the *Pūrva-Mīmāṃsā Sūtras* is said to have flourished between 200 B.C. to 200 A.D. He has a special *Pūrva-Mīmāṃsā Sūtra* II.1.47 which runs as *Sameṣu Vākyabhedaḥ syāt*/. The expression *'Sameṣu'* in the sūtra is explained by both Śabara and Naraharaśāstrī Mārulakar as referring to the words which are mutually non-expectant of each other. This sūtra, in simple English, means that when in a sentence, the words are mutually non-expectant of each other, then there would incur the fault of Vākyabheda. Śabara (200 A.D. to 400 A.D.) has made interesting observations on Vākyabheda. On Jaimini's *Pūrva-Mīmāṃsā Sūtra* III.6.21 Śabara observes[10] that if many subsidiary injunctions are laid down in one injunctive sentence, then it would give rise to the fault of Vākyabheda. Commenting on *Pūrva-Mīmāṃsā Sūtra* I.4.2 Śabara remarks[11] that if one injunctive sentence lays down two acts—principal and subordinate—then the sentence suffers from the fault of—Vākyabheda. In his comments on VI.1.3, he observes that if two things are laid down and they are not syntactically connected with each other, then it results in the fault known

---

9. यदि मंत्रनिवृत्तिर्विधीयेत, वाक्यं भिद्येत । कात्यायन-श्रौतसूत्र Vol. II. P. 147.

10. अनेकगुणविधानात् वाक्यभेदः ।

11 उभयविधाने वाक्यभेदः ।

as Vākyabheda. While commenting on Jaimini's *Pūrva-Mīmāṃsā Sūtra* II.1.47, his remarks come very near to the observations later on made by Naraharaśāstrī Mārulkar noted above. On III.2.27, Śabara seems to be conscious[12] of the variety of Vākyabheda based on meaning though such a type of variety is not introduced by any Mīmāṃsaka in the history of the Pūrva-Mīmāṃsā literature.

The period of Kumārilabhaṭṭa is regarded as the 7th century A.D. Like Śabara, Kumārila also seems to be conscious[13] of the variety of Vākyabheda based on Artha particularly in his comments on Jaimini's Pūrva-Mīmāṃsā Sūtra III.1.12. On II.2.29, he specifically observes[14] that if several connections are established in a single injunctive sentence, then the interpretation will be vitiated by the fault of Vākyabheda. On III.1.12, he further observes that even a cause for the—different meanings gives rise to the fault of Vākyabheda. He clearly observes[15] on II.2.27 that when there is a repetition of any specific thing, it does not give rise to this fault.

Someśvara (1100 A.D.) in his comments on the *Tantravārtika* remarks[16] that when an injunctive sentence is attributed many senses, it becomes a case of Vākyabheda.

Śaṅkarabhaṭṭa (1540-1600 A.D.) significantly observes[17] in his *Mīmāṃsā Bāla Prakāśa* that in the case of a deficient

---

12. अर्थभेदात् वाक्यभेदः ।
13. अर्थभेदनिमित्तः वाक्यभेदः ।
14. अनेकसंबंधकरणात् वाक्यं भिद्येत ।
15. विशिष्टानुवादो वाक्यं न भिनत्ति ।
16. अनेकार्थविधिलक्षणः वाक्यभेदः । न्यायसुधा P. 931
17. न्यूनस्य अधिकार्यविषयत्वकल्पने , वाक्यभेददोषो यथा 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः' । मीमांसाबालप्रकाश P. 3

thing or act, if something more is imagined, even then it would incur the fault of Vākyabheda.

As regards the varieties of Vākyabheda, it is important to note here that in the Nyāya-Sudhā on the *Tantravārtika* p. 852 we get the type of Gauravalakṣaṇa Vākyabheda. But it is Śaṅkarabhaṭṭa who has pointed out three types of Vākyabheda—Āvṛttilakṣaṇa, Vibhāgalakṣaṇa and Vairūpyalakṣaṇa. It is further interesting to remember that he has also pointed out further varieties of the above mentioned three categories. M. M. Vāsudeośāstrī Abhyankar in his commentary Prabhā on the Mīmāṃsā-Nyāya-Prakāśa has pointed out two varieties of Vākyabheda-Khaṇḍalakṣaṇa Vākyabheda and Gauravalakṣaṇa Vākyabheda. He shows that Khaṇḍalakṣaṇa[18] Vākyabheda occurs when in a sentence consisting of so many words, after joining some words together we get one meaning and after joining other remaining words together, we get another meaning. We get the example of the Gauravalakṣaṇa[19] Vākyabheda when collecting together whatever words occurring in a sentence, we derive one meaning of the whole sentence. Again all the words in a sentence or some words in a sentence indicate another different meaning of the whole sentence. The learned Śāstrī further points out the other possibilities when the fault of Vākyabheda arises. e. g. (1) When in a single sentence, we have two subjects and one predicate, we incur the fault of Vākyabheda.[20] (2) In a single injunctive sentence, if there is one subject and the predicates are two, our interpretation suffers from the fault[21] of Vākyabheda. (3) if, however, in an in-

18. प्रभा on मीमांसान्यायप्रकाश P.57

19. Ibid P. 57

20. एवं चोद्येश्यद्वये विधेयैक्ये वाक्यभेदः । Ibid. P. 233

21. उद्येश्यैक्ये विधेयद्वये च वाक्यभेदः । Ibid. P. 233

junctive sentence, there are two uddeśya portions and one vidheya portion, even then the interpretation would not be free from the fault[22] of Vākyabheda.

In the *Saṅkarṣaṇa*[23] *Kāṇḍam* III.1.16, it is said that when with reference to a thing or act which is available, time, material etc. several factors are laid down, then the interpretation suffers from the fault of Vākyabheda.

The writers on Vedānta Sūtra have also contributed to the evolutionary aspect of Vākyabheda. Śaṅkarācārya (788 A.D. to 820 A.D.), the celebrated commentator of the Vedānta Sūtras of Bādarāyaṇa, has tried to remove the fault of Vākyabheda brought in by the opponent in the discussion on the Vedānta Sūtra III.v.14. Here the discussion in the Śāṅkarabhāṣya implies that if many purports could be found in respect of a single śruti vākya, then the fault of Vākyabheda would incur. If, however, there are many śruti Vākyas and there are many purports at the back of them, then the fault of Vākyabheda does not at all arise. One will not be far from the truth if one imagines that when great Ācārya in his comments[24] on the Vedānta Sūtra II.4.3 points out the Vairūpya Prasaṅga on account of understanding one and the same word in two different senses in a single sentence, he is possibly hinting at the another variety of Vākyabheda later on properly explained by Śaṅkarabhaṭṭa in his *Mīmāṃsā-Bāla-Prakāśa*. It is important

---

22. एवं चोद्येश्यद्वये विधेयद्वये च वाक्यभेद स्पष्ट एव । Ibid. P. 233

23. प्राप्तोद्येशेन कालद्रव्याद्यनेकगुणविधाने वाक्यभेदः । संकर्षणकाण्डम् III. 1. 16.

24. नहि एकस्मिन् प्रकरणे एकस्मिश्च वाक्ये एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः संबध्यमानः ....... वैरूप्यप्रसंगात् । शां० भा० on ब्र० सू० II 43.

to note here in this context that Madhusūdanasarasvatī (1490 A.D. to 1580 A.D. according to Dr. P. M. Modi) in his commentary Siddhānta Bindu on the *Daśaślokī* of Śaṅkarācārya, remarks that if we accept the purports[25] of the two śruti vākyas in respect of the three-fold evolution of the world and five-fold evolution of the world, then our interpretation would suffer from the fault of Vākyabheda. M. M. Vasudeośāstrī Abhyankar in his commentary 'Binduprapāta' on the *Siddhānta-Bindu* clarifies this point by showing that if we accept two-fold purports of the theory of evolution[26] of the world, then our interpretation would suffer from the fault of Vākyabheda.[27] From these two examples, it would be fair to conclude that the fault of Vākyabheda occurs in the Vedānta literature, particularly when two purports are pointed out for one śruti vākya. Here the emphasis is shifted from Vidhi injunction to the purport.

The writers on Alaṃkāra Śāstra have also an important contribution to make to the Mīmāṃsā technical term 'Vākyabheda'. Jayaratha (12th century A.D.) on the *Alaṃkāra Sarvasva* introduces two varieties[28] of Vākyabheda—Śābda and Ārtha- and tries to illustrate[29] the same. In this context, it should be remembered that Jagannātha in his *Rasagaṅgādhara* has before his mental eye above discussion of Jayaratha on the *Alaṃkāra Sarvasva.* Śrī Vidyācakravartin

---

25. त्रिवृतमेवेति तु तत्कल्पनायां वाक्यभेदप्रसंगः। सिद्धान्तबिन्दु P. 102.
26. Cf :—R. D. Karmarkar—*Śaṅkara's Advaita*—pp. 34-35.
27. अथवा तात्पर्यद्वयं मत्वा प्रवृत्तिः स्वीक्रियते। ..........तृतीये तु सुतरां वाक्यभेद इति भावः। बिन्दुप्रपात on सिद्धान्तबिन्दु p. 103
28. स च वाक्यभेदः शाब्द आर्थश्च। अलंकारसर्वस्व PP. 39-40
29. गंगा भक्तिवद् भक्तिश्च गंगावद्भन्द्येत्यस्त्येवार्थो वाक्यभेदः। Ibid. P. 40.

makes an interesting observation[30] on the Vākyabheda to the effect that when there is Vākyabheda, there is some strikingness. In his further comments on the *Alaṃkāra-Sarvasva,* he remarks that the mention[31] of Vākyabheda here is to show the prāthamikabhedadvaya. Hemacandra (1150 A.D.) has written his own gloss on the *Kāvyānuśāsana* and in his gloss he introduces another variety[32] of Vākyabheda which is known as Abhyāsalakṣaṇa Vākyabheda. This kind of Vākyabheda arises, according to him, in the Upamā Alaṃkāra particularly when the gender of the object of comparison is changed and the language is also worded slightly differently and the connection is established with the Upamāna i. e. the standard of comparison. Any dispassionate reader of the Alaṃkāra Śāstra would be tempted to advance the view that this kind of Abhyāsalakṣaṇa Vākyabheda has no place in the Mīmāṃsā literature. Vaidyanātha Tatsat (1684 A.D.) has written a commentary on the *Kāvyapradīpa* of Govinda Thakkur. In the commentary on the *Kāvyapradīpa,* he observes[33] that when in a stanza, the prominence is given to the two incidents, then only the interpretation suffers from the fault of Vākyabheda. Any one would note here that the Mīmāṃsaka's emphasis of two injunctions in Vākyabheda is here shifted by the Alaṃkārikas to the two incidents as giving rise to the fault of Vākyabheda. This view of Vaidyanātha Tatsat appears to be in complete agreement with the view point of Jagannātha (1620-1660 A.D.) who in his discussion on the Alaṃkāra

---

30. स चमत्कारता च सति वाक्यभेदे स्यात् । अलंकारसर्वस्व P. 65

31. वाक्यभेदग्रहणं प्राथमिकद्वयप्रथनाय । Ibid. P. 64

32. काव्यानुशासन P. 186

33. वृत्तान्तद्वयप्राधान्ये हि वाक्यभेदः स्यात् । काव्यप्रदीप P. 140

Samāsokti clearly remarks[34] that the fault of Vākyabheda arises as a result of giving prominence to two senses in one and the same stanza. Jagannātha has also given us the example of Vākyabheda based on Artha in his exposition[35] on the stanza 'abhiramata sadanam etc.'. It is further interesting to draw the attention of the readers to one more important authority on Alaṃkāra-Śāstra. Vidyānātha has written the work entitled *Pratāparudrīya*. Kumāraswāmī, the son of the illustrious commentator Mallinātha, has written a commentary on the same. In his commentary on the *Pratāparudrīya*, he significantly remarks[36] that there can be a fault of Vākyabheda in a single sentence, when on account of the difference in activities the different meanings can be advocated. This is indeed the important observation from an Alaṃkārika on the point of Vākyabheda. All this survey of the important authorities on the Alaṃkāra Śāstra would help one to reasonably conclude that the writers on Alaṃkāra Śāstra have made a definite and significant contribution to the thought of Vākyabheda so propounded by the Mīmāṃsakas.

The following discussion would further reveal that the commentators on the *Nāṭyaśāstra* and dramas also have important views to express on the point of Vākyabheda. Here the attention may be drawn to the commentary of Abhinavagupta (1030–1070 A.D.) on the sixth chapter of the *Nāṭyaśāstra*. Here he does not look on Vākyabheda as a

---

34. द्विप्रधानत्वेन वाक्यभेदश्चापद्येत । रसगंगाधर P. 497.

35 जगन्नाथ reads अार्थे तु वाक्यभेदे । before the Stanza 'अभिरामता सदनमम्बुजानने'—रसगंगाधर P. 263.

36. नन्वेकस्मिन् वाक्ये व्यापारभेदेनानेकार्थप्रतिपादने वाक्यभेददोषः स्यात् । रत्नापण on प्रतापरुद्रीय P. 36.

fault. He further goes to the extent of justifying[37] his stand-point by quoting the *Raghuvaṃśam* VIII.95 in which also there is the fault of Vākyabheda. Possibly Abhinavagupta does not look upon Vākyabheda as a fault in the poetry portion. In this respect, it may be incidentally remarked that the Marathi translation[38] of the term 'Vākyabheda' in the commentary of Abhinavagupta as offered by Prof. R. P. Kangle as 'in other words' is not acceptable since it does not bring out the Mīmāṃsā sense intended to be conveyed by the great Abhinavagupta. Here one may draw the attention of the readers to the commentary[39] of the anonymous commentator of the *Śākuntalam*. This is published as *Abhijñāna Śākuntala* carcā by the University of Kerala. As remarked by the editor of this commentary, the anonymous commentator belongs most probably to the 16th century A.D. In his comments on the well-known line from the *Śākuntalaṃ* Act I, he remarks that here Kālidāsa has suggested that the deer of the hermitage is not to be killed by using the principle of Vākyabheda. According to him, the well-known line from the *Śākuntalaṃ* can be split up as follows :—

आश्रममृगोऽयम् ।

अतो न हन्तव्यः ।

He also refers to the view point of another commentator of the *Śākuntalaṃ* as Tippaṇakāra[40] who also understands Vākyabheda in interpreting the line from the *Śākun-*

---

37. अत एव सुकविना वाक्यभेदेनापि मरणमाख्यातम् । Chapter VI. P. 307.

38. नाट्यशास्त्र—Chapters VI and VII P. 251

39. अभिज्ञानशाकुन्तलचर्चा P. 33

40. टिप्पणकारस्तु तत्साधु तदेव युक्तमिति वाक्यभेदेन व्याचष्ट । Ibid. P. 33

*talaṃ*, for which I invite the attention of the readers in the foot-note. From this discussion it goes without saying that the commentators of the *Nāṭyaśāstra* and dramatic literature and poetry do not look upon Vākyabheda as a fault. To put it in other words, even if the dramatist or the poet incurs the fault of Vākyabheda, it is not to be taken seriously.

The writers on Astrology have also an important view to contribute to the technical term Vākyabheda. Here the attention may be drawn to the commentary of Govinda on the *Muhūrta-Cintāmaṇi* V.45. This commentator belongs to the 17th century A.D. He made an interesting observation[41] that when the syntactical connection is possible between the two sentences, resorting to Vākyabheda is a (positive) demerit. In other words, when the syntactical connection is possible to be established between the two sentences, one should not resort to the fault of Vākyabheda. In fine, syntactical connection is regarded as an effective weapon to avoid the fault of Vākyabheda.

For the illuminating contribution to the effective remedies against Vākyabheda, one will have to consult the important commentaries on the smṛti works and digest authors. Here one may draw the attention of the readers to the commentary[42] of Medhātithi (825 A.D. to 900 A.D.) on the *Manu-Smṛti* II.32. Here Medhātithi clearly implies that twice utterance of the verbal portion gives rise to the fault of Vākyabheda. He further adds that Vākyabheda is a case

---

41. संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि दूषणम् । इति वाक्यभेदानापत्तेः ।
मुहूर्तचिन्तामणि P. 213

42. वाक्यभेदे हि द्विराख्यातोच्चारणम् । तद् गुरु भवति । मेधातिथि on
मनुस्मृति II 32.

of Gaurava and not of lāghava. Medhātithi in his comments on the *Manu-Smṛti* III.68 remarks that if this text is taken as a case of prohibition then it may give rise to the fault[43] of Vākyabheda. For this purpose, he connects the *Manu-Smṛti* III.68 with the *Manu-Smṛti* III.69 conceptually and states that the flaw of Vākyabheda could be avoided only by conceptually joining the two passages of the *Manu-Smṛti*.

In the field of Dharma-Śāstra, I also refer to the digest author Nīlakaṇṭha (1600—1660 A.D.) who in his discussions in the *Vyavahāra Mayūkha* and *Śrāddha Mayūkha*, avoids the fault of Vākyabheda by resorting to different effective remedies. This point can be best expounded by citing some good cases. Nīlakaṇṭha in his discussion in the 'Vyavahāra Mayūkha' finds fault with Vijñāneśvara (1100—1120 A.D.) in interpreting the *Yājñavalkya-Smṛti* II.114 as laying down two Vidhis. Nīlakaṇṭha removes[44] the fault of Vākyabheda incurred by Vijñāneśvara by understanding the second line of the *Yājñavalkya-Smṛti* II.114 as an elaboration of the idea in the first line. (2) When the Dāyabhaga school of interpretation incurs the fault of Vākyabheda in interpreting the *Manu-Smṛti* IX.142, Nīlakaṇṭha tries to avoid the fault by taking[45] the words gotra, riktha etc. in the secondary senses. (3) He also finds flaw in interpreting the text of Bṛhaspati as laying down injunctions particularly on the part of Vijñāneśvara. Here he suggests that the text of Bṛhaspati lays down only one injunction that

---

43. प्रतिषेधपरत्वे वाक्यभेदः स्यात् । मेधातिथि on मनुस्मृति III 68.

44. व्यवहारमयूख P. 115

45. ऐच्छिकविभाग एव विवृत्त उत्तरार्धेन । वाक्यभेदापत्तेः । Ibid. P. 47.

the text of Bṛhaspati lays down only one injunction that reunion takes place only among those members who were parties to the original partition. The mention of father, uncle and brother etc. in the stanza of Bṛhaspati is only serving the purpose of Upalakṣaṇa. In the opinion of Nīlakaṇṭha, therefore, a reference to these relations is only illustrative. Thus, Upalakṣaṇa[46] has served as an effective weapon against the flaw of Vākyabheda. (4) In his discussion in the *Śrāddha Mayūkha,* he also avoids the fault of Vākyabheda in interpreting the verses from the *Kātyāyana Smṛti* by taking the circumstances[47] under which a person is competent to perform the Śrāddha ceremony particularly when the father is alive and when he would have given rice-balls to the dead ancestors. Here he has used the point of circumstances as a remedy against the flaw of Vākyabheda.

One who is a good student of Pūrva-Mīmāṃsā will be curious to know the importance of this highly technical term in the domain of law. In this context, it would be important to draw the attention of the readers to the view point of MM. Dr. P. V. Kane. He held that the judges during the British regime should possess the adequate knowledge of the science of Pūrva- Mīmāṃsā and the rules of interpretation. The learned doctor has further shown[48] that the decision of the Bombay High Court in interpreting the text of the *Manu-Smṛti* IX. 142 as laying down two injunctions—(1) A person adopted into another family will not take the wealth of his natural father or any one in that

---

46. पित्रादिपदानि तु विभागकर्तृमात्रोपलक्षकाणि । अन्यथा वाक्यभेदात् । Ibid. P. 146

47. Also See श्राद्धमयूख P. 430

48. *History of Dharma-Śāstra*—Vol. III, p. 694.

family after adoption ; and (2) A person adopted into another family looses or forfeits on adoption wealth that he may have already taken absolutely in the natural family as a member of the family before adoption—suffers from the flaw of Vākyabheda. Dr. Kane advises that such faults should be meticulously avoided by the judges. After the dawn of independence and particularly when the Hindu Law was codified, it must be admitted that the importance of the smṛti works and commentaries and digest works was considerably decreased and this naturally resulted in throwing this highly technical term of the Mīmāṃsakas into oblivion.

In conclusion, after the thoughtful consideration of the above interesting points from the different branches of Sanskrit learning, one would be perfectly justified in drawing the following legitimate conclusions only to show how the evolution has taken place in the use, varieties and application of the Mīmāṃsā technical term Vākyabheda.

(1) Vākyabheda is looked upon as a fault by the writers on Pūrva-Mīmāṃsā, Dharma-Śāstra, Vedānta, Jyotiṣ, Alaṃkāra and the commentators of the Śrauta Sūtra literature.

(2) The Grammarians do not look upon Vākyabheda as a fault and try to use it as an unfailing weapon to interpret some of the Sūtras of Pāṇini to justify the formations of some words.

(3) The commentators of the Gṛhya Sūtra literature, *Nāṭyaśāstra* and dramas do not look upon Vākyabheda as a fault in interpreting the sūtra literature, dramaturgy and dramatic literature and poetry.

(4) The emphasis of the Mīmāṃsakas as two injunctions necessary to constitute the flaw of Vākyabheda is shifted by the Vedāntins to two purports of a single Śruti vākya and the Alaṃkārikas have shifted it to the two prominent senses in one and the same stanza.

(5) The Alaṃkārikas have introduced the three varieties of Vākyabheda-Śābda, Ārtha and Abhyāsalakṣaṇa, though Śabara and Kumārila the giants of the Mīmāṃsakas were conscious of the Ārtha type of Vākyabheda.

(6) The writers on Dharma-Śāstra and Astrology use the effective weapons of syntactical unity, Upalakṣaṇa, secondary meaning of the words, elaboration of the idea in the first line to be found in the second line, lakṣaṇā and the special conditions against the flaw of Vākyabheda.

(7) The importance of the highly technical term Vākyabheda of the Mīmāṃsakas was stressed and recognised in deciding the cases of Hindu law during the British regime.

(8) The Mīmāṃsā technical term 'Vākyabheda' is thrown into oblivion after the dawn of independence and particularly when the Hindu law was codified.

(9) However, the importance of this technical term is admitted by the scholars of the different disciplines of Sanskrit learning.

## BIBLIOGRAPHY

1. *Siddhānta-Bindu*—English Translation by Dr. P. M. Modi. 1929.
2. *Dictionary of Sanskrit Grammar* by K. V. Abhyankar—Gaikawad Oriental Series, Baroda, 1977.
3. *Siddhānta Kaumudī* with Bālamanoramā and Tattvabodhinī—edition of Motilal Banarasidas—1949.
4. *Paribhāṣendu-Sekhara* with Marathi Translation by Wadegaonkar—1936.
5. *Tātparyadarśana* of Sudarśana on *Āpastamba Gṛhya Sūtra*—Chowkhamba Sanskrit series—1971.
6. *Āśvalāyana Śrauta Sūtra* with Nārāyaṇa Vṛtti—Anandasrama edition, Poona—1917.
7. *Kātyāyana Śrauta Sūtra* with the commentary of Karka—Vol. II Chowkhamba Sanskrit Series, Benares—1939.
8. *Mīmāṃsā Koṣa* by Kevalānanda Sarasvatī—Prajna Pathasala—Wai—1962.
9. *Bhāvabodhinī* commentary by Naraharaśāstri Marulkar on Jaimini's *Pūrva-Mīmāṃsā Sūtras*—published in Śaṅkarācārya Karavira—Dharmika Publication Series-10-1951.
10. Someśvara's *Nyāya-Sudhā* on *Tantravārtika* of Kumārila Published in Chowkhamba Sanskrit Series.
11. *Mīmāṃsā-Bāla Prakāśa*—by Śaṅkarabhaṭṭa—Chowkhamba Sanskrit Series, Benares—1902.
12. The Commentary Prabhā by M. M. Vāsudeośāstrī Abhyankar on the *Mīmāṃsā-Nyāya-Prakāśa*—Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona—1937.
13. *Siddhānta Bindu* with the commentary Binduprapāta by M. M. Vāsudeośāstri Abhyankar—Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona—1962.
14. *Manu-Smṛti* with nine commentaries—Published by Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay-7. Vols. I and II, 1972; 1975.

15. *Nīlakaṇṭha's Vyavahāra Mayūkha*—edited by P. V. Kane, Bombay Sanskrit and Prakrit Series, Poona—1926.

16. *Nīlakaṇṭha's Śrāddha Mayūkha* published by Gujarati Printing Press, Bombay—1920.

17. The commentary Pīyuṣadhārā of Govinda on the *Muhūrta-Cintāmaṇi* published by Venkatesvara Press, Bombay.

18. Śaṅkara's Advaita by R. D. Karmarkar—Karnatak University publication, Dharwar—1966.

19. *Brahmasūtra Śāṅkarabhāṣya* with the three commentaries—Bhāmatī, Ratnaprabhā, and Kalpataru—published by Nirnaya Sagar Press, Bombay—1938.

20. *Vyākaraṇa-Mahābhāṣya—Tatpuruṣānhika*—by S. D. Joshi and J. A. F. Roodbergen—University of Poona publication—1973.

21. *Abhijñāna Śākuntala Carcā*—A commentary on *Śākuntalaṃ* by Anonymous writer—published by the Kerala University—1961.

22. Bharata's *Nāṭyaśāstra* with the commentary of Abhinavagupta—published by Gaikawad Oriental Series, Baroda.

23. Bharata's *Nāṭyaśāstra*—Chapters VI and VIII with the commentary of Abhinavagupta—with Marathi Translation—by Prof. R. P. Kangle—Published by Maharashtra Sahitya Sanskriti Mandal—Bombay—1973.

24. *History of Dharma-Śāstra* Vol. III by P. V. Kane—Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona-1973.

25. Hemachandra's *Kāvyānuśāsana* with his own gloss—published by Nirnaya Sagar Press, Bombay—1934.

26. Govinda Thakkura's *Kāvyapradīpa* with the commentary of Vaidyanātha Tatsat—published by Nirnaya Sagar Press, Bombay—1939.

27. Jagannātha's *Rasagaṅgādhara* with the commentary of Nāgeśa—published by Nirṇaya Sāgar Press, Bombay—1939.

28. *Alaṃkāra-Sarvasa* with the commentary of Jayaratha-published by Nirṇaya Sāgar Press, Bombay—1939.

29. *Alaṃkara-Sarvasva* with the commentary of Śrī Vidyā Cakravartin—published by Meherchanda Laxmandas—Delhi—edited by V. Raghavan—1965.

30. *Pratāparudrīya* of Vidyānātha with the commentary of Kumāraswāmī—edited by V. Raghavan—published by the Sanskrit Education Society, Madras-4—1970.

31. *Prakriyā Kaumudī* with Prakāśikā Vol. I—Kerala University Publication—1973.

# WAS THERE A DEVALA-DHARMASŪTRA ?

PROF. LALLANJI GOPAL

*Varanasi*

Analyses the grounds for accepting Devala as author of a *Dharmasūtra.* The absence of the name of Devala in early traditional lists cannot be taken as a proof of his non-existence as a Dharmasūtra writer. Śaṅkara, in his commentary on *Vedānta Sūtra* first clearly mentions Devala as a *Dharmasūtrakāra. Bhaviṣya Purāṇa* and *Prayoga Pārijāta* mention his name rather confusingly. Devala's recognition as *Dharmasūtrakāra* was slow as the later commentators put to lime light only his principles on Sāṃkhya and Yoga. His non-association with any particular Vedic School also contributed to the non-availability of his *Dharmasūtra.*

P. V. Kane, when he wrote Vol. I of his monumental *History of Dharmaśāstra* (first edition, 1930), noticed quotations from Devala.[1] But, as he himself admits, at that time hardly any quotations in Sanskrit from the *Devala-dharmasūtra* were set out.[2] It would seem that then Kane was not alive to the possibility of there having been a Dharmasūtra under the name of Devala. In Vol. II of his *History* (published in 1941)[3] he quoted two prose passages of Devala as occurring in the *Mitākṣarā* (on Yājñavalkya I. 120,

1. He had noted that in Aparārka and the *Smṛticandrikā* there are several prose quotations from Devala.

2. *History of Dharmaśāstra,* Vol. I (2nd edition) p. 280.

3. P. 121—शूद्रधर्मो द्विजातिशुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोषणं कर्षण-पशुपालनभारोद्वहनपण्यव्यवहारचित्रकर्मनृत्यगीतवेणुवीणामुरजमृदङ्गवाद-नादीनि । P. 641 on Varieties of gṛhasthas.

128) without any suggestion of their being part. of a *dharma-sūtra.* In Vol. IV (1953) he quoted prose passages of Devala at many places—p. 77 on *cāṇḍāladharma*, p. 78 on performance of penance by *caṇḍālas*, p. 149 on *yāvaka* penance, p. 267 on *aśauca*, p. 394 on *pāparogas* and p. 559 on Sārasvata *tīrthas*. In Vol. V, Part II of his work he gave long quotations in prose from Devala and noted that they were taken from the *Devala Dharmasūtra*.[4] In the second edition of Vol. I of his book[5] he made a clear distinction between three works of Devala : (a) a *Devalasmṛti* in 90 verses (published in the Ānandāśrama collection of Smṛtis) dealing with purification and *prāyaścittas for contact with Mlecchas,* (b) a *Devalasmṛti* in verses with many quotations occurring in the *Mitākṣarā*, Haradatta, *Aparārka and Smṛticandrikā*, and (c) a *Devala Dharmasūtra* in prose with occasional verses. Kane made an appeal for collecting all the passages of Devala.[6]

L. S. Joshi in his compendium *Dharmakośa,* Vol. I, Vyavahārakāṇḍa devotes Part I to Vyavahāramātṛka (1935) and Part II to Vivādapadāni (1938). In Part II (p. lxxii) he lists passages from Devala. But, whereas passages from Hārīta and Śaṅkha (and Śaṅkha-Likhita) are collected along with those of Gautama, Āpastamba, Baudhāyana, Vasiṣṭha and Viṣṇu, those of Devala are listed along with those of authors of *Smṛtis*. Though he quotes a prose passage of

---

4. (1962) pp. 1380-81, 1409, 1435, 1439, 1445, 1447, 1453, 1458.

5. Pages 279 to 284. The revision was taken up by Kane in 1962 and Part I was printed in May, 1968.

6. *Ibid.*, p. 284—'It would be a great service if some scholar put together in one volume all the passages of Devala occurring in *Kalpataru*, Aparārka, and other early nibandhas with notes about parallel passages'.

Devala about *Strīdharma,*[6a] he does not differentiate between a *Smṛti* and a *Dharmasūtra* ascribed to Devala, evidently because he ascribed all passages available under the name of Devala to one and the same text.

B. Bhattacharya, whose *Studies in Dharmaśāstra* appeared in 1964, took notice of prose passages ascribed to Devala. But he also spoke of the reconstruction of *Devalasmṛti,* both prose and verse,[7] without noticing the possibility that the prose passages belonged to a *Dharmasūtra* attributed to Devala.

Ram Gopal, in his *India of Vedic Kalpasūtras* (published in 1959), confines his study to the published *Dharmasūtras* of Gautama, Baudhāyana, Āpastamba, Hiraṇyakeśi, Vasiṣṭha and Viṣṇu.[8] But, he is totally silent about the possibility of other *Dharmasūtra* texts quoted in later texts.

S. C. Banerji in his *Dharma-sūtras: A Study in their Origin & Development* (1962) includes Devala in a list of 32 Minor writers on Dharmasūtra.[9] Later he confines his attention only to twenty-four authors, as they are most commonly cited,[10] and collects passages from commentaries and *nibandha* texts arranged in Sanskrit alphabetical order.[11] Banerji has not attempted a reconstruction of the *Devala Dharmasūtra.*[12] He merely lists 94 passages, including re-

---

6-a. P. 1112.

7. Page 10.

8. Pages 43-66.

9. Pages 51-57.

10. Pages 239-244.

11. Pages 244-344.

12. Pages 247-257. His reconstruction of the *Hārīta Dharmasūtra* appeared in the *Journal of Oriental Institute* (Baroda), Vol VIII. No. 1 (1958), pp. 14-37.

petitions of whole or part of the quotations. In the case of long passages, he reproduces only the opening and concluding portions omitting the remaining ones. Banerji has not cited any authority for including Devala in the list of *Dharmasūtra* authors. Evidently the basis of his opinion is the occurrence of prose passages under the name of Devala. As he is dealing with Devala as a *Dharmasūtra* writer, he does not take any notice of the *Devala-smṛtis*. He merely records that both verses and prose passages are ascribed to him in different works.[13] He has not considered the possibility that many verses current under the name of Devala formed part of a *Devala-smṛti*.

We have to analyse the grounds for accepting Devala as an author of a *Dharmasūtra*. Unfortunately, we do not have any traditional list of *Dharmasūtra* writers. K. S. Ramaswami Sastri,[14] on the authority of the *Smṛtiratnākara*, says that Ṛṣi Agniveśa mentions nine *Pūrva-sūtras*. Baudhāyana, Āpastamba, Satyāṣāḍha, Drāhyāyaṇa, Agastya, Śākalya, Āśvalāyana, Savanīya and Kātyāyana are listed as *Pūrva-sūtras* and Vaikhānasa, Śaunakīya, Bhāradvāja, Agniveśya, Jaiminīya, Vādhūla, Mādhyandina, Kauṇḍinya and Kauṣītaka as *Apara-sūtras*.[15] The name of Devala does not appear in this list. Another list of authors of *dharmasūtra* and *gṛhyasūtra* works is found in the *Tantravārtika*[16] of Kumārila.

---

13. Page 241.

14. *The Dharma-sūtras and the Dharma-sāstras*, pp. 4-5. He does not mention which of the many *Smṛtiratnākaras* he has used. Further, it is not possible to identify Agniveśa referred to by him.

15. That the lists are not exhaustive is apparent from the absence of the names of Gautama and Vasiṣṭha.

16. Page 179 (on *Pūrvamīmāṃsāsūtra*, 1.3.11).

It names Gautama, Vasiṣṭha, Śaṅkha-Likhita, Hārīta, Āpastamba and Baudhāyana. No doubt, these are the important names. But, the list does not purport to be exhaustive. The absence of the name of Devala in these lists does not establish the non-existence of the *Devala Dharmasūtra*. There can be many explanations for the same.

As we have seen above, S. C. Banerji, possibly the first among modern scholars to recognise Devala as a *dharmasūtra* writer, has no reference in his support and relies merely on the occurrence of prose passages under the name of Devala.

The first clear testimony to the existence of the *Devala Dharmasūtra* is provided by Śaṅkara, the great Advaita philosopher. In his commentary on the *Vedāntasūtra*[17] he says that the doctrine of *pradhāna* being the cause of the world is near to the Vedānta doctrine, as it accepts the view of the non-difference of cause and effect. Devala and some other *dharmasūtra* writers have resorted to it in their works. Hence great effort has been made (by the *sūtrakāra* and himself) for refuting that doctrine (of Sāṅkhya) and not for the refutation of the doctrine of atoms being the cause of the world. There cannot be any doubt about the identity of this Devala. We know that in commentaries and digests

---

17. I. 4. 28—"ईक्षतेर्नाशब्दम्" —इत्यारभ्य प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः तस्य हि पक्षस्योद्बलकानि कानिच्चिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन्प्रतिभान्तीति । स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात्प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य । देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितस्तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नापवादिकारणवादप्रतिषेधे ।

we have many prose passages attributed to Devala and presenting the Sāṅkhya system of philosophy. Śaṅkara had an intimate knowledge of earlier works, particularly the Vedas, *Dharmaśāstras* and philosophies. The clear reference to Devala, the *dharmasūtra* writer, and his work leaves no doubt that the *Devala Dharmasūtra* was actually available to Śaṅkara.

Devala was slow in receiving recognition as an authority on *Dharmaśāstra*. There are many lists of *Dharmaśāstra* authors preserved in ancient texts. The name of Devala does not appear in the earlier lists. A list of sixteen such authors is attributed to Gautama[18] and Śaṅkha-Likhita.[19] Kumārila[20] mentions eighteen *dharmasaṃhitās*. Yājñavalkya[21] and Parāśara[22] mention respectively twenty and nineteen expounders of *dharma*. To the list of Yājñavalkya, ten names are added by Vṛddha-Yājñavalkya[23] and six by the *Caturviṃśatimata*.[24] Aṅgiras[25] lists the authors of *Upasmṛtis*. Paiṭhīnasi mentions the names of thirty-six *Smṛtis*.[26] But the name of Devala is conspicuous by its absence in all these lists.

It is in the list of thirty-six *Smṛtis* attributed to the

---

18. Quoted by Aparārka, p. 7.
19. Quoted by *Vīramitrodaya*, Paribhāṣāprakāśa, p. 16.
20. *Tantravārtika*, p. 125.
21. I.4-5.
22. I.12-15.
23. Quoted by Viśvarūpa on Yājñavalkya, I.4-5.
24. See Kane, *History of Dharmaśāstra*, I, Part 1, p. 303.
25. Quoted by *Smṛticandrikā*, I, p. 1.
26. *Smṛticandrikā*, I, p. 1.

*Bhaviṣyatpurāṇa*[27] that the name of Devala first occurs. His name is also found in the list of fifty-seven names recorded by the *Prayogapārijāta,*[28] but not in the category of eighteen principal *Smṛtis* and eighteen *Upasmṛtis,* but in the class of twenty-one other *Smṛtikāras.* The *Nibandhas,* in trying to make the list of Śaṅkha-Likhita exhaustive, have added many names including that of Devala, under the word *ādi* (etc.) occurring in it.[29] Considering the large number of verses ascribed to Devala, which appear in the commentaries and *Nibandhas* of the *Dharmaśāstra* group of works, this is difficult to explain.

---

27. Aparārka, p. 7—ताश्च मनुविष्णुयमदक्षाङ्गिरोऽत्रिबृहस्पत्युशनापस्तम्बवसिष्ठकात्यायनपराशरव्यासशङ्खलिखितसंवर्तगौतमशातातपहारीतयाज्ञवल्क्यप्रचेतोबुधदेवलसोमजमदग्निविश्वामित्रप्रजापतिनारदपैठीनसिपितामहबौधायनछागलेयजाबालिच्यवनमरीचिकश्यपा इति षट्त्रिंशदेव स्मृत्यन्तरे पठिताः ।

28. Quoted by *Vīramitrodaya,* Paribhāṣā Prakāśa, p. 18—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः ।
विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः ॥
जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वत्स एव च ॥
पारस्करश्चर्ष्यश्रृङ्गो वैजवापस्तथैव च ।
इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः ॥

29. *Kṛtyakalpataru,* I, p. 24 ; *Kṛtyaratnākara,* p. 29 ; *Vīramitrodaya,* Paribhāṣā, p. 16—

शङ्खलिखितग्रन्थौ । आदिशब्दग्राह्याश्चैते—बुधदेवलसोमजमदग्निविश्वामित्रप्रजापतिवृद्धशातातप (सुमन्तु) पैठीनसीपितामहबौधायनछागलेयजाबालच्यवनमरीचिकाश्यपाः ।

These lists do not make any distinction between *Dharmasūtras* and *Smṛtikāras*. The names of the authors of the two classes of Dharmaśāstra works are mixed up in these lists. Apparently the compilers of the lists took the terms *Dharmaśāstra* and *Smṛti* in their broadest sense. Hence it is difficult to make out whether the name of Devala in the lists of the *Bhaviṣyatpurāṇa* and *Prayogapārijāta* refers to the *Dharmasūtra* of Devala or to his *Smṛti*. If we consider the early period to which the *Dharmasūtras*, as opposed to the *Smṛtis*, generally belonged and the novel features of the *Devala Dharmasūtra*, which ostensibly were appreciated and preserved down the centuries by the later commentators, we cannot identify Devala of the *Dharmasūtra* work. The *Devalasmṛti* was written later.[30] By that time the other *Smṛtis* had established their reputation and the names in the lists were getting fixed. The *Devalasmṛti*, thus, took a long time to be accommodated in the list of additional names compiled later.

But, then the question will remain why was not the name of Devala, the author of the *Dharmasūtra* work, included in the list of *Dharmaśāstra* authorities. We admit that we do not have any convincing explanation of this omission. We can only suggest a few possible reasons. First, it is generally believed that each *Dharmasūtra* belonged to a certain specific Vedic school. It had its own Vedic *Kalpa* and was connected with a particular *Śākhā* and *Caraṇa*. Kumārila testifies to this association of the *Dharmasūtra* texts when he says that Gautama (*dharmasūtra*) and Gobhila (*gṛhyasūtra*) were studied by the Chandogas (*Sāmavedins*).

---

30. The published text is generally taken to belong to a period after the Arab invasion of Sind in A.D. 712.

Vasiṣṭha (*dharmasūtra*) by the Ṛgvedins, the *dharmasūtra* of Śaṅkha-Likhita by the followers of *Vājasaneyasaṃhitā* and the *sūtras* of Āpastamba and Baudhāyana by the followers of the Taittirīya *śākhā*.[31] This association of the *dharmasūtras* must have helped their preservation by ensuring their respectability in groups which honoured their responsibility for maintaining the respective text and handing it down. It is significant that no such association for Devala has been noted. This possibly was a reason for the full text of the *Devala-Dharmasūtra* not being preserved. It may be admitted that in the beginning this text also was connected with a Vedic school.[32] But the detailed treatment of the principles of Sāṅkhya and Yoga, as given by the *Devala Dharmasūtra*, imparted a singular character to it and made it acceptable to a wider section of people. It, however, prevented it from establishing identification or close connexion with any particular Vedic school. The emphasis on Śāṅkhya and Yoga possibly worked against its reputation being established as a *Dharmasūtra* text. In the later commentaries and digest the importance given to its information about Śāṅkhya and Yoga has overshadowed its other portions concerning strictly Dharmaśāstra topics.

---

31. *Tantravārtika*, p. 179 (on *Pūrvamīmāṃsāsūtra*, 1.3.11).

32. Kane, *History of Dharmaśāstra*, Vol. I, pp. 84-85 postulates that originally a few *Dharmasūtras* arose in South India in the Vedic schools that existed there and that later in North India some *Dharmasūtras*, which had originated independently, were adopted by Vedic schools. For a criticism of the view see Ram Gopal, *India of Vedic Kalpasūtras*, pp. 51-52.

# ŚĀṆḌILĪ : ONE OF THE YOGINĪS IN ANCIENT INDIA

Jyotirmoyee Bhattacharya

*Varanasi*

The author in this paper has thrown light on the life and achievements of a less known Yoginī Śāṇḍilī—the daughter of a great Yogī Śāṇḍilya.

It is remarkable to note that some of the authoritative texts on Yoga sanction the practice of yoga by women.[1] The *Viṣṇudharma* (an unpublished Upapurāṇa) declares that it was Kapila who prescribed the practice of yoga not only for all human beings including women but also for birds and insects.[2] That such an injunction was not imaginary may be proved from the lives of a good number of celebrated women who are said to practice austerities or yoga and there-

---

1. In this connection vide the paper (by Dr. P. K. Gode) entitled "Texts sanctioning the study of Yoga by women and their Choronology" (*Yoga*, the Journal of the Yoga Institute, Vol. III, pp. 17-20).

2. यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् ।
अपि कीटपतङ्गानां तत्रः श्रेयः परं वद ॥
इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तया ।
योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा ॥
(Quoted in ज्योत्स्ना on *Haṭha Yoga Pradīpikā*. 4.15).

by to achieve perfection. The practice of yoga by women is clearly referred to in the *Mahābhārata*.[3]

Brahmānanda in his commentry on the *Haṭhayoga pradīpikā* (4.15) quotes a verse from some Purāṇic work which speaks of Maitreyī, Sulabhā, Śārṅgī, Śāṇḍilī and others who attained the highest stage of *Jñānaniṣṭhā* through yoga practice.[4]

Among these yoginīs Gārgī and Sulabhā are well known in the traditional history of India. Very little is known about Śārṅgī. In the place of Śārṅgī (as is found in the *Jyotsnā* comm.) the MS. of *Viṣṇudharma* reads Gārgī (vide footnote 4).

It is to be known that Śāṇḍilī is not the proper name of this ascetic lady but the patronymic name which indicates that her father was called Śāṇḍilya, who, according to the Purāṇas was a great yogin. His view on yoga is

---

3. अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी ।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥

(*Śānti–p.* 246.34=cr. ed., 232.32). The verse occurs in the *Brahma–p.* also 235.68). (It is quoted in the comm. *Jyotsnā* on *Haṭha Yoga Pradīpikā*.4.15).

4. मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शाण्डिली च तपस्विनी ।
एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि ।
ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ।

These verses belong to the *Viṣṇudharma* Upapurāṇa which has not been published as yet. The Upapurāṇa reads गार्गी in the place of शार्ङ्गी (Vide Dr. R. C. Hazra : *Studies in the Upapurāṇas*, Vol. I. pp. 136-137).

quoted in *Śānti parvan* 253.14.[5] It is gratifying to note that some Purāṇas were aware of a daughter of the sage Śāṇḍilya.

The *Śalyaparvan*[6] 54.5-8 (Ch. 53, Cr. ed.) speaks of Śāṇḍilī as *Yogayuktā* (endowed with yoga) and *tapassiddhā* (perfected in fortitude). There is no room for doubt about the identity of this Śāṇḍilī with the Śāṇḍilī mentioned in the *Jyotsnā* Commentary.

The *Anuśāsanaparvan* also mentions Śāṇḍilī in Ch. 123 (Ch. 124 cr. ed.). It is stated there that Śāṇḍilī realised the essence of all things (Sarvatattvajñā 123.2) and that she was bestowed with great psychic powers. It is further stated that she instructed Sumanā, the Kekaya princess, in the conduct of a chaste women (*pātivratya*). Śāṇḍilī admitted that she served her husband faithfully according to the prin-

---

5. पृथग्भूतेषु सृष्टेषु चतुर्थाश्रमकर्मसु ।
समाधौ योगमेवैतत् शाण्डिल्यः शममब्रवीत् ।।

(*Śānti-p*. 252.14=cr. ed. 145.13).

6. अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी ।
योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी ।।
बभूव श्रीमती राजन् शाण्डिलस्य महात्मनः ।
सुता धृतवृता साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी ।।
सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन ह ।
गता स्वर्गं महाभागा देवब्राह्मणपूजिता ।।

'Kaumārabrahmacāriṇī' indicates that she took the vow of celibacy from her childhood. She is however became married afterwards.

ciples stated by her (123.9); for her teachings, see verses 10-20.[7]

The "Nāgara Khaṇḍa" of the *Skanda-purāṇa* speaks of Śāṇḍilī in a good number of passages (81.28-29; 82.130; 131). Chs. 81-82 narrate her curse upon Garuḍa, and she is praised as Sarvajñā and *brahmacaryaparāyaṇā* (devoted whole heartedly to the vow of celibacy). She is also designated as *Vṛddhakanyakā*. She appears to have remained unmarried for a long period after taking the vow of celibacy; cf. the epithet *Kaumārabrahmacāriṇī* as shown above.

She is said to possess *bala* (mental strength), and to have no parallal in practising austerities, and also to have been extolled by the *devas*. While she was practising the vow of silence (*mauna*) she cursed Garuḍa (81.38). It is clearly stated here that Garuḍa turned into a wingless bird as a result of her wrath, though she did not utter a single word of curse to Garuḍa. According to the *Mahābhārata* (*udyoga-parva* Ch. 111) Śāṇḍilī was residing on a peak of the Ṛṣabha mountain while giving curse to Garuḍa.

---

7. Some of the verses embodying the teachings of Śāṇḍilī are worth noticing:

कार्यार्थे निर्गतं चापि भर्त्तारं गृहमागतम् ।
आसनेनोपसंयोज्य पूजयामि समाहिता ॥१३
यदन्नं नाभिजानाति यद् भोज्यं नाभिनन्दति ।
भक्ष्यं वा यदि वा लेह्यं तत्सर्वं वर्जयाम्यहम् ॥१४
प्रवासं यदि मे याति भर्ता कार्येण केनचित् ।
मङ्गलैर्बहुभिर्युक्ता भवामि नित्यता तदा ॥१६

The dialogue between Sumanā and Śāṇḍilī is also found (almost in the same words) in *Anuśāsana parvan* (Ch. 123; Ch. 124 cr. ed.).

A tīrtha named after Śāṇḍilī is mentioned in the *Nāgarakhaṇḍa* (Chs. 130-131). In this shrine, Śāṇḍilī instructed Kātyāyanī, the wife of the sage Yājñavalka. Consequently the worldly minded Kātyāyanī became a follower of the path of *vairāgya* (130.6).[8]

In the Ch. 130, it is said that Śāṇḍilī was dear to her husband and she used to learn the rules of conduct from her husband (130.13-15).[9] Kātyāyanī requested her to expound the ways through which a wife becomes dear to her husband and also becomes able to get rid of all anxieties (130.19-22).[10]

---

8. यत्र कात्यायनी प्राप्ता शाण्डिल्या प्रतिबोधिता ।
वैराग्यं परमं प्राप्ता सपत्नीदुःखदुःखिता ॥
(130.6)

9. ततः कदाचिदेवाथ फलार्थं निर्गता बहिः ।
अपश्यच्छाण्डिलीं नाम पतिपार्श्वे व्यवस्थिताम् ॥
कृताञ्जलि पुरां साध्वीं विनयावनतां स्थिताम् ।
सोऽपि तस्या मुखासक्तः सानुरागः प्रसन्नदृक् ॥
गुणदोषोद्भवां वार्तामापृच्छया कथयत् तथा ।
सा च तौ दम्पती दृष्ट्वा संतुष्टावितरैतरम् ॥
(130.13-15)

10. कात्यायनी समागम्य ततः पप्रच्छ सादरम् ।
वद कल्याणि के कश्चिदुपदेशं महोदयम् ॥
मुखप्रेक्षः सदा भर्ता येन स्त्रीणां प्रजायते ।
नापमानं करोत्येव दुरुक्तवचनैः क्वचित् ॥
नान्यां संगच्छते नारीं चित्तेनापि कथंचन ।
अहं भर्तुः कृतैर्दुःखैरतीव परिपीडिता ॥
सपत्नीजैर्विशेषेण तस्मान्मे त्वं प्रकीर्तय ॥
यथा ते वशगो भर्ता संजातः कामदः सदा ।
मनसापि न संदध्यान्नारीमेष कथंचन ॥
(130.19-22)

In reply Śāṇḍilī (the daughter of Śāṇḍilya) narrated her own life saying how she came to marry the sage Jaimini (131.37) after having worshipped the goddess Gaurī for one year (131.35),[11] commencing from the month of Agrahāyaṇa (131.36).[12] As to the identity of this Jaimini, we are not in a position to say anything definitely. A Jaimini with the *mahāyogin* has been mentioned in the *Viṣṇu-purāṇa* (4.4.48).

Śāṇḍilī was one of the ideal women of ancient India. It is noteworthy that she was a *'gṛhastha'* (house-holder) par excellence[13]; and yet she performed severe penances and practised yoga. There is no exaggeration in holding that her life is an example of the Vedic idea of *gṛhastha-dharma*.[14]

---

11. मयापि च तदादेशात् कौमार्येऽपि च संस्थया ।
पूजया वत्सरं यावत् पूजिता पतिकाम्यया ।।
(130.35)

12. तृतीयायां विशेषेण मार्गमासादितः शुभे ।
नैवेद्यैर्विविधैर्दानैर्गन्धमाल्यानुलेपनैः ।।
(130.36)

13. नाहं काषायवसना नापि वल्कलधारिणी । न च मुण्डा च जटिला……
(Anuśāsana parvan 123.8).

14. If Śāṇḍilī to whom the epithet स्वयंप्रभा (Self-illuminating) has been given in *Bhīṣma Parva* 8.10=9.9 cr. ed.) is regarded as identical with this ascetic lady then we may say that she was an inhabitant of Hiraṇya varṣa. Most probable it is a mythical statement.

# BASES OF THE NEOLITHIC CULTURE OF THE MIDDLE GANGA VALLEY

J. N. PAL

*University of Allahabad*

*Allahabad*

The recent archaeological excavations in the middle Ganga Valley have located the Stone Age sites ranging from Epi-palaeolithic to late Mesolithic period. There are some common features in the Neolithic culture of the mid-Ganga Valley and the Vindhyas which indicates the deep roots of the former in the later culture.

The mid Ganga valley, lying in the central-eastern part of northern India, between the parallels 24°30′—27°50′ N. Lat. and 41°47′29″—47°50′ E. Long., includes eastern Uttar Pradesh and almost the whole of the Bihar state. Its longer axis, running from east-west, measures 600 km. while the shorter one, running north-south, is 330 km. Bounded by the Himalayas on the north and the Vindhyan plateau on the south there are no natural borders for its eastern and western limits. However, border line of Bihar and West Bengal provinces makes its eastern boundary and Allahabad-Faizabad railway line is the western border line.[1] Thus within the area of the mid Ganga valley are included Handia and Phoolpur sub-divisions of Allahabad district, northern part of Mirzapur district, Bhadohi, Varanasi and Chandoli sub-divisions of Varanasi district, Patti sub-division of Pratapgarh district, Jaunpur district, Sultanpur and

---

1. Singh, R. L. (ed.) 1971, *India : A Regional Geography*, p. 124.

Kadipur sub-divisions of Sultanpur district, Faizabad, Tanda and Akbarpur sub-divisions of Faizabad district, Balrampur and Utraulla sub-divisions of Gonda district, Basti, Gorakhpur, Balia, Ghazipur and Azamgarh districts in Uttar Pradesh, and Tirhut, Bhagalpur (Except Kishanganj sub-division) and Patna divisions in Bihar.[2]

The area is drained by the Ganga and its tributaries mainly Ghaghara, Kuani, Rapti, Chhoti Gandak, Burhi Gandak, Koshi, Varuna, Gomati, Son, etc. There are numerous natural horse-shoe lakes in the region from which emerge a number of smaller rivers of the area.

A few decades ago the antiquity of human history in the mid Ganga valley did not reach beyond the historical period. The recent archaeological researches conducted by the archaeological team of University of Allahabad in the mid Ganga valley have added a new dimension to the Indian archaeology and this area has become part and parcel of world history right from the prehistoric times. Stone Age sites ranging from Epi-palaeolithic through early mesolithic to late Mesolithic have been brought to light in the western part of the mid Ganga valley.[3]

These sites are located either on the horse-shoe lakes or on the banks of smaller rivers originating from these natural lakes. A large number of these horse-shoe lakes are drying up partly by natural and partly by human agencies. In ancient times they were very extensive and were a perennial source of water. The first settlers of Stone

---

2. *Ibid.*, p. 184.

3. Sharma, G. R., Misra, V. D., Mandal, D., Misra, B. B. and Pal, J. N. 1980, *Beginnings of Agriculture*, pp. 117-31.

Age, during the Early Holocene period settled on the banks of these lakes with a suitable ecological condition and favourable games provided by these lakes.[4]

A study of the Pleistocene formations in the area reveals that the *Bhagar* formation (old alluviam of the Ganga) having a thickness of 10 to 8 m above the flood plain is composed of four distinct layers. The earliest formation is full of lime concretion and it is tentatively co-related with the penultimate gravel (III) of the Belan section.[5] The succeeding deposit is blackish clay containing calcium nodules and small shells and is contemporary to the Palaeosol of the Belan formation. The third formation is of plastic clay and the topmost is of sandy soil.[6] As the artifacts of the Epipalaeolithic Culture* have been obtained from the top of the plastic clay formation of the Ganga formation (*Bhagar*) and Mesolithic artifacts have been found throughout the sandy deposit, it may be inferred that Stone Age hunters started coming to the Ganga valley before the formation of sandy soil and they continued to come while it was being formed.

The earliest Stone Age Culture in the mid Ganga valley is the Epi-Palaeolithic culture.[7] Till now five sites of

---

4. Sharma, G. R., 1975, Seasonal Migration and Mesolithic Lake Cultures in the Ganga Valley, *K. C. Chattopadhyaya Memorial Volume*, pp. 5 and 9.

5. *Ibid.*, pp. 5-6.

6. Misra, V. D., 1977, *Some Aspects of Indian Archaeology*, p. 59.

* Epi-Palaeolithic represents a transitional stage between the Upper-Palaeolithic and Early Mesolithic Cultures.

7. Sharma, G. R., Misra, V. D. and Pal, J. N., 1980 *Excavation at Mahadaha.*

this culture, viz. Garhawa (Lat. 25°23′45″ N. Long. 82°53′45″ E) in Varanasi, Ahiri (Lat. 25°21′0″ N. Long. 82°16′0″ E) in Allahabad and Suleman Parbatpur (Lat. 25°59′23″ N. Long. 82°16′12″ E), Mandah (Lat. 25°59′0″ N. Long. 82°2′35″ E), and Salhipur (Lat. 26°0′10″ N. Long. 82°4′30″ E) in Pratapgarh, have been located.[8] The artifacts of these sites in typology, technique and raw-material resemble very much the Epi-palaeolithic tools of the Vindhyas (Chopani-Mando).[9] The tools though generally in fresh condition are highly patinated. Fashioned on chert the artifacts include blades, blunted backs, scrapers, points, burins, borers and lunates along with cores, flakes and debitage. The tools are manufactured on comparatively thick blades or flakes and are steeply blunted and boldly retouched. Metrical analysis and comparative study of the tools indicate that the tools of the Ganga valley are reduced in length and width in comparison to those of the Vindhyas. Evidently this is due to the unavailability of the raw material in the Ganga valley.

In the district of Allahabad, Varanasi, Pratapgarh, Jaunpur and Sultanpur 172 sites of early Mesolithic (non-geometric) culture have been located. Among the important sites mention may be made of Kurha (Lal. 25°31′15″ N., Long. 81°43′17″ E), Bhikhampur (Lat. 25°31′15″ N., Long. 81°44′41″ E) and Maharudih (Lat. 25°31′58″ N., Long. 81°49′3″ E) in Allahabad; Harahibhituli (Lat. 25°50′38″ N., Long. 81°48′25″ E) and Kandhaimadhupur (Lat. 25°59′50″ N., Long. 82°4′0″ E) in Pratapgarh; Raghaipur (Lat. 26°2′50″ N., Long. 82°11′0″ E) and Rajpur (Lat.

8. *Ibid.*, p. 74.
9. *Ibid.*,

26°53'0" N., Long. 82°18'40" E) in Sultanpur ; Bhatpura (Lat. 25°59'30" N., Long. 82°22'18" E) and Keotalikhurd (Lat. 25°57'23" N., Long. 82°22'43" E) in Jaunpur and Bankatbhikharirampur (Lat. 25°26'30" N., Long. 82°28'35" E) in Varanasi district. The tool assemblage consists of blades, blunted backs, scrapers, points, and lunates. These are fashioned on chert, chalcedony, agate, carnelian, etc. At this stage chalcedony and agate were prefered to the cherty material. Majority of the tools are manufactured on thin blades with triangular section and these are flatly blunted and minutely retouched.

Nearly 21 sites of late Mesolithic (geometric) have been brought to light—17 in Pratapgarh, 3 in Jaunpur and one in Allahabad. Among the important sites mention may be made of Sarai-nahar-rai (Lat. 25°28'0" N., Long. 81°50'0" E), Mahadaha (Lat. 25°59'10" N., Long. 82°11'20" E), Raigarh (Lat. 25°44'22" N., Long. 81°38'42" E) in Pratapgarh ; Lohina (Lat. 25°50'45" N., Long. 82°15'13" E) and Nagauli (Lat. 25°45'43" N., Long. 82°17'3" E) in Jaunpur and Bichhia (Lat. 25°34'13" N., Long. 81°43'25" E) in Allahabad district. First two of these are excavated.

Excavations at Sarai-nahar-rai[10] and Mahadaha[11] have revealed that the habitation and burial areas were at the same site. The microlithic tools associated with such sites are blades, blunted backs, lunates, scrapers, burins and points, fashioned on chert, chalcedony, agate, carnelian and

---

10. Sharma, G. R., 1973. Mesolithic Lake Culture in the Ganga Valley, *Proceedings of the Prehistoric Society,* Vol. 39, pp. 126-46.

11. Sharma, G. R., Misra, V. D. and Pal J. N., 1980, *op. cit.*

quartz. From Sarai-nahar-rai triangles have also been found but from Mahadaha triangle and trapeze both have been obtained. Community hearth has been found at Sarai-nahar-rai indicating thereby a community life in the late Mesolithic period. Multiple burial at Sarai-nahar-rai and double burials (twin burials) at Mahadaha are also suggestive of emergence of a concept of family life in the late Mesolithic period in the mid Ganga valley. The burials are oriented west-east, head lying in the west at Sarai-nahar-rai, but at Mahadaha east-west oriented skeletons also have been found. The majority of the skeletons belong to the age group of 17 to 35 years. At Mahadaha we have got skeletal remains of two children (one male child of six years and other female child of nearly four years) and an old woman (nearly 50 years), which indicate that the Mesolithic people came in the Ganga valley along with their whole family.

A large number of animal bones in charred, semi-charred and uncharred condition have been obtained from hearths, and floor at Sarai-nahar-rai and from hearths, burial-cum-habitation area, butchering area and lake area at Mahadaha. The species include bison (*bos indicus* and *Bos Gauras*) hippopotamus (*Hippopotamus palecindicus*), deer and stag (*Cervus duvauceli—Cervus axis*), elephant (*elephes indicus*), swine (*sus scrofa*), horse (*eguidae*), carnivores (*carnivoridae*), cattle (*bos indicus*) and sheep/goat (ovidae/capridae).[12] Find of four grades of height of wild sheep/goat is interesting at Mahadaha. Probably, now, the man

---

12. Alur, K. R., 1980, Faunal Remains from the Vindhyas and the Ganga Valley, in Sharma et. at. 1980, *Beginnings of Agriculture,* pp. 201-227.

was having a close intimacy with sheep/goat. It is not impossible that this intimacy provided a base for domestication of such animals in later stage. Pollen analysis from the excavation of Mesolithic lake at Mahadaha indicates a grassy vegitation in the area.[13] Perhaps some eatable grains were collected. The use of edible gains is also supported by a large number of saddle and flat querns and mullers at Mahadaha. Among the other stone objects mention may be made of sling balls and sharpeners. The bone industry at Mahadaha consisting of bone arrow-heads, scrapers, burin, point and saw along with bone necklace and bone ear-ring offers an exhaustive and interesting catalogue of bone ornaments. A large number of pit-hearths full of burnt clay lumps, charred bones and ash have been revealed at both the sites. But at Mahadaha we have got some pits plastered with thick clay solution, some times, more than one coating of clay has been done for plastering the pits. Some plastered pits are burnt and some unbacked. Devoid of burnt clay lumps, animal bones, and ash, perhaps, these plastered pits were used for storing surplus collected grains.

*Neolithic Culture* : Though we have not got any Neolithic site in the western part of the mid Ganga valley but from the above description it is clear that late Mesolithic sites (Sarai-nahar-rai and Mahadaha) indicate a proto-Neolithic stage. However, Neolithic sites have been located in central and eastern parts of the mid Ganga valley—Chirand and Chechar in Bihar and Sohgaura in Uttar Pradesh.

Chirand (Lat. 25°45′ N., Long. 84°45′ E) on the left bank of the Ganga in Saran district of Bihar is the first site

13. Pant, D. D. and Pant, R., 1980, Preliminary Observations on Pollen Flora of Chopani Mando (Vindhyás) and Mahadaha (Ganga Valley) in Sharma et. at. 1980, *op. cit.*, pp. 229-230.

yielding the remains of the Neolithic culture.[14] It is a multiculture site. Even though the nature of excavation at the site was vertical,[15] evidence of circular of semi-circular huts with rammed floors (about 2 m in diameter), burnt clay lumps with wattle and daub impression, querns, mullers, sling-balls, hammers and rounded celts fashioned on quartzite, basalt and granite ; microliths consisting of blades, blunted backs, scrapers, points, notched blades, serrated blades, lunates and borers fashioned on chert, chalcedony, agate, etc. have been found. Bone industry is also a remarkable feature of the Neolithic Chirand. These tools fashioned on antler, long bones and tortoise shell, include spear-point, bodkin, borer, pin, arrow-head, divider, scraper, leather cutting tool, wedge, chisel, weeding tool, drill, shaft straightner, hammer, bar-celt, knife, socketed comb and pendant.[16] The ceramic industry at Chirand also throws welcome light on the nature of the Neolithic culture of the Ganga valley. Red, grey, black and black-and-red wares have been reported from Chirand. Some wares are burnished. A few rusticated ware pots are also found at Chirand.[17] Cord impressed pottery is found at Chirand and Chechar. Applique decorations and post firing incised designs are found on the Neolithic pottery of Chirand.

---

14. *IAR,* 62-63, p. 6 ; *IAR* 63-64, pp. 6-8 ; *IAR* 68-69, pp. 5-6 ; *IAR* 69-70, pp. 3-4 ; *IAR* 70-71, pp. 6-7 ; *IAR* 71-72, pp. 6-7.

15. Narain, L. A., 1970, Neolithic Settlement at Chirand, *Journal of Bihar Research Society,* Vol. 56, pp. 1-35.

16. Narain, L. A., 1979, "The Neolithic Cultures of Eastern India", *Essays on Proto-historic India,* ed. Agrawal, D. P. and Chakrabarty, D., pp. 301-309.

17. Sinha, B. P., 1979, Neolithic Culture of the Gangetic Valley, *Archaeology and Art of India,* p. 41.

Post firing painting is also found here. Among the functional shapes mention may be made of globular jars, spouted jars, perforated vessels, lipped or spouted bowls. Other archaeological objects include beads of semiprecious stones, pendant and ear-ring of bones, bangles of terracotta and bone, terracotta figurines of humped bull, bird and snake. The economy of Neolithic Chirand was based on domestication of plants and animals. Rice husk in the burnt clay lump and grains of wheat, barley, moong, masoor were also cultivated in this period.

Excavation at Chechar-Kutubpur (Lat. 25°35′ N., Long. 85°20′ E) in district of Vaishali, Bihar also yielded similar evidence as at Chirand.[18]

In the lowest level (layer 14) at Sohgaura (Lat. 27°5′ N., Long. 83°15′30″ E) on the confluence of Ami and Rapti in the Gorakhpur district of Uttar Pradesh, elements of Neolithic Culture have been unearthed.[19] 90 cm thick Neolithic deposit yielded cord-impressed, rusticated and burnished red ware pot-sherds. Among the pottery types special mention may be made of a angular carinated necked jar of cord impressed ware analogous to those of Mahagara and Koldihwa in the Vindhyas. Other associated finds are burnt clay lumps with reed impression, beads of bone and steatite, a piece of quern of sand-stone and pit-hearth. The explorations conducted by the Department of Ancient History, Culture and Archaeology, University of Gorakhpur have brought to light some surface sites associated with

---

18. *IAR,* 77-78, pp. 17-18.

19. Chaturvedi, 1980, "Early Pottery of Sohgaura", paper read in the Annual Conference of *IAS* and *ISPQS* at Allahabad in 1980.

similar ceramic industry in this region. Among such sites Lahuradeva in Basti district is noteworthy.[20]

Comparative study of the Neolithic culture of the mid Ganga valley and the Vindhyas indicates some interaction between both the cultures. Neolithic culture characterised with rounded celt and hand made cord impressed ware is widely distributed in the Northern Vindhyan plateau. Koldihwa and Mahagara and Pachoh in the Belan valley, Allahabad[21] and Indari in the Adwa valley Mirzapur[22] are the excavated Neolithic habitation sites of the Vindhyas. These excavations have yielded hand made pottery, consisting of cord-impressed, rusticated, burnished red and burnished black wares, rounded celts, microliths, terracotta beads, shell ornament, bone arrow-heads, querns, mullers, sling balls, etc. The other sites of this culture in the Vindhyas are Baraunha in the Adwa valley, Mirzapur, Uttar Pradesh and Kunjhun and Lalanahia in the Son valley, Sidhi, Madhya Pradesh. Rice husk of domesticated variety of rice has been used as temper in the pottery. Evidence of earliest rice cultivation has been provided by Vindhyan Neolithic Culture. Excavations at Mahagara has brought to light a cattle pen marked with the clusters of hoof impressions of cattles. The bones of cattle, sheep, goat, horse, deer, stag, boar, tortoise shell and fish and bird bones also have been recovered in the excavation.[23] On the basis of available C-14 dates the cultivation of rice and domestica-

---

20. Chaturvedi, 1980, in *History and Archaeology*, Vol. I & II.
21. Sharma, et. at., 1980, *op. cit.*
22. *IAR* 80-81 (to be published).
23. Alur, K. R., 1980, *op. cit.*

tion of cattle and sheep/goat may be traced back to the 7th 6th millennium B.C. in India.[24]

Neolithic Cultures of both the regions—the Ganga valley and the Vindhyas have some common features e. g. identical microlithic industry and neolithic celts. Although there are some differences also as terracotta figurines and beads of semiprecious stones found at Chirand are absent in the Vindhyan Neolithic culture. Bone industry at Chirand is richer than that of the Vindhyas. Cord impressed ware, the characteristic ware of the Vindhyan Neolithic culture has been found at Chirand, Chechar, Sohgaura, and Lahuradeva in the mid Ganga valley. Not only the technique of manufacture of this pottery but even the functional pottery shapes are also common to the ceramic assemblage of the Neolithic cultures of both the regions. However, the ceramic assemblage at Chirand is richer in wares and pottery types where we get spouted vases, vase with pointed base, footed bowls, bowls-on-stand, channel spouted vessels, bowls with lips, spoon or paddle knobbed vessels, but these are not present in the ceramic assemblage of the Vindhyan Neolithic culture. Applique decorations representing rope and notch designs are common to both the cultures. Post firing ochre painting represented by linear, criss-cross, concentric-circles, semi-circles and post firing scratch designs on some of the pottery of Chirand, is a new feature not present in the Vindhyas. Thus ceramic industry of Chirand shows a developed trait in comparision to that of the Vindhyas. However, it can be said that the Neolithic culture of the mid Ganga valley is considerably influenced by the Neolithic culture of the Vindhyas.

---

24. Sharma, et. at., 1980, *op. cit.*

From the Neolithic level of Chirand 9 radio-carbon dates have been obtained of which three are consistent—1580±110 B.C., 1675±140 B.C., and 1775±155 B.C.[25] From the overlap phase of Neolithic-Chalcolithic a C-14 date reading 1050±190 B.C. is available.

On the basis of these dates Neolithic Chirand is dated between 1800 B.C. to 1200 B.C.[26] Two C-14 dates for the Chalcolithic horizon of Sogaura reading 1330±110 B.C. and 1230±130 B.C. have been obtained which indicate that Neolithic culture at Sohgaura flourished earlier than 1300 B.C.

On the basis of comparative study of the Neolithic cultures of both the regions—Ganga valley and Vindhyas—it may be concluded that the Neolithic culture of the mid Ganga valley, having a base on the late Mesolithic culture, showing proto-neolithic traits, has its deep roots in the Vindhyan Neolithic culture.

---

25. Mandal, D., 1972, *Radio-carbon Dates and Indian Archaeology*, p. 116.

26. Agrawal, D. P. and Kusumgar, S., 1974, *Prehistoric Chronology and Radio-carbon Dating in India*, p. 71.

# THE IMPORT OF THE NEGATIVE SENTENCE ACCORDING TO BHARTṚHARI

DR. M. SRIMANNARAYANA MURTI

*Tirupati*

The present paper attempts to bring out the linguistic speculations of the grammarian-philosopher Bhartṛhari and his commentators regarding the nature of the import of the negative sentences like *dhavakhadirapalāśāś chedanīyā na* and *vṛkṣo nāsti.* Bhartṛhari discusses the problem in the second *kāṇḍa* (verses 240-245) of the *Vākyapadīya,* while elucidating the grammarian's theory of indivisibility of the sentence as well as the sentence sense.

## I

At the outset the following general principles are to be kept in mind against the background of which the problem is discussed :

(1) There are two important schools which may be called, for convenience, Sakhaṇḍapakṣa and Akhaṇḍapakṣa holding opposite views regarding the structure and sense of the sentence.

(2) According to the Sakhaṇḍapakṣa the words enjoy an independent status and have their exclusive meanings. Each word conveys its meaning independently and the unconnected meanings of the words are later concatenated to others. The meaning thus accumulated becomes something quite different and is called the sentence sense. It

is like putting together broken pieces.[1] The Naiyāyikas and the Mīmāṃsakas are the advocates of this view.[2]

(3) According to the Akhaṇḍapakṣa, which has been upheld by the grammarians, the sentence as well as its meaning is indivisible.[3] The sentence meaning is communicated by the sentence-sphoṭa. The sentence meaning is of the nature of Intuition (*pratibhā*) and is indivisible.[4] In fact the sentence and sentence meaning are inseparable

---

1. *pūrvaṃ padeṣu asaṃsṛṣṭo yaḥ kramād upacīyate/*
*chinnagrathitakalpatvān na viśiṣṭataraṁ viduḥ* // VP. II. 249.

2. cf. Jagadīśa's definition of sentence : *śābdabodhe caikapadārtho 'parapadārthasya saṃsargaḥ saṃsargamaryādayā bhāsate, Vyutpattivāda* p. 1. Also Jaimini's *Mīmāṃsāsūtra* 2.1.46 : *arthaikatvād ekaṃ vākyaṃ sākāṅkṣaṃ ced vibhāge syāt.* Bhartṛhari has elaborated the same idea very clearly in VP. II. 4 :

*sākāṅkṣāvayavaṃ bhede parānākāṅkṣaśabdakam /*

*karmapradhānaṃ guṇavad ekārthaṃ vākyam iṣyate //*

'A sentence is a collection of words which in isolation require one another for particularisation, which, as a whole, do not require an outside word, in which the verb is the predominant word, which has qualifying words and which serve one purpose', English tr. by K.A.S. Iyer, p. 3.

3. VP. II. 9, 13.

4. *vicchedagrahaṇe 'rthānāṃ pratibhānyaiva jāyate/*
*vākyārtha iti tām āhuḥ padārthair upapāditam* // ibid. 143.

The nature of *pratibhā* cannot be explained to others and even the speaker cannot identify it precisely. It is produced by the word itself or by impressions coming down from previous birth and it is part of Nature (cf. VP. II. 140-150).

aspect of the inner-Principle called *śabdatattva*,[5] which is within the Self.[6] However the sentence meaning is manifested by the parts of it, namely, words, etc.[7] Therefore, according to the grammarians, the sentence-sphoṭa is the word and *pratibhā* its meaning.

(4) According to the grammarian, the sentence is divided into words and so on by the principle of copresence and coabsence (*anvayavyatireka*) for the purpose of teaching language through grammatical analysis.[8] As the word units and its subdivisions like stem and suffix are fictitious,[9] the sentence or the word could be analysed in different ways by different persons.[10]

(5) By such grammatical analysis the negative particle *nañ* (*na*) is described by the grammarians as follows: The *nañ* signifies negation and it is of two types called exclusion (*paryudāsa*) and prohibition (*prasajyapratiṣedha*). The negation is said to be exclusion when the *nañ* is related

---

5. *ekasyaivātmano bhedau śabdārthāv apṛthaksthitau* / ibid. 31.
6. *yad antaḥ śabdatattaṃ tu nādair ekaṃ prakāśitam* / *tad āhur apare śabdaṃ tasya vākye tathaikatā*//ibid.30.
7. *arthabhāgais tathā teṣām antaro 'rthaḥ prakāśa*te / ibid. 31.
8. *yathā pade vibhajyante prakṛtipratyayādayaḥ* / *apoddhāras tathā vākye padānām upavarṇyate* // ibid. 10. *anvayavyatirekau tu vyavahāranibandhanam*/ibid.12.
9. *Śabdasya na vibhāgo 'sti kuto 'rthasya bhaviṣyati*/ *vibhāgaiḥ prakriyābhedam avidvān pratipadyate* // ibid. 13.
10. *Śabdā yathā vibhajyante bhāgair iva vikalpitaiḥ* / *anvākhyeyās tathā śāstram atidūre vyavasthitam*//VP. III. Vṛtti. 74. Cf. VP. I. 73 : II. 10, 233.

with the noun, and prohibition when it is related with action expressed by verbal form.[11]

As a substance or a quality cannot be negated without any reference to action, even in the case of the syntactic relation between a noun and *nañ*, the general action 'is' (*asti*) is taken as implied and the *nañ* negates that implied action expressed by *asti*. Need for such a negation arises when something is misunderstood for something else because of similarity.[12] Thus the *nañ* in the function of exclusion negates the existence of something which is misunderstood.[13]

---

11. *paryudāsaḥ sa vijñeyo yatra pūrvapadena nañ /*
*pratiṣedhaḥ sa vijñeyo yatrottarapadena nañ //*
Commentary: *atra pūrvapadottarapadaśabdau mīmāṃsakaikaparibhāṣayā saṃketitārthau. uttarapadaśabdenākhyātapratyayo gṛhyate. tadvyatiriktaṃ sarvaṃ dhātuḥ prātipadikaṃ samastaṃ vyastaṃ cākhyātātiriktaḥ pratyayaś ca pūrvapadaśabdena gṛhyate. Mīmāṃsānyāyaprakāśa,* with the commentary by Vasudev Shastri Abhyankar, BORI, Poona 1972, p. 252.

It has a variant reading also as:
*paryudāsaḥ sa vijñeyo yatrottarapadena nañ /*
*prasajyapratiṣedhas tu kriyayā saha yatra nañ //*

12. See M. Srimannarayana Murti, *Sanskrit Compounds—A Philosophical Study,* Chowkhamba Sanskrit Studies 93, Varanasi 1974, pp. 244-245. A popular dictum accepted by the grammarians is: *astir bhavantīparaḥ sarvatraiva prayujyate; Cf. ........... astir bhavantīparaḥ prathama-puruṣo 'prayujyamāno' py asti,* MB. 2.3.1, Vt. 11, also MB. 2.3.46.

13. For example on seeing a sea-shell in sun light one mistakes it to be silver and says *idaṃ rajatam.* On ascertaining the

(6) There is a controversy whether the *nañ* is denotative (*vācaka*) or indicative (*dyptaka*) of the negation. Some philosophers hold the former view while others prefer the latter. Left to the grammarians, as we understand from the *Vākyapadīya,* it is indicative in a sentence and denotative in a compound.[14]

## II

Bhartṛhari contends that the import of the negative sentence is presented as a single qualified negative concept (*viśiṣṭābhāva*) which cannot be arrived at by taking the individual meanings of the separate words and connecting with them the *nañ.* The sentence sense can be maintained as derived by the concatenation of the word meanings if the former is identical with the sum total of the meanings of the separate words joined together. But in fact the sense that is communicated by the sentence is not the same as that arrived at by connecting the word meanings.[15] This is true in the case of the negative sentence, particularly in which the negative particle *nañ* is placed at the end after the verb as in the sentence *dhavakhadirapalāśāś chedanīyā na.* If the meanings are concatenated one with the other, we arrive at the sense that the trees *dhava, khadira,* and *palāśa* are to be cut from the combination *dhavakhadira-*

---

reality he finds that the object before him is not silver and says *nedaṃ rajatam.* Here the *nañ* actually contradicts the cognition which is being produced by the similarity between silver and sea-shell.

14. M. Srimannarayana Murti, op. cit. pp. 245-250.

15. *anyathā pratipadyārthaṃ padagrahaṇapūrvakam / punar vākye tam eva artham anyathā pratipadyate //* VP. II. 239.

*palāśāś chedanīyāḥ*. But with the concatenation of *na*, the sentence means that the trees *dhava*, *khadira* and *palāśa* are not to be cut. Thus in the room of the sense that is already arrived at by the combination of the words up to the last but one, some other contradictory meaning is comprehended.[16] This amounts to admitting the variability of the word meanings, which goes against the grammarian's convention of invariability between word and its meaning (let the invariability be eternal or conventional).[17] Therefore the negative sentences like *vṛkṣo nāsti* are indivisible and signify the negation of an action or the existence of some particular object.[18]

## III

Now Bhartṛhari proceeds to show how the Sakhaṇḍapakṣa fails to explain, in whatever way the argument is put forward, the signification of the sense of the negative sentence by concatenating the meanings of words.

I. *A word expressing existence of a referent cannot be syntactically connected with another word expressing negation of existence.*[19] If the divisibility of the sentence is admitted, one has to accept that each and every word in

---

16. *upāttā bahavo 'py arthā yeṣv ante pratiṣedhanam/ kriyate te nivartante tasmāt tāṃs tatra nāśrayet //* ibid. 240.
17. *ihādya dhavakhadirapalāśāś chedanīyā naiy atra padārthapratibhāsasamaye 'nya eva dhavādicchedanalakṣaṇo 'rtha upādīyate, paścān niṣedhena tannivartanaṃ kriyate, na caitad yuktam ; upāttasya tyāge śabdārthasambandhasyānityatva{ prāpter iti teṣāṃ tatrānāśrayaṇam eva yuktam,* PT. *ibid.*
18. *vṛkṣo nāstīti vākyaṃ ca viśiṣṭābhāvalakṣaṇam*/VP. *ibid.*, 241.
19. *nārthena buddhau sambandho nivṛtter avatiṣṭhate/ibid.*

the sentence, excluding *nañ,* denotes its referent as existing.[20] In such a case it is impossible for the negation of one referent which is known as existing by some other referent expressed by *nañ,* because existence and nonexistence are contrary to each other and they cannot be connected as is done in the case of the qualifier (*viśeṣaṇa*) and the qualificant (*viśeṣya*) as in *śuklā gauḥ.* Further it is not possible to cancel a referent which is signified so long as the word is existing in the sentence.[21]

II. *Negation of the knowledge of the referent is also not possible.* The *nañ* in the Sakhaṇḍapakṣa may be maintained as functioning to negate the knowledge (*buddhi*) of existence of the referent of a word. Even this does not hold good because the knowledge is not the referent of a word; the referent of the word *nañ* can be connected only with the referent of another word.[22] The knowledge of the referent cannot be the referent of a word because the word refers to an object which is perceived in the world and the knowledge is the substratum of the referent in cognition. In such a case the *nañ* cannot be maintained to be negating the knowledge.[23]

---

20. *Cf.* fn. 12 above.

21. *yadi punaḥ padārtho 'tra vyatirikto 'bhyupagamyate, tadā vṛkṣalakṣaṇe padārthe vyavasthite nañsambandhas tasya nopapadyate, tasya hi svakāraṇāt labdhātmalābhasya na jātanivṛttiḥ kartuṃ śakyate,* PT. *ibid.*

22. *vicchedapratipattau ca yady astīty avadhāryate/ aśabdavācyā sā buddhir nivarteta sthitā katham//* VP. *ibid.*, 242.

23. *śabdena hi bāhyo 'rtho 'bhidhīyate, buddhis tv arthālambanā na śabdābhidheyatvam arhatīty ataḥ kathaṃ nañā sā pratiṣidhyate,* PT. *ibid.*

III. *Nañ cannot make known the falsity of the knowledge.* It may be held, following the Sakhaṇḍapakṣa, that the *nañ* does not negate the knowledge but makes known the falsity of the knowledge. For example the sentence *vṛkṣo nāsti* means 'it is not tree, but something similar to the tree'. Even this interpretation is not free from defects. Firstly, the *nañ* shall be attributed with a new function, namely, making known some knowledge as false (*buddhiniṣedhātmaka*).[24] Secondly, this explanation is possible only if the *nañ* is taken in the function of exclusion (*paryudāsa*)[25]; but in the function of prohibition the *nañ* is associated with the verb and thus the sentence like *vṛkṣo nāsti* means 'nonexistence of tree', where there is no room for falsifying any knowledge.[26]

IV. *Nañ cannot denote independently the substratum of negation.* According to the Sakhaṇḍapakṣa, it may be argued that the *nañ* denotes not only the negation but also the substratum of the negation, namely, what is negated. For example in the sentence *vṛkṣo na, vṛkṣa* is the substratum of negation and *nañ* denotes *vṛkṣa* also without syntactic relation with the word *vṛkṣa.* In such a case, the first unwarranted result is that the *nañ* can be used before

---

24. *atha yajjñānam utpannaṃ tan mithyeti nañā kṛtam/ nañ̃o vyāpārabhede 'sminn abhāvāvagatiḥ katham//* VP. *ibid.*, 243.

25. *nañ̃a evamātmake vyāpāraviśeṣe buddhiniṣedhātmake 'ṅgīkriyamāṇe sati vṛkṣasyābhāvāvagatir na syāt kila, paryudāse sadṛśapratipattividhāyini nañvācya etad upapadyate,* PT. *ibid.*

26. *prasajyapratiṣedhe tu naitad upapadyate, vṛkṣābhāvo hi tatra vākyārtha iti, ibid.*

the word expressing what is to be negated;[27] this is not possible because negation cannot be conceived unless the substratum is known. Hence it goes against the accepted practice found in common usage. Secondly, when the *nañ* itself signifies negation as well as *vṛkṣa* in *vṛkṣo na,* the word *vṛkṣa* need not be used at all, because it is redundant to use a word when the same sense is already communicated by another word in the sentence. The *prima facie* contention can be that the use of *vṛkṣa* is to exclude (*niyama*) those other nonexistences of *ghaṭa, paṭa,* etc. in the present context.[28] In such a case the word looses its primary function of signifying its connotative sense. Thus this is an unsatisfactory way of interpreting the sense of negative sentence in the Sakhaṇḍapakṣa.

V. *Nañ as an indicator also cannot give rise to the sentence sense by concatenation of words.* Another alternative for the Sakhaṇḍapakṣa is that the *nañ* is only an indicator (*dyotaka*) of the sense that is communicated by the word with which it is syntactically connected. It tantamounts to admitting the word *vṛkṣa* in the sense *vṛkṣo na* ; or means both the existence and nonexistence of tree. In natural consequence it results in *nañ* being superfluous because both the *nañ* and *vṛkṣa* denote the same meaning. The only justification for the *nañ* can be that it is to restate (*anuvāda*) of what is said already for clarity. But the fact remains as Bhartṛhari says, that some words in a sentence become meaningless and some meaningful.[29] If any word

27. *nirādhārapravṛttau ca prāk pravṛttir naño bhavet/* VP. *ibid.*, 244.

28. *athādhāraḥ sa evāsya niyamārthā śrutir bhavet/ ibid.*

29. *niyamadyotanārthā vā anuvādo 'thavā bhavet/*
*kaścid evārthavāṃs tatra śabdaḥ śeṣāstv anarthakāḥ// ibid.,* 245.

without meaning could be used, then there cannot be any language itself. Therefore, no word unit in sentence can be reckoned as meaningless.[30] Puṇyarāja to support this argument quotes a verse from the *Pramāṇavārttika* (4, 226) of Dharmakīrti :

> *satāṃ ca nirodho 'sti so 'satsu na yujyate/*
> *jagaty anena nyāyena nañarthaḥ pralayaṃ gataḥ//*[31]

Thus the negative sense comprehended in social usage by the negative sentence cannot be arrived at by resorting to the Sakhaṇḍapakṣa.

Therefore the negative sentence is indivisible and its import is presented as a single negative concept.

## ABBREVIATIONS AND BIBLIOGRAPHY

The *Mahābhāṣya* of Patañjali ——————MB

*Vākyapadīya* of Bhartṛhari ——————VP

Puṇyarāja's *Ṭīkā* on the *Vākyapadīya-Kāṇḍa II* ——————PT

*Vākyapadīya*, Part II (Vākyakāṇḍam) with the commentary *Ambākartrī* by Raghunātha Śarma.

This contains the *Ṭīkā* of Puṇyarāja and the *Vṛtti* for a portion, Varanasi 1968.

The *Vākyapadīya* of Bhartṛhari—Kāṇḍa II, English translation with exegetical notes by K. A. Subramania Iyer, Delhi 1977.

---

30. Cf. *na brāhmaṇa ity ādau nañа evārthavattvam ity anyeṣām ānarthakyaṃ syāt, na caitad upapannam*, PT. *ibid.*
31. *Ibid.*, 241.

# TULASĪ LEGEND

DR. U. N. DHAL

*Bhubaneswar*

The legend about *Tulasī* is developed by the Vaiṣṇavites to glorify the sacred *Tulasī* plant along with the *Śālagrāma* and *Śaṅkha*. The *Śiva-purāṇa* presents the Śaivite version of the myth to emphasize the status of Śiva above Viṣṇu. The stories about Tulasī, according to the author, may be the after-developments of primitive tree, stone and bone—worships.

*Tulasī* 'holy basil' plant is held in high esteem by the Hindus. It's leaves are used for worshipping Viṣṇu, it's twig is used as beads for counting the name of the lord. A devout Hindu usually accepts it as a pious duty to plant a *Tulasī* in the courtyard, to offer incense, offerings etc. everyday. Apart from the daily worship, it is specially worshipped with due ceremony on the full moonday of Kārtika (also known as *Rāsa pūrṇimā*), which is regarded as very auspicious for the adherents of Viṣṇu. Besides the popular religious traditions, there are very interesting myths in the Purāṇas[1] to glorify the origin of the plant and its sacredness. They are *Tulasī Upākhyāna* and the *Jalandharopākhyāna*.

---

1. (i) *Brahmavaivarta Purāṇa* (*Brv*) Ed. V. G. Apte, Ass, 102, Poona—1935.
   (ii) *Devī Bhāgavata* (*Dbh*) Ed. Ramteja Pandeya, Kasi 1969.
   (iii) *Śiva Purāṇa* (*ŚP*) Ed. Ramtiya Pandeya, Kasi, Samvat 2026.

The Tulasī legend occurs in the *Brahmavaivarta Purāṇa* (2.13—22), *Devī Bhāgavata* (IX.15-25) and the *Śiva Purāṇa* (2.4, 27-41). In order to have a clear idea about the legend, the accounts as found in the Purāṇas are stated below.

*Brahmavaivarta Purāṇa* : *Devī Bhāgavata*

The *Brahmavaivarta Purāṇa* and *Devī Bhāgavata* relate the same version of the myth. Since they tally one with the other, it is clear that they have accepted the story element from one and the same source.[2]

The *Tulasī Upākhyāna* states : When Nārada wanted to know how did pure and chaste *Tulasī* become the consort of Nārāyaṇa and under what circumstances the goddess turned into a tree—*Katham etādṛśī devī Vṛkṣatvam samavāpa ha|* (*Brv.* 2.13.5a. *Dbh.* IX.15.5a) Nārāyaṇa clarified his doubts thus :

In the days of yore, two sons were born to Manu Rathadhvaja namely Dharmadhvaja and Kuśadhvaja. Both of them were great devotees of Viṣṇu (*parama Vaiṣṇava*). Due to Lakṣmī's favour they became rulers on the earth. Dharmadhvaja married Mādhavī. They were blessed with a daughter, an incarnation of Lakṣmī, on the full moon night of Kārtika—

*Kārtikīpūrṇimāyām ca sitavāre ca pādmaje|*
*suṣāva sā ca padmāṃśāṃ padminīṃ sumanoharām||*
(*Brv.* 2.15.8a, *Dbh.* IX.17.8a).

---

2. While studying the *Devī Bhāgavata* Dr. Lalye has tried to establish the identity of *Brahmavaivarta* (Prakṛtikhaṇḍa) with the *Devī Bhāgavata* (Navama Skanda), Cf. P. G. Lalye *Studies in the Devī Bhāgavata,* Bombay, 1973, p. 78.

She was exceedingly charming and of *Nyagrodhaparimaṇḍalā* type.[3] As she was a jewel among women and could not be compared with any body else, she was known as Tulasī. Maiden Tulasī appeared like Prakṛti (Female Principle) complete in every aspect. Then she made up her mind to start for penance.

Tulasī practised regiorous penance in Badari for ten thousand years to get Viṣṇu as her husband. Brahmā was pleased with her and appeared to grant her boons. In course of asking for boons, she revealed the story of her former birth. In her last birth *Tulasī Gopī* was born from the elements of Rādhā. She was very dear to *Kṛṣṇa* (*Kṛṣṇapriyā*) and was a favourite companion of Rādhā. Once in *Rāsamaṇḍala* Tulasī dallied with Govinda. While she was not gratified in it and was lying unconscious, Rādhā came across her, out of anger she cursed Tulasī to be born in Bhārata in human form and be released from the curse only by propitiating Brahmā. Relating thus Tulasī begged Brahmā to grant her desire to have Viṣṇu as her husband.

Brahmā advised her to accept Śaṅkhacūḍa, the son of the demon Dambha, a devotee of Kṛṣṇa (*Kṛṣṇa parāyaṇa*) as her husband first. This Śaṅkhacūḍa was born due to the curse of Rādhā. In his former birth, he was Sudāmā Gopa, born out of the parts of Kṛṣṇa. Once he was tempted towards Tulasī in the Goloka, but could not enjoy her for fear of Rādhā. As Śaṅkhacūḍa he will be satisfied by getting her as his companion. Afterwards Tulasī would

---

3. An ideal form of beauty is termed as *Nyagrodhaparimaṇḍalā*—
*stanau sukaṭhinau yasyā nitambe ca viśālatā/*
*madhye kṣiṇā bhayed yā sā nyagrodhaparimaṇḍalā//*

be able to get Nārāyaṇa as desired. Later on due to the curse of Nārāyaṇa she would be transformed into a world-purifying Tulasī plant—

*śāpān Nārāyaṇasyaiva kalayā daivayogataḥ/*
*prāpnoṣi Vṛkṣarūpam ca tvam pūtā viśvapāvanī//*
(*Brv.* 2.15.35, *Dbh.* IX.17.33b, 34a).

This plant would be dear to Viṣṇu (*Viṣṇuprāṇādhika*) and the worship of Viṣṇu would be incomplete without offering Tulasī leaves to him. In order to get rid of the fear from Rādhā, thereafter, Brahmā gave her the sixteen-lettered Rādhā-mantra to chant, so that her love with Govinda would be unknown to Rādhā. Thus saying Brahmā disappeared from the scene.

Śaṅkhacūḍa was a great yogī. He obtained Kṛṣṇa mantra from Jaigīśavya and attained success by practising it in Puṣkara. Brahmā gave him Kṛṣṇakavaca and granted his boon. At the instance of Brahmā, Śaṅkhacūḍa proceeded to Badari. He met Tulasī there and fell in love at first sight. Both of them revealed their past to each other. At the instruction of Brahmā they wedded by Gandharva way. They moved from mountain to mountain to the seashore, to the forest and to the bank of the river to enjoy life.

At last the new couple returned to their kingdom; there in his garden house he enjoyed her long. He spread his sway over the Devas, Asuras, Dānavas, Gandharvas, Kinnaras and Rākṣasas. Thus he enjoyed the kingdom for one Manvantara. When the gods were dispossessed of their realms and being oppressed, they wandered here and there like beggars. They approached Brahmā for succour. In the company of Brahmā they went to Śiva and apprised him of their sad plight. Then Śiva led Brahmā and other

gods to Viṣṇu, Brahmā communicated the sufferings of gods to Viṣṇu. He revealed the mystery leading to his prosperity and also the way to his defeat. Śaṅkhacūḍa was born in the family of the demon due to the curse. This period of curse was about to end. So Viṣṇu gave his Śūla to Śiva to slay him—

*mama śūlam gṛhītvā ca śīghram gacchata Bhāratam/*
*Śivaḥ karotu saṃhāraṃ mama śūlena rakṣasaḥ//*

*Brv.* 2.16.202 : *Dbh.* IX.19.88.

But the curse of his invincibility lies in two factors. Firstly, he holds a Kṛṣṇa Kavaca always in his neck, which makes him unconquerable in war; unless it is removed from him, he would never be defeated by any one. Secondly, due to Brahmā's boon his death would occur only when the chastity of his wife would be destroyed—

*mamaiva kavacam kaṇṭhe sarvamaṅgalamaṅgalam/*
*bibharti dānavaḥ sasvat saṃsāravijayī tataḥ//*203
*kavace saṃsthite tatra na ko' pi hiṃsitum kṣamaḥ/*
*tadyācñām ca kariṣyāmi viprarūpo' hameva ca//*204
*satītvabhaṅgastatpatnyā yatra kāle bhaviṣyati/*
*tatraiva kāle tanmṛtyuriti datto varastvayā//*205
(*Brv.* 2.16.203-205 : *Dbh.* IX.19.89-91).

Thus saying Viṣṇu pointed them out how he would get the Kavaca from Śaṅkhacūḍa in the guise of a Brahmin. Then assuming the form of Śaṅkhacūḍa he would seduce Tulasī and thereby he would serve the cause of gods. Hearing all this Śiva was equipped with the Śūla of Viṣṇu and proceeded for Śaṅkhacūḍa's defeat.

First of all Śiva deputed Puṣpadanta (Citraratha) to the demon to persuade him to surrender the kingdom and former rights of the gods. When Puṣpadanta failed in his

mission, the attendants of Śiva, started their preparation for war.

Śaṅkhacūḍa communicated the message of Śiva to Tulasī but she prevailed upon him to enter into quarrel with Śiva. He informed her that their period of curse was coming to an end and they would return to their original abode. Tulasī would be united with Nārāyaṇa as her husband as desired by her previously—

*Haryarthe yattava tapo Harim prāpsyasi kāmini!*
(*Brv.* 2.17.72b. *Dbh.* IX.20.68b).

And he (Śaṅkhacūḍa) would return to Goloka relinquishing the demon form. One has to enjoy the fruit of one's own action. Thus consoling her they spent the night merrily.

Early in the morning Śaṅkhacūḍa rose up, meditated on Kṛṣṇa (*Śrīkṛṣṇam manasā dhyātvā*) and performed his usual rites. Before leaving for war, he coronated his son as the king of the demons, left the charge of the kingdom and his wife at his disposal, donated various precious articles to his preceptor and Brahmins and proceeded to face Śiva in battle.

When Śiva failed in his last attempt to persuade Śaṅkhacūḍa to recover the power and privilege of gods, he ordered for the fight. Śaṅkhacūḍa, too, after paying due honour to Śiva (*Śivam praṇamya śirasā*) climbed his chariot with his ministers and proceeded for the battle-field. Terrible fight ensued between the gods and demons. When the gods were defeated and began to retreat from the field, Skanda, along with Kālī and others came forward to fight with the demons. Though the demon was exhausted in fight, he was not defeated by any. At last Śiva appeared in

the battle-field. When Śaṅkhacūḍa saw Śiva, he alighted from the chariot and fell prostrate before him (*nanāma parayā bhaktyā śirasā daṇḍavatbhuvi*) before he started the fight.

The fight between Śiva and Śaṅkhacūḍa continued for full one hundred years but there was no defeat nor victory on either side. The fight between them came to a standstill. While both of them left their weapons and remained in their respective positions, the followers of Śaṃbhu were brought back to life by his divine power. In the meantime Hari in the form of a Brahmin took the Kavaca from Śaṅkhacūḍa. Then assuming the form of Śaṅkhacūḍa Hari came to Tulasī ; he manifested his Māyā and seduced her. Then Śaṃbhu resumed fight and took up Hari's śūla against the king of Dānavas. When he hurled it at Śaṅkhacūḍa, he left the bow and arrows and meditated on the lotus feet of Kṛṣṇa (*Śrīkṛṣṇacaraṇāmbujam*) with great devotion. At that time the Śūla fell on Śaṅkhacūḍa's head and burnt him into ashes. After destroying the demon it returned to Kṛṣṇa again. Then Śaṅkhacūḍa assumed the form of a two-armed Gopa, full of youth, mounted on a divine chariot surrounded by crores of Gopas. Reaching Vṛndāvana he approached Rādhā and Kṛṣṇa and bowed down at their lotus feet. They also received Sudāmā back with great joy and took him on their laps. But the bones of Śaṅkhacūḍa were transformed into Saṅkha conch-shells. These conch-sells were considered very sacred and auspicious in the worship of the gods. The water in the conchshell is believed to be sacred like waters of different Tīrthas and is fit to be offered to gods other than Śiva. Thus the glory of conchsell is sung here.

When Viṣṇu masquerading Śaṅkhacūḍa reached Tulasī, she was delighted at heart and received him warmly. Then Viṣṇu dallied with Tulasī cheerfully. But finding difference in the experience of her enjoyment, she was affected at heart and wanted to ascertain the exact identity of the person, who spreading his magic probably deluded her. For fear of curse from Tulasī, Viṣṇu appeared before her in his usual form. She fell unconscious at the sight. When she came to her senses, she thought him to be merciless and took him to be a stone. Through hypocricy he broke her virtue and as a result killed her husband, a devotee of Kṛṣṇa, for no fault of his. So she cursed him to become a stone.

Viṣṇu tried to justify his action by reminding her how she performed penance to get him (Viṣṇu) as her husband. Similarly Śaṅkhacūḍa penanced to get Tulasī as his spouse. Since Śaṅkhacūḍa fulfilled his ambition, he returned to his former position. And due to her union with Viṣṇu her penance had become fruitful. So he directed her to leave her present body and to enjoy him by being united with him. Then he tried to pacify her angerly assuring her that her present form would be transformed into a sacred river in Bhārata namely Gaṇḍakī and her tress of hairs would turn into a sacred plant. As the plant would originate from her, it would be known as Tulasī :

*iyaṃ tanurnadīrūpā Gaṇḍakīti ca viśrutā/*
*pūtā supuṇyadā nṛṇām puṇye bhavatu Bhārate//*31
*tava keśasamūhaśca puṇyavṛkṣo bhaviṣyati/*
*Tulasīkeśasambhūtā Tulasīti ca viśrutā//*32
(*Dbh*. IX.24.31-32, *Brv*. 2.21.32-33).

Tulasī plant would be sacred in the three worlds and all the Tīrthas would reside at the bottom of it, where all

the gods would be waiting for the fallen leaf of it. As Tulasī's body would be transformed into the river Gaṇḍakī, Viṣṇu, in the form of stone would stand beside it. The metamorphosis of Viṣṇu in the form of stone would take various shapes and sizes and would be called Śālagrāma. Śālagrāma would be highly venerated by the devout Vaiṣṇavas as Viṣṇu-incarnate. One would be dearer to Viṣṇu, who would put Śālagrāma, Tulasī and Saṅkha together. Thus these three were deified and are held in high esteem by the adherents of Kṛṣṇa cult.

In the present legend the demon Śaṅkhacūḍa, a staunch devotee of Kṛṣṇa is slain by Śiva, while Viṣṇu plays the vital role. Viṣṇu lends his weapon, Śūla to Śiva for the purpose. Viṣṇu in masquerade appropriates the Kṛṣṇa Kavaca from the demon in the war field, which is believed to make him conquerer of the three worlds. Last but not the least is the device applied by Viṣṇu to reduce his power by seducing his faithful wife. The myth tells that unless the fidelity of his wife is broken, his (Śaṅkhacūḍa's) power would never be reduced. Thus his power is supposed to be inherent in the chastity of his wife. The close relation between the power of the husband and the chastity of the wife appears to be significant. The Dāruvana myth of Śiva states, Śiva seduces the sages' wives in order to destroy the powers of the sages.[4] In the Jalandhara episode, Viṣṇu seduces Vṛndā, the chaste wife of the demon, Jalandhara to

4. *Brahmāṇḍa Purāṇa*, Motilal Banarasidass, New Delhi, 1973.
*tapāṃsī teṣāṃ sarveṣām pratyahanyanta Śaṅkara//* 19b
1, 2, 27.19 cf.
*Kūrma Purāṇa* (Cr. Edn.) All India Kashiraj Trust,
Varanasi, 1972, 2.37.23
*tapāṃsi teṣām sarveṣām pratyahanyanta Śaṅkara//*

conquer him, otherwise, he could not be conquered as he was well protected by the chastity of his wife (*pātivratyā surakṣitaḥ*). Similar to the loss of the power of Jalandhara, the power of the demon (Śaṅkhacūḍa) was reduced due to the seduction of his faithful wife, Tulasī.

It is, pure and simple, a Vaiṣṇavite myth, which was developed by the followers of Kṛṣṇa cult. The main motiv behind the myth is to glorify Tulasī plant alongwith Śālagrāma and Śaṅkha, which are believed to be very sacred to the Vaiṣṇavas. While yarning out the story, the author gives evidence to his thorough knowledge of Kṛṣṇa and his spouse, Rādhā and their involvement in it. Sudāmā Gopa, one of the chief attendants of Kṛṣṇa is born as demon Śaṅkhacūḍa, son of a devotee of Viṣṇu, Dambha by name, and Tulasī Gopī as the daughter of Dharmadhvaja, due to the curse of Rādhā. Śaṅkhacūḍa meditates on Kṛṣṇa by chanting his mantra in Puṣkara to attain the power of invincibility and Tulasī penances in Badari to get Kṛṣṇa as her partner. Śaṅkhacūḍa gets Kṛṣṇa Kavaca, which bestows him immortality so long it is present with him, it implies his invincibility in war. As ordained by Brahmā, they unite. After the expiry of their curse they return to their respective abode.

Thus the whole myth epitomizes the holy plant, its deification and its identification with the consort of Viṣṇu. Besides Tulasī plant, the legend tries to deify Śālagrāma and Śaṅkha and sings their glory.

---

5. *Padma Purāṇa,* Ed. M. G. Apte, Ass, 131, Poona 1894, 6.104.28.

*Śiva Purāṇa* (*Rudra Saṃhitā, Yuddhakhaṇḍa*) 2.5., 27-41

The *Śiva Purāṇa,* a sectarian work adopts the same legend[6] to sing the glory of Śiva—*prastutam śṛṇu vṛtāntam Śambhulīlānvitam ca yat* / (Ch. 27.7a). Viṣṇu occupies a subordinate position in it. Thus a Vaiṣṇavite myth is utilized explictly to emphasize the role of Śiva over Viṣṇu.

The Śaivaite version of the myth runs thus : The demon, Dambha, a devotee of Viṣṇu (*Viṣṇubhakta*) underwent rigorous penance in Puṣkara to have a powerful and valorous son, who would conquer the three worlds, but would be invincible to the gods even. Viṣṇu granted his boon. In course of time. Sudāmā Gopa, chief of the attendants of Kṛṣṇa took birth as the son of Dambha due to the curse of Rādhā and was known as Śaṅkhacūḍa, a devotee of Kṛṣṇa (*Kṛṣṇabhakta*).

As like the earlier version Śaṅkhacūḍa practised penance in Puṣkara to propitiate Brahmā, who granted him invincibility to the gods and offered a divine amulet (Kṛṣṇa Kavaca), which is believed to yield him victory everywhere. Then he met Tulasī, the daughter of Dharmadhvaja in Badrikāśrama, where she undertook penance ; but the former life of Tulasī as stated in the previous Version is dropped here. After due deliberation they married according to the Gandharva form of marriage and returned to their Kingdom. While the love-sports of the married couple are vividly described in the earlier one, they have no place in the present version.

6. P. G. Lalye, *op. cit.,* pp. 72-74.
In course of showing the relation of *Devī Bhāgavata* with *Śiva Purāṇa,* the learned author has tried to show the dominating presence of Śiva in the myth of *Śiva Purāṇa,* which is quite in keeping with the Śaivaite trend of the text.

When Śaṅkhacūḍa heard the atrocities of the gods over the demons in the past and their ancestral enmity, he started for an expedition of heaven with the vast demon army. He vanquished the gods, took up their powers and partook all the shares of sacrifice. But in the earlier version, the war of the demon with the gods was not known. Deprived of their kingdom, power and privilege, the gods approached Brahmā and Viṣṇu subsequently for help. While in the earlier story Viṣṇu directed Śiva to slay the demon with the help of the Śūla lent by him, in the present, one, Viṣṇu advised them to go to Śiva for it. In the foregoing one the glory of Viṣṇu is sung, whereas in the present version the supermacy of Śiva over all other gods is proclaimed by Viṣṇu and his presence in Goloka as Kṛṣṇa with Gopas and Gopīs is due to the favour of Śiva—

*tasyechhayā ca madrūpaḥ Kṛṣṇo vasati tatra ha//*
*S. P.* (29.51b).

Viṣṇu also informed the gods that the demon would be killed by the Śūla of Śiva as ordained by Kṛṣṇ—

*Rudraśūlena tanmṛtyuḥ Kṛṣṇena vihitaḥ purā/*
(*S. P.* 29.56a).

Thus saying Viṣṇu approached Śiva in Śivaloka.

In the previous version the grandeur of Viṣṇuloka is pictured, whereas the present śaivaite version tries to glorify Śivaloka over others. Instead of Viṣṇu, here Śiva is propitiated for the extirpation of the demon as it was thought to be difficult to slay the demon without his assistance—

*tvāṃ vinā na sa vadhyaśca sarveṣāṃ tridivaukasām/*
(*S. P.* 30.32a).

So Śiva proclaims his greatness and assures them to kill Śaṅkhacūḍa alongwith his followers—

*Śaṅkhacūḍam vadhiṣyāmi sagaṇam nātra saṃśayaḥ//* (*S. P.* 31.53b).

Then the gods together with Viṣṇu and Brahmā return to their respective abodes.

So far as the battle of Śiva with Śaṅkhacūḍa is concerned, both the versions run parallel. When the demons are crushed by Śivagaṇas, Śaṅkhacūḍa appeared in the field and went on fighting with Śiva. When Śiva's other missiles were found ineffective, he tried to apply his Śūla ; a celestial voice forbade him to do so then and informed him that as long as he wears Kṛṣṇa Kavaca, and as long as his wife maintains fidelity, Śaṅkhacūḍa would be affected by neither death nor old age :

*yāvad asya kare' tyugram kavacam paramam Hareḥ/*
*yāvat satītvamastyeva satyā apyasya yoṣitaḥ//*12
*tāvadasya jarā mṛtyuḥ Śaṅkhacūḍasya Śaṅkara/*
*nāstītyavitatham nātha vidhehi Brahmaṇo vacaḥ//*13
(*S. P.* 40.12-13).

Śiva accepts the fact. When Viṣṇu appears there at his wish, he directs him to do the needful. But in the earlier tradition, it is made explicit by Viṣṇu himself.

In the duration of the battle when Viṣṇu gets his Kavaca by deceptive means and indulges in sexual dalliance with Tulasī, the chaste wife in the guise of Śaṅkhacūḍa, Śiva hurls his Vijya Śūla on the demon Śaṅkhacūḍa and reduces him to ashes. Then peace reigns in the three worlds. Thus released from the curse, Śaṅkhacūḍa assumes his former form of Sudāmā Gopa but his bones are turned into Śaṅkha 'Conchshells' on earth. The holy water from the

conchshell is sacred to all gods except Śaṅkara. And the water from the conch is particularly very dear to Viṣṇu and Lakṣmī as well as to their devotees (*saṃbandhinam ca tasyāpi*).

In the previous version the curse of Tulasī and the assurance of Viṣṇu are put in the earlier form. The present version alters it. When Tulasī loses her chastity due to Viṣṇu, she curses him and goes on lamenting in excess grief. Viṣṇu remembers Śiva (*sasmaraṃ Śaṅkaraṃ devaṃ*/ *S. P.* 41.37b). Śiva appears in the scene and consoles them thus: Tulasī is reminded of her penance, the fruits of which is to be reaped by her. So she gets Viṣṇu as her lord. Let her hairs turn into the holy plant Tulasī by name and her present body turn into the river holy Gaṇḍakī in Bhārata. She is assured to enjoy the company of Viṣṇu for all time to come as the presiding deity of the Tulasī plant. As a result of her curse Viṣṇu is to assume the form of a rock on the bank of the river Gaṇḍakī. Though like the earlier one there is no elaboration as to the varieties of Śālagrāma born of the rock, the glory of Śālagrāma, Śaṅkha and Tulasī is clearly stated and Śiva's role is visibly illustrated here. Though Śaivaite element is incorporated into a Vaiṣṇavite myth, the main corpus of the anecdote remains the same.

The tradition of tree worship is very old and is believed to be introduced by the primitive people. Like the cults of Aśvattha, Baṭa, Palāśa, Bilva etc. the cult of Tulasī also seems to have been introduced into Hinduism. In the early age the adoration of Tulasī plant was probably not acceptable to be sophisticated elite. The myth tells us of the penance of Tulasī for her union with Viṣṇu. Her intermediary union with Śaṅkhacūḍa suggests the transference of her worship among the Dravidians before it was accepted by the Aryans.

Vaiṣṇavism is very liberal in form. The goddess Durgā was worshipped by the Śabaras, Pulindas, Barbaras with blood and flesh. So she was not included in the Hindu pantheon. First of all in the mythology of Vaiṣṇavism, she was accepted as the daughter of Nanda and Yaśodā and the sister of Kṛṣṇa, an incarnation of Viṣṇu. Later on, she was legitimately admitted into Śaiva pantheon as the consort of Śiva etc. Similarly, Tulasī plant was worshipped by the primitives. When her worship gained popularity among the pre-Aryans, she was accepted as Gopī in Rāsamaṇḍala, i. e. as a lay votary of Kṛṣṇa and later on her position rose so high to be grafted into the Vaiṣṇava pantheon as the devoted consort of Kṛṣṇa. She is pictured to have been enjoying the eternal company of Viṣṇu, thus her fusion with Vaiṣṇavism appears to be complete. After she is completely absorbed into the Vaiṣṇava hierarchy she is identified with Lakṣmī, sometimes as part of Rādhā and is designated as *Kṛṣṇajīvanī*. Similarly the story of Śālagrāmaśilā may be a remnant of the old primitive stone worship and the story of Śaṅkha (bone of the demon) may be an after development of primitive bone-worship (ancestor worship ?). This aspect needs special study and research.

# 'THE CUSTOM OF BITING GRASS' IN RETROSPECT

USHA JAIN

*Chandigarh*

The usage of the maxim "to hold grass in one's teeth" is world-wide and has been a symbol of the submission in all ages.

Indian proverbial lore, to "hold grass in one's teeth" is a great desideratum in the field of Indology with a historical background. The maxim as evidenced from literature did not have presincts limited to India alone, but known to be prevalent elsewhere too. The aim of this article is to review the theme in its entire perspective and also endeavours to investigate its roots. Molesworth[1] in his *Marathi-English Dictionary,* explains it as "To humble one's self ; to acknowledge defeat or subjection ; to profess submission". Cobham Brewer in his Readers' Handbook[2] and in his *Dictionary of Phrase and fable*[3] refers "To give grass ; as to confess yourself vanquished". However, no usage of this proverb is recorded by Brewer.

Liebrecht found trace of this custom in Europe. He made an extract from Campbell's *Popular Tales of the Wes-*

---

1. Molesworth :—Marathi English Dictionary, p. 408.

2. Cobham Brewer :—Readers' Handbook London, 1911, p. 444.

3. Cobham Brewer :—Dictionary of Phrase and Fable, London, 1912, p. 546.

*tern High Land*[4] which goes like this "He went to the fair and he took a straw in his mouth to show that he was taking service". It was, probably a belief or a custom in England in old times, for people who wished to be hired as false witnesses, to sit with straws in their mouth.

In Latin, there is a phrase mentioned by Pliny,[5] Herbam dare aut porrigêre—If the phrase "Herbam dare" was current in the time of Pliny (A.D. 23—79), we can easily presume its existence in Latin many years before the Christian era.

Perhaps the earliest reference to the custom of taking grass in mouth as a sign of submission in India is found in the oldest known record of 4th C.B.C. The inscribed steatite or soap stone vase, was unearthed from a Stūpa at Piprawa in the Basti district of U. P. The inscription records that "this receptacle of the relics of the body of the Lord Buddha of the Śākyas (is the deposit) of the brothers of Sukṛti, with sisters, sons and wives". The remains and relics were of the slaughtered residents of Kapilavastu.

Hiuen-Tsang gives account of the occurrence which led upto to the massacre of the Śākyas. The story is found in the introduction of the *Bhaddasālajātaka,* No. 465 (the Jātaka Ed. Fausböll, 4.144 ; tr. Rouse 91), and in almost identical terms in Buddhaghoṣa's commentary on the *Dhammapada* (ed. Fausböll, 216). Buddhaghoṣa says in his account...that on the fourth occasion Viḍūḍabha came to slay the Sākiyas, they went out to meet him in battle. They however, "the Kinsmen of Buddha, were people who did

4. Campbell :—Popular Tales of the Western Highland. II, p. 304.

5. Pliny :—Nat. Hist. XII, 4.

not kill their enemies; they would die rather than deprive their foes of life". They exercised great skill in archery by shooting arrows in between the shields and the openings of the ears of their assailants, without harming any one—. Viḍūḍabha when found none of his men were slain was partially appeased and diverted from his purpose. He gave orders that only those who confessed themselves to be Sākiyas should be slain and the immediate followers of his material grand-father, Mahānāma the Sakka, should be spared.

The Sākiyas were people of respect about whom it was said :—Te marantā pi musāvādaṁ na bhaṇanti ; "they would die, rather than utter a falsehood", or at any rate tell a deliberate lie. The Sākiyas were not prepared to die on that occasion. Not seeing any other course open to them, they restored to a ruse. Some of them began to bite grass ; others snatched up reeds. When asked "Are ye Sākiyas, or not ?" "each replied Nō Sākō tiṇaṁ ;" instead of saying Nō Sākiyō, "I am not a Sākiya !" Some mumbed, "Nō Sākō naḷō". Each of them conveyed the meaning, viz. "I surrender and ask for quarter". He spared not only the immediate followers of Mahānāma but even those, who grass in the mouth were allowed, to "remain alive".

Reference to this custom, is also found in Bāṇa's *Harṣa-Carita*[6] (Cir A.D. 630).

In our search for references to the custom of taking grass in the mouth, we come to A.D. 1305, when Merutuṅga composed his *Prabandhacintāmaṇi*.[7] This work

---

6. Cowell and Thomas tr. of Harṣa-Carita, p. 101, note 4.

7. Tawney tr. of Prabandhacintāmaṇi, Calcutta, 1901, p. 55.

refers to the custom in the following lines. "Since even enemies are let off, when near death, if they take grass in their mouths, how can you slay these harmless beasts who always feed on grass?" And again[8] :—"Grass is now worshipped in Paramardin's city, because, when taken in the mouth, it preserved our lord Paramardin from Pṛthvīrāja, the King of men".

To this meaning of the biting of grass, there are frequent allusions. For instance, a passage in an inscription of the twelfth century says "Tears, forsooth, are in the eyes of the enemy's consort; blades of grass are between thy adversary's teeth;—desolate are the minds of thy foes, when the jubilee of thy onward march has come, O illustrious lord Vigraharāja!"

Emperor Baber (A.D. 1483—1530) in his *Memoirs*[9] refers to the custom of holding grass between teeth as a sign of surrender, which was current among the Afghans about A.D. 1500. He said "The Afghans when they are reduced to extremities in war, come into the presence of their enemy with grass between their teeth; being as much as to say 'I am your ox'. This custom, I first observed (says Baber) on the present occasion; for the Afghans, when they could not maintain the contest, approached us with grass in their teeth. Orders were given for beheading such of them as had been brought in alive and a minaret was erected on their heads at our next halting place".

Rudra Kavi in his *Rāṣṭrauḍha-Vaṃśa-Mahākāvya*[10] gives a description of the defeat of the King of Jawhar

8. *Ibid.*, p. 189.

9. Erskine tr. of Baber's Memoirs, 1826, p. 159.

10. Gaekwad Oriental Series, Baroda, 1917, p. 71.

(Bombay Presidency) by the king of Bāglān. In this description the Jawhar chief is described as holding grass in his mouth, with the enemy's battle-axe on his neck. This description shows the complete surrender of the Jawhar chief to the Bāglān ruler. Rudrakavi composed this Mahākāvya in A.D. 1596.

*Camatkāri Gītā*[11] by Ramāvallabhadāsa *alias* Tukopant composed this work between A.D. 1633 and 1636. There is a splendid description of the storming of the Deogiri fort about A.D. 1627, when Tukopant was about 18 years old. In *Camatkāri Gītā* the author refers to the proverb "holding grass between teeth" as a sign of surrender.

There is a description of the Portuguese surrender to the Peshwa Chimaji Appa in A.D. 1739 (Siege of Bassein). The Portuguese took off their hats and with grass in their mouths surrendered to the Peshwa.

There was an article in the *Sunday Chronicle* of Bombay, for 24th Dec., 1939, on 'Daria Doẉlat' of Tippu Sultan and its frescoes. One of these frecoes depicts a "battle scene" which shows Colonel Baille "with a stalk of grass held between his teeth"—this is artist's depiction of the sign of submission. Here is then a pictorial representation of the proverb sometime before A.D. 1799. This picture is referred to by Pandit Chitrav Shastri in his article on Tippu Sultan (A.D. 1753-1799) in his *Madhyayugīna Caritrakośa.*[12]

---

11. Camatkāri Gītā, Hubli, 1925, p. 5.

12. Pandit Chitrav Shastri :—Madhyayugīna Caritrakośa, Poona, 1937, p. 420.

The age old proverb "to take grass" has the same significance even today. This custom is seen among the Panjabis and the Himachalis. The Panjabis and even the Himachalis after confining the corpse to the flames, take the piece of grass in their mouth and break it into pieces with the teeth. This act, symbolically indicates the 'very submission' to the will of the Almighty.

All these references testify the usage of this maxim and its prevalance as a custom both in India and foreign countries in abundance. How and why the maxim was coined remains unknown. The etymology of this maxim, therefore, remains a mystery. It will be suffice to say, the custom of holding grass in the mouth between teeth, has been a token of surrender, in all ages.

# ON SOME VOCABLES OF THE BHĀGAVATA

DR. SHEO SHANKAR PRASAD
*Muzaffarpur*

The words also have their history, the study of which is often very interesting. They undergo changes in meaning or form. A study of some of these words from *Bhāgavata Purāṇa* has been presented here.

The *Bhāgavata-Purāṇa* attributed to Vyāsa is not only important from the religious and philosophical but also from the linguistic point of view. Specially it's vocables are of much lexical interest. Commenting on the language of the Purāṇas, Prof. T. Burrow says, "Linguistically these compilations are not of great interest, except occasionally in the matter of vocabulary".

Sometimes, we see that some of the words cease to be legal tenders in literature, while the others remain in vogue. The latter also undergoes change in meaning or form. In other words old meanings find their substitutes in new ones or earlier forms give place to new-comers, but not as a rule.

In the *Bhāgavata* we come across many words which are ordinarily not in vogue in classical literature. In addition to this, even some of the common words come before us with altogether different senses. Thus for the sake of example, we may take the word 'asṛṇyam' which occurs in the following verse of the *Bhāgavata*—

मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् ।
भीता निलिल्यिरे देवास्ताक्ष्यंत्रस्ता इवाहयः ॥

(III 17.22)

Here the word 'asṛṇyam' has been used in the sense of 'unrestrained' (*uddhata*). This is an adj. used for *Hiraṇyākṣa.* But how this meaning the word has acquired. In Sanskrit the word 'sṛṇi' or 'śṛṇi' denotes the pike which goads an elephant.[1] With the affix 'yat' we may have the form 'sṛṇya' or śṛṇya'. Here the affix has been added in the sense of 'he deserves that'.[2] Now the meaning of 'sṛṇya' or 'śṛṇya' is 'one who deserves the pike'.

'Asṛṇyam' or 'aśṛṇyam' is just the reverse of 'sṛṇyam',[3] i. e. 'asṛṇyam' denotes such a person on animal who does not need pike at all. Hence due to transference of meaning it expresses the sense of independent, arrogant, unrestrained etc.

### *Udumbara*

The next word of lexical interest is 'udumbara'.

'Udumbara' is the name of a particular tree which is known as 'gūlara' in the Hindi speaking region of India. The word is also found in the Vedic literature.[4] It is considered to be very pious and is very important from the medicinal point of view. But in the *Bhāgavata* it has been used in an altogether different sense.

विद्रमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः ।
स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भ्राजत्स्फटिकभित्तिभिः ॥

(IX. 11.32.)

---

1. *A. K.* II.8.41 *aṅkuśo 'strī sṛṇiḥ striyām* and *Ibid.*, pp. 279 *śṛṇir aṅkuśavācī ca kāśaś ca tṛṇavācakaḥ.*

2. *Pāṇ.* V.i.63 *tadarhati.*

3. *na sṛṇyam asṛṇyam.*

4. *A. B.* 1.3.5. *Caran vai madhu vindati caran svāduṃ udumbaraṃ.*

(The door-frames and thresholds of the royal house of Lord Rama were made of corals, the pillars of cats eyes, the floor of lustrous emeralds and the walls of brilliant quartz.)

Here 'udumbara' denotes 'threshold'. It is an innovation of Vyāsa, the author of the *Bhāgavata.* I think in Ancient India, the wood of the udumbara tree might have been used for making the threshold. So later on due to transference of meaning it denoted 'threshold' also.

*Grāma-siṃha* .

One such word is 'grāma-siṃha' also.

The etymological sense of the word 'grāmasiṃha' is the lion of the villages. It is quite different from the lion found in forests, i. e. wild lion.

We come across the word in the following verse of the *Bhāgavata*—

सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम् ।
व्यमुञ्चन् विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ॥

(iii 17.10)

(Hither and thither, the dogs having raised thin neck began to articulate different type of sound as if they were singing and weeping)

Śrīdharasvāmin and other commentators say that it means 'dog' śvan.[5] I think the use of the word *'Kukkura'* or *śvan* in lieu of the word. Grāmasiṃha' in the aforesaid verse must have suggested an indecent meaning, which is considered to be a blemish in Sanskrit poetry. Hence the poet gave up all other synonyms of 'Kukkura' and selected

---

5. *Śrīdharī—grāma-siṃhāḥ śvānaḥ.*

the word 'grāma-siṃha' which is quite unknown to Amara also.[6] This is a nice example of euphemistic change.

### *Campakārṇa*

Another word of lexical interest used in the *Bhāgavata* is 'campakārṇa' (चम्पकार्ण)

While presenting a graphic picture of the heaven, the poet has presented a fascinating picture of some beautiful flowers. Here one such flower is 'arṇa'.

मन्दार-कुन्द-कुरबकोत्पल-चम्पकार्ण-
पुन्नाग-नाग-बकुलाम्बुज-पारिजाताः ।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या
यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ॥

(iii.15·16)

Here there are two words 'campaka' and varṇa in the compound word 'campakārṇa'. All of us know that sometimes 'V' of Varṇa is elided.[6] For instance, we may take the word 'nava-varṇa'='navārṇa' ( नवार्ण ). This is an example of haplology.

Similarly the compound of *campaka+varṇa* is *campakārṇa.* But this is not a case of haplology. This sort of elision is permitted for the correctness of metre.[7] *Svarṇa* (स्वर्ण = सु + अर्ण )[8] is another example of this type of linguistic change.

---

6. *Varṇa śabde vakāra-lopaś chāndsaḥ.*

7. *api māṣaṃ maṣaṃ kuryāt, chando-bhaṅgaṃ na kārayet.*

8. *A. K.* pp. 333 *suṣṭhu ṛṇoti, pacādy ac, yad vā-arṇanam 1. śobhaṇo'rṇo gatir anena (comm. Rāmāśramī).*

### *Jalaja*

The word 'jalaja' in the sense of a 'conchshell' is rare in Sanskrit literature. But we come across the word in the following verse of the *Bhāgavata*—

इत्यादिश्य हृषीकेशः प्रध्माय जलजोत्तमम् ।
हर्षयन्विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम् ।।

(IX.4.2·)

Here the word *'jalaja'* expresses the sense of a conch-shell.

The word *'jalaja* is a compound word (jale jāyate iti). Here it presents the meaning of anything which is produced in water. As conch-shells are also born in water, hence it is taken to be a synonym of a conch-shell.

On the contrary, when it expresses the etymological as well as the conventional meaning (jale jāyate iti jalajam kamalam) at the same time, then it is taken to be a synonym of the lotus. Generally we find the latter. The Amara also holds with this meaning. But Vyāsa, the author of the *Bhāgavata* has made use of the word in the etymological sense of the word.

### *Paridhi*

In the list of some rare words used in the *Bhāgavata* the word 'paridhi' may be included also.

The word 'paridhi' gives the sense of wall, fence, anything surrounding or enclosing another, the circumference of a circle, the horizon, a misty halo round the sun or the moon.[9]

---

9. *A. K.* 1.4.32 *parivesas tu paridhir upasūryaka-maṇḍale/ Ibid.* iii.3.97 *paridhir yajñiyatarolı śākhāyām upasūryake/*

But the following verse of the *Bhāgavata*—

मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्यु-
न्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा
मथ्नन् मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताप्योद्ध्रताद्रिः ॥

(viii.7.17)

says that the clothes (paridhi) of the Lord Viṣṇu were yellow like the gold (Kanaka).[10] Here the word 'paridhi' has been used in it's etymological sense (parito dhīyate iti paridhiḥ). As the clothes surround or cover the body of a person, so it is known as 'paridhi'.

Further in the ninth canto we come across the verse—

तुल्यैश्वर्य-बल-श्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः ।
पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भिः परिधीनिव ॥

(viii.15.10)

(Thereupon being surrounded by the leading Daityas together with their respective armies equal to him in supremacy, prowess and prosperity who were as if with their looks drinking up the sky and burning the quarters.....).

Here the word 'paridhi' gives the sense of a quarter.[11] It is altogether a new meaning which is very rare. All of us know that the horizon is also an imaginary circumstance. So from circumference we twist the meaning of the horizon. And again, as all the cardinal points fall in the ambit of the horizon, hence, it gives the sense of directions. This is nothing but an example of transference of meaning.

---

10. *Śrīdhara-Kanaka-paridhiḥ pītavāsāḥ.*

11. *Ibid., paridhin diśaḥ.*

### *Pārtha*

It is very interesting to note that the word Pārtha has been used in the sense of Yudhiṣṭhira in the following verse of the *Bhāgavata*—

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः ।
ब्रह्मण्यः सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यथा ।।

(i.12.19)

Pṛthā was another name of Kuntī, one of the two wives of Pāṇḍu. Yudhiṣṭhira, Bhīma and Arjuna were the three sons of Pṛthā. So they are known as Pārtha. This is the etymological meaning of the word 'Pārtha'. But as a poetic convention it is a metronymic of Arjuna. In the *Bhagavadgītā*[12] and even in the *Amarakośa*[13] it has been used as a synonym of Arjuna only. But the *Bhāgavata* has made use of the word in its etymological sense.[14] Such usages are found rarely.

### *Vismaya*

The word 'vismaya' seems to be a coinage of Vyāsa, the author of the *Bhāgavata*. So it looks very fascinating.

तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः ।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ।।

(iii.17.31)

---

12. 1.25 *bhīṣma-droṇa-pramukhataḥ sarveṣām ca mahīkṣitām/ uvāca pārtha paśyaitān samavetān kurūniti//*

13. *A. K.* pp. 30 *arjunaḥ kakubhe pārthe kārtavīrya-mayūrayoḥ* (comm. Rāmāśramī).

14. *pṛthāyāḥ apatyaṃ pumān yudhiṣṭhiraḥ.*

(As soon as you will approach that warrior, you will be deprived of your pride and you will take rest in the burning ground surrounded by dogs).

Here 'vismayaḥ' means devoid of pride.[15]

The word 'vismaya' is generally used in the sense of astonishment, wonder and pride.[16]

The word 'smaya' also denotes astonishment, wonder, pride, arrogance, haughtiness.[17] If the word 'vismaya' is expounded as 'vigataḥ smayaḥ yasya', then it suits our explanation.

In reality it seems to be an innovation of our poet.

*Śuṣmin*

Another word of lexical interest to be noted here is 'śuṣmin' which occurs in the following verse—

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः
क्षतास्रवघ्राणविवृद्धमन्य्वोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया
व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ॥ (iii 18.19)

Here 'śuṣmiṇoḥ' means intoxicated, mad, furious, powerful. 'Śuṣma' is a vedic word.[18] It is used in the sense of power, strength. Yāska[19] is also in know of the word. The

15. *śrīdharī—vismayo naṣṭagarvaḥ.*
16. *A. K.* 1.7.19 *Vismayo'dbhutam āścaryaṃ citram api.*
17. *S. E. D.* (A), pp. 628.
18. *ṚV.* VI.61.2.
19. *Nir.* 2.24. *Śuṣmam iti balanām*

Amarakośa[20] also takes notice of it. Western Philologists try to connect the word with śvas to breath. Due to saṃprasāraṇa *śvas* becomes *śus*. Skt. *śuṣka* and Aves. *huska* are the evolutes from the word *śvas.*[21]

By affixing in the *śuṣma* we get the word *śuṣmin* (endowed with strength). It is not unnatural if one endowed with prowess proves to be made intoxicated or furious.

*Śauṇḍīram*

The next word of lexical interest is 'śauṇḍīram'.

The word śuṇḍā[22] means an elephant's trunk, spirituous liquor, travern, the stalk of a lotus and a courtezan. Besides 'śuṇḍā', we also come across the word 'śuṇḍa' which means rut and elephants trunk.[23]

One who takes wine becomes intoxicated and looses his senses. In such a condition he acts like a brave person. Thus the word 'śauṇḍa'[24] (derived from 'śuṇḍa') means intoxicated, brave. From 'śauṇḍa' we derive 'śauṇḍīryam' which is a noun. Vyāsa, the author of the *Bhāgavata* has

---

20. *A. K.* ii.8.102. *draviṇaṃ taraḥ saho-bala-śauryāṇi sthāma śuṣma ca/śāktiḥ parākrama-prāṇāu.*

21. *E. O. Y.* pp. 71.

22. *A. K.* ii.10.40 *śuṇḍā pānaṃ madasthānam.*

23. *Ibid.*, pp. 351 *śuṇḍāpi jalahastinyāṃ madirā-karihastayoḥ/ nālinyāṃ vāra-yoṣāyāṃ śuṇḍas tu mada- nirjhare//*

(quoted from 'Viśva')

24. *S. E. D.* (M) pp. 1093.

used *śauṇḍīram* in the place of 'śauṇḍīryam' in the following verse—

आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसम्
कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान् सहस्रणी-
जंगाद नारायणमादिशूकरम् ॥

(iii.8.21.)

(The demon Hiraṇyākṣa was brave and bereft of fear). Here the word 'śauṇḍīram' has been used as an adj. and it means 'brave'. Here it should be noted that this is a nice example of semantic change known as Transference of meaning.

The development of the word is like this—

Śuṇḍā > śauṇḍa > śauṇḍīryam > śauṇḍīram

The poet has used the word for the correctness of the metre upajāti (Indravaṃśā vaṃśastha).

## ABBREVIATIONS

*A. B.—Aitareya-Brāhmaṇa*
*A. K.—Amarakośa* of Amarasiṃha
*E. O. Y.—Etymologies of Yāska* Dr. S. Verma
*Nir.—Nirukta* of Yāska
*Pāṇ—Aṣṭādhyāyī* of Pāṇini
*RV.—Ṛgveda*
*S. E. D.* (A) *Sanskrit English Dictionary* of V. S. APTE
*S. E. D.* (M) *Sanskrit English Dictionary* of M. M. Williams

# A GRAMMATICAL NOTE ON THE WORD अभितः

DR. A. N. PANDEY

*Varanasi*

कात्यायन and पतञ्जलि explain the word अभितः as उभयतः. According to कात्यायन अभितः takes the accusative, whereas in literature, it has been used with genitive also. The view of कैय्यट and नागेश that अभितः means आभिमुख्य also, is not supported by कत्यायन and पतञ्जलि.

The sūtra of Pāṇini 'पर्यभिभ्यां च' (5.3.9) ordains that the affix *tasil* comes after परि and अभि. The *Vārttika* 'सर्वोभयार्थाभ्यामेव' on the said sūtra points out that the affix *tasil* comes when परि means 'all' and अभि means 'both'. Thus according to the *Vārttika* of Kātyāyana, the meaning of परितः is सर्वतः 'on all sides' and that of अभितः is उभयतः 'on both sides'. It is supported by the *Mahābhāṣya.*[1] Patañjali interprets the sūtra—"पर्यभिभ्यां चेति यदुच्यते तत्सर्वोभयार्थे द्रष्टव्यम्। यावत्सर्वतस्तावत्परितः। यावदुभयतस्तावदभितः।" The *Kāśikā* explains the sūtra in the same way, "परि अभि इत्येताभ्यां तसिल् प्रत्ययो भवति। सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्यां प्रत्यय इष्यते। परित। सर्वत इत्यर्थः अभितः।उभयत इत्यर्थः।" Thus the *Mahābhāṣya* and the *Kāśikā* explain अभितः as उभयतः The *vārttika* 'अभितःपरितःसमया-निकषाहाप्रतियोगेऽपि' ordains that the words अभितः, परितः, etc. take the accusative.

---

1. *Mahābhāṣya,* Vol. II, p. 603, Motilal Banarsidass.

Kaiyaṭa comments, "तसिलन्तावभितःपरितःशब्दावुभयतः सर्वत इत्यनयोरर्थयोर्वर्तते। तद्योगे षष्ठ्येव प्राप्नोति। आभिमुख्यवृत्तिरपि विभक्तिप्रतिरूपको निपातोऽभित शब्दोऽस्ति। सोऽपीह गृह्यते। तद्योगेऽपि षष्ठ्येव प्राप्नोति।"[2] Nāgeśa observes in the *Śabdenduśekhara*, "यत्त्वाभिमुख्यवृत्त्यखण्डमेवाभित इति गृह्यते प्रतिपदोक्तत्वात् न तसिलन्तमिति तन्न, परितःशब्दसाहचर्येण तसिलन्तस्यापि ग्रहात् तत्र मानाभावाच्च।[3]

From the remarks of the *Mahābhāṣya* and the *Kāśikā*, it is clear that the meaning of अभितः is उभयतः. But Kaiyaṭa and Nāgeśa observe that अभित in the *Vārttika* 'अभितःपरितः.......' has two meanings— उभयतः 'on both sides' and आभिमुख्य 'in front of'. Now a pertinent remark may be made here. According to Kātyāyana, *tasil* is possible when the meaning of अभितः is उभयतः 'on both sides'. And it is supported by the *Mahābhāṣya*. Kātyāyana and Patañjali have only one meaning of अभितः, i. e.. उभयतः but Kaiyaṭa and Nāgeśa add one more meaning आभिमुख्य to it. अभितः meaning आभिमुख्य is an अखण्ड पद. Thus अभितः as an अखण्ड पद means आभिमुख्य and as a word formed by adding *tasil* means उभयतः. This is what has been drawn by Kaiyaṭa and Nāgeśa. In the *Vārttika* of Kātyāyana 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' both the words अभितः and परितः are mentioned. These words convey the same meanings which have been enjoined by सर्वोभयार्थाभ्यामेव.

The word अभितः is found in other senses also. According to Apte's *Dictionary*, the word has the following meanings—

(1) near to, to, towards ; 2 (a) near, hard by, in the proximity of ; (b) before, in the presence of ; (3) opposite

---

2. *Mahābhāṣya*, Vol. I, p. 487, Motilal Banarsidass.
3. Vol. II, pp. 856-57 Varanaseya Sanskrit University.

to, facing, in front of ; (4) on both sides ; (5) before and after ; (6) on all sides ; (7) entirely, completely.

According to the *Amarakośa* अभितः has the following meanings[4]—

समीप near, उभयतः on both sides, शीघ्र soon, साकल्य entirely and अभिमुख in front of.

Now we shall see the uses of अभितः which have grammatical significance. In the following अभितः is used with the accusative—

(1) अभितः कृष्णं गोपाः

The meaning of अभितः is 'on both sides'.

(2) विश्वं शर्धो अभितो मा नि षेद नरो न रण्वाः सवने मदंतः ।

—*Ṛgveda* 7.59.7.

Sāyaṇa explains—

"विश्वं शर्धो व्याप्तो मरुद्गणो मा मामभित. समंतान्नि षेद । निषीदतु ।

The meaning of अभितः is 'on all sides'.

(3) अभितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे ।

—*Kirātārjunīya* 11.8.

The meaning of अभितः is 'near'.

(4) धृतसत्पथस्त्रिपथगामभितः स तमारुरोह पुरुहूतसुतः ।

—*Kirātārjunīya* 6.1.

The meaning of अभितः is 'in front of'.

(5) परिजनश्च यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः ।

—*Mālavikāgnimitra,* p. 11 (after 1.8).

Sometimes अभितः takes the genitive—

त्वदर्थमपि विन्यस्तः शिलापट्टोऽयमायतः ।

यस्यायमभितः पुष्पैः प्रवृष्ट इव केसरः ॥

—*Uttararāmacarita* 6.36.

---

4. समीपोभयत शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः ।

—*Amarakośa,* 3.4.17.

In the following mantra we find अभितः used with the dative—

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ।।

—*Atharvaveda* 3.5.6.

Sāyaṇa observes that here the dative is used in the sense of genitive. He explains मह्यं as मम and अभितः as सर्वतः—" सर्वान् उक्तोपलक्षितान् जनान् मह्यम् । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । मम अभितः सर्वतः उपस्तीन् सेवार्थं समीपे विद्यमानान् उपासीनान् वा कृणु कुरु ।"

From the above discussion, the following points are evident—

(1) Kātyāyana and Patañjali say that the word अभितः means उभयतः only (See the sūtra पर्यभिभ्यां च). According to the *vārttika* 'अभितःपरितः ....' अभितः takes the accusative. The *vārttika* does not allow the genitive.

(2) In literature we find examples in which अभितः has been used with the accusative and genitive both.

The observation of Kaiyaṭa and Nāgeśa, that the meaning of अभितः is आभिमुख्य also, finds no support in Kātyāyana and Patañjali.

# A UNIQUE SALE-DEED OF THE 13TH CENTURY ON COPPER-PLATE

Dr. G. C. Tripathi

*Allahabad*

The author reports about a newly discovered copper plate belonging to the end of 13th century which records a sale-deed between one *Lingabrahma* of lunar race and some *Mādhava* of Śrī-vāstava family. The former transferred the ownership of a village lying in Kūsī region and named *Ghaṭauṇḍī* to the latter for a price of five thousand silver ṭankas. The paper also discusses the political, social and cultural significance of this important record.

An antiquity dealer of Varanasi recently brought a dirty copper-plate to me in order to enquire whether our Institute would be interested in its purchase. I kept the plate with me for a few days to have a closer look at it. On scrutiny the plate turned out to be a historical document of rare importance since it recorded the transaction of the sale of a village. The copper plates usually record grants or donations of villages to Brahmins or royal officials. But this was a document which recorded the purely worldly affair of the sale of a village by its legal owner to a buyer against a certain payment. The plate has since been returned to the dealer who was not willing to part with it at the price offered by us. He was also not able to tell us the exact find spot of the plate since the plate had probably changed many hands before finally surfacing at Varanasi.

## 1. Description of the Plate

The plate weighs roughly 800 grams and has a rectangular shape of 32 cm×22 cm approximately. It is inscrib-

ed on both sides. The writing contains 15 lines on the obverse and 11 lines on the reverse side with 40 to 45 letters on an average. There is neither any seal nor any hole for holding a ring. The language of the inscription is Sanskrit and the Script Devanāgarī. The record is composed throughout in verses. There are altogether 27 verses of which 15 are inscribed on the front side and 12 on the back. The 28th verse, which is a traditional Śloka praising the grant of land as well as its acceptance, is left incomplete.

## 2. Contents of the Plate

The transaction took place on Monday, the tenth day of the bright fortnight of the month of Jyeṣṭha in the year 1355 (i. e. current year 1356) of the Vikrama era which corresponds to the eleventh day of the May of the year 1299 of the Christian era. The verse under reference runs as

पाण्डवेषुहुतभुग्विधुयुक्ते
वत्सरे नृपतिविक्रमचिह्ने ।
ज्येष्ठमाससितपक्षदशम्यां
सोमवारसमलंकरणायाम् ॥

पाण्डव = 5, इषु (arrows of cupid) = 5, हुतभुक् (fires) = 3, विधु (moon) = 1, i. e. 1355.

The year mentioned in the grant is the passed year (*gatābda*) and not the current year, as was universally the practice with the reckoning of the Hindus. We may recall that in the year under mention Sultan *Alla-ud-din Khilji* (1296–1316 A.D.) was there on the throne of Delhi.

The name of the village which changed its ownership is given as घटौंडी (Ghaṭauṇḍī) which was situated in the country or region (deśa) of *Kūsī* which seems to have been

situated somewhere in the north-eastern part of Uttar Pradesh or in Bihar. The owner of the village was *Lingabrahma* belonging to the lunar dynasty (Candrakula) of the Kṣatriyas who was holding the office of a minister in the court of the local king. The purchaser was one *Mādhava* belonging to the family of Śrīvāstvyas of the Kāyastha race. The village was sold for a price of five thousand silver coins then known as *ṭankas* (टंकानां रजतीयानां पंचभिर्दशभि शतैः, śl. 21).

The transaction took place in the precincts of the temple of the deity of the village (Śl. 20) whose name has been given in the verse No. 14 as Maṇḍaleśvara. In all probability this was a temple of Śiva. It is evident from the name (Lingabrahma) of the seller that he was a staunch Śaiva. The temple also had a tank in which the Seller had a bath before ritually abdicating his rights over the village in favour of the buyer.

Of the 27 verses inscribed on the plate only 23 are directly related to the sale. The 24th verse mentions the name of the scribe which is unfortunately not clear due to indistinctness caused by erosion. I conjecture that it was *Viravara* (or Viravari?) with which the verse in question starts. The 25th verse mentions that the plate was inscribed by a blacksmith named *Nānikabhadra.* The following two verses as well as the incomplete third one are traditional ślokas from the Dharmaśāstras beseaching the future rulers to honour the sanctity of the grant or, in our case, the transfer of the ownership.

The major portion of the grant is devoted to the description of the geneologies of the families of the Seller and the Buyer and since the Seller belongs to a family of royal officers (*Saciva,* śl. 5) or ministers (śl. 16), the geneology of

F. 34

the dynasty of the king in whose kingdom the village is situated, is also given. Thus the inscription contains three geneological tables in all.

### 3. The Language and the Orthography of the Inscription

Our inscription shows certain interesting features of the Devanagari writing which may be summarised as follows :

(a) The Sanskrit inscriptions of medieval period usually do not distinguish between the letters व and ब and almost innvariably use the former for the latter as well. Our inscription, for one, clearly distinguishes between the two. Whereas the letter व of the inscription has almost the same shape as it has today in the Devanāgarī Script, the left portion of ब has a square shape. One starts with the head-line and comes straight down half way in order to turn to right with a rightangle. The examples may be seen in lines 5 (*bibhrāṇo*) and 14 (*bibhrad*).

(b) According to the well-known rules of Sanskrit grammar, if a nasal sound is followed by any of the four consonants of an alphabetical group, the nasal changes itself into the consonantal nasal of the same class. Sanskrit inscriptions are usually very particular about it. Our copper plate however, represents this nasal through an *anusvāra* and hardly ever writes the class-nasal. In the second line itself, for example. दण्ड is written as दंड, गाङ्ग is written as गांग and अम्भः is written as अंभः. Compare also चंद्र for चन्द्र (*l*.5), श्रीमंडलेश्वराख्यस्य कुंडे

मंडलमंडने (*l*.15) for श्रीमण्डलेश्वराख्यस्य कुण्डे मण्डलमण्डने and पंचभि: for पञ्चभि: etc. In this respect the orthography corresponds very much to the present day simplified spelling of Sanskrit words.

(c) The consonant following upon a *repha* (r) is usually doubled. The examples are गर्ग्ग (*l*.4), आर्य्यं (*l*.5), तीर्ण्ण (*l*.6), दर्प्प (*l*.10). अर्च्चने (*l*.10) and कर्म्म (*l*.13) etc.

(d) Very little change, if any, is discernible in the conjunct letters त्व, प्प, प्व, न्य, ष्ट, ष्ठ, ट्च and द्य. It may partly reflect the writing pattern of the scribe but may also be due to the difficulty in inscribing the desired form of the letters correctly by means of a crude instrument like chisel.

(e) The scribe twice writes the word राज्य as राय्य (*l*.5), a fact which sheds some light on the pronunciation of the letter य in those days.

(f) The method of writing *Srī* in this plate is to join the letter री with half of the letter श i. e. श्री. Since the upper loop of the letter श is mostly missing, this looks more like a स्री than श्री.

The language of the inscription is not always grammatically perfect. Sometimes it even becomes difficult to construe a verse properly. Verse No. 6 (*śrīrāmaḥ* etc.) may be cited here as an example which is impossible to understand though metrically it seems to be in order. The first half of the verse 12 has no finite verb at all though it is absolutely desirable. Similarly, it is doubtful what one should consider as the accusative-object in verse 13 of the present participle *bibhrad* occurring in pāda *d*. The same present participle (*bibhrad*) has been used more or less as a finite

verb in verse No. 7. Such cases defy an exact translation. I have, therefore, given only a purport in such circumstances.

## 4. The Ṭext

### *Side 1* (*Front*)

1. ॐ नमो गणपतये । दामोदरो धरादेवो धरानाथः सुहृज्जनः । वासवः सुरभिर्भूमौ शुभं ध्यायन्तु नित्यशः ।। [१] ।
2. भुवं बिभर्त्तु विश्वेशो हीरो रामो गणाधिपः । दंडपाणिर्म्महाकालो गांगमंमः पुनातु वः ।। [२] । पांडवेषुहुतभुग्विधुयुक्ते व-
3. त्सरे नृपतिविक्रमचिह्ने । ज्येष्ठमाससितपक्षदशम्यां सोमवारसमलंकरणायाम् ।। [३] । एतस्यामत्रकुटघां पुरि
4. नृपतिवरो गर्ग्गनामा समासीत्तस्माज्जातस्तनूजो बहलतरयश [ा] : शस्त्रचातुर्यधुर्य्यः । वीरः श्री पृथि-
5. व्यो जगति समभवत्तत्सुतोवालणाख्यो बिभ्राणो राय्य [=ज्य] मार्य्यः सकलनिजगुणग्रामधामा नितान्तम् ।। [४] । एत-
6. स्य राय्ये [=ज्ये] सचिवः शुभंयुः श्रीनान्यदेवः सदयो वदान्यः । माहेश्वरश्चन्द्रकुलावतीर्ण्णः शूरो रणे भूभरणे समर्थः ।। [५] ।
7. श्रीरामः प्रतिपन्नस्य लंकायाः प्रभुराज्ञया । वीरः श्रीच [? भ] ट्टकेदारः पारावारमहारयः ।। [६] करालकरवालेन सम-
8. स्कंधो महाहवे । वेगेनाश्वपतिं जित्वा शुभ्रं बिभ्रदयं यशः ।। [७] । सुकृतं सर्व्वजन्तूनामुपादायानुकम्पया । दण्डचानामर्थमादाय
9. प्रजानां स्थितिहेतवे ।। [८] । प्रजार्थं काममासाद्य ज्ञानसंपन्न एव सः । काश्यामीशगतेरासीत्संगतो मोक्षमक्षयम् ।। [९] । अस्यात्मजः श्री-
10. नरसिंहदेवः खड्गेन भूमौ परभूपतीनाम् । स्वामी सदा संमुखमानवानां हन्तां रणे चाप्यतिदर्प्पभाजाम् ।। [१०] । देवानामर्च्चने भावो
11. विप्राणां कामपूरणे । गुरूणां सन्ततं यस्य श्रद्धापूर्व्वमुपासनम् ।। [११] । अतुलविमलशब्दो यस्य गत्वा दिगन्तं बहुविधतुरगानां सा-
12. धनानां समुद्रः । अनुगतजनतायाः कल्पवृक्षः स एव । सकलतुरगवर्षी वंदिवृन्दप्रियश्च ।। [१२] । अस्य प्रीतस्तनूजस्त्रिभुव-

13. नभवनभ्रान्तविश्रान्तकीर्तिर्द्दानत्यागानुकम्पानयविनयमहोत्साहकर्म्मानुरक्तः । दोर्वृक्षच्छायमाढ्यं [?] समरभरभय-

14. प्रीतिवासोपभोगं लिंगब्रह्माभिधानः कुलकमलरविर्बिभ्रदाविर्बभूव ।। [१३] । अयं पुण्यवतां श्रेष्ठो ज्येष्ठो धर्मिष्ठभूभुजाम् । श्री-

15. मंडलेश्वराख्यस्य कुंडे मंडलमंडने ।। [१४] । पयोभिः शुचिभिः स्नात्वा ˝ ˝ शुचिः सुमानसः । प्रदातृविक्रयीनाम्नामतःपूर्वोक्तवत्क्रमः ।। [१५] ।

## *Side 2 (Back)*

1. लिगब्रह्माभिधानोयं राज्ये मंत्री स्वयं प्रभुः । कूसीदेशीयविख्यातं घटौंडीग्राम-मुद्गतम् ।। [१६] । प्रसन्न उदकीकृत्य मा-

2. धवाय प्रदत्तवान् । विक्रीणीते यथामूल्यं ग्रामन्तन्तदनन्तरम् ।। [१७] । श्रीवास्तव्यकुलोद्भूतः कायस्थश्चिर [? स्थिर ?] बुद्धि-

3. मान् । चि [? टि ?] रदेवः सतानेको धर्म्माचारपरंपरः ।। [१८] । अस्यात्मजो निजकुलाम्बुजतिग्मभानुर्धीरो रतो यशसि

4. धर्म्मधराभिधान । एतस्य सूनुरभवत् पृथिवीयशस्वी श्रीमाधवः परिचितः पर-राष्ट्र एव ।। [१९] गृहीतमु-

5. दकं त्वस्य ग्रामस्य देवसन्निधौ । अनेन माधवेनैव हृष्टसंतुष्टचेतसा ।। [२०] । स ग्रामः सीमया युक्तः क्रीयते भुवि

6. विश्रुतः । टंकानां रजतीयानां पंचभिर्दशभिः शतैः । [२१]।। तदद्यारभ्य सादाय-मूषरपाषाणसंयुतम् । मधूकाम्रजलाधा-

7. रैस्तूलदारुभिरावृतम् ।। [२२] । आचन्द्रार्क्कमयं ग्रामं (sic!) पुत्रपौत्रकुलक्रमम् । स्वार्थेनार्ज्जितनिर्व्विघ्नं भोग [ग्य ?] भोगाय वः सुख-

8. म् ।। [२३] । विरवरिमतिभरगौरं [?] करणकुलसरोजविभ्रमद्युमणिः । इदमपिलिख....[?] पुण्यः धृत [?] विनयः....करः

9. प्रखरः ।। [२४]। सर्वविज्ञानिनां मध्ये नानिकाख्येन मानिना । भद्रेण लौहकारेण समुत्कीर्ण्णं मनोरमम् ।। [२५] । सर्व्वानेतान्

10. भाविनो भूमिपालान् भूयो भूयो याचते रामभद्रः । सामान्योयं धर्म्मसेतुः [नराणां] काले काले पालनीयो भवद्भिः ।। [२६] । बहुभि-

11. र्व्वसुधा दत्ता राजभिः सगरादिभिः । यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ।। [२७] । भूमिं यः प्रतिगृह्णा [ह्णा] ति यश्च भू-
[मिं प्रयच्छति । उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतं स्वर्गगामिनौ ।।]

## 5. Translation

*Obverse*

1. Oṃ, obeisance to Lord Gaṇeśa. May Lord Viṣṇu, the god of the earth,[1] the [present] ruler of the earth, the friends, Lord Indra and the cow Kāmadhenu wish well to the earth.

2. May Śiva, Lord of the Universe, one who is meditated upon by the Yogins,[2] the Lord of the Gaṇas (of bhūtas, guhyakas and yakṣas etc.), bearing staff in his hand, the great Destroyer, sustain the world and the water of Ganges sanctify you.

3. In the year *Pāṇḍavas* (5), *the arrows* [of Kāma] (5), the [Vedic] *fires* (3) combined with *the moon* (1) of the era bearing the mark of the King Vikrama, on the 10th day of the bright half of the month Jyeṣṭha which is combined (lit. decorated) with a Monday [this deed was executed].

---

1. The Earth is supposed to be a wife of Viṣṇu (Cf. the traditional morning prayer of a Hindu: *Viṣṇupatni namas tubhyam pādasparśam kṣamasva me*). I have therefore taken the word *dharādeva* as an adjective to the word *dāmodara*. However the word may as well refer to the presiding deity of the region in which the grant is made.

2. So I translate the word *Rāma*. The translation is an english rendering of the etymological explanation of the term (i. e. रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः ). There are difficulties in taking it in the sense of Rāmacandra, the hero of *Rāmāyaṇa*. The following three adjectives also seem to refer to Śiva.

4. In this city of Agrakuṭī, there was an excellent king named *Garga*. From him was born his son *Śrī Mūghika* who was widely renowned as an expert in wielding the arms. His son was known as *Vālaṇa,* a noble (King) who ruled over his kingdom for long by means of the glory of his many virtues.

5. In his Kingdom (i. e. Court) [Was employed] as a minister the auspicious Nānyadeva, a scion of the lunar family [of Kṣatriyas]. devoted to Śiva, merciful and munificient, [the one who proved himself to be] brave in the battle-field and [the one who was] capable of protecting the earth (=kingdom).

6.ab. Unintelligible.

6.cd. The brave Bhaṭṭa-Kedāra whose force was like that of the huge surfs of an Ocean.

7. With his terrible sword, fighting shoulder to shoulder in a fierce battle he conquered Aśvapati[3] in no time and attained immaculate glory.

8. On account of his helping nature, he shared the merits of all beings[4] (or earned their good-wishes) and from the punishables he took [punitive] money in order to maintain the people.

---

3. Probably the ruler of Kannauj is meant who was famous for his mighty Cavalry. See *Corpus Inscriptionum Indicarum* (Ed. by Prof. V. V. Mirashi), Vol. IV, Pt. I. Introduction, p. lxxiv.

4. What is meant perhaps is that he heiped all beings mercifully and thereby claimed a portion of their merits (Sukṛta or Puṇya).

9. After achieving (i. e. fulfilling) the desires of his subject, he, having aquired [spiritual] knowledge, came to Kāśī, dedicated himself fully to Lord Śiva and attained salvation, the imperishable.

10. His son *Narasimhadeva* by virtue of his sword, was a protector (svāmin) of those men (soldiers) of the enemy-kings who surrendered themselves to him in the battlefield but a slayer of those who were excessively proud [of their valour].

11. His heart was set on worshipping the gods [and] on fulfilling the desires of the Brahmins. He always waited upon his preceptors with reverence.

12. His irreproachable glory, matchless as it was, reached the ends of the world (lit. space). He was an ocean of many varieties of horses[5] and other (strategic) appliances. For the people following him, he was like the wish-fulfilling tree. He was a favourite of the bards upon whom he used to bestow his entire collection of horses.

13. A cheerful son was born to him named *Lingabrahma* who was like the sun causing to bloom the lotuses in form of the [hearts of the] mem-

---

5. This has an allusion to the ancient belief that the god Varuṇa, who is referred to as "king Varuṇa" (राजा वरुण:) in the Vedic texts and who is the lord of the Oceans, keeps large varieties of beautiful horses with him. Cf. *Bhāgavata-Purāṇa* IX.15.5-7 where the sage *Ṛcīka* approaches Varuṇa for one thousand white stallions with one black ear.

bers of his family. His glory got tired after she had travelled throughout the vast space (lit. building) occupied by the three worlds. He was endowed with the qualities of munificience, detachment, compassion, good conduct, politeness and great enterprise. The two shady trees in form of his arms were capable of granting refuge to those who came terrified [to him] through the wars.

14.ab. This (Lingabrahma), the best of the meritorious persons, the seniormost of the righteous Kings—

14.cd. Having taken bath with pure waters in the tank of Maṇḍaleśvara.

15.ab. Which (tank) is the beauty (lit. ornament) of this region, [does] with pure heart [make the following transaction].

15.cd. The order given upto here is that of the names (of the family-line) of the Donor who is selling off (his property).

*Reverse*

16.17. This Lingabrahma, [by profession] a minister in the court,[6] is himself the owner. He has gladly (i. e. by his own sweet will) made over the famous and the nice village of *Ghaṭauṇḍī* lying in the country (region) of Kūsī to Mādhava by observing the rite of abdication with

6. I have felt it better to render the word *rājye* with "in the court" rather than "in the kingdom" which would literally be more correct.

F. 35

waters. He sells that village hereafter as per its price [mutually agreed upon].

18. [There was] a wise *Kāyastha* named *Ṭiradeva,*[7] born in the family of *Śrīvāstavyas,* foremost among the noble, one who was traditionally devoted to righteous conduct.

19.ab. His son whose name was *Dharmadhara,* was [like] a sun to the lotuses of his family. Steadfast in nature, he was devoted to [deeds bringing about] fame.

19.cd. His son is *Mādhava* whose fame is spread all over the world. He is better known in outside kingdoms [than at home].

20. This very Mādhava has received the [donation-] water [poured down by Lingabrahma in the cavity of his hands] with a happy and contented mind in the proximity (=presence) of the presiding Deity of this Village.

21. That (i. e. the one under mention) world-famous village with all its boundaries is being purchased (by him) for five thousand (lit. five-times ten-times the hundred) silver *taṅkas.*

22.23. Therefore, from to-day onward this village, which is surrounded by madhūka [trees], mango [-grove], water-pond and cotton-trees[8] [on its

7. It may well be a scribal error for *Ciradeva* since ट and च have very little difference in their forms.

8. Probably *śālmali* trees are meant whose pods (fruits) contain a stuff similar to cotton. However the 'cottonbelt' of village i.e. cluster of fields where usually cotton is grown, may also be meant.

four sides] and which has been purchased by you with your own money, is yours for enjoying its benefits peacefully and without any disturbance, including its land-revenue, its fallow land and its stone-quarries and the same right shall be vested in your descendants like sons and grandsons etc. till the time the sun and the moon last.

24. This was written by.... (Viravari ?)....sun to bloom the lotuses [in form of the members] of the family of Karaṇas....full of humility.... his expert hand.

25. This was beautifully inscribed by the blacksmith *Nānikabhadra* who occupies an honourable place among all technicians.

26.27.28. Rāmabhadra begs again and again all these future kings that 'this (viz. donation of land) is a common means (lit. bridge) to acquire religious merit for kings. It should therefore, be protected (=honoured) by you'. Many kings have donated land right since the times of Sagara. The merit of the donation accrues to him who at that time is holding the land. One who receives the land and one....[who donates it, both of them thereby perform pious deed and certainly go to heaven].

## 6. Significance of the Plate

### 1. *For Political History* :

The deed brings to light a hitherto unknown royal dynasty which was ruling in the northern part of the Go-

rakhpur-Devaria region at the foothills of the Himalayas. The *Kūsīdeśa* (country of Kūsī) seems to be the valley formed by the river Kusi or Kosi which emerges from the Makal peak of the Himalayas in Nepal and flows down south-eastwards through Mithila region of Bihar (known as *Tirhut* in medieval India) to merge into the Ganges east of Bhagalpur.

Our grant contains three geneologies in all, viz. :

(a) A short geneology of the local rulers (3 names) ;

(b) The geneology of the family of the Donor or the Seller who were *sacivas* in the Court of the former (4 names) ;

(c) The geneology of the family of the receiver or the buyer (3 names).

The following is the table of the persons belonging to each family :

| *Ruling Dynasty* | *Seller's Family* | *Buyer's Family* |
|---|---|---|
| Garga | — | — |
| Mūghika | — | — |
| Vālaṇa | Nānyadeva | — |
| | Kedārabhaṭṭa | Tiradeva |
| | Narasiṃha | Dharmadhara |
| | Lingabrahma (seller) | Mādhava (buyer) |

Of these three geneologies only the first two could be of some historical value, if identified properly. Whereas we must admit our ignorance regarding the whereabouts of the ruling dynasty which might have been tribal rulers not yet completely 'brahmanised' or 'Sanskritised', as their very

names (mūghi-ka and vālaṇa)[9] indicate. The names occurring in the family tree of the *Sacivas* seem to point towards Tirhut for the origin of the family. The 'Karnatak' dynasty of Tirhut was founded by one *Nānyadeva* who is said to have ruled from 1097 A.D. to 1147 A.D., or from 1097 A.D. to 1133 A.D. according to a different account, over Mithila and perhaps also, over some parts of Nepal. He is also credited to have written the Sanskrit commentary *Sarasvatīhṛdayālaṃkāra* on the Nāṭyaśāstra of Bharata. The Karnatak dynasty belonged to the lunar family (candra-vaṃśa) of the Kṣatriyas. The *Vaṃśāvalīs* of Mithila and Nepal as well as some inscriptions of the later Malla Kings of Nepal[10] give the following geneology of the rulers of the Karnatak family:

Nānyadeva
(Gangadeva)
Narasiṃhadeva
Śaktideva/Rāmasiṃhadeva
Ramasiṃhadeva/Śakrasiṃhadeva

Dr. D. R. Regmi in his *Medieval Nepal,* Vol. I (Calcutta 1965) writes on p. 262-63 that in one of the Sanskrit Vaṃśā-

---

9. It is tentalising, though fanciful, to read the names of *Mughis-ud-din* (alias Tughril Khan) who was the governor of Lakhnavati (Bengal) in the second half of the 13th century in the Sanskrit word *Mūghika* and that of Balban (Ghias-ud-din Balban, 12 –12 ), the powerful slave king of Delhi, in the word *Vālaṇa* or *Bālaṇa*. *Viśvarūpa*, a son of king Lakṣmaṇa-Sena of Bengal is referred to as *Garga-Yavana* in some inscriptions. As for *Aśvapati* of Śl. 7, the king Alla-ud-din Khilji is known to have borne this title.

10. Cf. the inscription of Pratapamalla published in *Indian Antiquary*, Vol. IX (Inscription No. 18), p. 188.

valīs of Nepal which he happens to possess personally, the names of *Śaktideva* is omitted and *Rāmasiṃhadeva* has been made a direct descendant of *Narasiṃhadeva*. This is also the case with many ancient records found in Mithila. There is a great controversy as to the existence and proper identification of *Gangadeva*. Prof. V. V. Mirashi takes him to be a Rashtrakuta chief ruling over Mithila in the early 12th century.[11] It seems, *Nānyadeva*, *Narasiṃhadeva* and *Rāmasiṃhadeva* were thus the most famous names of the Karnatak dynasty till about the middle of the 13th century.

Of these the name *Nānyadeva* occurs in Śl. 5 and *Narasiṃhadeva* in Śl. 10. The name Rāmasiṃha also seems to have been alluded to in Śl. 6. This fact, according to me, points towards some affinity of our Saciva-family with the royal dynasty of Tirhut. I do not mean to say that the *Nānyadeva* and *Narasiṃhadeva* of our grant are identical with the cognominal rulers of Tirhut. Our *Nānyadeva* and *Narasiṃhadeva* have been referred to as *sacivas* and not as rulers. As *sacivas* they most probably held the important office of the commander-in-chief of the armies of their masters. This was also an appropriate assignment since they were the Kṣatriyas belonging to the famous lunar race (*candrakulāvatīrṇah*, Śl. 5).

The saciva-family of *Agrakuṭī* was in all probability an offshoot of the ruling Karnatak dynasty of Tirhut. It is not unusual to find the descendants of a family adopting names of their glorious forefathers. Our *Nānyadeva* (or some of his predecessors) might have migrated away from Tirhut in search of livelihood, a new home and hearth. Being a Candravaṃśī Kṣatriya he was perhaps readily employed as an army officer in the court of some other ruler.

11. V. V. Mirashi, *ABORI*, Vol. XXIII, (1942), pp. 291-92.

He seems to have served his master meritoriously since his son and, later, grandson were also offered the same post and they fought valiantly for their kings. Nānyadeva passed the last years of his life, in Kāśī, the city of Lord Śiva, a befitting place for a *Māheśvara* (Śl. 5) to pass his old age. Kuṭī was a famous city in the northern part of Nepal in medieval ages. It seems that the *Agrakuti* (=the forecity of Kuṭī) was situated at the foothills of Himalayas on some trade route leading to the main city of Kuṭī. Prof. Shiva G. Bajpai of California State University, Los Angeles identifies the town of *Agrakuti* with either *Agrahan* lying 25.30 N ; 86.4 E in the Kosi region or *Oghara* which finds mention in the list of the *mahals* of Tirhut in Muslim sources.[12]

---

12. I had requested my friend Dr. Shiva G. Bajpai, Professor of History at the California State University who is presently on a Sabbatical Leave from his University working on a Project in India to try to identify the place names *Agrakuṭī* and *Ghaṭauṇḍī* for me from the records of the Archaeological Survey of India at Delhi. He has been kind enough to do it for me. I quote his exact words from a letter written by him to me on the 14th of February, 1983.

"As regards the little matter concerning the identification of Agrakuti and Ghataundi, I did not have much luck. I did go to the Archaeological Survey Library and looked into a few sources. However, the only possible identification in Kosidesa is the village AGRAHAN 25.30 N ; 86.40 E. It could have been an important place if it were identical with *mahal* Oghara mentioned as one of the mahals of Tirhut. The only difficulty is that it is slightly away from the Kosi region. However, it does not present insurmountable difficulty since its coordinates as given in Irfan Habib's AN ATLAS OF THE MUGHAL EMPIRE, p. 95 are 26+ ; 86+. At any rate these are the only two possible places in that region which I could come across in the limited time that I had at my disposal at the Archaeological Survey. The royal house was apparently a petty one. In all probability, the dynasty was related to one of the more prominent Karnata regimes of that region."

II. *For History of Religion* :

1. The first thing that attracts attention is the Maṅgalācaraṇa of the text. The copper plates usually open up with an invocation to the family- or the patron-deity of the family. The two maṅgalācaraṇa verses in our plate however invoke the favour of a number of deities including Viṣṇu, Śiva, Gaṇeśa, Indra and Bhairava (Daṇḍapāṇi). The composer of the text of the deed also seeks the blessings of the ruling King, the noble people (lit. "friends") as well as of the Divine Cow and the holy waters of the Ganges. Whereas the divine and the mortal Kings (Indra and the contemporary ruler) have been invoked as the protector of the law and order, the divine cow is invoked perhaps to bestow bounty of the nourishing fluid on the earth. As for the water of the Ganges, it may be pointed out that the Hindus take most serious types of oath by the water of the holy Ganges and the oaths so taken have the highest sanctity. The mention of the holy water of Ganges, therefore, lends a sacred as well as a binding character to the agreement entered into by the two parties.

2. On carefully going through the structure of the text it becomes obvious that this sale-deed is conceived and composed like a donation or a grant though it is, in fact, a commercial transaction. The person who disposes off the village is referred to as *pradātṛvikrayin,* "donor-seller", or "the one who donates by way of sale". Much more space has been donated to the pedigree of the seller, the geneology of his family and the description of his

ancestors than to the description of the ancestors of the purchaser, as is usually the case with the land-grants.

This sale-deed can better be designated as an "abdication-deed". It has been composed on behalf of the previous owner of the village. Against the payment of a price of Ṭanka 5,000/- he transfers his rights of ownership to one Mādhava and assures him that he as well as his successors may enjoy the advantages of the village "till the existence of the moon and the sun". Towards the end, the future kings have been requested to honour this transfer in the same manner as they are requested to do in the cases of land-donations to Brahmins.

The above fact shows that sale of an article, especially that of a land, was not merely considered to be a secular or profane act, but was endowed with a considerable religious significance. The religious character of the act, again, becomes evident from the rite of pouring out the water (with grains, flowers and Kuśa etc.) into the hands of the purchaser referred to in the verses 17 and 20 respectively. This is a rite practised in religious donations.

This is perhaps the oldest document recording the sale of a village. Land does not appear to have been frequently sold in ancient India. It is mostly accepted as donation from those having surplus of it.

III. *For Social History* :

The document records the sale of a village by a person belonging, most probably, to the caste of Kṣatriyas to a Kāyastha. The village must have originally been donated as a *Jagir* by the royal family of Agrakuṭī to the ancestors of Lingabrahma for their services as ministers in the court

F. 36

and for the exceptional valour and courage that they had shown in the battle-field fighting for their masters (verses 5-7, 10, 12, 13).

The family history of the Seller starts with Nānyadeva who was appointed as *Saciva* in the court of Vālaṇa. The office of the minister seems to have been hereditory since Lingabrahma, the present owner of the village and the great-grandson of Nānyadeva, is also said to be a *mantrin* in the kingdom (=royal court). It may further be noted that the words *Saciva* and *Mantrin* have been used in one and the same sense (i. e. minister) in this record.

The title *Śrīvāstava* as a sub-caste of the Kāyasthas is mentioned, according to my knowledge, for the first time in such an early document. Śrīvāstavas are a sub-caste of Kāyasthas which almost exclusively inhabits the eastern Uttar Pradesh and Bihar. It is interesting to note that they have remained settled in this region for the past 800 years, if not more. Another expression used for this caste in verse No. 24 is *karaṇa* which is prevalent even to this day for them in Bengali, Maithili and Oriya languages. Most of the scribes who copied books or wrote records came from this caste.

As their very name indicates ("residing in wealth"), the Śrīvāstavas seem to have been affluent and influential people during this time. They seem to have amassed wealth by working as scribes, record-keepers, revenue-collectors and maintainers of accounts etc. at royal courts, especially during the Sultanat period (i. e. from 1150 A.D. onwards). This wealth they immediately invested in purchasing landed property in villages, to become later big and influencial Zamindars. During the first millenium of the Christian

era, the Kāyasthas seem to have sustained themselves purely as a race of scribes.

Since the Kāyasthas were never seriously occupied with agriculture nor did they originally possess land, they were usually forced to migrate to other kingdoms in search of employment. As intelligent people knowing the art of reading and writing, they must have been very sought after as clerks and record-keepers etc. About Mādhava who is the purchaser of the village, verse No. 19 says that he was better known in other states than in his own home state. Mādhava had apparently been in employment in some other state whence he came to purchase this property with the money that he had saved while serving elsewhere. With the drastic political, social and administrative changes taking place after the advent of Muslim rule in North India, leading to the waning of the authority of the erstwhile royal officers, they must have been finding it increasingly difficult to make proper economic utilisation of the land donated to their ancestors by the Hindu Kings. We know, for example, that during the reign of Alla-ud-din Khilji (1296—1316 A.D.), when this transaction was made, the Hindu farmers, were compelled to give away half of their annual agricultural produce by way of revenue to the royal treasury (as against one-sixth in the ancient times) and even surplus of the remaining half was procured by the royal officers at a price fixed by royal decrees. Hindu peasantry was reduced to paupers and their wives were forced to serve as maid servants and menial labours in the houses of newly rich Mohammedans.[13]

---

13. R. C. Mazumdar (Ed.), The Delhi Sultanat, (History and Culture of Indian people, Vol. V), Bombay, 1966, pp. 22, 23-25, 27-28.

The coin Ṭaṅka is found to have been issued in India by Muslim Rulers at least since the middle of the 11th century when Sultan Mohmud issued a Silver Dirham, also known as Ṭaṅka, from Lahore in the year A.H.418/419 (1041/1042 A.D.) with an Arabic and a Sanskrit legend on the obverse and the reverse respectively.[14] The contemporary Sanskrit works including the *Rājataraṅgiṇī* (12th century) make a mention of Ṭaṅkas. They even distinguish between the Gold Ṭaṅkas and the Silver Ṭaṅkas. Thakkura Pheru, the Hindu mint-master of Alla-ud-din Khilji has composed a valuable work in Apabhraṃśa-mixed-Prākṛta in the year VS 1375 (=1318 A.D.) titled *Dravya-Parīkṣā*[15] on the examination of metals and their suitability for making various coins. He also gives weights and denominations of the different types of contemporary currency.

The slave king Iltutmish (1211—1236) was the first ruler to issue a silver coin from Delhi which was designated as *Ṭaṅka*. It was more popularly known as *Dillīwal* ("the coin of Delhi"), and was of bull-and-rider type. This *Ṭaṅka* was a perfect precursor of the *Rupayah* of Shershah Suri (1540—45) and weighed one *tola* (96 *rattis*) or 175 grains (approximately 11.5 grams). It has 64 sub-divisions known as *Jītal* ("the paisa" of later period). One Jītal was thus equivalent to 1.5 rattis of silver.[16]

---

14. *Thomas, Chronicles of the Pathan Kings of Delhi,* illustration 7, J. A. S. B. (Num. Supp.) 1930, p. 110.1. The Sanskrit rendering of the Arabic Kalima is as follows :

अव्यक्तमेकं मुहम्मदः अवतारः : नृपति : मोहमूदः ।
अव्यक्तनाम्ने अय टंकः मोहमूदपुरे घटितः, ताजिकीयेन संवत् ४१८ ।

15. Ed. by Muni Jinavijaya, *Rajasthan Puratan Granthamala* series No. 44, Jodhpur, 1961.

16. Chopra, Puri & Das, *Bhārat Kā Sāmājika, Sānskṛtika aur Ārthika Itihāsa* (Hindi Ed.), Macmillan, New Delhi, p. 112.

Copper Ṭaṅkas were also in circulation simultaneously with the Silver Ṭaṅkas. Their value, metal content and ratio to the silver Ṭaṅka differed from time to time. The copper Ṭaṅka of Sikandar Lodhi was for example, 1/20th of a silver Ṭaṅka. Since two types of Ṭaṅkas were there in circulation, those of silver and copper, in Northern India in the 13th century, specific mention of the currency is made in our deed with the words 'ṭaṃkānāṃ rajatīyānām' ("the ṭaṅkas of Silver"). According to Thakkur Pheru, the silver Ṭaṅka of Alla-ud-din Khilji (alāvadīnī mudrā) weighed one tola and five māshās or approximately 16 grams. It is interesting to note that besides the silver Ṭaṅka of Alla-ud-din there were 54 other varieties of silver coins in circulation in the market of Delhi at the time of Thakkur Pheru.[17]

We have fairly good knowledge about the prices of many essential articles current during the reign of Alla-ud-din Khilji which sheds light on the purchasing power of a silver Ṭaṅka. One was able to buy 100 to 120 Kilogrammes of wheat, some 175 Kilogrammes of grams (Chanā) and paddy, 210 Kilogrammes of barley, 6 Kilogrammes of sugar, 30 Kilogrammes of Salt, 20 metres of fine cloth and 40 metres of coarse cloth for one silver Ṭaṅka in those times. A quilt could be had for 2 silver Ṭaṅkas, a cow or buffalow for 60 to 70 Ṭaṅkas and a horse of good breed for 100 to 120 Ṭaṅkas.[18]

There must have been offices for registering the ownership of land and especially their transfers in medieval India

---

17. Cf. *Dravya-parīkṣā*, pp. 31-35, Cf. also verse 118.

18. This information is based on the contemporary accounts of Muslim historians, Cf. Chopra, Puri, Das, *op. cit.*, 126–130.

because we cannot think of an effective system for collection of revenue without such records being in possession of the State. However, such copper plates were probably issued additionally by the original owner to the present owner by way of a certificate testifying that the previous owner has relinquished his claim over the property and acknowledged rights of ownership of the buyer to the property till now belonging to him. With such a document in hand the present owner must have been successful in convincing the populace of the village as to his rights for receiving revenue etc. from them.

# AN INTERESTING VIṢṆU IMAGE FROM VELORE (PUNJAB)

DEVENDRA HANDA

*Chandigarh*

A detailed account of a beautiful and complete Viṣṇu image from Velore (11th century A.D.), with Balarāma as the attendant figure, has been given here. The noteworthy features of the icon betray Rajasthani influence on it.

The Archaeological Survey of India had discovered a beautiful Viṣṇu Image (Fig. 1) some years ago at Velore, 9 km. from Ferozepore on the Ferozepore-Zira road in Punjab.[1] Though the sculpture has been referred to elsewhere also[2] yet no detailed study of this important icon has so far been made. An attempt has, therefore, been made in the present paper to give a detailed description of the image and assess its importance.

The exquisitely carved sandstone image, nearly one metre in height, shows the god standing in the *sama-pada* pose on a lotus *pīṭha* placed on *saptaratha* pedestal. The

---

1. *Indian Archaeology* 1964-65—*A Review*, p. 75, Pl. LIIA. The name of the site is actually Baloor Kalan and it has yielded some other images also, notable amongst which are Hari-Hara and a Jaina *Sarvatobhadrikā*. The copyright of the photograph published here belongs to the A. S. I.

2. Devendra Handa, "Sculptures from Punjab", *Punjab University Research Bulletin* (*Arts*), Chandigarh, Vol. XII (1981), p. 71, Fig. 11.

back slab has been given an architectural setting with the upper part disposed in an imposing lotiform aureole. The quadrumanous god holds a mace and a disc in the rear right and left hand respectively, a conch in the proper left while the front right hand with a rosary is disposed in the *abhaya* pose. The arrangement of the attributes thus conforms to Trivikrama Viṣṇu. The god wears a *Kirīṭa-mukuṭa* adorned with jewel and pearls, ear ornaments, *graiveyaka,* sacred thread, armlets, bracelets, waist-band with *Kīrtimukha* in the centre as if vomiting wreath which forms loops on the thighs with free ends dangling down to the knees, anklets, finger rings and a *vaijayantīmālā.* The long garland shows a cental floral medallion at the lowest point of the dangling part as well as on the sides near the arms. There are three figures on either side of the feet occupying each of the receding *ratha* of the pedestal. On the proper right stand *Śaṅkha-puruṣa,* Śrī and Balarāma while the corresponding other side shows *Cakra-puruṣa,* Sarasvatī and probably Garuḍa, all standing gracefully in symmetrical postures. The *āyudha-puruṣas* hold the weapon which they personify near the chest standing in graceful *dvibhaṅga* pose. They bear *Karaṇḍa-mukuṭa* and wear all the usual ornaments. Śrī and Sarasvatī support a lotus flower by its long stalk in one hand with the other *pralamba-hasta* holding the free end of the scarf. Slightly elongate figures, they are also bedecked with all ornaments. On the extreme right hand side of the deity stands Balarāma wearing a flat-topped crown and other ornaments including a *vanamālā,* holding a plough (*hala*) in the left hand and resting the other on the respective thigh. The corresponding figure on the other side, draped and bedecked similarly, holds a sinuous object in the right hand raised to the level of the shoulder while the



Vishṇu from Velore, 11th century A.D.

other *pralambahasta* touches the thigh. The curved object may be a snake or a bow. If it is a snake, then the figure is that of Garuḍa. In case of the other possibility, the figure would have to be identified with Rāma. Garuḍa is generally represented with *Karaṇḍa-mukuṭa* but the crown here is definitely of the other variety and resembles that of Balarāma. So if Rāma is represented here, it is a unique feature.

On the upper section of the back slab, there are stele representing Brahmā and Śiva on the proper right and left side of Viṣṇu. Both are seated in *lalitāsana* and are quadrumanous. Brahmā is tricephalous and holds a laddle (?) and a book in the rear pair of hands while Śiva holds a trident and a snake in the back hands. The front pair of hands of both the gods is similarly disposed, right hand in *abhaya* pose and left holding a water-pot. Outer extremities on the right and left of Brahmā and Śiva show the snouts of crocodiles, *makara-mukhas*. The space on the edges of the back slab between the *makara-mukha* and the subsidiary figures is filled by *gaja-śārdūla* and floral motifs on either side.

The style of holding the mace from its fluted shaft and the discus from its outer ring with the help of thumb and two fingers is noteworthy. The conch is held horizontally by its groove placing the thumb on the spiral portion.[3]

The main figure standing in contraposto is characterised by frontality. The expression on the face too is formal.

---

3. This style of holding the attributes can be seen in many sculptures from Haryana. Cf. C. Sivaramamurti, "Geographical and Chronological Factors in Indian Iconography", *Ancient India*, No. 6 (January, 1950), pp. 47-51.

The exquisite workmanship, the minute care devoted even to the accessory figures, moderate ornamentation, plastic modelling of the contours and the elaborate iconographic formulation, however, bestow this sculpture an individuality of its own. Stylistically it can be placed in the eleventh century A.D. It can be compared with the Viṣṇu image found from Janer, only a few kms. from Velore. Representation of Balarāma as the attendant figure, however, is a noteworthy feature met with in a few sculptures in Rajasthan.[4] It may, therefore, be a result of Rajasthani impact which has been discerned on some other icons also.[5] Since very few complete images are known from Punjab, it is important, more so for its iconographic features.

---

4. Devendra Handa, "A Vishnu Sculpture from Janer", *Panjab University Research Bulletin (Arts)*, Chandigarh, Vol. V, No. 2 (Oct. 1974), pp. 149-50, Fig. 1.

5. R. C. Agrawal, "Kṛṣṇa-Balarāma as Attendant Figures", *The Indian Historical Quarterly*, Calcutta, Vol. 38, No. 1.

# THE CONCEPT OF CREATION IN THE KĀŚMĪRA ŚAIVISM*

REWATI RAMAN PANDEY

*Varanasi*

The Absolutism of Kāśmīra Śaivism as compared to other systems has been critically examined in this paper.

As opposed to the Advaitic Absolute Brahman, which is *trikālābādhita sat*, the Parama Śiva or the Absolute of the Kāśmīra Śaivism is a *Śiva-Śakti-Sāmarasya* i. e. Sāmarasya of *Bodha* and *Svātantrya*. It is of the nature of *Prakāśa* and *Vimarśa*. While the Absolute of the Advaita Vedānta is 'free from' the impurities and limitations, the Absolute of the K. Śaivism is 'free to' perform even the impossible. It is the positive approach of Freedom as 'freedom of' as against the Advaitic approach of Freedom which is negative, as 'freedom from'. In the K. Śaivism a greater significance is attached to the concept of freedom. Freedom, i. e. Svātantrya stands for the capacity to perform the impossible. The terms like *Svātantrya, Ahamtā, Sphurattā* represent the essential nature of *Śakti* or *Vimarśa*. It is through the concept of *Vimarśa, Śakti or Svātantrya* that the K. Śaivism makes an attempt to bridge the gulf between phenomena and noumena, between being and becoming, between subjectivity and objectivity, i. e., *Ahamtā* and *Idantā, viṣayitā*

---

* This paper was read at "International Seminar on Abhinavagupta's Contribution to Indian Culture" held at B.H.U. from 28th to 31st October, '81.

and *viṣayatā*. The Prakāśa and Vimarśa are not only united together rather they are identified. Thus the supreme Reality of K. Śaivism is *Cit śakti*.[1] On this ground the K. Śaivism claims to be the only consistent form of Absolutism while the other forms of Absolutism are week and inconsistent as they have a sort of alergy towards the duality and maniness. The K. Śaivism claims to be the philosophy of affirmation and assimilation as against the philosophy of Advaita Vedānta which is a philosophy of negation and rejection. Thus the Absolute of the K. Śaivism neither like the Advaitic Absolute which is only *pure being* (which is free from all impurities and limitations) nor like the Mādhyamika Absolute which is *catuṣkoṭivinirmukta*, nor like even the Absolute of Yogācāra which is devoid of the power of objectification. Thus the Parama Śiva is the supreme sāmarasya of *Prakāśa* and *Vimarśa*, *Jñāna* and *Kriyā*, *Bodha* and *Svātantrya*, *being* and *becoming*, *Śiva* and *Śakti*. Vimarśa has also been named as *Parā Śakti*, *Parā Vāc*, *Svātantrya*, *Aiśvarya*, *Kartṛtva*, *Sphurattā*, *Sāra*, *Hṛdaya*, *Spanda*.[2] Descartes, the father of the Western Modern Philosophy declared *independence* alone as the sole criterion of Substance. Spinoza corrected him by adding *knowledge* to the concept of Substance. But it was Leibnitz who declared that without *force independence* and *knowledge* would be meaningless. Thus he advanced the theory of Monadology. By accepting infinite number of independent Monads Leibnitz made a lot of mess in his Monadology but in principle he was to a large extent very much consistent so far the

---

1. *Jñānaṃ kriyātmakaṃ yo hi jānāti ca karoti ca, sa jīvati ityucyate*, I. P. V. P. 43 (*Īśvarapratyabhjnāvimarśinī*, Vol. I).

2. Jai Deo Singh, *Pratyabhijñāhṛdayam*, p. 5 (Trans. Motilal Banarasidass, 1963).

definition of Substance is concerned. Thus what could the Western Modern Philosophy achieve at its third stage the K. Śaivism begins its definition of the Parama Śiva at its first stage in the form of *Cidrūpiṇī Śakti*. It is not a meagure achievement. What are its inconsistencies would be examined afterwards. Here we directly proceed to examine first the K. Śaivite theory of Causality on which the concept of Creation is based on.

The entire universe is the manifestation of the Parama Śiva. The Parama Śiva is the transcendent (*Viśvottīrṇa*) and immanent (Viśvamaya). Thus the Parama Śiva is both manifest as well as unmanifest. As Prakāśa it is Viśvottīrṇa and as Vimarśa it is Viśvamaya. Thus Parama Śiva alone is the material as well as efficient cause of the universe. The ultimate causality belongs to the Parama Śiva alone. It is maintained that the being of insentient entirely depends on the sentient and thus knowledge and action are the very life of the sentient.[3]

The insentient Prakṛti cannot be the prius of such a beautiful universe. The K. Śaivism rules out this variety of causality. The K. Śaivism is in agreement with the Advaita Vedānta when it criticises Satkāryavāda, Asatkāryavāda and Pratītyasamutpāda. It agrees to the following import of the Advaitic theory of causation. Starting from Gauḍapāda, the grand teacher of Śaṃkara up to post-Śaṃkara Advaitins, we may, however, categorize philologically the Advaitic theory of causation into ajātivāda, kāryakāraṇānanyatvavāda and vivartavāda but the import of this theory is only this, that it advocates only one-sided dependence of

3. *I. P.* 1.1.3.

effect on the cause and not vice versa.[4] Here ends its agreement with the Advaita Vedānta. The Advaitic view of Causality makes the Absolute entirely transcendent and declares the world as illusory. On the other hand, the Absolute of the K. Śaivism is transcendent *Viśvottīrṇa* but the world is not false; rather it is the very Ābhāsa of the Parama Śiva. It is the free will (*Svātantrya*) of the Highest Lord which gives rise to the manifestation (*Ābhāsa*) of this universe. The Ābhāsavāda, the K. Śaivite theory of causality claims that the objectification of Universe is simply the free will of the Highest Lord.

The entire universe is a creation of Parama Śiva. The Parama Śiva is the real creator.[5] The Lord always performs the five functions not only in case of cosmic creation, destruction etc., but also in practical life.[6]

Beginning from the Śiva Tattva upto the Śuddha Vidyā has been named as Śuddha Adhvā, i. e. pure Creation. According to the *Tantrasāra* Śiva alone is their creator.[7a] In their creation Māyā has no role at all. The process of creation in the K. Śaivism is in the following order:—

1. *Śiva Tattva.* The Parama Śiva has two states, transcendent (*Viśvottīrṇa*) and immanent (*viśvamaya*). At the transcendental level which has been termed as the state of *Anuttara* or the state of *Pūrṇāhantā* the Highest Lord out of its free will manifests itself. The first throb

4. R. R. Pandey, "The Advaitic Theory of Causation", *East & West*, Vol. 28, p. 298.

5. *I. P. V.*, 2.4.21.

6. *I. P. V.*, 1.6.7.

7a. *īyati sākṣāt Śivaḥ kartā, āhnika* 8, p. 74.

(Spanda) of the Parama Śiva is the Śiva Tattva.[7b] It is state of pure subjectivity (Śuddha Ahaṃ). There is no objectivity.

2. *Śakti Tattva.* It is the Vimarśa aspect of Parama Śiva. It is the real power of Parama Śiva without which Śiva would be inert (Jaḍa). Śiva and Śakti are non-different. They are differentiated only empirically. In the K. Śaivism sometimes the Śiva Tattva has been described as the first throb (Prathama Spanda) of the Parama Śiva and sometimes the Śakti Tattva has been described as the first throb of the Parama Śiva. Ācārya Kṣemaraja in his *'Parāprāveśikā'* favours Śakti Tattva to be the first throb of the Parama Śiva.[8] On the other hand, ācārya Abhinavagupta favours the Śiva Tattva as the first throb of the Parama Śiva.[9] The Śiva Tattva being the very nature of Parama Śiva, who is really transcendental (*Viśvottīrṇa*) should not be the first throb of the Parama Śiva. The very moment out of its free will when the Parama Śiva just intends to manifest the universe the first throb should be in his own power, i. e., the Śakti Tattva. This point is still open to discussion. But while at the stage of the Śiva Tattva there is only the experience of *'Ahaṃ'* at the stage of the Śakti Tattva it becomes *'Ahamasmi'*.

3. *Sadāśiva Tattva.* In the order of the manifestation the Sadāśiva is the third Tattva. It is the stage of *icchā*. Here the form of experience is *'Ahaṃ idaṃ'*. There is just

7b. *Ṣaṭtrinśatattvasaṃdoha*, ISI., p. 1.

8. *Parameśvarasya prathamaspanda evecchāśaktitattvaṃ*, p. 6-7.

9. Tantrāloka, Vol. 7, 10/206-7.

blurred idea of objectivity, though subjectivity, i. e. Ahaṃtā predominates.

4. *Iśvara Tattva.* It is the stage of *jñāna* and the form of the experience is *'Idaṃ-Ahaṃ* . Here the idea of the universe is quite clear. Here *idaṃtā,* i. e., objectivity predominates over the *ahaṃtā,* i. e., subjectivity. As an artist has a dim and blurred idea of his picture in the beginning but when it wants to paint it it is quite clear. In the same way at the stage of the Sadāśiva the idea of the Universe remains dim and blurred but at the stage of the Īśvara it is quite clear.

5. *Śuddha Vidyā Tattva.* At this stage of manifestation which is the stage of Kriyā the form of the experience is *'Ahaṃca-Idaṃça*). Here *ahaṃtā* and *idaṃtā* are bifurcated. Here ends the pure creation, i. e., *Śuddha Adhvā* and the manifestation from Māyā to the earth is called impure creation, i. e., *Aśuddha Adhvā* as from here onward the role of Māyā becomes predominant. Due to Māyā one forgets its true nature.

6. *Māyā Tattva.* At this stage *Ahaṃtā* takes the form of Puruṣa and *iḍaṃtā* takes the form of Prakṛti. It has been described as the self-concealing power of the Highest Lord.[10] From Māyā principle the five *kañcukas* in this order, *Kalā, Vidyā, Rāga, Kāla* and *Niyati* come out.

7. *Kalā.* It comes out of Māyā and veils omnipotence nature of the soul. It makes the individual self feel as a

---

10. *Māyā hi svarūpagopanātmikā pārameśvarī icchāśaktiḥ.* *Tantrālokaṭikā,* Vol. 3, p. 283.

limited and finite being. It is the evolute of Māyā but it is the cause of *Vidyā, Rāga, Kāla* and *Niyati.*

8. *Vidyā.* It is veiling power of the Parama Śiva. It veils its omniscience ; and makes it feel that it has limited knowledge.

9. *Rāga.* It makes the perfect into imperfect. It creates desire for pleasant objects.

10. *Kāla.* It creates the feeling of temporality. Here the feeling of the past, present and future operates.

11. *Niyati.* It is the controlling agency through which freedom and omnipresence of the Lord are veiled.

To the above eleven Tattvas the twenty-five Tattvas of the Sāṃkhya Philosophy make the thirty-six Tattvas of the K. Śaivism. The K. Śaivism mostly agrees with the Sāṃkhya system with slight difference here and there. While Sāṃkhya maintains Prakṛti as the First Principle of the Universe, the K. Śaivism would refute it and proclaim the Parama Śiva as the first principle of the Universe. While the Sāṃkhya system claims as one Prakṛti for all the jīvas, the K. Śaivism maintains many Prakṛtis also. According to the Sāṃkhya system Puruṣa is *nitya śuddhabuddha-mukta* but on its contrary the K. Śaivism maintains that Puruṣa is associated with Ṣaṭkañcukas. According to the Sāṃkhya system Puruṣa is another independent principle but it is not so with the K. Śaivism. According to this system Puruṣa is the manifestation of Parama Śiva. This is in brief the process of the order of manifestation out of the free will of the Highest Lord. In the following lines we shall make a critical estimate of this problem.

The manifestation of the free will of the Highest Lord through the five-fold functions, universal creation, maintenance, destruction, self-concealment and self-revelation is always going on without any break.[11] This is again and again emphasised that the five-fold functions by the Highest Lord are always in operation. Thus, the Lord always performs the five functions not only in case of cosmic creation, destruction, etc., but also in practical life.[12] Here creation becomes the essential nature of the Higest Lord. If so it is not very much consistent with principle of *Svātantrya-vāda* in this system. According to this system the Highest Lord is free to create the universe. Creation is not the essential nature of Parama Śiva.

Secondly, if action, i. e., Śakti or spanda is very nature of the Highest Lord, it cannot get rid of temporality and thereby looses its Absoluteness. Though it has been said as *Anuttara, Viśvottīrṇa* and even as *Akāla* but can it claim to be without Vimarśa even in the transcendental stage? If so it would be like pure being of the Advaita variety.

Thirdly, now-a days an attempt is made by introducing Advaita Vedānta in the K. Śaivism. It is maintained that creation is not the essential nature of the Highest Lord, it is not the Svarūpa Lakṣaṇa of the Parama Śiva rather it is the Taṭastha lakṣaṇa. Only cit and ānanda are the Svarūpa Lakṣaṇa ; while icchā, jñāna and kriyā may be defined as the Taṭastha Lakṣaṇa. Thus creation being kriyā is only the accidental nature of the Highest Lord. Even if it is accepted, then the question arises whether in its essen-

11. *P. H.*, p. 62-64 ; L. N. Sharma, *Kāśmīra Śaivism*, p. 223.
12. L. N. Sharma, *Kāśmīra Śaivism*, p. 225.

tial nature the Highest Lord can remain without Vimarśa, or Spanda. If it is without Spanda it is as good as the pure Brahman of the Advaita Vedānta. And this system ultimately lands itself into the Advaitic position. It is clearly but quite emphatically maintained that Śiva Tattva or Śakti Tattva is the *first Spanda.*[12] This suggests that in its *Anuttara* stage it is without *Spanda*. If the Lord is without *Spanda* then it would be the Advaitic position.

Finally, how can this system preserve the non-duality of the Parama Śiva with its 36 *ābhāsas* which have been proclaimed to be real? It is true that this system provides a positive approach towards the Absolute but out of its enthusiasm of bridging the gulf between phenomena and noumena it really looses its non-duality.

# THE KATHĀ-SĀRA-MAHĀKĀVYA

## A HYBRID DEVELOPMENT IN SANSKRIT LITERARY FORM

(Dr.) N. M. Kansara

*Surendranagar* (Saurashtra)

The main aim of the *Kathāsāra* mahākāvya is to summarize the often complicated and lengthy story of the original texts for the convenience of the readers. Besides, it also enjoys the freedom of giving a local colouring and introducing a few changes in the original story, approaching the level of epic. This hybrid genre has been so far neglected by the scholars and needs study as an independent literary form.

Sanskrit rhetoricians from Bhāmaha to Jagannātha have, as is quite well-known to every student of Sanskrit literature, tried from time to time to classify different types of Sanskrit literary forms like Mahākāvya, Khaṇḍakāvya, Gadyakāvya, Campū, Rūpaka, and others, initially on the basis of the existing specimens of Sanskrit literary works, and later on traditionally in the light of both the new developments as also of the statements in the works of predecessors in the field of Rhetorics. As regards the epic form, it was only Viśvanātha who was sharp enough to distinguish between two existing forms, viz., Mahākāvya and Ārṣa-mahākāvya,[1] the former being the ornate epic like Kālidāsa's *Kumārasaṃbhava,* while the later being the ancient exten-

---

1. Viśvanātha—*Sāhityadarpaṇa* (Cal. Ed., Śak. Saṁ. 1867, p. 413ff.), VI.302-303 :

सर्गबन्धो महाकाव्यम्.......।...अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्या-
ख्यानसंज्ञकाः ।

sive one like the *Mahābhārata* or the *Rāmāyaṇa*. Although many sub-varieties of the former type, viz., the Mahākāvya had developed since atleast the eighth or the ninth century A.D., none of the Sanskrit rhetoricians has ever taken note of, and tried to distinguish, different sub-varieties of the Mahākāvya genre, like the Śāstra-mahākāvya, the Kathāsāra-mahākāvya etc. .

The different characteristics of the Mahākāvya genre as spelt out successively by Bhāmaha and his successors refer to the nomenclature of the structural divisions of the work, such as Sarga. And the *Ārṣa-mahākāvya* is distinguished from the former in that the structural sub-divisions are called Ākhyānaka ; of course the characteristics of the Mahākāvya do include details about the source-story, the hero and the heroine and types of incidents described. But it was not until modern scholars like Dr. K. N. Vatave tried to go rather deeper and, on the basis of their study of Western Criticism, differentiated the two main types of the epic as *Vidagdha-mahākāvya* and *Ārṣa-mahākāvya,* the former being secondary, artificial, idealistic, classical and sophisticated, while the latter being primary, natural, authentic, communal, popular, oral and epic of growth.[2] This was expected of the historians of Sanskrit literature, like Dr. M. Krishnamachariar, who has listed innumerable such specimens in his learned work, viz., Classical Sanskrit Literature, and like Dr. S. K. De and Krishna Chaitanya both of whome possessed a keen critical outlook and an eye towards evolutionary trends. But none of these veterans have noticed

2. Dr. K. N. Vatave—*Saṃskṛta Kavyā-ce Pañca Prāṇa* (Marathi), Intro. pp. 20.

the new development in the case of the classical epic in Sanskrit literature.

To take a bird's eye-view of the development of the Sanskrit classical epic. The Ornate, or *Vidagdha-mahā-kāvya,* was in the biginning, rather akin to the Ārṣa type so far as the language and the spirit was concerned, as is evident in Aśvaghoṣa's *Buddhacarita* and the *Saundarananda,* although from the view-point of structure, extent, subject-matter, and scope too, they had definitely crystallized into a totally different genre. With Kālidāsa the epic style gradually got more and more sophisticated, the language more and more chaste and the story more and more chiselled with the emphasis gradually shifting from the narrative element to the sentiment-oriented descriptive motif element, as is evident in the epics of Bhāravi, Māgha and Śrīharṣa.

Along with this development in the field of the artificial ornate epic, there arose certain new sub-types like the *Śāstra-mahākāvya* like *Bhaṭṭi-kāvya,* the *Sandhāna-mahā-kāvya* giving out two, three, seven or even full one hundred parallel interpretations, and Kathāsāra-mahākāvya like the famous three compendiums by Buddhasvāmin, Kṣemendra and Somadeva, who tried to preserve in the form of Sanskrit summaries the original story of Guṇāḍhya's *Bṛhatkathā* in Paiśācī. All these types shared the general external structural peculiarities of the Vidagdha-mahākāvya, such as the number of verses in each canto, change of metre at the end of the canto, exhibition of capacity to use different types of metres in one of the cantos, utilisation of certain set motifs like journey, messenger, battle, svayaṃvara, victory of the hero in the end, and so on. In style too they emulated the classical epic in utilising the chaste language with

profuse use of figures of speech. But they differed in the narrative purpose in that the Śāstra-mahākāvya aimed at illustrating the rules of Grammar or Rhetorics or Metrics, the *Sandhāna-mahākāvya* aimed at wonderful exhibition of the poet's scholarly equipment in vocabulary to blend two or more stories in the body of the same work in each of the verses simultaneously, while the Kathāsāra-mahākāvya attempted to preserve in summarised version the story along with a few excellences of some extensive work like an Ārṣa-mahākāvya, a Gadya-kāvya, a Purāṇa or a collection of popular stories composed originally either in Sanskrit or Prakrit.

Some of the authors of such compendiums have mentioned the purpose behind their endeavour. Thus, Pradyumnasūri composed in Sanskrit the *Samarāditya-saṃkṣepa*, a summary of Haribhadrasūri's famous *Samarāicca-kahā* in Prakrit, to facilitate his memory since he was impressed by the religious excellence of the original.[3] Śubhavardhanagaṇi composed the *Pāṇḍava-caritam*, a summary of the *Mahābhārata* story, for his own enlightenment.[4] Arhaddāsa composed his fresh rendering, of the part of the story

---

3. Pradyumnasūri—*Samarāditya-saṃkṣepa* (Ed. by Hermann Jacobi, Ahmedabad, 1906), I.28-29 :

वक्ष्ये संक्षेपमक्षेपमात्मनः स्मृतिहेतवे ॥

ग्रासैः बालः पितुः प्राप्ते किञ्चिदुञ्झति चात्ति च ।

यथा तस्य चरित्रेऽस्मिन् विधास्येऽहं तथाविधः ॥

4. Śubhavardhanagaṇi—*Pāṇḍavacarita* (Satyavijaya Granthamala, Ahmedabad, 1922), I, 2 :

पाण्डवानां चरित्रं पवित्रं विधीयते स्वप्रतिबोधहेतोः ।

of the *Uttarapurāṇa,* in the form of *Munisuvratakāvya,* alias *Kāvyaratna,* for his own pleasure.[5] Somadeva has specifically noted that he undertook to preserve the story in nutshell, with the only difference that in his *Kathāsaritsāgara* the story was summarised and the language was Sanskrit. Not only that he assures us that he has followed the original work of Guṇāḍhya in Paiśācī faithfully taking care not to outstep it, although he has always kept in mind the sense of propriety and continuity, and has added a few poetic excellences without interrupting the sentiment of, and the element of interest in, the narrative.[6] Kṣemendra, on the other hand reveals that he composed his *Bṛhatkathāmañjarī* to help the original work of Guṇāḍhya attain his honoured place in literature by reincarnating it in Sanskrit, since the original being in Paiśācī could be known only to a limited Sanskrit audience ; that the task was akin to fetching the Ganges, flowing through the rocks, down to the plains acces-

---

5. Arhaddāsa–*Munisuvratacaritra* (ed. by Bhujabali Shastri & Haranath Dwivedi, Agra, 1929), I. 13-14 :

गणाधिपस्य गरो यदेतद् भवामि चोद्यन्भगवच्चरित्रे ।
भक्तीरितो नन्वगचालनेऽपि शक्तो न लोके ग्रहिलो न लोकः ।।
मनः परं क्रीडयितुं ममैतत् काव्यं करिष्ये खलु बाल एषः ।
न लाभपूजादिरतः परेषां न लालनेच्छाकलभाः रमन्ते ।।

6. Somadeva–*Kathāsaritsāgara* (Nirnaya Sagar Edn.), I.i.3, 10-12 :

....बृहत्कथाया सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम् ।।
यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः । ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं
भापा च भिद्यते ।।
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते । कथारसाविघातेन
काव्यांशस्य च योजना ।।
वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः । किन्तु नानाकथाजालस्मृति-
सौकर्यसिद्धये ।।

sible to people in general.[7] Munibhadrasūri, on the other hand, was dissatisfied with the drawbacks in his predecessors' works, like the five famous Sanskrit ornate epics, and composed his *Śāntināthacarita* a compendium treating the story of the Tīrthaṅkara, in order to express his profound devotion to the religious hero and to support in accordance with the ethical norms the true religion, and exhibiting no less scholarship in his poetic product than the veterans in the field.[8]

Since the principal motive was to summarise the story of the original, the author of the *Kathāsāra-mahākāvya* preferred to preserve the nomenclature of the structural subdivisions, such as Ucchvāsa, Lambhaka, Bhava, Unmeṣa, etc., rather than call them as Sargas in their new work. Even when the original work was continuous, without any sub-divisions, as in the case of Bāṇa's *Kādambarī* or Dhanapāla's *Tilakamañjarī*, they either preferred not to break up

---

7. Kṣemendra—*Bṛhatkathāmañjarī*

सेयं हरमुखोद्गीर्णा कथानुग्रहकारिणा ।
पिशाचवाचि पतित्वा संजाता विघ्नदायिनी ॥
अतः सुखनिषेव्यासौ कृता संस्कृतया गिरा ।
समां भुवमिवानीता गंगा शुभ्रावलम्बिनी ॥

8. Munibhadrasūri—*Śāntināthacarita, Praśasti* 13-14 :

ये दोषान् प्रतिपादयन्ति सुधियः श्रीकालिदासोक्तिषु
श्रीमद्भारविमाघपण्डितमहाकाव्यद्वयेऽप्यन्वहम् ।
श्रीहर्षामृत सूक्तिनैषधमहाकाव्येऽपि ते केवलं
यावद्वृत्तविवर्णनेन भगवच्छान्तेश्चरित्रे गुणान् ॥

the story in any sub-divisions[9] or broke it up in accordance with suitable incidents and called each of the divisions as a jaunt (Prayāṇaka), i. e., a temporary break of journey for rest :[10] But apart from the question of nomenclature, story was generally sub-divided into suitable number of cantos to facilitate the convenience of the audience or the reader, so that he can follow with interest the lengthy and often complicated story of the original with ease. Thus, while the story thus summarised was suitable to the original work and faithfully preserved in the compendium, the structural form adopted was that of the Mahākāvya. The result was a hybrid product called the *Kathāsāra-mahākāvya*.

At times such *Kathāsāra-mahākāvyas* turned out to be quite remarkable compositions approaching the level of an average epic since the poet of this new composition was free to redescribe and recast the story of the original in his own words, thus permitting him to add embelishments afresh and giving a local colouring to an ancient story. To this end his poetic talent was rather fettered by the original story which he was expected to follow faithfully. But some of the authors of the *Kathāsāra-mahākāvyas* did take slight liberty with the original story when they found a link missing here and there, as in the case of Pallipāla Dhanapāla, while others like Padamsāgara did not mind introducing a few changes in cases where they differed with the original.

---

9. Padmasāgara—*Tilakamañjarī-kathoddhāra* (Ed. by N. M. Kansara, and published serially in J. O. I., Baroda, Vol. xxviii, March-September, 1979, and etc.

10. Pallipāla Dhanapāla—*Tilakamañjarīsāra* (Ed. by N. M. Kansara, and published by L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1969).

But they never went to the extent of borrowing a mere skeleton of the story from some source, and totally recast and present it in a new garb adding a few incidents while omitting others. Thus, the *Kathāsāra-mahākāvya* was a hybrid genre which preserved the original story of a different literary genre almost in tact but only recast it in the external form of an ornate epic.

The genre developed of necessity. The lengthy and complicated story of the original Sanskrit work like the *Mahābhārata*, the *Rāmāyaṇa*, the *Kādambarī*, the *Tilakamañjarī* tended to be forgotten in view of the fact that in those days of the middle ages, these works were but recited in royal assemblies or public gatherings, and the recitations lasted for a number of days, perhaps months, making it difficult for the audience to retain the links of the story. Similar was the case with Prakrit works like Pādalipta's *Taraṅgavaī-kahā*, Udyotanasūri's *Kuvalayamālā*, Jineśvarasūri's *Nirvāṇalīlāvatī-kahā*, Haribhadrasūri's *Samarāicca-kahā*, with the added disadvantage that they could not be accessible to, and win the appreciation of Sanskrit-knowing elites so as to find an honoured place in highly valued Sanskrit literature of the age. The rulers, like Bhoja in Dhārā or Siddharāja and Kumārapāla in Gujarat, in those days patronized Sanskrit scholars affording them a place of honour both in the court and the society. This situation too seems to have inspired the poets to emulate worthy predecessors and try their hands at an ancient popular work, thus creating an interest in the original by rejuvenating it in the new prevalent form, while renewing the respectful devotion or memory of the holy personage treated as a hero therein and gaining the fame of an epic poet for himself.

The structural peculiarities of the original has affected the development of this new genre to such an extent, that in some cases the resulting *Kathāsāra-mahākāvya* hardly attained to the epic form, as in the case of Hemacandra's *Triṣaṣṭhiśalākāpuruṣa-carita,* while another *Kathāsāra-mahākāvya,* summarising a part of its story pertaining to the first Tīrthaṅkara Ṛṣabhadeva, attains to the epic form in the *Padmānanda-mahākāvya* at the hands of Pandit Amaracandra. This testifies to the fact of the author's poetic genius, the lack of which in others of his class serves only to detract from the literary form.

Histories of Sanskrit literature, particularly that composed by the Jaina authors, have preserved many notices of numerous *Kathāsāra-mahākāvyas.* It is necessary to set this genre apart and study it as an independent form in detail, to evaluate the worthy pieces of this genre in the light of the contribution they have made in preserving the memory of the lost original and in the development of new literary trends of the age to which they belong.

# STONE INSCRIPTION OF NONHA-NARSINGHA KANPUR, U.P.

JAI NARAIN AND BIMAL CHANDRA SHUKLA

*Allahabad*

In the present article light has been thrown on the chief characteristics of the newly discovered fragment of a stone inscription of 13 lines in *Nāgarī* lipi of about 8-9th century A.D., recovered from Nonha Narasiṃha mound, Kanpur. The inscription contains references to Bhoja De (Va ?), Śubhāditya, Padmaprabhu Muni and to some grants to Brāhmaṇas.

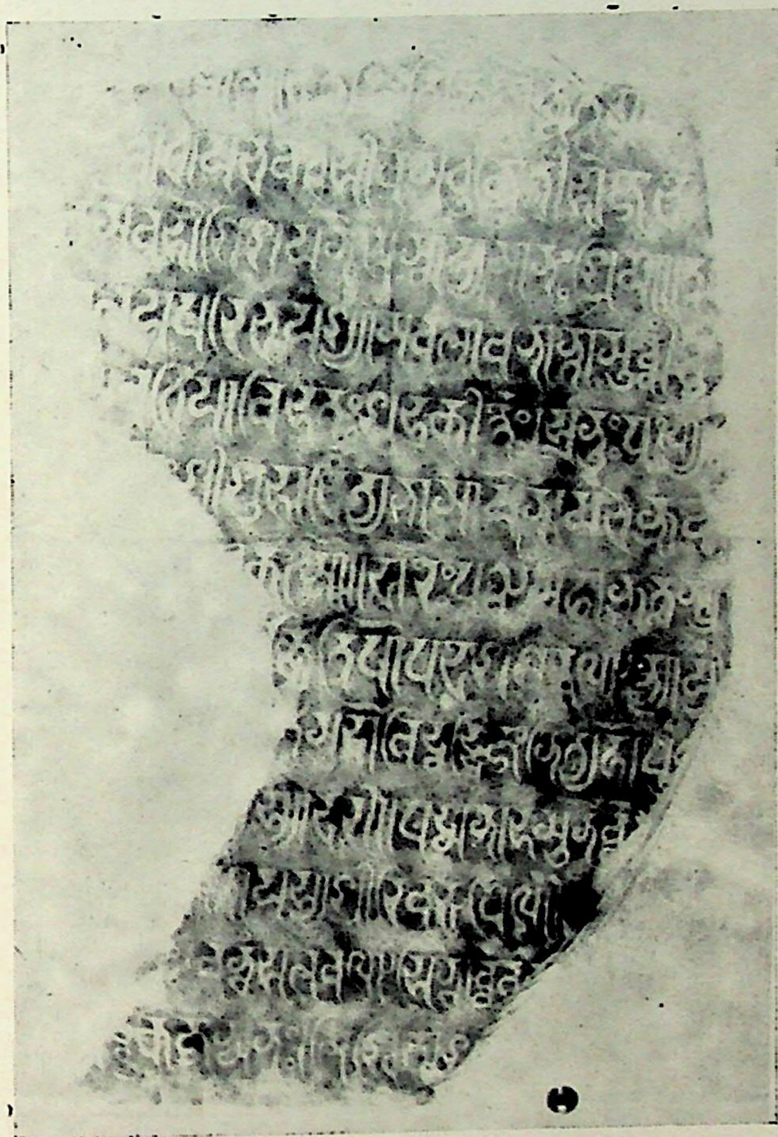
Recently the authors of this article had an opportunity to pay a visit to the city of Kanpur to attend the sixth Annual Congress of 'Indian Academy of Social Sciences' held there between October, 23—26, 1981. We could spare sometime to explore together the city and its suburbs.

In course of our exploration, we went to a village named Nonha-Narsingha. The village of Nonha-Narsingha (Lat. 26°38′ N. and Long. 80°4′ E.) lies about 24 km. in a north-westerly direction from the city of Kanpur. A big mound, on the fringe of the village is situated on the right bank of *Uttari Nona*, a placid rivulet tributary of the Ganga, which flows in a roughly L-shaped course at the site. At present the mound is divided into two parts, viz. southern and northern by the streams of *Uttari Nona* the largest mound—Nonha Narsingha mound (or temple mound) rising to a

maximum height of about 9.35 metres. Surface explorations have revealed the presence of the *Painted Grey Ware,* and subsequent ceramics of early historical times, including a number of the sherds of *Glazed Ware.* The whole mound and the adjoining fields are littered with potsherds, and brick-bats, etc. A large number of complete burnt bricks, measuring 49.5×30×7.5 cms and 41.5×28.5×6.25 cms are also lying exposed at a few points on the mound. There is reason to believe that an ancient town lay buried at the site.

A large number of broken and mutilated stone sculptures, stylistically assignable to the Early Medieval Period (Rajput), attest to its continued importance up to Early Medieval times. Notable among the sculptures on the southern mound, is a massive Śivaliṅgam of polished stone of the height of about 1.3m and with a circuit of 1.97cms. This Śivaliṅgam is installed on a *yoni* which perhaps formed the centre of the original cella of the temple. Though, the temple had been razed to ground, it is still possible to work out the outline of the temple on the basis of the foundation walls. A panel depicting *Mahiṣāsuramardinī,* kept in a recently built shrine on the northern mound, is also quite interesting.

The inscription lies on the ground near the Śivaliṅgam, on the southern mound, which is locally known as Nonha-Narsingha mound. The inscription is incised on a carefully smoothened upper surface of a stone slab, measuring 55.3×39.1 cm. This inscription of 13 lines is only a fragment of an apparently large inscription. Not a single line of the inscription is intact, and almost all the extant lines are partially broken. The name of the writer of inscription was given in line 13 but is now completely effaced.



Stone Inscription of Nonha–Narasiṃha, Kanpur.

## TEXT OF NONHA NARSINGHA INSCRIPTION

1. ····लादित्य इति क्षितौ कृतपदं········

2. ····रु । यत्राधाय च वेधसीव मधुजित्श्रीभोजदे (व ?) ········

3. ····(क्षि) ति मेव भोगिशयने संवाह्यमानः श्रिया ।। त········

4. ····(प्र) लय परिचयश्यामवला वनान्तामुर्व्वीशु·······

5. ····व थिया विभ्रतः शुभ्रकीर्त्तेः । सूनुः पुण्यो········

6. ··············श्रीशुभादित्यनामा येनायं चक्र·······

7. ···············कामो ।। दारः पञ्चमहाक्रतून्प्र········

8. ········ क्षितिपोपदेश गुरुणान्याय्यं········

9. ···············त मुदो विद्वद्विजानित्य भोपुं··· ····

10. ···············स्यादरो ।। पद्मनाभमुनेर्व्व ··· ····

11. ···· ······ ·· (ना) म्ना यस्यश्रीरिवरूपिणी ।।········

12. ···············वन्धं सलवणासिन्धोर्व्वंत··· ····

13. ···············व्वुक जन्मनः । लिखिता श्री········

The characters are *Nāgarī* of about eighth-nineth century A.D. The language is *Sanskrit* and what remains in the inscription is in *verse*. The characters are regularly and beautifully formed and skillfully engraved. The average height of the letters is about 2.4 cm. As regards the shape and formation of letters, the following peculiarities may be noted :

The chief characteristic of *Nāgarī* characters of Nonha-Narsingha stone inscription, is that the letters slope from the right to the left and show an acute angles at the lower, or, at the right ends. .The use of the long straight top-strokes,

is also noteworthy. James Princep (1799—1840 A.D.) for the first time termed this type of script as '*Kuṭila*' and it had been employed by many other scholars since then. The terms "acute-angled alphabet", and the "nail headed" were also frequently applied to them. George Buhler was not inclined to adopt the term '*Kuṭila*' because, according to him, this term is based on an erroneous rendering of the expression *Kuṭila Akṣara* in the Dewala Prasasi of Lalla, the Chhinda, of (Vikram) Samvat 1049, corresponding to 992-93 A.D. Buhler had translated the phrase, *Kuṭilānya-kṣarāṇi Viduṣā* as "by him, who knows crooked letters", i.e. letter difficult to read[1]. Buhler called it instead 'Siddhama-trika' (lipi)[2] F. Kielhorn likewise, deliberately avoided the term '*Kuṭila*' in his palaeographic remarks on various inscriptions of this period[3].

The loops on the left hand of *ma* and *pa* are not closed but represented by curves. Similarly the left limb of *ka* in line 1 and 7 is curved upwards. The letter *ba* is denoted by the sign of *va* (cf. line 12). In consequence of the elonga-tion of the ends of the wedges and the use of long straight top-strokes, the heads of *ga, ja, ta, dha, na*, are almost closed. *Pa* and *va* and *sa* show the use of broad wedges but the open tops are not closed. The characters of the inscription clearly show a mixture of wedges and straight top-strokes. An intermediate position between the 'acute angled' and the *Nāgarī* alphabets, is occupied by the letters of the

1. E. I. I, p. 76.
2. Buhler, G., *Indian Palaeography* (Calcutta, 1959), pp. 68-69.
3. E. I., I, p. 179; E. I., II, p. 160, 177.

Nonha-Narsingha inscription. Specimens of the mixture of wedges and straight top-stroke, are found in the Radhanapur and Vanidindori Copper Plates of the Raṣṭrakūṭa king Govind III of A.D. 807-808 (cf. facsimile in E I III, 103) and the Harsha Inscription of the Chahmana Vigraharaja II of A.D. 973 (cf. also fascimile E I II). The anusvāra is represented by a small circle, e. g. in *Urvvīm* ( उर्व्वी ) in line 4. As is the case with numerous epigraphic records, a short-space at the end of some lines in our inscription (cf. lines, 3, 5, 7, 10, 11, 13) has been often covered by a single or double danda.

One or two more points in our inscription merit attention. Line 2 contains a reference to Sri Bhoja De (va ?). It is well known that among the Imperial Gurjara Pratihara kings of Kanauj, Ramabhadra's (c. 833-36 A.D.) son and successor Mihira was usually known by his title Bhoja or Bhoja-Deva. Whether there is a reference or allusion to the celebrated king Bhoja I (c. 836-889 A.D.) in this inscription is an interesting question. The question is as difficult to answer as it is easy to pose. We are familiar with the names of two Bhojas-Bhoja I and his grandson Bhoja II son of Mahendrapāla and Dehanaga Devī—of the Imperial Pratihāras of Kanauj. While Bhoja I was the greatest ruler of the Pratihāra dynasty of Kānyakubja, nothing particular is known of Bhoja II. Most of the scholars are of the opinion, that Bhoja's (I) first task was the restoration of Pratihāra authority in Kālāñjara-Maṇḍala and Gujarat.[4] Bhoja's empire included, not only Uttar Pra-

4. Tripathi, R. S., 1937, *History of Kanauj to the Muslim Conquest*, p. 238 ; Majumdar, R. C., (ed.), *The Age of Imperial Kanauj*, pp. 29-30 ; Mishra, B. B., 1966, *The Gurjara-Pratihāras and their Times* (Delhi), p. 27 ; Puri, B. N., *History of the Gurjara-*

desh, almost whole of Madhya Pradesh, Rajasthan, Haryana, but also the Saurastra region of Gujarat and perhaps parts of Bihar[5]. It may be pointed out that Kanpur, the find-spot of the inscription is not very far from Kanauj, the imperial seat of Gurjara Pratihāra dynasty.

Pratihāra feudataries had used the title *Paramabhaṭṭāraka Mahārājādhirāja Parameśvara* for the Pratihāra monarches, but the Pratihāra rulers preferred to call themselves only *rājas* or *mahārājas*.[6] Bhoja I, one of the mighty rulers, is often simply styled as 'Śrīmat'[7] or Mahārāja.[8] In several inscriptions Bhoja I is referred to as Bhoja or Bhojadeva. In Catsu inscription (Jaipur District, Rajasthan) of Bālāditya, Mihirabhoja is simply called Bhoja.[9] In Pratapgarh (southern Rajasthan) inscription of Mahendrapāla II (c. 943-48 A.D.), Bhoja I is simply referred as Bhojadeva[10]. We know from The Kahla Plate discovered in Gorakhpur district in U.P. that Guṇāmbodhideva of the Kalacuri dynasty of Gorakhpur, received land from Bhojadeva (*Bhojdeva āptabhūmiḥ*), who had been identified with the Pratihāra king Bhoja I by Kielhorn.[11] In view of the above dis-

---

*Pratiharas,* p. 55, and for a different view see Sharma, Dasharatha (ed.) 1966, *Rajasthan Through the Ages,* Vol. I (Bikaner), pp. 150-51.

5. For a detailed discussion, see *History of Kanauj,* and *The Age of Imperial Kanuaj.*

6. Sharma, Dasharatha, (ed.) *Rajasthan Through The Ages,* Vol. I, p. 305.

7. E. I., I, p. 156, line 6, verse 22 *Śrīmad-Ādivarāheṇa.*

8. E. I., XIX, p. 18, line 6.

9. E. I., XII, p. 15, verse 19.

10. E. I., XIV, pp. 180, 184.

11. E. I., VII, p. 86, line 8 and p. 86 footnote 4.

cussion it may be surmised that Śrī Bhojadeva in line 2 of our inscription is, most probably, Bhoja I of the Gurjara Pratihāra dynasty of Kanauj.

The name of another individual called Śrī Śubhāditya, also occurs in line 6. It may be surmised, though provisionally that it was Śrī Śubhāditya, who caused this epigraph to be engraved. The inscription in line 9, probably, refers to some grants (?) made in favour of learned Brāhmaṇas by Śrī Śubhāditya. In line 11 the name of Śubhāditya's virtuous wife who had been compared with Śrī or the Goddess of Fortune also occurs. The reference to Padmaprabhu Muni in line 10 without any honourific is also noteworthy.

# AN UNIQUE UNATTRIBUTED ĀRJUNĀYANA COIN

(MRS.) AVINASH

*Chandigarh*

Account of a rare Ārjunāyana coin.

Long back James Prinsep had prepared a plate of the engravings of 'Indo-Bactrian and Buddhist Satrap Coins' which he himself could not comment upon and publish in his life time in the *Journal of the Asiatic Society of Bengal* as intended by him originally. His brother H.T. Prinsep, however, published the said plate along with an article which both were later included in James Prinsep's Essays in 1858.[1] A round copper coin illustrated at No. 22 of the said plate was briefly described by the author as following[2]—

"*Obverse*: Figure in speaking attitude. *Rajna Raghunám.*"



The illustration (Fig. 1), however, reveals a figure in the centre, on the obverse, with right hand raised up and left

1. *Essays On Indian Antiquities* by James Prinsep (Ed. Edward Thomas), London, 1858, Vol. II, Art. XXI. Pl. XLIV, pp. 218-24.

2. *Ibid.*, p. 224.

3. The initial letter seems to have been incorrectly drawn by Prinsep probably because of the indifferent state of preservation of the coin. Prinsep's reading *'Rajna Raghunàm'* suggests *u*-vowel with *ja* which he mistook as the conjunct *'jña'*.

akimbo. Brāhmī legend of about the first century B.C. from IX to III along the border can be read as "(Ā)[3] junāyanā (me ?)[4]" On either side of the figure, which probably is a representation of Lakṣmī holding a lotus, are to be seen symbols or letters.[5] The reverse contains the figure of a humped bull standing to left on what looks like a arched hill. Both the obverse and reverse devices are reminiscent of similar devices of Rājanya coins.[6] The Rājanyas, as is well known, had migrated from the Punjab to Rajasthan and issued coins with Lakṣmī and Bull devices.[7] The Ārjunāyanas, too, were located in Rajasthan.[8] Temporal and spacial vicinity seems to have been the cause of the adoption (or imitation) of similar devices.[9]

The size of the woodcut of our coin is 1.65 cm. Its weight has not been recorded. No such Ārjunāyana coin is known to us earlier. The coin thus constitutes an unique variety.

---

4. The last letter, too, may have been wrongly transcribed. The original, like many other known examples, may have been *'na'*.

5. Such letters have also been seen on some other Ārjunāyana coins too. See e. g., *Journal of the Numismatic Society of India*. Vol. XXXVIII (1976), p. 2, Pl. I.1 ; *Ibid.*, Vol. XXXIX (1977), p. 50, Pl. VII.5.

6. K. K. Dasgupta, *A Tribal History of Ancient India*, Calcutta, 1974, pp. 140-147, Pl. V, Nos. 91-93a-b.

7. *Ibid.*, While in the Punjab, the Rājanyas used Kharoṣṭhī on their coins but substituted it by Brāhmī in Rajasthan.

8. *Ibid.* ; *JNSI*, XXXVIII, pp. 1-5.

9. The arched hill shows some connection with the Śibis also.

# SHĀH JAHĀN'S SILVER RUPEE OF A NEW MINT

LALMAN

*Chandigarh*

Identification of a unique Silver Rupee of Shāh-Jahān, with the name of the mint 'Junīr'.

A hoard of 340 silver rupees was discovered at Sargodha (now in Pakistan) during 1929-30[1]. It included a rupee of Shāh Jahān[2] which bore on the obverse[3] the name of the emperor with the title (*Shihābu-l-Dīn Ṣāḥib qirān Ṭhānī*) and the name of the mint on the border. The reverse[4] contained the Kalima in the square and the date 1060, the margins being occupied by the names of the four Caliphs. Though the coin is of the well-known type issued by Shāh Jahān yet the name of the mint which has been read as Junir[5] is of unusual interest.

Junir as a Mughal mint is not mentioned in any of the published catalogues nor has this name been noticed so far on any other coin. In the Annual Report which contains an account of the above-mentioned hoard. Junir has been identified with modern Junnar, about 90 Km. north of Poona.[6] Unfortunately, the coin has not been illustrated.

---

1. *ARASI*, 1929-30, p. 212.
2. *Ibid.*, 1930-34, p. 302.
3. Actually the reverse.
4. The obverse is here wrongly described as the reverse.
5. *ARASI*, 1930-34, p. 302.
6. *Ibid.*

Nelson Wright and Whitehead had read the mint-name on Jahāngīr's coins dated 1031 A.H. in the Calcutta Museum (No. 685) and the Lahore Museum (No. 1017) as JALER. P.L. Gupta tried to read the same name as Hapur[7] to which C.R. Singhal expressed serious doubts. Singhal thought that the mint-name was JALESAR which he identified with JALESWAR or JELLASORE in Balasor district of Orissa.[8] Devendra Handa had suggested that the name may be better read as JAGNER identifiable with the present JANER, a small village situated about 10 Km. north of Moga on road to Zira, near the high bed of the Sutlej in district Ferozpur, Punjab.[9] JANER is an archaeological site of imposing dimensions, yielding antiquities ranging from the Kuṣāṇa period to the recent times[10]. The name of the mint JUNIR should, I feel, be read as JAGNER or JANER and the coin in question contained in a hoard obtained from Sargodha (in the erst-while Punjab) should better be assigned to a mint in the Punjab rather than one in Orissa or in Maharashtra. Probably a mint was set up at JANER by Jahāngīr and it continued to be so subsequently, during the reign of Shāh Jahān at least.

---

7. *JNSI,* XI, p. 70.
8. *Ibid.,* XII, p. 151.
9. *Ibid.,* XXXIII (ii), p. 122.
10. *CASR,* XIV, pp. 67-69.

# CONCEPT OF INDIAN TEMPLE AND ITS EVOLUTION

DR. K. S. SHUKLA

*Bangarmau*

The concept of the model of Indian temples has its origin in the mountain peaks, trees and the human body (the seated posture of a yogī).

Conceptually, temple is the material manifestation of the concept of God. Architecturally, it is a place for meditation and spiritual communion with him in a darkened cell or chamber, cave or rock-shelter.

The primitive man saw or visualized God in the massive and mighty mountains and other natural forces and phenomena. For him living in a cave was just like living in the womb of the Mother, the benevolent mountain itself. He saw in the gigantic mountain the material manifestation of the Cosmic Principle that sustains life on the earth. The glory, grandeur and greatness of the God was thus, first realised by man in the formidable form of high soaring mountain, which was a standing monument of the Divine Mother and provided him full protection from wild animals, and shelter from the furies of nature.

Later on, when there occured a great climatic change, man descended to the plains from the mountain, where he found the same comfort and shelter on and under the trees and enjoyed their luscious fruits and roots to sustain his life. Thus, in the blossoming and fruitladen trees he perceived the same benevolent or at times a malevolent spirit

according to his own vision and understanding and invested each tree on its individual merits, with an in-dwelling spirit.

With the advance of culture and civilization and with the expansion of man's mental horizon his body in the seated posture of a 'yogī' served as a model for the shrine of god. He saw in the saints and sages the manifestation of the Supreme Self as the saviour of the mankind.

Thus, in short, mountain peaks, trees and human body served as concrete models for the concept of a temple.[1] The sanctum with its massive walls and dark interior represented a cave, while the superstructure with the peak-like spire represented a mountain.[2] Significantly, the sanctum is called *'garbhagṛha'*, the womb or embryo, where the regeneration is effected and the higher self of the devotees is reborn through initiation and self-realisation.[3] The superstructure with receding tires or tapering spire terminating into the pointed finial symbolises the general sublimation of the soul to empyrean heights to reach the point of no return i. e. the complete oblivion into the Cosmic Principle.

Again, trees and mountains appear to have symbolised the inner urge of man to rise above his surroundings. It were these two natural phenomena which transcending all ethereal pulls stood solidly on the ground vying with the skies. Therefore, man, in all likelihood, identified his own urges to rise above with these two tall and towering objects of nature having their feet firmly planted on the earth in a bid to soar above. Thus, both served as models for a

---

1. Bajpai, K. D., *Bhāratīya Vāstukalā kā Itihāsa* (1972), p. 3.
2. Deva, K., *Temples of Northern India*, 1969, p. 2.
3. *Ibid.*, p. 3.

structural edifice known as temple—the house of god. The seated posture of a *'yogī'* lost in meditation and ecstatic vision of the Enlightened One in the inmost recesses of his soul also served as a model. Thus, the archaic temples which were simple structures of wood or clay, were built on a raised platform in imitation of human body, a tree, or a mountain.

In the prehistoric period caves painted with mystic symbols served as the sequestered cloisters for chanting spells for effective hunt, and also shelters from the inclement sun and shower, hail and hurricane, ice and snow. Thus, the caves may be regarded as the earliest temples of mankind,[4] where the prehistoric cave-dwellers offered a portion of their game to their in-dwelling spirits painted in the form of some totemic symbols on the cave walls.

With the discovery of a stone nodule having main emphasis on the female pudenda,[5] it is evident that the primitive faith in the Mother Goddess cult started from the Upper Palaeolithic period. The concept of the benign Mother that was derived from the all-sheltering caves or womb of the gigantic mountains got full expression with the emphasis on the female pudenda in arts and sculpture. Such small but crude representations in stone anticipate some sort of insipient architecture in the form of an open-air platform for worshipping the gods and demi-gods and

---

4. Vakankar, V. S., "Prehistoric Cave Paintings"; *Mārg*, XXVIII, No. 4, p. 5.

5. Shukla, K. S., Unpublished Ph. D. thesis *'Archaeology of Unnao District*; approved by the University of Sagar, 1981, p. 142, pl. IVb.

specially later on, the Mother Goddess which was symbolically represented by the crude female figures with particular emphasis on their pudenda. The discovery of ivory mother goddesses in the Mesolithic and Neolithic chalcolithic horizon at Mahagara[6] in the Ganga Valley further testifies the prevalence of the Mother Goddess cult that had originated there.

The Mother Goddess cult and the tree-worship continued in the Harappa culture. Apart from terracotta figurines of the Mother Goddess, many Harappan seals represent a tree-god standing under the arched leaves suggesting thereby an arched doorway decorated with the tassels of green leaves as is the fashion today in many parts of the country. However, we are yet to discover, at Harappan sites, any such structure as may be identified with a temple. The solitary example at Mohenjodaro in H. R. area is the so-called House No. A1. The nucleus of its plan is a high oblong structure approached from the south by two symmetrically disposed stairs parallel with the frontage access to which was provided in turn by a monumental double gateway between two irregular blocks of building. In the court of this gateway was a ring of brick-work representing perhaps, a protective enclosure round sacred trees. Just inside the room to the east of the gateway was found a stone statue, about 38 cms. in height representing a bearded *yogī* in a squatting posture.[7] The combination of circumstances incines towards the identification of the struc-

6. Sharma, G. R., *History to Prehistory, Allahabad,* 1980, p. 96.

7. Marshall, *Mohenjodaro And the Indus Civilization,* Vol. 1, p. 178 ; Vol. 3, pl. C, 4-6.

ture as a temple.[8] Recently, small platforms with cylindrical clay phaluses, thick accumulation of ash and a lot of terracotta balls have been discovered at Kalibangan.[9] These are square or circular in plan. The thick accumulation of ash and burnt clay probably suggest a railing of wood, bamboo or reed filled with wattle-and-daub. These open-air, but enclosed structures, with some kind of aniconic representation may be termed as temples or *Agnivedikās* i. e. fire-altars.[10]

In chalcolithic period, too, structures consisting of circular platform with triangular clay figurines of the Mother Goddess and an assemblage of a variety of ceramic vessels and fire-altars were unearthed at Dangwadi (Ujjain). V. S. Vakankar, the excavator of the site, is of the view that it was a part of a temple complex situated along the bank of the river.[11] Fire-altars of the same period have also been discovered at Navadāṭolī.[12]

On the evidence of Bhagwanpura (Haryana) it may be postulated that the old tradition continued in the vedic period as well. There were raised thatched or wooden structures which served the purpose of a temple wherein the image of a god or goddess made of clay, wood or gold was installed and sometimes, taken out into procession on

---

8. Wheeler, Sir Mortimer, *Indus Valley Civilization*, p. 53.

9. See *Indian Archaeology: A Review*, 1963-64, pl. XXa; Lal, B. B., *Archaeology Since Independence*, pp. 17-18, pl. IV.

10. Agrawala, V. S., *Evolution of the Hindu Temple*, p. 1.

11. Vakankar, V. S., 'Archaeology in Madhya Pradesh', *The Illustrated Weekly*, Sept. 5, 1981, p. 35.

12. Sankalia, H. D., *Indian Archaeology Today*, 1962, p. 84

certain ceremonial occasions or festivals. Such processions are taken out in India even today.

It is interesting to recall that on the auspicious day of *Devotthānī Ekādaśī* (the 11th bright day of the month of Kārtika) a temple-like structure built of four sugar-cane sticks whose long leaves are tied atop simulating a rudimentary *śikhara* with the crowning *āmalaka* and the finial is raised over the clay images placed on a small wooden plank. This crude and humble structure certainly imitates the archaic wooden structures over the images. This is also quite evident from the punch-marked coins as well as those belonging to the Audumbaras and the Pañcālas.[13] Again, the temples of Saṅkarṣaṇa and Vāsudeva at Nāgarī and Mathura were of this archaic type. The Nārāyaṇa Vāṭikā at Nāgarī is a platform with a square railing around it.[14] Stray references like the one found in the *Taraṅgāvatī*, a literary work of the 1st century B.C. suggest the erection of a wood temple[15] on thousand pillars, looking like the *Vimāna* of the Sun-god rising above the white clouds.

Thus, in its initial stage a shrine was originally something like a raised platform with an image of some god, yakṣa or nāga installed on it. The second stage of its development was reached by the construction of a railing–originally of wood or bamboo and still later on, of stone as at Mathura, Sanchi, Bharhut, Amaravati, etc. These open-air platforms were sometimes covered with a canopy of straw or stone.

---

13. Cunningham, A., *Coins of Ancient India*, p. 68, pl. IV, fig. 2 ; p. 84, pl. VII, fig. 19.

14. Agrawala, V. S. *op. cit.*, p. 1.

15. Acharya Padalipta, *Taraṅgāvatī*, p. 83, Jaipur, 1964.

Obviously, the inspiration for this kind of architecture came from man himself. The anatomical divisions of a fully developed temple—stupendous and extravagant in plan and execution—as found in the later texts seem to have been made after human physiognomy. The different parts of the elaborate body-temple are called *pāda* (feet), *jaṅghā* (thigh), *varandī* (bust), *mastaka* (forehead), *śīrṣa* (head), *śikhara* (spire), etc. Even the literary sources bespeak of this analogous kinship as a source of inspiration on a metaphysical plane. On the earthly or terrestrial plane the temple is symbolic form of the plan of the universe—a world of deities, spirits, celestial beings, dancers and musicians of the heaven (*gandharvas*), even beautiful divine beauties and mortal maidens.[16] Moreover, the enshrined deity is also accorded the same place, position and paraphernalia as the temporal king on this earth. He is provided with a bedecked throne, umbrella and fly-whisk and His worship is attended by regal pageantry, together with music, dance and lighting of lamps.[17]

Thus, the concept of the temple derived from the mountain, the tree and the human body took the material shape and acquired great dimensions having taken inspiration from the human body, the tree and the mountain respectively from the earliest times to the early medieval period.

---

16. Mehta, R. N., *Masterpieces of Indian Temples*, Bombay, p. 44.

17. Deva, K., *op. cit.*, p. 1.

# FRESH LINGUISTIC EVIDENCE TO DETERMINE YĀSKA'S PERIOD

DR. (MRS.) HARIPRIYA MISRA

*Varanasi*

Basing her arguments on new linguistic evidences, the author tries to fix Yāska's time before Pāṇini, in 8th century B.C. in which the MIA stage has already been started.

Prof. Baladeva Upadhyaya has aptly remarked that Yāska must belong to a period earlier to Pāṇīni.[1] Western scholars also mostly accept Yāska to be of an earlier date than Pāṇīni; Macdonell[2] places Pāṇīni in the 4th century B.C. and Yāska in the 5th century B.C.

Yāska belongs to a period earlier to Pāṇini, in which although Middle Indo-Aryan has already started (the period of OIA being over) it has not yet been recognised as a clearly variant stage of Indo-Aryan differing from Old Indo-Aryan on several linguistic factors. The language change was so natural and slow that although Yāska has observed the linguistic change of Middle Indo-Aryan type in the language, he has not been able to recognise that a new stage has come into being. This fact re-establishes Yāska in the 8th century B.C., which is the date proposed by some scholars and challenged by others. Besides in a recent work Misra[3] has shown that Middle Indo-Aryan has started

---

1. Vide: *Saṃskṛta sāhitya kā itihāsa,* p. 38 and *vaidika sāhitya aur saṃskṛti,* p. 241.

2. Vide: *History of Sanskrit Literature,* p. 22.

3. Vide: *Fresh Light on Indo-European Classification and Chronology,* p. 98.

from the 10th century B.C. instead of the earlier proposed date by Chatterji at 5th century B.C. The date proposed by Misra explains the peculiar linguistic environment in Yāska's time. The peculiarity lies in the fact that his approach to etymology and his style clearly shows that he belongs to a period of Middle Indo-Aryan and he is earlier to Pāṇini.

Evidences for the above fact are given below.

Yāska uses the term *bhāṣā* in the sense of classical Sanskrit. The following uses of Yāska may be compared—*teṣāṃ ete catvāra upamārthe bhavanti. iveti bhāṣāyāṃ cānvadhyāyaṃ ca. agnir iva. indra iva. neti pratiṣedhārthīyo bhāṣāyāṃ. ubhayaṃ anvadhyāyaṃ.*[4] In this passage Yāska freely uses *anvadhyāyaṃ* (lit. learned speech) and *bhāṣā* (lit. learned speech or spoken language) in the sense of Vedic and Classical Sanskrit. The word *bhāṣā* has been used subsequently in the sense of common speech or spoken language referring to Middle Indo-Aryan and New Indo-Aryan in course of time. The use of the term *bhāṣā* in Yāska in the sense of Classical Sanskrit shows that Cl. Skt. also was not considered as a learned speech in his time.

Moreover evidences are being presented to show that Middle Indo-Aryan sound changes were recognised by Yāska in the etymological investigations.

In the statement *"nighaṇṭavaḥ kasmāt. nigamā ime bhavanti"*, derives *nighaṇṭavaḥ*<*nigantavaḥ*. Such changes of spontaneous aspiration of non-aspirates (i. e. *g*>*gh*) and of cerebralization of dentals (i. e. *t*>*ṭ*) are Middle Indo-

4. *Nirukta*, I.4.

Aryan characteristics.

cp MIA aspirates for Skt. non-aspirates

Mahārāṣṭrī *ṇihasa* <Skt. *nikaṣa*

*bharaha* <Skt. *Bharata*

Amg. *kacchabha*<Skt. *kacchapa*

cp also MIA cerebrals for Skt. dentals.

Pali *ḍamsa*<Skt. *daṃśa* 'gnat, an insect' Mahārāṣṭrī *paḍia*<Skt. *patita*

Pali *paṭhama*, S, M *paḍhama*<Skt. *prathama* and paḍi<Skt. *prati*.

This phenomenon of cerebralization of dentals is quite common with Amg.

Likewise he states *kaṇṭakaḥ kṛntateḥ* (IX.32) which means he derives *kaṇṭakaḥ*<*kṛntakaḥ*. Such a form shows Skt. *ṛ*>*a* and cerebralization of dentals as in Middle Indo-Aryan. In the forms *kitavaḥ kṛtavān* (v.22) (i. e. gambler <successful) he derives *kitavaḥ*<*kṛtavaḥ* which is a case of Skt. *ṛ*>*i*.

cp. MIA Aśokan Insc. *maga-* and *miga-*<Skt. *mṛgaḥ*

Śaurasenī *kada*, Mahā. *kaa*<Skt. *kṛta*

Śaurasenī *diḍha*<Skt. *dṛḍha*

Moreover he derives kīkaṭāḥ<kiṃkṛtāḥ (VI.32) which shows cerebralization of dentals as well as lengthening of vowel after loss of a nasal.

cp. MIA *sīha*<*siṃha* and *vīsa*<*viṃśati*.

It is obvious from Yāska's treatment that root concept was not clear in his time. The concept of root is clear from Pāṇini's treatment who distinctly categories *gam, bhū* etc. as roots. But Yāska who belongs to a period earlier

to Pāṇini used 3rd person singular of the verb to indicate root just like the Old Greek grammarians who use 1st person singular to indicate root. e. g. Yāska gives—

*vīro vīrayati amitrān* (I.7).

(II.17) *vṛtra vṛṇatervā vartatervā, vardhatervā.*

(III.18) *vyāghro vyāghrāṇāt, vyādāya hantītivā.*

Besides sometimes he uses a noun instead of showing the root for his etymology as *vyāghro vyāghrāṇāt.*

Old Greek grammarians used 1st person sg. of the verb to indicate the root instead of giving the original root. It shows that they had no clear idea of the original root, e. g., they use *baskō* 'to go', *pherō* 'to bear', *luō* 'to loose', *tīmāō* 'to honour' to indicate roots which are actually 1st person sg. forms. Modern Greek grammar however uses infinitive forms to indicate roots like Latin and English.

cp. Old Greek root *pherō,* Modern Greek *pherein,* Lat. *ferre,* Eng. 'to bear'.

The above investigation fully helps us to ascertain that Yāska belongs to a period earlier to Pāṇini. In Yāska's period the root concept (as found in Pāṇīni's treatment) was not discovered. Had it been discovered a great scholar like Yāska would have used it in his treatment which would have made his work more convenient and more practical. Beside MIA was already in vogue at Yāska's time, but it had not special stamp differentiating from OIA. MIA was treated by Yāska as a short of local dialect. But by Pāṇini's time the roots have been fully established and MIA has already been fully differentiated from OIA. To Yāska Vd. Skt. was a learned speech, a language worth studying,

and Cl. Skt. was merely *bhāṣā* i. e. common speech as shown above. On the other hand, to Pāṇini, Cl. Skt. was the main object to study. His grammar is mainly meant for the study of Cl. Skt. The Vd. Skt. is of secondary importance to Pāṇini. Cl. Skt. is standard and Vd. Skt. is exceptional to Pāṇini. Therefore, he has sūtras like *'chandasi bahulam*. These factors prove that Yāska belongs to a date earlier to Pāṇini and his date may be 8th century B.C. as proposed by some scholars. Further it is also proved that the MIA stage has already come at Yāska's time and therefore the recent date of the starting point of MIA proposed by Misra in his *Fresh Light on IE Classification and Chronology* seems to be ascertained further by the present analysis.

## BIBLIOGRAPHY

1. Woolner, A. C.: *Introduction to Prakrit*, Rep., Delhi, 1975.

2. Misra, S. S.: *Fresh Light on Indo-European Classification & Chronology*, Varanasi, 1980.

3. Geiger (Tr. by Ghosh, B.) : *Pali Literature & Language*, Rep., Delhi, 1968.

4. Pischel, R. (Tr. by Jha, S.) : *Comparative Grammar of the Prakrit Languages*, 2nd Edn., Delhi, 1965.

5. Varma, S.: *The Etymologies of Yāska*, Hoshiarpur, 1953.

6. Rajavade, V. K.: *Nirukta*, Pune, 1940.

7. Pharr, Clyde: *Homeric Greek*, Rep., 1966, U.S.A.

8. Smyth: *Greek Grammar*, Rep., 1972, U.S.A.

9. Upadhyay, B.: *Vaidika Sāhitya*, Varanasi, 1955.

10. Upadhyay, B.: *Saṃskṛta Sāhitya kā itihāsa*, Varanasi, 1956.

11. Macdonell, A. A.: *History of Sanskrit Literature*, New Delhi, 1958.

# A WRONG CONJECTURE REGARDING THE READING *GRANTHAVISTARA* IN THE MAITRĀYAṆĪ-BRĀHMAṆA-UPANIṢAD

Dr. Ram Shankar Bhattacharya

*Varanasi*

The *Maitrāyaṇi Br. Up.* (i. e., *Maitrāyaṇī Āraṇyaka*) reads:

तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावत् क्षयं गतम् ।
एतज् ज्ञानं च मोक्षं च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥

(6.34) [1]

Max Müller thinks that in the above verse the correct or the original reading is *granthi Vistaraḥ* and not *grantha-Vistaraḥ*. He renders the expression as 'extensions of the ties which bind us to this life (*Sacred Books of the East*. Vol. 15, p. 333). He further remarks that "Prof. Cowell translates *granthavistara* by book-prolixity, but this sounds very strange in an Upaniṣad. I am not satisfied with my own translation but it may stand till a better one is found" (footnote No. 9 on pp. 333).

We are of opinion that there is no fault in the reading *granthavistaraḥ* and that the amended reading *granthivis-*

---

1. The commentator Rāmatīrtha seems to read *gatakṣayaṃ* for *kṣayam gataṃ* and *śeṣānye granthavistarāḥ* for *śeṣo'nyo grantha-vistaraḥ* (vide the Ānandāśrama ed. of *Upaniṣadāṃ samuccayaḥ*, p. 190). The *Amṛtabindu-up.* has a similar verse. The comm. *Dīpikā* by Śaṅkarānanda reads *yāvad hṛdi gataṃ kṣayaṃ* and *śeṣo nyāyaśca vistaraḥ* (vide *Upaniṣadāṃ samuccayaḥ*, p. 72). All these readings are evidently of later age.

*taraḥ* does not suit the context, inspite of the fact that the use of the word *granthi* is found in the ancient Upaniṣads.[2]

The word *granthavistara* refers to the knowledge derived through reading or hearing the śāstras ; in fact the word stands for what is called *śravaṇajāta jñāna*. This form of *jñāna* has no value if compared with direct experience described in the phrase *tāvanmano.....mokṣaṃ ca*. The expression *śeṣo'nyaḥ* has been used to clearly point out or to lay stress on the difference between these forms of knowledge, namely the practical and the theoretical knowledge concerning *ātmajñāna* or *ātmasthiti*. A similar distinction in a more sharply form is in the following verse of a later 'Upaniṣad' :

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ।।

(*Amṛtabindu* 5).

The use of the word *vistara* (diffuseness, prolixity, abundance) also shows that *granthivistara* cannot be taken as the original reading, for in the present context no useful purpose is served if *vistara* is used after the word *granthi*. Moreover the use of the form *vistara* in connection with *granthi* is grammatically indensible, vide Pāṇini 3.3.33 according to which the form would be *Vistara*. There would arise a metrical fault if *Vistāra* is used in the place of *Vistara* in the fourth foot of this stanza.

It cannot be urged that such an ancient text as the *Maitrāyaṇī Ār*. cannot use the word *grantha*, for the word is found in such ancient works as the *Nirukta* (1.20), *Pāṇini* (6.3.79) and the *Manusaṃhitā* (12.103).

2. *Avidyāgranthiṃ* (*Muṇḍaka-up*. 2.1.10) ; *hṛdayagranthi* (*ibid*. 2.2.8) ; *sarvagranthīnāṃ* (*Chāndogya-up*. 7.26.2).

It is remarkable to note that the *granthavistara* is found in a large number of similar verses contained in different works, vide *Dakṣasmṛti* (7.21), *Amṛtabindu Up.* (5), *Brahmabindu-Up.* (5), *Tripurā-tāpinī Up.* (5.8); *Agni-p.* 165.113.[3]

3. *Sarvabhāvavinirmuktaṃ kṣetrajñaṃ brahmaṇi nyaset/*
*etajjñānaṃ ca dhyānaṃ ca śeṣo'nyo granthavistaraḥ//*
(*Dakṣasmṛti* 7.21); *Brahmabindu* (5) reads *ato'nyo granthavistaraḥ. tāvadeva niroddhavyaṃ yāvad hṛdi kṣayam gataṃ/*
*etajjñānaṃ ca dhyānaṃ ca śeṣo'nyo granthavistaraḥ//* (*Tripurātāpinyupaniṣad* 5.8).

# हिन्दी-संस्कृत खण्ड

# गीतगोविन्द : शाश्वत विरह की अभिव्यक्ति

*डा० विद्यानिवास मिश्र*

आगरा

Every Gīta of *Gītagovinda* is *Govinda* itself which is not only *Sādhya* but *Sādhaka* also, implying in itself a blend of the emotions of joy, agony, separation and union together. The socalled sensual love of the *Gītagovinda* is a prefix only, in the sense that if leads one to the depth of divine love. Union and separation reaching at their climax get converted into another and thus together they perform the eternal play of the Absolute which does not remain contended with its oneness only.

महाकवि जयदेव की अमरकृति **गीतगोविन्द** की सरसता की ओर इधर लोगों का ध्यान जाने लगा है। पहले जैसी उपेक्षा अब कम दिखायी पड़ती है। लगभग एक शताब्दी तक **गीतगोविन्द** को घोर शृंगारी काव्य मान कर हेय दृष्टि से देखा गया। एकाएक एक स्वस्थ मोड़ आया है और महाकवि जयदेव की रससृष्टि का महत्त्व आँका जाने लगा है। प्रारम्भ प्रयोगधर्मी कलारूपों में **गीतगोविन्द** की व्याप्तता की पहचान से हुआ है, संगीत और नृत्य, चित्रकला (शास्त्रीय और लोक) और शिल्प में **गीतगोविन्द** की वर्णित लीला किस तरह नयी सम्भावनाओं का निरन्तर सर्जन करती रही और किस प्रकार उनके माध्यम से भारतीय जनमानस अपने चित्त का संस्कार एक अद्भुत द्रुति के व्यापार के द्वारा करता रहा, इसकी मीमांसा विगत दशक में अनेक कलामर्मज्ञों ने की है, और यह कहा जाने लगा है कि महाकवि जयदेव द्वारा राधा-माधव के तीन वासन्ती दिनों की सृष्टि भारतीय साहित्य के इतिहास में अपूर्व घटना है। ऐसा नहीं है कि इसके पूर्व राधा-माधव नहीं थे, राधा-माधव केलि का रस वर्णित नहीं हुआ था, न ऐसा ही है कि रागाकुलता और भगवद्भक्ति को एक विन्दु में, श्याम विन्दु में पहले समाहित नहीं किया गया था, बस इतना है कि जयदेव के पहले किसी भी कवि ने श्यामविन्दु को अपने में समाहित गौर छवि के चारों ओर नाच नाच कर वृत्त बनते नहीं देखा था। यही **गीतगोविन्द** की अपूर्वता है।

**गीतगोविन्द** में प्रत्येक गीत गोविन्द है, गोचर रूपसम्भार के लिए, गोचर प्राण-पुकार के लिए, गोचर निःश्वास सुरभि के लिए विश्वमोहन की बेचैन तलाश है। **गीतगोविन्द** का मंगलश्लोक बड़ी सूक्ष्मता के साथ यह व्यंजित करता है कि सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण अपनी व्यापकता से घबरा गये हैं, सारा आकाश रसवर्षी घनश्याममय है, नीचे सारी जमीन तमाल की घनी छाया से श्यामा हो गयी है, बीच के अन्तराल को श्यामा रात्रि भर रही है श्याम अपनी ही इस विश्वम्भर श्यामलता से भयभीत हो गये हैं, कहाँ जायें, उन्हें राह नहीं सूझती, क्योंकि सभी राहें गन्तव्य बन गयीं हैं, मंजिल बन गयी हैं। नन्द को चिन्ता होती है, चैतन्य के सुख-भाव को चिन्ता होती है श्याम कैसे पहुँचें, अपने उस स्वभाव को कैसे पायें, जिसके ऊपर श्यामता न्यौछावर हो जाय। वे राधा से कहते हैं, इसे घर पहुँचाओ। इसका घर मुक्त आकाश के नीचे है, यमुनाकूल के बलुहे निकुन्जों में है, सघन तमाल की छाया में है, इसका घर अध्वा अर्थात् पथ में है इसका घर व्रजन में है, व्रज में है, इस सघन श्यामभाव को साध्य न रहने दो इसे साधक बनाओ। इसे गन्तव्य न रहने दो, इसे पथ बनाओ, इसे अनन्त रस समुद्र न रहने दो, इसे उद्वेलित तट-ध्वंसी ज्वार बनाओ, इसे रस न रहने दो, इसे रास बनाओ—

> मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै—
> र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
> इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
> राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥ १-१

जयदेव से चार सौ वर्ष पूर्व भट्टनारायण अपने **वेणीसंहार** के मंगलश्लोक में **गीतगोविन्द** की भूमिका तैयार कर चुके थे—

> कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
> गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्।
> तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
> —रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः॥

रास में एकाएक राधिका नाराज हो गयीं और जमुना के बलुहे तट पर रास छोड़ कर चल पड़ीं, रोती-बिलखती हुई। श्रीकृष्ण पीछे पीछे चले, राधिका के पैरों की छाप निहारते चले, उन्हीं पदचिन्हों पर जब वे पैर रखते तो उन्हें रोमांच हो जाता, मनाते रहे और एकाएक प्रियतमा ने रीझ कर देखा और श्रीकृष्ण निहाल हो गये।

ध्यान से देखने पर भट्टनारायण के मंगल से जयदेव के मंगल में एक वैशिष्टच है, भट्टनारायण में श्रीकृष्ण का निहाल होना मुख्य रहता है परन्तु जयदेव के मंगल में राधामाधव दोनों एक होकर रस वनते हैं। **गीतगोविन्द** की अपूर्वता इसी वात में है कि वह श्रीकृष्ण को अकेले नहीं रहने देता, राधा का साहचर्य देता है, ऐसा साहचर्य देता है, जो ईर्ष्या, मान, उत्कंठा, विरह में भी कभी साथ नहीं छोड़ता ! कुछ और गहराई में जाकर कहा जा सकता है कि साहचर्य के साथ साथ साहचर्य की एक ऐसी बेचैनी भी देता है, जो मिलन में भी साथ नहीं छोड़ती। श्रीकृष्ण एक साथ ही विप्रयोगात्मक-सम्प्रयोगात्मक शृंगार हो जाते हैं, एक ही शरीर में वे नट हैं अर्थात् जिसका अभिनय कर रहे हैं, वे नहीं हैं और वर हैं, अपने लिये निर्धारित प्रियतम पति हैं। गीतगोविन्द की प्रत्येक अष्टपदी में संयोग-वियोग एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं, संयोग कभी स्मृति के रूप में, कभी आकांक्षा के रूप में, कभी दंश के रूप में, कभी अतृप्ति के रूप में बरावर वियोग को तीव्रतर बनाता है और वियोग अपनी तीव्रता में ध्यान-लय से संयोग उपस्थित करता है, ऐसा संयोग जिसमें विश्व तन्मय हो जाता है, यहाँ तक कि स्वयं राधिका अपने को मधुरिपु समझ कर श्रीकृष्ण की चेष्टायें करने लगती हैं। श्रीकृष्ण रास में विहार करते करते एकाएक रास की केन्द्रविन्दु का अभाव अनुभव करते हैं और उन्मन हो जाते हैं। एक दिन एक रात तो सन्देशों के आदान-प्रदान में वीत जाती है, श्रीकृष्ण जहाँ प्रतीक्षा करते हैं, वहाँ राधा नहीं पहुँच पाती और श्री राधा के निकुंज में श्रीकृष्ण नहीं पहुँच पाते, राधा अपने को वंचित, ठगी-ठगी मान कर और विह्वल होती हैं। अन्त में श्रीकृष्ण राधा को मनाने आते हैं, राधा झिड़क देती हैं—जाओ, मुझसे झूठी बातें न करो, श्रीकृष्ण चले जाते हैं। अव राधा से नहीं रहा जाता और वे स्वयं प्रतीक्षातुर श्रीकृष्ण से मिलने चल पड़ती हैं और जव पाती हैं कि वे एकरस हो गये, उनकी बेचैनी भी इस उत्कर्ष पर पहुँच गयी है कि वे राधामय हो चुके हैं तो उनसे मिलती हैं। राधामय श्रीकृष्ण की छवि जयदेव ने इन उपमानों से (११-२२) उकेरी है—

राधावदनविलोकनविकसितविविधविकारविभङ्गम्।
जलनिधिमिव विधुमण्डलदर्शनतरलिततुङ्गतरङ्गम्॥३

हरिमेकरसं चिरमभिलषितविलासं
सा ददर्श गुरुहर्षवशंवदवदनमनङ्गनिवासम्॥ ध्रुवपदम्
स्फुटतरफेनकदम्बकरम्बितमिव यमुनाजलपूरम्॥४

नीलनलिनमिव पीतपरागपटलभरवलयितमूलम्॥५

स्फुटकमलोदरखेलितखञ्जनयुगमिव शरदि तडागम्॥६

शशिकिरणच्छुरितोदरजलधरसुन्दरसकुसुमकेशम् ।।७

तिमिरोदितविधुमंडलनिर्मलमलयजतिलकनिवेशम् ।।८

पहली उपमा है राधा के चन्द्रवदन को देखने की अकुलाहट में, ज्वार में आये हुए उज्ज्वलित रंग वाले समुद्र की । समुद्र चन्द्रमा की पूर्णता प्राप्त करने के लिये अपनी नीलता मथ कर केवल उज्ज्वलता धारण करता है क्योंकि पाने की अभिलाषा है तो होने की ही अभिलाषा न । दूसरी उपमा है यमुना के जल प्रवाह से। हरि ने राधामय होने के लिये मोतियों के हार पहने हैं, लगता है शतसहस्र फेनों के कदम्ब के फूलों से जमुना पट गयी है । तीसरी उपमा है पीताम्बर की । लगता है नीलकमल ऐसा खिल आया है कि उसका पीतपराग उड़ उड़ कर पूरी तरह आवेष्टित कर चुका है, उसकी आकांक्षा उसकी आपूर्त्ति बन गयी है । चौथी उपमा है आँखों की, शरद् ऋतु के सरोवर जैसा पारदर्शी श्यामल शरीर, उसमें खिला हुआ कमल जैसा मुख, उसमें चंचल चटुल खंजन के जोड़े जैसी दो आँखें, जिनमें श्वेत रंग काले रंग को उभार रहा है, काला रंग श्वेत को । पाँचवी उपमा है श्वेत कुसुमों से गुंथे घुँघराले मेघ सरीखे केशों की, चन्द्रमा की मेघों के बीच आँखमिचौनी से और छठीं उपमा है मलयज चन्दन के तिलक की उस चन्द्रमा से जो तिमिर भेद कर निकलता है । ये सभी उपमायें श्रीकृष्ण की कृष्णता के ऊपर राधा की गोराई को प्रतिष्ठापित करते हैं, तभी तो श्रीकृष्ण एकरस हैं, राधा की तरह हरि विक्षुब्ध हैं, उत्कंठित हैं । ऐसे एकरस प्रियतम के आगे मान विगलित हो जाता है, राधा का आग्रह नहीं रहता कि प्रिय मेरे निकुंज में आयें, वह स्वयं श्याम के राधामय निकुंज में प्रवेश करती हैं श्याममय होकर । पर मिलन सब गड़बड़ कर देता है। प्रातःकाल दर्पण में राधा अपनी छवि देखती हैं तो पाती हैं कि मैं राधामय में डूबकर श्याममय नहीं रही और अन्तिम अष्टपदी में निवेदन करती हैं कि यदुनन्दन मुझे वैसा ही अपने हाथों रच दो जैसे मैं आयी थी, तुम मेरे वक्षस्थल पर कस्तूरी के लेप बन जाओ, तुम्हारे ही चुम्बन से काजल फैला, तुम्ही अपने हाथों अपने को काजल बनाकर मेरी आँखें आँज दो, वे चमक उठें, तुम मेरे मस्तक पर कस्तूरी के तिलक बन जाओ और तुम्हारे हाथों शिथिलित कबरी में अपने मोर-मुकुट सदृश इन्द्रधनुषी रंग के फूल सजा दो । फिर मुझे प्रिय से श्यामा बना दो, राधा बन कर मुझसे रहा नहीं जायेगा ।

इस अष्टपदी में दो कड़ियाँ विशेष मर्मस्पर्शी हैं—

अलिकुलगञ्जनसञ्जनकं रतिनायकसायकमोचने

त्वदधरचुम्बनलम्बितकज्ज्वलमुज्ज्वलय प्रिय लोचने ।।१२.२४.१०

और

**मृगमदरसवलितं ललितं कुरु तिलकमलिकरजनीकरे**
**विहितकलङ्ककलं कमलानन विश्रमितश्रमसीकरे ।।१२ २४.१३**

तुमने जो मेरी आँखों का काजल फैला दिया है उन आँखों की ज्योति तुम्हीं हो, उन आँखों के सन्दिष्ट तुम्हीं हो, इसीलिये तो तुम जब काजल बनकर इनमें अँजोगे, तो वसन्त का गुणगान करने वाले भौंरो की भीर लजा जायेगी, काम के हाथ से धनुष छूट कर गिर जायेगा, तुम उत्सर्ग की उत्कंठा बन कर उज्ज्वल शृंगार बन कर वसन्त ऋतु के ऊपर छा जाओ, राधा की चम्पई छवि की मोहक दृष्टि के सम्मोहन मन्त्र बन जाओ । और अब यह प्यार छिपाये नहीं छिपता, अब आँखों में हरि नहीं मेरे भाल पर मेरे भाग्य में श्रीकृष्ण का रंग अंकित हो जाय, श्रीकृष्ण कस्तूरी के रस से बने तिलक बन जायें, मेरे अष्टमी के चन्द्र जैसे भाल के कलंक की कला बन जायें । यह रहःकेलि, यह गोपन प्यार, विश्वमोहन को मोहते-मोहते थक कर उनसे मोहित होने का खुला स्वीकार बन जाय । राधा एक चित्र नहीं है, वह उन्मथित चित्र मात्र है, वह एक की एक के लिए उत्कंठा नहीं है, वह सर्व के लिये सर्व की उत्कंठा की ही एक विचित्र संज्ञा है, पहचान है । राधा शब्द में दो भाव निहित हैं, एक भाव है आराधना का, अनन्यता का, दूसरा भाव है पकाये जाने का, सिझाये जाने का, राँधे जाने का । गीतगोविन्द का प्रारम्भ तो होता है राधा के पथदर्शक भाव से, आराधिका बन कर राधिका श्रीकृष्ण को उनकी लीला का प्रयोजन सिखलाती हैं, तुम्हारा यह अव्यक्त अगोचर प्रसार तभी सार्थक है जब व्यक्ति के गह्वर को भरने के लिये आकुल हो, जब वह बूँदे बनकर बिखरने के लिये आतुर हो और अन्त होता है राधिका के श्याम रंग में ऊपर से नीचे तक सराबोर होने में ।

**गीतगोविन्द** में एक और विलक्षणता है । **श्रीमद्भागवत** में एक शब्द आया है **शरत्काव्य**, वह सचमुच शरत्काव्य है, तृप्ति का काव्य है, उसमें गोपियों का उद्दाम प्रेम मन्मथमन्मथ श्रीकृष्ण को उन्मथित करने में समर्थ नहीं होता । हाँ वे इस उद्दाम प्रेम के द्वारा श्रीकृष्णभाव को अवश्य प्राप्त करती हैं । **गीतगोविन्द** में दो ऋतुएँ हैं, स्मृति के रूप में या आकांक्षा के रूप में वर्षा, उद्दाम प्यार की ऋतु और प्रत्यक्ष अनुभव के रूप में वसन्त, उत्कंठा की ऋतु, जो नहीं है, वह होने की उत्कंठा ही तो वसन्त है, पेड़ है, पेड़ की डाली है, पर ये फूल होना चाहते हैं, पल्लव होना चाहते हैं, पेड़ या डाली बने रहने को तैयार नहीं हैं । वर्षा के मंगल से काव्य प्रारम्भ होता है और दामोदर, रस्सी में बंधे श्रीकृष्ण का दाम खुल जाता है । पहले सर्ग का नाम सामोददामोदर इसलिये उचित ही है । अनन्तता भी एक बन्धन है, निःस्सीमता भी एक विवशता है, श्रीकृष्ण उससे मुक्त कर दिये जाते हैं, जब सब कुछ

घनश्याममय हो जाता है तो श्याम तरल उज्ज्वल रसविन्दु बनने के लिये आकुल हो जाते हैं। उनकी रसवृद्धि की आकुलता जब पूरी तरह झहरा लेती है, जब तमाल निपात हो जाता है, तब निपात होकर चम्पई रसविन्दु से भर उठता है। वर्षा की उद्दामता ही वसन्त को जन्म देती है। समष्टिचित्त का विक्षोभ ही व्यष्टि चित्त को आकांक्षा से भरता है, उससे सब कुछ रखवा लेता है, उसे एकदम निःस्व बना देता है, निरुपाय और असहाय बना देता है, पहले ऐसा भाव भरता है कि तुम वंचित हो, तुम्हें किसी ने ठग लिया है, धोखा देकर तुम्हें कहीं का नहीं रखा है, फिर एक से एक नये पल्लव, नयी कलियाँ, नये फूल उगाता है। मैं ही विक्षुब्ध नहीं हूँ, वे भी मेरे लिये सविकार हैं, मैं आँच में पक कर यदि दूध से दही हुई जा रही हूँ, तो वे भी नवनीत के पिण्ड से पिघलकर आहूत होने के लिये घृत बनते जा रहे हैं।

**सखि हे केशिमथनमुदारम्**
**रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम्।**

**गीतगोविन्द** एक चिर अभिलाषा का, सनातन आकुलता का काव्य है। यह मोक्ष का भी मोक्ष है, कृष्ण का अर्थ होता है आकर्षक, खींचने वाला, वह अर्थ पीछे छूट जाता है, श्रीकृष्ण खिंचते चले जाते हैं, जुतते चले जाते हैं और खिंचते खिंचते वे शाश्वत भाव न रह कर रस के नूतन से नूतनतर प्रवाह बन जाते हैं। इसी अर्थ में **गीतगोविन्द** पावस और वसन्त की भूमिकाओं की हेराफेरी का काव्य है। काव्य के मन में पावस रूपी कृष्ण और काव्य की देह में वसन्त रूपी राधा छायी हुई है, पावस वसन्त होना चाहता है, वसन्त पावस। दोनों मिल कर वन और वन के निकुंज होना चाहते हैं पुलिन और पुलिन के सैकत होना चाहते हैं, ठूंठ से ठूंठ हृदय की प्रसुप्त आकांक्षा के अंकुर होना चाहते हैं, सूखी से सूखी और तपी से तपी बालू के कण में रस भरने की चाह होना चाहते हैं। **गीतगोविन्द** घर का, आँगन का, प्रासाद का, हर्म्य का, रत्नजटित गवाक्षों का काव्य नहीं है। जो लोग इसे अपनी कामुकता के कारण कामुकता से जोड़ते हैं, वे इसकी जमीन नहीं देखते, वह जमीन है यमुनापुलिन-सूर्य की बेटी का बलुहा तट, उस जमीन के ऊपर जो आसमान है वह है उत्तरायण का सूर्य-मधु का छत्ता।

इस काव्य में ऐन्द्रियता नहीं है, यह बात कोई कोरा भक्त कहे तो कहे, मैं ऐन्द्रियता का खंडन नहीं करूँगा, पर ऐन्द्रियता इस काव्य का प्रत्यायक गुण नहीं है, वह केवल उपसर्ग है, जो लौकिक साधारण प्रेमव्यापार के विशेष से जोड़कर अलौकिक असाधारण प्यार की गहराई को आकार देते हैं। इस ग्रन्थ के प्रत्यय दो हैं। एक है वियोग में संयोग का आधान। श्रीकृष्ण को लगता है—

दृश्यसे पुरतो गतागतमेव विदधासि ।

मेरे सामने तुम आ रही हो, जा रही हो परन्तु ?

किं पुरेव ससम्भ्रमं परिरम्भणं न ददासि ॥ ३.७.८

पर यही है कि पहले जैसा घबड़ा कर तुम गले क्यों नहीं लग रही हो ?

राधा को भी ध्यान-लय के बल से दुष्प्राप्य श्रीकृष्ण प्राप्त हो जाते हैं, वह उन्हें पाकर भी बिलखती है, हँसती है, उदास होती है, रोती है, छनछना उठती है और मन के सब ताप धो देती है।

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापं
विलपति हसति विषीदति रोदिति चञ्चति मुञ्चति तापम् ॥ ४.८.८

दूसरा प्रत्यय है नाम के द्वारा एकाकारता प्राप्त करने का उपाय । राधा भी—

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् विरहविहितमरणेव निकामम् ।

विरह में जीना सम्भव नहीं है, इसलिये मरने का, राधा रूप में अस्तित्वहीन होने का निश्चय करके "हरि हरि" जपती रहती है । श्रीकृष्ण भी—

वसति विपिनविताने त्यजति निजधाम
लुठति धरणिशयने बहु विलपति तव नाम ॥ ५.१०.५

अपना घर छोड़ कर, वैकुण्ठ धाम छोड़कर, सूर्य की ऊर्ध्वरश्मियों का देश गोलोक छोड़ कर, जंगल में जमीन पर लोट रहे हैं, बार बार तुम्हारे नाम (राधा-राधा) की करुण पुकार लगा रहे हैं।

ये दोनों प्रत्यय ही गीतगोविन्द की ऐन्द्रियता को ऐसी भूमि तक पहुँचा देते हैं जहाँ इन्द्रिय इन्द्रिय नहीं रह जाती, विषय विषय नहीं रह जाते, विषयसुख सुख नहीं रह जाता, कोई भी सुख सुख नहीं रह जाता, इन्द्रिय विषय बन जाती है दूसरे शब्दों में आदमी का उपभोक्ता भाव उपभुक्त हो जाता है और विषय इन्द्रिय बन जाते हैं । वन, नदी, मेघ, चन्द्र ये सभी प्राकृत विषय, हार, तिलक, अंजन ये सभी वैकृत विषय प्राणवान् होकर, प्राणपीड़ित होकर इन्द्रिय हो जाते हैं । हर प्रकार का समागम सुख दुरन्त दुःख बन जाता है और विरह का दुरन्त दुःख असीम अपरिमित सुख बन जाता है । सही बात तो यह है कि सुख-दुःख दोनों ही केलि-रस बन जाते हैं, क्रीड़ा बन जाते हैं, और क्रीड़ामात्र राधाकृष्ण बन जाती है ।

गीतगोविन्द श्रव्य-दृश्य काव्य है, यह गीतिनाट्य प्रबन्ध है, यह देखने और सुनने दोनों के लिये है। इसमें गोचर व्यक्त संसार का दर्शन है और अव्यक्त अगोचर का निनाद है, इसमें बाह्य प्रयोगात्मक गान्धर्व कलाओं का कौशल है और अन्तर्योगात्मक वैष्णव ध्यान की अन्तर्मुखता है, इसमें शृंगार का विवेकतत्त्व ही लीलायित है और यह सब श्रीकृष्ण के एक साथ एकतान राधा के साथ एकाकार है। इसे साधना हो तो भूल जाओ कि केलिकला और हरि दो अलग सत्तायें हैं, सत्ता एक है, वह एक होते हुए भी अपनी ही एक के लिये सदा आकुल है, क्योंकि वह सत्ता मात्र नहीं, इच्छा या काम मात्र नहीं, वह चैतन्य है, स्वरूप विमर्श है और चैतन्यमात्र भी नहीं, वह रस है, पूर्णता का, पूर्णतर होने का, सनातन साध्य व्यापार है। जयदेव के ही शब्दों में—

> यद्गन्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद्वैष्णवं
> यच्छृंगारविवेकतत्त्वमपि यत्काव्येषु लीलायितम्।
> तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः
> सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ।। १२.१८



# 'अवन्तिसुन्दरी' तथा 'दशकुमारचरित'

## परस्पर सम्बन्ध*

डा० मानसिंह

शिमला

The present *Avantisundarī* and the *Daśakumāracarita* (except *Pūrva-pīṭhikā* and *Uttarapīṭhikā*) are the two available portions of Daṇḍī's one and the same big work *Avantisundarī*. The *Avantisundarīkathāsāra* closely follows the *Avantisundarī*.

दशकुमारचरित के मध्य भाग अर्थात् प्रथम से अष्टम उच्छ्वास के दण्डिकर्तृकत्व के विषय में विद्वान् एकमत हैं।[1] दण्डी के नाम से सम्बद्ध अवन्तिसुन्दरी नामक एक अन्य गद्य-काव्य भी उपलब्ध हुआ है। इसका कुछ अंश अवन्तिसुन्दरीकथासार के साथ श्रीयुत एस० के० रामनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा दक्षिणभारती ग्रन्थमाला (संख्या ३) के अन्तर्गत मद्रास से श्री एम० आर० कवि

---

* श्री गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग में मार्च २६, १९७९ को दिया विशिष्ट व्याख्यान।

१. श्री जी० जे० अगाशे (*Indian Antiquary*, Vol. 54, 1915, p. 65); (दशकुमारचरित की भूमिका, बम्बई, १९१९, पृ० २५ तथा आगे), के० पी० त्रिवेदी (प्रतापरुद्रीययशोभूषण, भूमिका, बम्बई, १९०९, पृ० ३१), एस० के० वेल्वेलकर (काव्यादर्श १।६३ पर टिप्पण, बम्बई, १९१९, पृ० ५३) तथा पी० वी० कुलकर्णी (दशकुमारचरित, भूमिका, बम्बई, १९१९, पृ० ३-६) 'दशकुमारचरित' के रचयिता दण्डी को 'काव्यादर्श' के प्रणेता आचार्य दण्डी से भिन्न व्यक्ति मानते हैं। इसकी आलोचना के लिये द्रष्टव्य प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का ग्रन्थ: *Subandhu and Daṇḍin*, पृ० ७२-७३, दिल्ली: मेहरचन्द लछमनदास, १९७९; धर्मेन्द्रकुमार गुप्त *A Critical study of Daṇḍin and His Works*, मेहरचन्द लच्छमनदास, दिल्ली, १९७०, पृ० ३ तथा आगे।

द्वारा १९२४ ई० में प्रकाशित किया गया था। यह संस्करण मलाबार में कोट्टक्कल से उपलब्ध एक खण्डित तथा दोषपूर्ण पाण्डुलिपि पर आधृत है और इसमें २५ मुद्रित पृष्ठ हैं।[२] 'अवन्तिसुन्दरी' का द्वितीय संस्करण श्री शूरनाड़ कुञ्जन पिल्लै ने १०५४ ई० में त्रिवेन्द्रम से अनन्तशयनसंस्कृतग्रन्थावली (संख्या १७२) के अन्तर्गत प्रकाशित किया। इसमें २४६ मुद्रित पृष्ठ हैं, जिनमें कादम्बरी की कथा तक की कथा आ गई है। यह संस्करण अनेकत्र खण्डित तथापि अपेक्षाकृत पूर्ण एवं लम्बी पाण्डुलिपि पर आधृत है। इसकी पुष्पिका में लिपिक ने इसे पूर्ण घोषित किया है: "इत्याचार्यदण्डिना कृता अवन्तिसुन्दरी समाप्ता"; किन्तु वस्तुतः यह अपूर्ण है। सम्भवतः उसे आगे का भाग उपलब्ध नहीं हो सका और उसने ग्रन्थ को यहीं समाप्त समझ लिया। 'अवन्तिसुन्दरी' का दण्डिकर्तृत्व अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। इसके आद्यांश में, बाणविरचित हर्षचरित' की भाँति दण्डी ने अपने वंश का तथा स्वयं अपना विवरण प्रस्तुत किया है,[३] जिससे यह भी पता चलता है कि उन्होंने 'अवन्ति-सुन्दरी की कथा अपने मित्रों के अनुरोध पर कही।[४] उपलब्ध अंश की पुष्पिका भी इसे उन्हीं की कृति घोषित करती है। अप्पयदीक्षित (१६वीं शती ई० का मध्य भाग) ने अपनी 'नामसंग्रहमाला' में 'अवन्तिसुन्दरी' से एक उद्धरण दिया है और उसे दण्डी से सम्बद्ध किया है: "निरस्ता पल्लवेषु काञ्ची नाम नगरी इत्यवन्तिसुन्दरीये दण्डि-प्रयोगात्।"[५] कलिङ्गराय सूर्य (१३वीं शती ई० का मध्य भाग अथवा १४वीं शती ई० का पूर्वार्द्ध) ने अपने 'सूक्तिरत्नहार' में दण्डी के नाम से अवन्तिसुन्दरी के प्रस्तावना-भाग से अधोलिखित तृतीय पद्य उद्धृत किया है:

---

२. इसी संस्करण को देखकर ए० बी० कीथ (*A History of Sanskrit Literature*, प्रस्तावना, पृ० १६) ने कहा था कि केवल एक खण्डित पाण्डुलिपि के आधार पर इस ग्रन्थ का प्रकाशन नहीं होना चाहिये था।

३. अवन्तिसुन्दरी, त्रिवेन्द्रम संस्करण, १९५४, पृ० ९-१७। प्रस्तुत लेख में में पाठ-संकेत इसी संस्करण से है।

४. वही, पृ० १७: "शुश्रूषवे सुहृद्गणाय कथामवन्तिसुन्दरीमाचिख्या-सुरित्यभाषत।"

५. मद्रास राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि-ग्रन्थागार, पृ० ५८। तुलना कीजिये अवन्तिसुन्दरी, पृ० ८: "नयसम्भावनापल्लवेषु (पल्लवेषु) राजा बभूव।" पृ० ६: "काञ्चीपुरं नाम राजधानी।" डॉ० वी राघवन् अप्पय दीक्षित के उद्धरण को 'दशकुमारचरित' के षष्ठ उच्छ्वास से मानते हैं: "अस्ति द्रविडेषु काञ्ची नाम नगरी।" (गोमिनीवृत्तान्त, निर्णयसागर प्रेस संस्करण १५, बम्बई, १९५१, पृ० २२०)।

**मर्त्ययन्त्रेषु चैतन्यं महाभारतविद्यया।**
**अर्पयामास तत्पूर्वं यस्तस्मै मुनये नमः॥**[६]

'काव्यादर्श' की एक अज्ञातकर्तृक टीका में 'अवन्तिसुन्दरी' को एक आख्यायिका माना गया है : "आख्यायिकेति कादम्बर्यवन्तिसुन्दर्यादि"। वादिजङ्घाल (९६३ ई०) ने इसी ग्रन्थ (१।८१) की अपनी 'श्रुतानुपालिनी' नाम्नी टीका में इसे एक कथा माना है : "आख्यायिका शूद्रकचरितप्रभृतिः सादिर्येषाम् (? यासाम्) अवन्तिसुन्दर्यादिकथानां तेष्वित्यर्थः"। इन प्रमाणों से यह सुतराम् स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का नाम 'अवन्तिसुन्दरी' है[७] और वह दण्डी ही की कृति है। कतिपय विद्वानों ने इसके दण्डी की रचना होने में सन्देह व्यक्त किया है,[८] जो असमीचीन है।

'अवन्तिसुन्दरी' का 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' नाम से एक अज्ञातकर्तृक पद्यात्मक सार भी उपलब्ध हुआ है। इसका कुछ भाग १९२४ ई० में श्री एम० आर० कवि ने 'अवन्तिसुन्दरी' के अंश के साथ मद्रास से दक्षिणभारती ग्रन्थमाला (संख्या ३) के अन्तर्गत प्रकाशित किया था। इसका अन्य संस्करण १९५७ ई० में श्री जी० हरिहर शास्त्री ने कुप्पुस्वामी शास्त्री प्राच्यविद्या-संशोधन-संस्थान, मायलापुर, मद्रास से प्रकाशित किया, जो अष्टपरिच्छेदात्मक तथापि अपूर्ण है।[९] इसका अष्टम

---

६. अवन्तिसुन्दरी, पृ० ४, श्लोक १७,। डॉ० वी० राघवन् (*Journal of Oriental Research*, मद्रास, खण्ड १३, पृ० २९४) ने संकेत किया है कि मद्रास पाण्डुलिपि सं० ३५१३ तथा ४१२७ में इस पद्य के साथ दण्डी का नाम दिया गया है (जो त्रिवेन्द्रम संस्करण में नहीं है)। कलिंगराय सूर्य के स्थिति-काल के लिये द्रष्टव्य डॉ० वी० राघवन् : वही, पृ० २९३-३०६।

७. अवन्तिसुन्दरी, पृ० १७ : शुश्रूषवे सुहृद्गणाय कथामवन्तिसुन्दरीमाचिख्यासुरित्यभाषत।" से भी यह नाम स्पष्ट है।

८. यथा डॉ० सुशीलकुमार दे (*Indian Historical Quarterly*, खण्ड ३, पृ० ३९५-४०३); ए० बी० कीथ (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, प्रस्तावना पृ० १६); महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री (*Journal of Oriental Research*, खण्ड १, पृ० २००-२०१ तथा टिप्पण ५)। महामहोपाध्याय डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे किञ्चित् संकोचपूर्वक इसे दण्डिकृत मानते हैं। (*History of Sanskrit Poetics*, तृतीय संस्करण दिल्ली, १९६१, पृ० ९८-९९)।

९. एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने अवन्तिसुन्दरीकथासार को पञ्चशिख की रचना माना है। इस ग्रंथ के सात परिच्छेदों के अन्तिम पद्य में लेखक ने 'आनन्द' शब्द का प्रयोग किया है (अष्टम परिच्छेद तो अपूर्ण है ही)। भोज विरचित शृङ्गार-

परिच्छेद भी अपूर्ण है। 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' में सम्प्रति उपलब्ध सम्पूर्ण 'अवन्ति-सुन्दरी' से लेकर 'दशकुमारचरित' के तृतीय उच्छ्वास के मध्य भाग तक का सार प्रस्तुत किया गया है। अवन्तिसुन्दरीकथासार अवन्तिसुन्दरी का यथार्थ सार उपस्थित करता है, क्योंकि इसमें तत्तत्प्रसंगों में प्रयुक्त मूल ग्रन्थ के भावों, शब्दों, उक्तियों एवं सम्पूर्ण पद्यों को भी ग्रहण किया गया है।[10] यही नहीं, इसमें हमें वे पद्य भी प्राप्त हो जाते हैं जो अवन्तिसुन्दरी के लुप्त पाठ में विद्यमान रहे होंगे। अवन्ति-सुन्दरीकथासार में उद्धृत तथा 'अवन्तिसुन्दरी' में प्राप्य पद्य है :

(१) दनुजपतिहृदयभूधरविभेदविज्ञातशक्तिनखकुलिशम्।
जगदुदयहेतु विष्णोरवतु वपुर्नारसिंहं वः॥

(अवन्तिसुन्दरी पृ० ९, पंक्ति ४-५; अवन्तिसुन्दरीकथासार १।१६)

(२) मुग्धा पञ्जरहंसी चन्द्रं निर्वर्ण्य पुण्डरीकधिया।
स्फुरितानि कानि कान्याभिलाषबलात्कृता कुरुते॥

(अवन्तिसुन्दरी पृ० २०२, पंक्ति १४-१५; अवन्तिसुन्दरीकथासार ४।२०९)

'अवन्तिसुन्दरीकथासार' में 'कानि कान्य-' के स्थान पर' तानि तान्य-' पाठ मिलता है। कदाचित् इसके लेखक को ऐसा ही पाठ उपलब्ध रहा होगा।

(३) सप्तच्छदस्तबकचामरधूननोऽयं
जातो मरुद्घनसितं वियदातपत्रम्।

---

प्रकाश (जोस्येर सं०, द्वितीय, पृ० ६७४) के अनुसार पञ्चशिख ने प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'आनन्द' शब्द का प्रयोग किया। यही बात हेमचन्द्र के काव्यानु-शासन की स्वोपज्ञातवृत्ति 'विवेक' से भी पता चलती है : "अभ्युदयः कृष्णचरिते, जय उषाहरणे, आनन्दः पञ्चशिखशूद्रककथायाम्।" (सं० प्रो० रसिकलाल सी० पारिख तथा डॉ० वी० एम० कुलकर्णी, श्रीमहावीर जैन विद्यालय, बम्बई, द्वितीय सं० १९६४, पृ० ४५७)। भोज तथा हेमचन्द्र दोनों ने पञ्चशिखकृत शूद्रककथा का उल्लेख किया है, अवन्तिसुन्दरीकथासार का नहीं।

श्री मोरेश्वर रामचन्द्र काले (दशकुमारचरित, तृतीय सं० बम्बई, १९२५, भूमिका, पृ० १६) ने त्रुटिवश इस ग्रन्थ को दण्डी से सम्बद्ध कर दिया है।

१०. विस्तर हेतु द्रष्टव्य इन पंक्तियों के लेखक का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, परि-शिष्ट ४, पृ० ५०२-५०७।

हारप्रसादिसरिदम्बुसरोजलीलः

कालोऽयमुद्भवति नन्दितराजहंसः ॥

(अवन्तिसुन्दरी, पृ० २२३, पंक्ति १-४; अवन्तिसुन्दरीकथासार ५।३८)

इसके अतिरिक्त दो पद्य ऐसे भी 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' में प्राप्त होते हैं जो 'अवन्तिसुन्दरी' के अधुना अनुपलभ्य पाठ में विद्यमान रहे होंगे :

(१) यद्यभिलषसि द्विजवरमवेहि तं राजहंसि ! जलमध्ये ।

गतमेव चरणगोचरमचिरात्प्रतिमामुखेनापि ॥

(४।२१२)[११]

(२) अरुन्धतीमरिशरपीडितात्मनो

यदाश्रमे तरुणि ! पुराप्यदर्शयः ।

तदद्य ते हृदि मदनास्त्रमुद्रितं

मृदुस्मिते ! लिखितमिवात्र तिष्ठति ॥ (६।१६९)

यहाँ 'अरि-' के स्थान पर 'स्मर-' पाठान्तर भी मिलता है ।

इससे यह सिद्ध है कि 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' 'अवन्तिसुन्दरी' का सार प्रस्तुत करने में मूल ग्रंथ का अतिसमीपतः अनुगमन करता है । 'अवन्तिसुन्दरी' के अधुनोपलब्ध पाठ में नमुचि-तनया मन्दाकिनी द्वारा राजकुमार राजवाहन के समक्ष 'कादम्बरी' की कथा के वर्णन तक की कथा आती है, जो 'दशकुमारचरित' की पूर्वपीठिका के लगभग अर्द्ध भाग की कथा के बराबर पड़ती है; किन्तु अवन्तिसुन्दरीकथासार कथासार के प्रवाह को पूर्वपीठिका की सम्पूर्ण कथा को पार करते हुए दशकुमारचरित के तृतीय उच्छ्वास में उपहारवर्मा तथा कल्पसुन्दरी के प्रणय-प्रसंग[१२] तक आगे ले जाता है । यद्यपि अवन्तिसुन्दरी तथा पूर्वपीठिका का वर्ण्य-विषय समान है तथापि उनमें रचना-शैली तथा अनेक कथागत विवरणों की दृष्टि से वैषम्य है ।

---

११. जी० हरिहर शास्त्री द्वारा सम्पादित संस्करण । प्रस्तुत लेख में पाठ-संकेत इसी संस्करण से हैं ।

१२. श्री नारायण राम आचार्य द्वारा सम्पादित तथा निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित, संस्करण १५, १९५१ के पृ० १५०, पंक्ति ४ तक । इस लेख में पाठसंकेत इसी संस्करण से हैं ।

**अवन्तिसुन्दरीकथासार** भी पूर्वपीठिका से अनेक विवरणों की दृष्टि से भिन्न है;[१३] और न ही इसमें **अवन्तिसुन्दरी** की भाँति पूर्वपीठिका से तत्तत्प्रसंगों में प्रयुक्त भाव, शब्द, उक्तियाँ तथा पद्य आदि ही ग्रहण किये गये हैं।[१४] इन तथ्यों से भी **दशकुमारचरित** की पूर्वपीठिका दण्डी के अतिरिक्त किसी अन्य लेखक की रचना सिद्ध होती है।[१५]

अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि अवन्तिसुन्दरी **'दशकुमारचरित'** का आद्य भाग है और **'दशकुमारचरित'** उसका मध्यवर्ती अंश। पूर्वपीठिका तथा **'दशकुमारचरित'** में अवश्य ही अनेक असंगतियाँ प्राप्त होती हैं; किन्तु **'अवन्तिसुन्दरी'** तथा **'दशकुमारचरित'** में कोई भी नहीं।[१६] **'अवन्तिसुन्दरी'** से हमें कितने ही ऐसे

---

१३. विस्तरहेतु द्रष्टव्य इन पंक्तियों के लेखक का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, परिशिष्ट २, पृ० ४७८-९७। इसमें **'अवन्तिसुन्दरी'** तथा **'अवन्तिसुन्दरीकथासार'** और पूर्वपीठिका के कथागत विवरणों की विषमताओं पर विचार करते हुए भट्टनारायण रचित **पूर्ववृत्तान्तदर्शन** को भी दृष्टि में रखा गया है।

१४. पूर्वपीठिका में दो ही पद्य हैं—एक तो आरम्भ में 'ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः' आदि और दूसरा 'सुभग ! कुसुमसुकुमारं' आदि (पृ० ५३, पंक्ति १४-१५)। यदि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** के लेखक ने इसीसे कथा का सार प्रस्तुत किया होता तो वह कम से कम इस द्वितीय पद को अवश्य उद्धृत करता, जिसमें राजवाहन के प्रति अवन्तिसुन्दरी का कामलेख उपनिबद्ध है।

१५. पूर्वपीठिका तथा उत्तरपीठिका निश्चिततः दण्डी की रचना नहीं है। द्रष्टव्य प्रस्तुत लेखक का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६७-७१। तथापि, कुछ विद्वानों ने पूर्वपीठिका को दण्डिकृत मानना चाहा है। यथा—डॉ० आर० एन० दाण्डेकर (फर्गूसन कॉलेज पूना पत्रिका, खण्ड ३२, संख्या १, सित० १९४० में प्रकाशित *Professor Meyer on Daṇḍin* नामक लेख, पृ० ९-१०) पूर्वपीठिका को दण्डी की रचना मानना चाहते हैं। ए० बी० गजेन्द्रगडकर (**दशकुमारचरित**, धारवाड़, १९१९ प्रस्तावना, पृ० २५) पूर्वपीठिका के पञ्चम उच्छ्वास को अतिकाव्यात्मक एवं उच्चस्तरीय शैली के कारण दण्डी की रचना मानते हैं। किन्तु ऐसी मान्यताएँ अन्य अपेक्षाकृत सबल प्रमाणों की दृष्टि से असमीचीन एवं अयुक्त हैं।

१६. द्रष्टव्य प्रस्तुत लेखक का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, परिशिष्ट २। केवल एक बात में भेद मिलता है—**अवन्तिसुन्दरी** में विश्रुत के पिता सुश्रुत को पद्मोद्भव का पुत्र वर्णित किया गया है (पृ० १८५, पंक्ति १२-१५), जिसकी पुष्टि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** से भी होती है (४.१६६-६८) और पूर्वपीठिका (पृ० ४, पंक्ति ६-८) में भी

तथ्यों को भी समझने में सहायता मिलती है जो 'दशकुमारचरित' में संकेतित भर कर छोड़ दिये गये हैं। उदाहरणार्थं 'दशकुमारचरित' के तृतीय उच्छ्वास में उपहारवर्मा की बचपन में पालन-पोषण करने वाली धात्री उसे उनके बाल्यकाल की करुण-कथा संक्षेपतः कहती है; किन्तु वह यह नहीं बतलाती कि वन में व्याध-बालों द्वारा ले जाये जाने के बाद उसे महाराज राजहंस के पास किस प्रकार पहुँचाया गया। इस सबका ज्ञान तो अवन्तिसुन्दरी से ही हो पाता है, जहाँ उसे व्याधों से बचाने के उपरान्त महाराज के पास लाने वाला एक ऋषि विस्तरशः उसकी प्राप्ति की कथा का वर्णन करता है।[१७] हम उससे शार्दूल द्वारा आक्रमण करने तथा उपहारवर्मा के माता-पिता की कथा के वर्णन की अपेक्षा नहीं कर सकते; उनका वर्णन तो 'दशकुमारचरित' में स्वयं उस धात्री ने किया है;[१८] चूंकि उसे इन सबका पता नहीं हो सकता था, क्योंकि वह तो उस आहत वृद्धा को वन में छोड़कर बालक की खोज में निकल पड़ा था और उसे व्याधों से उपलब्ध कर उसके पास लौटे विना ही महाराज राजहंस के पास पहुँच गया था।[१९] इसी प्रकार, दशकुमारचरित में राजवाहन हंस-कथा का स्मरण कराकर अपनी प्रा समा अवन्तिसुन्दरी को दो मास का विश्लेष सहन करने को कहता है।[२०] सुरसुन्दरी सुरतमञ्जरी भी रजत शृङ्खला के रूप में राजवाहन के चरणों में दो मास तक रहती है।[२१] अवन्तिसुन्दरीकथासार (६।१२९) में हंस-कथा के प्रसंग में इस अवधि को 'अल्पकाल' के रूप में संकेतित किया गया है। अवन्ति-

---

जो इसी रूप में वर्णित है; किन्तु दशकुमारचरित' (अष्टमोच्छ्वास, पृ० २७१, पंक्ति १२-१६) में उसे सिन्धुदत्त का पुत्र कहा गया है। इस असंगति की व्याख्या 'सिन्धुदत्त' के स्थान पर सिन्धुदत्ता' पाठ मानकर हो जाती है, जो सम्भवतः मौलिक पाठ रहा होगा। श्री अगाशे (दशकुमारचरित, पृ० १३९) तथा काले महोदय (दशकुमारचरित, पृ० २०२) ने 'सिन्धुदत्ता' पाठ ही स्वीकार किया है।

१७. अवन्तिसुन्दरी, पृ० १७३, पंक्ति १२—पृ० १७४, पंक्ति १२। इस कथा के पाठ का आद्यांश लुप्त है। अतः समग्र कथा के सारार्थं द्रष्टव्य 'अवन्तिसुन्दरीकथासार, ३।९४-११५।

१८. अवन्तिसुन्दरी, पृ० १४०, पंक्ति ३—पृ० १४१, पंक्ति ६।

१९. वही, पृ० १७४, पंक्ति ८-१० : "अहमप्यात्मनस्तद्ग्रामीणैर्दर्शनं परिजिहीर्षुरस्य हेतोः स्तुत्वा सुम्भसूदिनीं निष्क्रान्तस्तयैव यामवत्या महान्तमध्वानमत्यलङ्घयम्। अर्पयितुं च ते प्रजापालाय प्रजामिमां कृतमतिरुपस्थितः।"

२०. दशकुमारचरित, प्रथमोच्छ्वास, पृ० ६४, पंक्ति १-२।

२१. वही, प्रथमोच्छ्वास, पृ० ६९, पंक्ति ३-४; पृ० ७१, पंक्ति ४।

**सुन्दरी** के सम्प्रति उपलब्ध मूल पाठ में यह कथा नहीं आ पाती। इस दो मास की अवधि के रहस्य का पूर्ण उद्‌घाटन हमें **अवन्तिसुन्दरी** में आए हुए महर्षि वामदेव के राजवाहन के प्रति इस कथन से होता है कि तुम दो मास तक परिभव का अनुभव करोगे।[२२] महर्षि जरितारि के शाप की दो मास की अवधि की विवृति इससे भलीभाँति हो जाती है। ऐसे ही **दशकुमारचरित** में तारावली द्वारा, कुबेर द्वारा बतलाये गये, स्वयं अपने, अपने पतिदेव कामपाल, उसकी अन्य दो पत्नियों तथा बालक अर्थपाल के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त का अतिसंक्षिप्त वर्णन[२३] तब तक सम्यग्रूपेण बोधगम्य नहीं हो सकता जब तक कि हम **अवन्तिसुन्दरी** में न इसे खोज लें। दण्डी इन कथाओं का पूर्वतः सविस्तर वर्णन किये बिना **दशकुमारचरित** में इनका संकेत-मात्र नहीं कर सकते थे। इन कथाओं का विस्तरशः वर्णन हमें पूर्वपीठिका में नहीं प्रत्युत केवल **अवन्तिसुन्दरी** ही में उपलब्ध हो पाता है।[२४] वहाँ स्वयं तारावली वाराणसी की श्मशान-भूमि से प्राप्त बालक अर्थपाल को कुबेर के आदेश से महारानी वसुमती को सौंपते समय इन कथाओं का वर्णन करती है। हमें यह भी पता चलता है कि वह महारानी वसुमती के पास आने से पूर्व बालक अर्थपाल को लेकर कुबेर के पास गई थी और कुबेर ने बालक के प्रति उसकी वत्सलता की व्याख्याहेतु उसे ये कथाएँ बतलाई थीं। इसी प्रकार **दशकुमारचरित** के पञ्चम उच्छ्वास में प्रमति द्वारा किये गये अपने मित्रों के चम्पा में मिलने के संकेत[२५] का रहस्य तब तक उद्‌घाटित नहीं हो पाता जब तक कि हम राजकुमार राजवाहन को पुष्पोद्‌भव द्वारा पहले दी गई इस सूचना पर ध्यान न दें कि राजकुमार जिस बिल में प्रविष्ट होकर मातंग के साथ रसातल गये थे उसके मुख पर देवरक्षित को स्थापित कर राजकुमार की खोज में विभिन्न दिशाओं में जाते समय मित्रों ने वर्ष के अन्त में चम्पा नगरी में मिलने का निश्चय किया था।[२६] ये सब बातें **अवन्तिसुन्दरी** तथा **दशकुमार-**

---

२२. **अवन्तिसुन्दरी**, पृ० २१७, पंक्ति ८; **अवन्तिसुन्दरीकथासार**, ५।३०।

२३. **दशकुमारचरित**, पृ० १७४, पंक्ति ४—पृ० १७५, पंक्ति ११।

२४. **अवन्तिसुन्दरी**, पृ० २००, पंक्ति ९—पृ० २०३, पंक्ति १। पाठ का आद्य तथा अन्त्य अंश लुप्त है और प्राप्य पाठ भी अनेकत्र खण्डित है; अतः द्रष्टव्य **अवन्तिसुन्दरीकथासार**, ४।१५६-२३०, में कथासार।

२५. पृ० २०६, पंक्ति ८-१० : "अस्य राज्ञः सिंहवर्मणः साहाय्यदानं **सुहृत्संकेतभूमिगमन**मित्युभयमपेक्ष्य सर्वबलसन्दोहेन चम्पामिमामुपगतो दैवाद्देवदर्शन-सुखमनुभवामि।"

२६. तुलना कीजिये अवन्तिसुन्दरीकथासार, ६-४।६। दण्डी का अपना मूल पाठ अनुपलब्ध है।

चरित (पूर्वपीठिका तथा उत्तरपीठिका को छोड़कर मध्य भाग मात्र) के एक ही कृति के दो भाग होने की ओर संकेत करती हैं। इन दोनों अपूर्ण पाठों का एक ही कृति के दो भाग होना **अवन्तिसुन्दरीकथासार** से सर्वथा प्रमाणित हो जाता है, जिसमें **अवन्तिसुन्दरी** से लेकर **दशकुमारचरित** के तृतीय उच्छ्वास के अन्तर्गत उपहारवर्मा तथा कल्पसुन्दरी के प्रणय-प्रसंग तक की कथा आ जाती है। **अवन्तिसुन्दरीकथासार** **अवन्तिसुन्दरी** की भाँति, 'दशकुमारचरित' के इस अंश का भी समीपतः सार प्रस्तुत करता है और मूल पाठ में तत्तत्प्रसंगों में प्रयुक्त भावों, शब्दों, उक्तियों तथा एकमात्र पद्य—

> **त्वामयमाबद्धाञ्जलि दासजनस्तमिममर्थमर्थयते।**
> **स्वपिहि मया सह सुरतव्यतिकरखिन्नैव मा मैवम्।**
>
> (पृ० १३३२, पंक्ति ४-५)[२७]

को ग्रहण करता है।[२८] **अवन्तिसुन्दरीकथासार** तथा **दशकुमारचरित** में कथागत गौण विवरणों में कुछ अन्तर भी मिलता है :

(१) **अवन्तिसुन्दरीकथासार** में उस दारुपंजर का उल्लेख नहीं है जिसमें राजवाहन को निबद्ध किया जाता है (**दशकुमारचरित**, प्रथमोच्छ्वास, पृ० ६५, पंक्ति ३)। सम्भव है कि इसका उल्लेख ७।८२-८४ में रहा हो; किन्तु इन पद्यों का समग्र पाठ उपलब्ध नहीं है।

(२) **अवन्तिसुंदरीकथासार** (७-८७) में **दशकुमारचरित** (प्रथमोच्छ्वास, पृ० ६८, पं० ६) की **सुरतमञ्जरी** नाम्नी सुरसुन्दरी का नाम 'सुमञ्जरी' दिया गया है। यह असम्भव नहीं है कि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** के रचयिता को 'सुरतमञ्जरी' के स्थान पर 'सुमञ्जरी' पाठ ही उपलब्ध रहा हो, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी व्यक्तिवाची नाम परिवर्तित नहीं किये गये हैं; अथवा, यह उसके प्रमाद का फल है।

(३) **दशकुमारचरित** के अनुसार इस सुरसुन्दरी की हारयष्टि मन्दोदक सरोवर में स्नान करते हुए महर्षि मार्कण्डेय के मस्तक पर गिर पड़ी (प्रथमोच्छ्वास;

---

२७. **अवन्तिसुन्दरीकथासार** (८।९८) में 'एव मा मैवम्' के स्थान पर 'एवमेव त्वम्' पाठ है।

२८. विस्तरहेतु द्रष्टव्य इन पंक्तियों के लेखक का उपर्युद्धृत ग्रन्थ परिशिष्ट ५, पृ० ५०८-११।

—३—

पृ० ६८-६९)। **अवन्तिसुन्दरीकथासार** (७।८८) में मार्कण्डेय का नामतः उल्लेख नहीं है; केवल 'द्विज' शब्द से उनका संकेत कर दिया गया है और कहा गया है कि हारयष्टि उसके ऊपर अघमर्षण के अन्त में गिरी। सम्भवतः यह अन्तर **अवन्तिसुन्दरीकथासार** के लेखक के प्रमाद का परिणाम है।

(४) **दशकुमारचरित** के अनुसार चम्पेश्वर सिंह वर्मा को धनमित्र ने मुक्त किया (पृ० ७५, पंक्ति ४) और वही उपहारवर्मा, अर्थपाल, प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त, विश्रुत, मैथिल, प्रहारवर्मा, काशीनरेश कामपाल और चम्पेश्वर सिंहवर्मा को साथ लेकर राजवाहन के पास आया (पृ० ७६, पंक्ति ३-५), जबकि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** में विवहनविधि में चण्डवर्मा का अन्त करने वाले अपहार वर्मा, मुक्त चम्पेश्वर तथा उसके साहाय्यहेतु वहाँ उपस्थित मित्रलोक का संकेत है (७।९३-९४)। उसमें धनमित्र द्वारा चम्पेश्वर के मुक्त किये जाने का शब्दतः उल्लेख नहीं है। सम्भवतः संक्षेप की दृष्टि से लेखक ने ऐसा किया है।

(५) **अवन्तिसुन्दरीकथासार** में धनमित्र से राजवाहन का परिचय अन्य मित्रों के बाद होता है (८।१-२), जबकि **दशकुमारचरित** में उपहारवर्मा आदि अन्य मित्रों से मिलने से पूर्व ही राजकुमार राजवाहन का परिचय अपहारवर्मा द्वारा धनमित्र से करा दिया जाता है (पृ० ७५, पंक्ति १-२)। सम्भवतः संक्षेप की दृष्टि से लेखक ने इस पूर्व परिचय की बात को छोड़ दिया।

(६) **दशकुमारचरित** के अनुसार गणिका काममञ्जरी तथा उसकी माता माधवसेना कुलस्त्रीवृत्त के आचरणार्थ कृतसंकल्पा रागमञ्जरी को चम्पानरेश के पास ले जाती हैं, जिससे राजा की आज्ञा से वह प्रकृतिस्थ हो और गणिका-धर्म का पालन करने में प्रवृत्त हो जाये। साथ ही उन्होंने रोकर राजा से यह भी कहा कि यदि कोई भुजंग हम लोगों की इच्छा के बिना इस लड़की को ठगकर बिगाड़ेगा तो वह तस्करवत् वध्य होगा (द्वितीयोच्छ्वास, पृ० १११-१२)। **अवन्तिसुन्दरीकथासार** का रचयिता इस विवरण को सम्भवतः संक्षेप की दृष्टि से छोड़ देता है, यद्यपि वह रागमञ्जरी के गुणशुल्का होने के संकल्प की ओर संकेत करता है (८।८६)।

(७) **दशकुमारचरित** में प्रवाहवर्मा के अपने ज्येष्ठ भ्राता संहारवर्मा के विकटवर्मा आदि पुत्रों द्वारा राज्य हड़प लेने (तृतीयोच्छ्वास, पृ० १३९, पंक्ति ३-४) और युद्ध कर उसे सपत्नीक बन्दी बना लेने (पृ० १४१, पंक्ति ३-४; पृ० १६४, पंक्ति ५-६) का उल्लेख है; जबकि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** में केवल ज्येष्ठ भ्राता के पुत्र विकटवर्मा द्वारा ही उसके निग्रह कर बन्दी बनाने का संकेत है (८।११८)। लेखक ने विकटवर्मा के अन्य भाइयों तथा युद्ध की ओर संकेत नहीं किया। सम्भवतः

मुख्य कथा तथा संक्षेप की दृष्टि से उसने इन विवरणों को गौण समझकर छोड़ दिया।

इस प्रकार उपरिपरिगणित अन्तर बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और न ही उनके आधार पर इस कल्पना को ही बल मिल सकता है कि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** का आधार 'दशकुमारचरित' नहीं है।[२९] जैसा कि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** नाम से तथा इसके प्रथम परिच्छेद के दशम श्लोक[३०] से स्पष्ट है, यह दण्डिप्रणीत **अवन्तिसुन्दरी** की कान्ता कथा का सार प्रस्तुत करता है। इसमें अधुनोपलब्ध अपूर्ण **अवन्तिसुन्दरी** तथा **दशकुमारचरित** को एक ही ग्रन्थ **अवन्तिसुन्दरी** के भाग मानकर सार प्रस्तुत किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** के समय अधुना पृथक् रूप में उपलब्ध **दशकुमारचरित अवन्तिसुन्दरी** ही का एक अभिन्न अंग था। **अवन्तिसुन्दरीकथासार** के रचयिता को सारार्थ **अवन्तिसुन्दरी** का समग्र पाठ उपलब्ध रहा होगा। यदि उसके समय **दशकुमारचरित** एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में विद्यमान रहा होता तो वह निश्चय ही दो भिन्न ग्रन्थों **अवन्तिसुन्दरी** तथा **दशकुमारचरित**—का सार एक ही शीर्षक अथवा नाम **अवन्तिसुन्दरीकथासार** से न उपस्थित करता। इसका अर्थ तो यह हुआ कि अधुना पृथक् रूप में समुपलब्ध **दशकुमारचरित** मूलतः कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर **अवन्तिसुन्दरी** ही का एक मध्यवर्ती भाग था;[३१] और सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम **अवन्तिसुन्दरी** था, **दशकुमारचरित** नहीं।

---

२९. डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ५८-५९) ने ऊपर परिगणित षष्ठ के अतिरिक्त अन्य छह भेदक बातों को आधार बनाकर यह मान्यता व्यक्त की है कि **अवन्तिसुन्दरीकथासार** के रचयिता के सार का आधार अधुनोपलब्ध **दशकुमारचरित** नहीं था, जो समीचीन प्रतीत नहीं होता।

३०. **सत्कथाकथनप्रीत्या तथापि कथयाम्यहम्।**
**कान्तामवन्तिसुन्दर्याः कथामनतिविस्तराम्॥**

३१. डॉ० वी० राघवन् (*Bhoja's Śṛṅgāra-Prakāśa* मद्रास, १९६३, पृ० ८३७; *Journal of the Travancore University Oriental Manuscripts Library*, त्रिवेन्द्रम खण्ड ८, संख्या २, १९५५, पृ० ४; *Sanskrit Literature*, दिल्ली, १९६१, पृ० ८३) जी० हरिहर शास्त्री (*Journal of the Travancore University Oriental Manuscript Library*, त्रिवेन्द्रम, खण्ड ८, संख्या २, १९५५, पृ० ६-७), तथा के० एस० महादेव शास्त्री (**अवन्तिसुन्दरी**, त्रिवेन्द्रम, १०५४, भूमिका, पृ० २२) तथा के० वी० लक्ष्मणराव (विविधज्ञानविस्तार, मराठी पत्रिका, खण्ड ५४, संख्या ८) भी **अवन्तिसुन्दरी** को **दशकुमारचरित** का आद्य भाग

इन दोनों के एकत्व की पुष्टि **दशकुमारचरित** की पाण्डुलिपि में प्रथम उच्छ्वास की इस पुष्पिका से भी होती है : "इत्यवन्तिसुन्दर्यां दशकुमारचरिते प्रथमं चरितम्, "[३२] जो '**अवन्तिसुन्दरी**' नामक विशाल गद्य-काव्य के अन्तर्गत दशकुमारों के चरितों से सम्बद्ध भाग में (**दशकुमारचरित**) प्रथम चरित की समाप्ति का सूचक है। यही कारण है कि परवर्ती लेखकों ने '**अवन्तिसुन्दरी**' का तो उल्लेख किया है पर **दशकुमारचरित** का नहीं।[३३]

कुछ विद्वानों ने[३४] शैलीगत 'अतीव भिन्नता' को आधार मानकर अधुनोपलब्ध **अवन्तिसुन्दरी** के दण्डिकर्तृत्व तथा **दशकुमारचरित** के आद्य भाग होने में सन्देह

---

मानते हैं; किन्तु उनकी मान्यता का मुख्य आधार अवन्तिसुन्दरी तथा पूर्वपीठिका के वर्ण्य विषय की समानता है, पाठगत अन्तःसाक्ष्यों से वे अपरिचित रहे हैं।

डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३३, ५७, ५९) के मतानुसार **अवन्तिसुन्दरी** तथा **दशकुमारचरित** दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ रहे होंगे। दण्डी ने पहले सरल शैली में **दशकुमारचरित** की रचना की और बाद में इसी का तात्कालिक साहित्यिक प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए अलंकृत शैली में उपबृंहण किया; किन्तु उनका यह सुझाव सहज तथा सरलतया मान्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि साहित्य में कदाचित् ही कोई ऐसा उदाहरण मिले कि कोई कवि पहले एक कथा को सरल शैली में और पुनः उसी विधा (गद्य अथवा पद्य) के माध्यम से उसे कठिन एवं अलंकृत शैली में प्रस्तुत करे। हाँ, एक ही कथा को भिन्न-भिन्न विधाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने के उदाहरण अवश्य मिलते हैं, यथा—बाणभट्ट ने कादम्बरी की कथा को **कादम्बरी** नामक गद्य-काव्य, **पद्यकादम्बरी** नामक पद्य-काव्य, और **शारदचन्द्रिका** नामक रूपक के रूप में लिखा।

३२. विश्वविद्यालयीय पाण्डुलिपि-ग्रन्थागार त्रिवेन्द्रम, संग्रह-संख्या ४:२; श्री के० एस० महादेव शास्त्री (**अवन्तिसुन्दरी**, त्रिवेन्द्रम संस्करण, १९५४, भूमिका, पृ० २२) द्वारा संकेतित। डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२) द्वारा इस पुष्पिका के विरोध में उठाई गई आपत्ति कष्टकल्पित ही प्रतीत होती है, सहज नहीं।

३३ द्रष्टव्य वी० राघवन् : *Bhoja's Śṛṅgāra-Prakāśa* पृ० ८३६-७।

३४. डॉ० सुशीलकुमार दे : *Indian Historical Quarterly*, खण्ड, पृ० ३१ तथा आगे; खण्ड ३, पृ० ३९४ तथा आगे; *Aspects of Sanskrit Literature*, कलकत्ता, १९५९, पृ० ३०३ तथा आगे; ए० बी० कीथ : *A History of Sanskrit Literature* पृ० २९६ पादटिप्पण; प्रस्तावना, पृ० १६।

व्यक्त किया है; किन्तु इतने प्रवल प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए इसे समीचीन नहीं माना जा सकता। जहाँ तक रचना-शैली का प्रश्न है, स्वयम् **अवन्तिसुन्दरी** में भी शैलीगत भिन्नता विद्यमान है। प्रारम्भिक अवस्था में दण्डी की शैली अत्यधिक विवरणपूर्ण एवं अलंकृत है, जिसमें दीर्घकाय समास, एक-एक पृष्ठ से भी लम्बे-लम्बे वाक्य और विविध प्रकार के श्लेष एवं श्लिष्टोपमाएँ आदि प्रयुक्त हैं; किन्तु ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं रचना-शैली विषयानुकूल परिवर्तित होती जाती है ('रचना विषयापेक्षम्'—आनन्दवर्धन); और हमें अपेक्षाकृत सरल शैली, मनोहर सुव्यवस्थित मसृण पदावली और लम्बे-लम्बे वर्णनों के साथ-साथ इतिवृत्त की गति की तीव्रता से युक्त दृश्यों एवं वाक्यावली के दर्शन होने लगते हैं। पाठ के अतीव खण्डित स्वरूप में भी पाठक को दण्डी के पदलालित्य एवं माधुर्य, मनोरम एवं विलक्षण चरित्रांकन आदि उन सभी तत्त्वों की उपलब्धि होती है जो उसे **दशकुमारचरित** में प्राप्त होते हैं।[३५] **दशकुमारचरित** की शैली भी सर्वत्र एक-सी कहाँ है! यहाँ भी शैली विषयानुरूप परिवर्तित होती है। कहीं कवि दीर्घ समासों से विरहित सरल शैली का अवलम्बन करता है तो कहीं सुदीर्घ समासों से संवलित कठिन एवं अलंकृत शैली का; यथा—निद्रालीन राजकुमारी अम्बालिका[३६] तथा नवमालिका,[३७] तारावती,[३८] राजकुमारी कन्दुकावती के कन्दुक नृत्य,[३९] वसन्त-काल तथा कलिंगनरेश कर्दन की क्रीडाओं[४०] और सूर्य[४१] के वर्णनों में पर्याप्त दीर्घ समासों एवं समलंकृत शैली का आश्रय लिया गया है।[४२] इसके अतिरिक्त, सप्तम उच्छ्वास में ओष्ठ्य वर्णों के अप्रयोग में विलक्षण भाषा-क्रीडा के दर्शन होते हैं।[४३] अतः **अवन्तिसुन्दरी** तथा

---

३५. द्रष्टव्य जी० हरिहर शास्त्री : अवन्तिसुन्दरीकथासार भूमिका, पृ० ५।

३६. पृ० १२८, पंक्ति ९—पृ० १३१, पंक्ति ३।

३७. पृ० १९१, पंक्ति ६—पृ० १९६, पंक्ति १।

३८. पृ० १९६, पंक्ति ९—पृ० १९७, पंक्ति ४।

३९. पृ० २११, पंक्ति ७—पृ० २१३, पंक्ति ३।

४०. पृ० २४१, पंक्ति १०—पृ० २४२, पंक्ति ९।

४१. पृ० २४६, पंक्ति १-४।

४२. दण्डी समासभूयस्त्व रूप ओजस् को गद्य का जीवित मानते हैं। द्रष्टव्य **काव्यादर्श** १।८० : "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।"

४३. इसी प्रकार **अवन्तिसुन्दरीकथासार** (७।१४) से पता चलता है कि दण्डी ने सोमदत्त द्वारा स्वचरितवर्णन पाँच खरों (आद्य पाँच वर्ग-वर्णों), पाँच अनुनासिकों, चार अन्तस्थों तथा ऋकार एवं लृकार रहित दश स्वरों, इन २४ वर्णों में करवाया।

**दशकुमारचरित** में मानी गयी तथाकथित शैलीगत 'असाधारण विषमता' में कोई विशेष बल नहीं है और इसे **अवन्तिसुन्दरी** के दण्डिकर्तृकत्व तथा **दशकुमारचरित** के आद्य भाग होने के विरुद्ध प्रबल युक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

**दशकुमारचरित** को **दशकुमारचरित** नाम किसी अन्य लेखक ने बाद में प्रदान किया होगा । अधुनोपलब्ध **अवन्तिसुन्दरी** उच्छ्वासों में विभक्त नहीं है; अतः उसी का मध्यवर्ती भाग होने के कारण 'दशकुमारचरित' का विभाजन भी उच्छ्वासों में नहीं होना चाहिये । इसका उच्छ्वासों में विभाजन निश्चय ही कुमारों के चरितों के वर्णनों के विभाजन हेतु बाद में किया गया । सम्भवतः दण्डी के विशालकाय तथा सुदीर्घ गद्य-काव्य **अवन्तिसुन्दरी** में से दश कुमारों—राजकुमार राजवाहन तथा उसके नौ सखा पुष्पोद्भव, सोमदत्त, अपहारवर्मा, उपहारवर्मा, अर्थपाल, प्रमति, मित्रगुप्त, मन्त्रगुप्त तथा विश्रुत के माता-पिता, समुपलब्धि एवं चरितों से सम्बद्ध भाग को पृथक् करके उसे **दशकुमारचरित** नाम दे दिया गया । दण्डी के इस गद्य-काव्य के आद्य तथा अन्तिम भाग किसी कारण लुप्त हो गये और शताब्दियों तक पृथक् मध्यवर्ती भाग—**दशकुमारचरित**—ही उपलब्ध होता रहा । किसी परवर्ती लेखक ने दण्डी के सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्राप्य न होने के कारण यह सोचकर कि दण्डी का ग्रन्थ केवल दश कुमारों ही से सम्बद्ध रहा होगा अपूर्ण **दशकुमारचरित** के आद्य भाग की पूर्तिहेतु किसी रूपान्तरादि का आश्रय लेकर अधुना प्रचलित पूर्वपीठिका की रचना की और उसे उसके साथ जोड़ दिया, जिसमें भूमिका, सोमदत्त तथा पुष्पोद्भव के चरित और राजवाहन के चरित का आद्य भाग आता है । अधुना प्रचलित पूर्वपीठिका की रचना सम्भवतः **दशकुमारचरित** के केतन (१३वीं शती ई० का मध्य भाग) द्वारा किये गये तेलुगु रूपान्तर के बाद की है, क्योंकि इन दोनों में अतीव समानता है[४४] और पूर्वपीठिका में ऐसी अनेक अभिव्यक्तियाँ तथा प्रयोग उपलब्ध होते हैं जो केवल तेलुगु भाषा ही में प्रचलित हैं ।[४५] पूर्वपीठिका का **ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः** आदि मंगलश्लोक लेखक ने कहीं और से ग्रहण किया होगा । यह एक सामान्य श्लोक रहा प्रतीत होता है, क्योंकि यह भोजदेव द्वारा अपने **सरस्वती-**

---

४४. उनमें कतिपय गौण भेद भी हैं; यथा—तेलुगु रूपान्तर में सोमदत्त की कथा राजवाहन तथा अवन्तिसुन्दरी के मिलन के पश्चात्, किन्तु उनके विवाह से पूर्व आती है (जैसे **अवन्तिसुन्दरी** में तुलना कीजिये '**अवन्तिसुन्दरीकथासार** ७।१ आदि) और अन्तिम भाग को बहुत संक्षिप्त कर दिया गया है । द्रष्टव्य एम० आर० कवि : **अवन्तिसुन्दरी**, प्रस्तावना, पृ० १४ ।

**४५. एम० आर० कवि : वही पृ० १४ ।**

**कण्ठाभरण**[४६] तथा **सुभाषितप्रबन्ध**[४७] में भी उद्धृत किया गया है। इस पूर्वपीठिका के अतिरिक्त कतिपय अन्य पूर्वपीठिकाएँ भी लिखी गई हैं, यथा—भट्टनारायण-विरचित '**पूर्ववृत्तान्तदर्शन**',[४८] अज्ञातकर्तृक '**दशकुमारचरितसंग्रह**'[४९] गोपीनाथ महाराजाधिराज की '**दशकुमारकथा**' विनायकविरचित' **दशकुमारचरितपूर्वपीठिका,**[५०] अप्पयामात्यरचित '**दशकुमारकथासार**'[५१] और आर० वी० कृष्णमाचारियरकृत **दशकुमारचरितसंग्रह**।[५२] इसी प्रकार कुछ लेखकों ने **दशकुमारचरित** के अष्टम उच्छ्वास की विश्रुत की अपूर्ण कथा की पूर्ति तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ की उपसंहृति हेतु उत्तरपीठिकाओं की रचना की। अधुना प्रचलित अज्ञातकर्तृक उत्तरपीठिका[५३] के अतिरिक्त हमें पद्मनाभविरचित नवम अथवा उपसंहारात्मक उच्छ्वास, गोपीनाथ

---

४६. सं० जीवानन्द विद्यासागर, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १८९४, परिच्छेद २, पद्य १० (लाटानुप्रसास के अन्तर्गत)।

४७. डेक्कन कॉलेज (पूना) संग्रह, संख्या २४८-vis, पृ० १; जी० जे० अगाशे : **दशकुमारचरित**, टिप्पण, पृ० १५६।

४८. इसे अगाशे महोदय ने अपने **दशकुमारचरित** के संस्करण में परिशिष्ट के रूप में दिया है (पृ० १४७-१५५)।

४९. इसके विषय में केवल इतना ही मालुम है कि यह दक्षिण में ऑफ्र्ट द्वारा परिगणित एक व्यक्तिगत पुस्तकालय में विद्यमान है (द्वितीय, ३१६५)।

५०. गोपीनाथ तथा विनायक की कृतियों की एक-एक पाण्डुलिपि कॉमनवेल्थ रिलेशन्ज् ऑफिस लायब्रेरी में प्राप्य है (एगेलिङ्ग का सूचीपत्र, सप्तम खण्ड, संख्या ४०७०।१८५०, पृ० १५५४; ४०६७।५८६ ए. पृ० १५५३)।

५१. एगेलिङ्ग : वही, सप्तम खण्ड, संख्या ४०६८।१७६४ ए. पृ० १५५३; एच० जी० नरहरि द्वारा सम्पादित, अड्यार लाइब्रेरी, १९४९। एच० एच० विल्सन (*Adventures of Ten Princes*, लन्दन, १८४६, पृ० ५) तथा एम० कृष्णमाचारियर (*History of Classical Sanskrit Literature*, दिल्ली, १९७०, पृ० ४६४) इस अप्पय को 'कुवलयानन्द' के प्रणेता अप्पय्यदीक्षित से अभिन्न मानते हैं; किन्तु यह नि:संदिग्ध नहीं है, क्योंकि उसने अपने आपको प्रस्ताविक पद्य २ में अप्पयमन्त्री तथा पुष्पिका में अप्पयामात्य कहा कहा है। द्रष्टव्य एच० जे० नरहरि, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, भूमिका, पृ० ७-८।

५२. श्रीरङ्गम् से प्रकाशित।

५३. मोरेश्वर रामचन्द्र काले (**दशकुमारचरित**, भूमिका, पृ० ३८) तथा एन० भक्तवत्सलम् **दशकुमारचरित**, मद्रास, १९५५. भूमिका, पृ० ६) इसे चक्रपाणि दीक्षित की रचना मानते हैं, जो अयुक्त है।

महाराजाधिराज की **'दशकुमारकथा'** और चन्द्रमौलि के पुत्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन डेक्कन लेखक चक्रपाणि दीक्षित की **'उत्तरपीठिका'** अथवा **'शेष'** प्राप्त होते हैं। यह ध्यातव्य है कि उत्तरपीठिका दण्डी के विशालकाय गद्य-काव्य **'अवन्तिसुन्दरी'** की वास्तविक उपसंहृति का प्रतिनिधित्व नहीं करती, क्योंकि, जैसा कि **'अवन्तिसुन्दरी'** के प्रस्तावनात्मक भाग में प्राप्य दण्डी के अपने कथन से सुस्पष्ट है, उनके इस काव्य की कथा का अवसान भगवान् पुण्डरीकाक्ष के प्रसाद से जलनिधि में एक कमल की विद्याधरत्व-प्राप्ति के साथ होना चाहिये,[५४] जिससे दण्डी तथा उनके मित्रों द्वारा इष्ट महामल्लापुरम् के जलनिधि में तैरने वाले और सागरतट पर स्थित भगवान् विष्णु की मूर्ति के चरणों का स्पर्श कर विद्याधरत्व को प्राप्त कर आकाश में अदृश्य हो जाने वाले कमल का रहस्योद्घाटन हो सके।[५५] सम्भवतः यह विद्याधर राजवाहन ही रहा होगा, जो किसी पुष्पसम्बन्धी अपराध से अपकृत किसी क्रुद्ध महर्षि के शाप के फलस्वरूप कमल-रूप को प्राप्त कर जलनिधि में गिर पड़ा तथा जल में अनेक वर्षों तक तैरता रहा[५६] और अन्त में भगवान् विष्णु की प्रतिमा के चरणों का स्पर्श पाकर पुनः विद्याधरत्व को प्राप्त हो गया और भगवान् विष्णु को प्रणाम कर आकाश में अदृश्य हो गया। सर्वमनुजगन्धर्वसिद्धविद्याधरेश्वर राजवाहन से सम्बद्ध यह कथा सभी पुरुषार्थों के उपदेश के गौरव से युक्त, सब द्वीपों के वृत्तान्त से युक्त अनेक रस वाली, सम्पूर्ण कलाकलाप से युक्त होने के कारण गम्भीर, समग्र परम्पराओं तथा रसों से युक्त, सभी आदिराजाओं के वंशों के वर्णनों से युक्त मनोहर कथाओं वाली और सब देवों तथा असुरों के वृत्त के कीर्तन के कारण अद्भुत होनी चाहिये।[५७] अधुना **'दशकुमारचरित'** नाम से पृथक् उपलब्ध भाग के अष्टम उच्छ्वास

---

५४. **अवन्तिसुन्दरी**, पृ० १७, पंक्ति १५-१९ : "युष्मत्प्रार्थितानुष्ठितप्रयत्नेन मया मधुनरकारिष्टकेशिकंसध्वंसनस्य त्रिभुवनैकमङ्गलस्य भगवतो भवतभयहरण-विधिविचक्षणस्याम्बुजेक्षणस्य प्रसादादम्बुनिधावम्बुजस्याम्बरेचरत्वप्राप्त्यवसानमद्भुत-मतिमहत् कथाशरीरं दृष्टम्।"

५५. **वही**, पृ० १५-१७।

५६. तुलना कीजिये वही, पृ० १६, पंक्ति १८—पृ० १७, पंक्ति २ : "एष कोऽपि नभश्चरेश्वरः कस्यापि रोषणस्य महर्षेः पुष्पसम्बन्धापराधापकारितादनुव्या-हारादम्बुरुहत्वमवाप्याम्बरादम्भसां निधौ पतितः स्रोतोभिर्वा स्थलादुपहृतः कालकल्प-मनल्पं वारिधेः क्षारवारिणि परिभ्रम्यति। अस्यापि हि मेऽस्मिन् विस्मयवस्तुनि जिज्ञासया समाक्रान्तमेव हृदयम्।"

५७. **वही**, पृ० १७, पंक्ति ८-११ : "प्रतिभातु तवैतदाश्चर्यभूतं सर्व-पुरुषार्थोपदेशगुरु सर्वद्वीपवृत्तान्तबहुरसं सर्वकलाकलापगर्भगम्भीरं सर्वसमयरससम्भेद-सम्मतं सर्वादिराजवंशवर्णनमनोहरकथं सर्वदेवासुरवृत्तकीर्त्तनाद्भुतं सर्वमनुजगन्धर्व-सिद्धविद्याधरेश्वरस्य राजवाहननाम्नो''''पारमत्।"

की विश्रुत की कथा के वाद के अंश में राजवाहन द्वारा पृथिवीलोक की विजय के उपरान्त गन्धर्वों, सिद्धों तथा विद्याधरों के लोकों की विजय एवं आधिपत्यावाप्ति, हंसरूप धारण कर एक विद्याधर द्वारा उठाकर ले जाये गये अपने अग्रज हंसवाहन की विद्याधरलोक से समुपलब्धि[५८] और अन्त में किसी पुष्प सम्बन्धी अपराध से अपकृत किसी क्रुद्ध महर्षि के शापवश कमलरूप में परिणत होकर जलनिधि में गिरने अथवा स्थल से जल-धाराओं द्वारा जलनिधि में बहा ले जाये जाने और अनेक युगों तक जल में तैरकर अन्ततः महामल्लपुरम् के समुद्रतट पर स्थित भगवान् विष्णु का चरण स्पर्श कर पुनः विद्याधरत्व की प्राप्ति और भगवान् विष्णु को प्रणाम कर आकाश में अदृश्य हो जाने का वर्णन अवश्य रहा होगा, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है।

इस प्रकार दण्डी के विशालकाय गद्य-काव्य '**अवन्तिसुन्दरी**' का आद्य भाग अधुनोपलब्ध '**अवन्तिसुन्दरी**' के रूप में प्राप्य है; '**अवन्तिसुन्दरी**' के वाद और '**दशकुमारचरित**' नाम से अधुना पृथक् उपलब्ध मध्यवर्ती भाग के प्रारम्भ होने तक का अंश लुप्त हो गया है तथा इसकी संक्षिप्त कथा हमें '**अवन्तिसुन्दरीकथासार**' में मिलती है; और इस भाग के अकस्मात् ही समाप्त हो जाने वाले अष्टम उच्छ्वास के बाद का पाठ अभी तक मिल नहीं सका है तथा वर्तमान उत्तरपीठिकाएँ कथा की वास्तविक उपसंहृति का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं।



---

५८. वही, पृ० ११७, पंक्ति ६-७; पृ० १२१; पृ० १२४, पंक्ति १७-१९; पृ० १३५, पंक्ति ५।

—४—

# श्री भास्करराय भारती दीक्षित और उनकी गणेशसहस्रनाम पर 'खद्योत' व्याख्या

*पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते*

**वाराणसी**

The commentary of "Khadyota on *Gaṇeśasahasranāma stotra of Gaṇeśa-purāṇa*, written by Bhaskara Raya Bharatī is very important in the sense that it explains the stotra on the basis of our Scriptures, according to the appropriateness of the context and refutes the ambiguous points of former commentators with instances.

भारतीय विद्वत्परम्परा में विशेषतः मीमांसा और आगमशास्त्र की विचार-धारा में विमर्शशील विद्वानों को प्रातः स्मरणीय श्री भास्करराय भारती दीक्षित का नाम अपरिचित न होगा।

यद्यपि श्री भास्करराय जी का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है, शताधिक ग्रंथों की रचना भी उन्होंने की है परन्तु दुर्दैव से उनका सुसंबद्ध ऐतिहासिक परिचय अभीं तक नहीं लिखा गया। उनके प्रिय शिष्य **'नित्योत्सव'** ग्रन्थ के लेखक पण्डित जगन्नाथ ने एक छोटा सा परिचयात्मक काव्य **'भुवनाभोग'** या **'श्रीभास्करविलास'** नामक लिखा है जो उनके **'ललितासहस्रनाम'** भाष्य "सौभाग्य भास्कर" के साथ निर्णय सागर प्रेस बम्बई से मुद्रित हुआ है। तदनुसार उनके विविध शास्त्रों पर लगभग ३८ ग्रन्थों की सूचना उसने दी है, जिनमें कतिपय मुद्रित भी हुए परन्तु इस समय प्रायः दुर्लभ हो रहे हैं।

निर्णयसागर से "सौभाग्य भास्कर" के कई संस्करण निकले परन्तु अब वह दुर्लभ हैं। हाल ही पूना के "आनन्दाश्रमग्रन्थमाला" में उनका 'सेतुबन्ध' (**नित्याषोड-शिकार्णव** की टीका) पुनर्मुद्रित हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ त्रिपुरासम्प्रदाय की परिष्कृत तथा विस्तृत व्याख्या के लिये सर्वथा उपादेय हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में श्रीभास्करराय जी का उदय हुआ। दक्षिण भारत में विशेष रहने पर भी काशी का उनसे विशेष सम्बन्ध था, उनका उपनयन संस्कार उनके पिता ने काशी में ही किया था। अनेक ग्रन्थों की रचना भी काशी में ही उनके द्वारा सम्पन्न हुई थी। उनके पिता श्रीगम्भीर राज भारती दक्षिण भारत के बीजापुर के यवन अधिपति के दीवान थे और उनके अनुरोध से सम्पूर्ण **महाभारत** का फारसी भाषा में उन्होंने अनुवाद किया था।

श्रीभास्करराय जी का विद्याध्ययन लोकापल्ली नामक स्थान में रहने वाले महाविद्वान् श्रीनृसिंहाध्वरी के पास हुआ था। श्रीभास्करराय जी का कथन है कि—

**'विद्याष्टादशकस्य मर्मविदभूद्यःश्रीनृसिंहाद्गुरोः'**

अर्थात् श्रीनृसिंहाध्वरीजी से अष्टादशविद्याओं का सूक्ष्म ज्ञान श्रीभास्कररायजी ने प्राप्त किया। यह उनकी उक्ति वास्तविक है न कि प्रौढ़िवादमात्र है। उनके टीका ग्रन्थों में अनेक शास्त्रों का तलस्पर्शी पांडित्य विचार करने पर प्रत्यय सिद्ध है।

श्रीभास्कररायजी की पूर्ण दीक्षा गुजरात के सूरत निवासी श्री शिवदत्त शुक्ल जी से हुई थी और उसी यात्रा में वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य को शास्त्रार्थ में उन्होंने पराजित किया था। अस्तु।

उनका विस्तृत जीवन परिचय और कृतियों की समीक्षा एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है।

प्रस्तुत लेख में उनकी एक कृति **गणेशसहस्रनाम** की टीका 'खद्योत' का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

श्रीभास्कररायजी के विषय में यह जानना सर्वप्रथम आवश्यक है कि वे भगवान् शंकराचार्य के सम्प्रदाय ही के अविच्छिन्न गृहस्थ शिष्यपरम्परा में थे और आचार्य की वैदिक मर्यादा की रक्षा के लिये आजीवन तत्पर थे। जैसे सुप्रसिद्ध मनीषी अप्पयदीक्षित जी आचार्य शङ्कर के अनुगामी होते हुए भी शिवोपासना के विषय को अधिक अनुराग से लिखते रहे उसी प्रकार आचार्य शङ्कर की श्रीविद्योपासना परम्परा की रक्षा और संवर्धन को श्रीभास्करराय जी ने जीवन का लक्ष्य बनाया और उसमें पर्याप्त सफल रहे। आज श्रीभास्कर के ग्रन्थ ही इस विषय के लिये प्रकाश-स्तम्भ हैं।

उन्होंने **सप्तशती** की 'गुप्तवती' टीका के प्रारम्भ में निम्नाङ्कित श्लोक से आचार्य शङ्कर का वन्दन किया है—

**सत्सम्प्रदायप्रथनाय तिष्ये शिष्यैश्चतुर्भिःसह योऽवतीर्णः ।**
**उक्तो बृहत्सङ्गमतन्त्रराजे श्रीशङ्कराचार्यगुरुं तमीडे ।।**

**शक्तिसङ्गमतन्त्र** में भविष्य में होने वाले आचार्यों में श्रीशंकराचार्य का उल्लेख है, जिसे श्रीभास्करराय ने सूचित किया है ।

श्री भास्कररायजी की कृतियों में **गणेशपुराणान्तर्गत गणेशसहस्रनाम** स्तोत्र पर टीका खद्योत' नाम से लिखी गई है ।

काशी में त्रिलोचन घाट के समीप सम्भवतः श्रीभास्करराय जी ने सोमयाग किया था, और उसके बाद वहीं पर **गणेशसहस्रनाम** की व्याख्या लिखी थी, जो 'खद्योत' के अन्तिम श्लोकों से प्रतीत होता है ।
श्लोक इस प्रकार है—

**गभीरबुधयज्वनस्तनुभवोऽधिवाराणसि**
**त्रिलोचनपदानुगः कृतमखोऽग्निचिद्भास्करः ।**
**महागणपतेर्महान्त्यपि सहस्रनामानि तद्—**
**दयाजनितया धिया सुजनतुष्टये व्याकरोत् ।।**

यह व्याख्या प्रायः श्लोकबद्ध वार्तिक के रूप में है, यत्र-तत्र गद्य में प्रासङ्गिक विचार भी किया गया है । व्याख्या का कलेवर संक्षिप्त होने के कारण इसका नाम है 'खद्योत' । 'खद्योत' शब्द के दो अर्थ हैं सूर्य और जुगनू । सम्प्रदाय से पठित विद्वान् के लिये खद्योत सूर्य है, तथा 'ग्रन्थविस्तर नहीं है' केवल यह कहने वालों के लिये 'जुगनू' है ।

**सम्प्रदायजुषामेष खद्योतो लोकबान्धवः**
**ग्रन्थविस्तरलुब्धानां खद्योतो ज्योतिरिगणः ।**

श्रीभास्कररायजी की शैली की विशेषता यह है कि अपने प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में उपोद्घात में विषय का पूर्ण शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ कर उसके बाद ही व्याख्या का उपक्रम होता है । तदनुसार **गणेशसहस्रनाम** के 'खद्योत' का आरम्भ विवेचनात्मक है ।

किसी प्राचीन पण्डित ने **गणेशसहस्रनाम** पर आपाततः शब्दार्थज्ञान के बल पर टीका कर डाली, परन्तु शास्त्र और सम्प्रदाय का गम्भीर ज्ञान न होने से उसमें त्रुटियाँ रह गई थी । यह देखकर सम्भवतः विद्वानों के अनुरोध पर श्रीभास्कररायजी टीका लिखने में प्रवृत्त हुए थे ।

**प्राचां कुसृष्टिरचनैकमयस्वभावा-**
**मज्ञातगाणपततन्त्रपुराणभावाम् ।**
**व्याख्यामुदस्य सुविभाव्य गणेशनामा-**
**न्यर्थापयामि तदुपासकतोषहेतोः ॥**

इस पद्य से यही ज्ञात होता है ।

इस व्याख्या में उपोद्धात में कहा गया है—

सम्पूर्ण उपनिषदादि शास्त्रों के द्वारा स्वप्रकाश मुक्तोपसृप्य परब्रह्म कहा गया है । निर्विकल्प चित्तवृत्ति से अज्ञाननिवृत्ति होने पर 'कण्ठचामीकर' न्याय से ब्रह्म-स्वरूप का अनुभव होता है । इसी को मोक्ष कहा गया है ।

निर्विकल्पवृत्ति शुद्धचित्त वालों को ही प्राप्य है, मलिन बुद्धि वाले उसे प्राप्त नहीं कर सकते । चित्त शुद्धि होने के लिये वर्णाश्रम धर्मानुसार श्रौतस्मार्त कर्म करना वेद में कर्मकाण्ड स्वरूप बहिरंग उपाय है ।

उसी ब्रह्म की उपासना सगुण और निर्गुण भेद से दो प्रकार की है । जिसे वेद का रहस्य भाग उपनिषद् बतलाता है, यह अन्तरङ्ग उपाय है ।

वहिरङ्ग अनुष्ठान करने के बाद ही अन्तरङ्ग अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त होता है ।

सगुणरूप उपासक के रुचिवैचित्र्य के कारण अनुग्रह से कल्पित होता है । तदनुसार शास्त्रों में **'आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्'** इत्यादि रूप से उपवर्णित है । अनेक जन्म की संस्कारधारा के अनुसार तत्तद् देवता विशेष में भक्ति और उपासना की प्रवृत्ति होती है । अतः पञ्चदेवतोपासना की परम्परा शिष्टों के द्वारा प्रवर्तित एवं प्रचलित है । उपासक के लिये उपास्यदेवता ईश्वर और ब्रह्म का पूर्ण रूप है ।

विभिन्न उपासकों के अधिकारानुसार शास्त्रों में विधि और निषेध का विधान है । निषेध का अर्थ निन्दा न होकर अनधिकारियों के लिये निवृत्तिपरक है । कल्प-भेद से देवताओं की परस्पर से उत्पत्ति भी शास्त्रतः प्रमाण सिद्ध है ।

श्रीमहागणपति के विषय में **हेरम्बोपनिषद्, गणेशोपनिषद्** आदि श्रुतियाँ गणपति परक तन्त्रग्रंथ, **गणेशोपपुराण** एवं अन्य पुराणादि में गणेशप्रशस्तिपरक भाग तथा उनका सर्वोत्तमत्व निरूपण आदि शतशःप्रमाण उपलब्ध हैं ।

इस प्रसङ्ग में प्राचीन टीकाकार ने वैदिक **निघण्टु** ग्रन्थ में अग्न्यादि देवपत्न्यन्त देवताओं में गणेश का नाम न देखकर **महतो गणानामधिपतयः** इत्यादि अभ्यातान मंत्र को प्रमाणस्वरूप दिखाने की जो चेष्टा की है वह व्यर्थ है। कर्मकाण्डीय देवताओं में गणेश का उल्लेख न होना कोई दोष नहीं है। उस ग्रन्थ में केवल एकसौ पचास देवताओं की ही गणना है। उससे भी कितने ही अधिक देवताओं का वेदों और पुराणों में वर्णन है, क्या उन्हें कोई अप्रामाणिक कह सकता है ?

उपनिषद् आदि मूर्धन्य प्रमाणों के रहते किसी मंत्र से खींच तान कर अर्थ करना उचित नहीं है। और एक विशेष बात है **'पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः'** इत्यादि **बृहन्नारदीयपुराण** के वचनानुसार अर्थवादजटिलकर्मकाण्ड की अपेक्षा देवतास्वरूपनिर्णय में पुराण ही प्रबल प्रमाण हैं।

**श्रुति-स्मृती हि द्वे नेत्रे पुराणं हृदयं मतम्**
**श्रुतिस्मृतिभ्यां हीनोऽन्धः काणः स्यादेकया विना।**
**पुराणहीनात् हृच्छून्यात्काणान्धावपि तो वरौ॥**

इत्यादि वचनों से देवतातत्त्वनिर्णय के विषय में पुराणों का प्रामाण्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा अधिक है इसका विचार भक्ति मीमांसातन्त्र में किया गया है।

शिव, विष्णु, देवी विषयक उपनिषदों की तरह गणपति विषयक उपनिषद् भी हैं।

पूर्वोक्त अभ्यातानमंत्र को छोड़कर **गणानां त्वा गणपतिं हवामहे** इसी मंत्र को यदि प्रमाण माना जाये तो ठीक होगा, यह मन्त्र तीनों वेदो में पठित है।

गणेश की उपासना एकाक्षर, षडक्षर, अष्टाविंशत्यक्षर आदि बहुविध गणेश मंत्रों से तंत्रों में विहित है। उस उपासना के अङ्गरूप से यह सहस्रनाम 'क्रत्वर्थ' हो सकता है। स्वतन्त्रतया भी इसका पाठ पुरुषार्थ है।

सहस्रनाम भी पुराणतन्त्रों के भेद से अनेक हैं, परन्तु यही सहस्रनाम व्यूह के मुख्य देवता महागणपति का होने के कारण, तथा प्राचीन आचार्यों से परिगृहीत होने से इसी की व्याख्या करना उचित है।

इस प्रकार उपक्रम दिखाकर श्रीभास्कररायजी ने **पद्मपुराण** और **गणेशपुराण** दोनों में से **गणेशपुराण** के पाठकों को प्रामाणिक मानकर उसकी व्याख्या की है।

त्रिपुरासुर से युद्ध के लिये जाते समय भगवान शङ्कर को अनेक विघ्न आने लगे। उन्होंने ध्यानमय होकर प्रश्न किया। तब उनके मुख से महागणपति आवि-

भूत हुए और उन्होंने कहा कि मेरी अर्चना न करने से आपको विघ्न हो रहे हैं। उसके बाद भगवान् शंकर ने विधिवत् गणेश की पूजा की और उपाय पूछा। उसके उत्तर में भगवान् गणेश ने—

सर्वविघ्नैकहरणं सर्वकामफलप्रदम्
ततस्तस्मै स्वकं नाम्नां सहस्रमिदमब्रवीत् ॥

इस प्रकार सहस्रनाम का उपदेश दिया। शङ्कर के मुख से प्रादुर्भूत होने के कारण इस सहस्रनाम के पूर्व गणेश का ध्यान शिव और गणेश उभयात्मक है—

पञ्चवक्त्रो दशभुजो भालचन्द्रः शशिप्रभः
मुण्डमालः सर्पभूषो मुकुटाङ्गदभूषणः ॥
अग्न्यर्कशशिनो भाभिस्तिरकुर्वन् दशायुधः

सहस्रनाम के अन्तर्गत 'शम्भुवक्त्रोद्भवः' भी उक्त कथा का सूचक है। श्लोकार्थ प्रायः श्लोकबद्ध वार्तिक रूप से वर्णित है, विशेष स्थलों पर गद्य से विवेचना की गई है। परम्परानुसार देवता और गुरु का अभेद सिद्ध है। श्रीभास्कररायजी ने यथास्थान गाणपत्य सम्प्रदाय के अनुसार जो गुरुओं के नाम आये हैं उन्हें श्रीविद्यारण्यजी के 'श्रीविद्यार्णव' ग्रन्थ से प्रमाणित किया है।

व्याख्या के कतिपय उदाहरण निम्नांकित हैं—'कुमारगुरुः'

व्याख्या— सनत्कुमाररूपोऽपि विद्यामुपदिशन् गुरुः
स्कन्दपूर्वभवत्वाद्वा कुमारगुरुरीरितः ॥

'सर्वनेत्राधिवासकः'

सर्वनेत्रेषु वसति य एषोऽक्षीणि पुरुषः।
एष आत्मेति वचनात्सर्वनेत्राधिवासकः ॥

'मृत्युञ्जयः'

कालमृत्युं प्रमादं वा हरन् मृत्युञ्जयो मतः
प्रमादं वा मृत्युमहं ब्रवीमीति तु भारतात् ॥

प्रमाणप्रत्ययातीतः

प्रमाणप्रत्ययातीतो नित्यज्ञानैकविग्रहः
प्रमाकरणजानां हि प्रमितीनामनित्यता ॥

मन्दगतिः

येषां काऽपि गतिर्नास्ति मन्दानां ज्ञानकर्मणोः
अभावेन गतिस्तेषामपि मन्दगतिस्ततः ॥

क्षेमानन्दः

क्षेमं सांसारिकं सौख्यमानन्दः पारमार्थिकः
उभयात्मा त्वमेवेति क्षेमानन्द इतीर्यसे ॥

पञ्चप्रणवभावितः

तार-वाग्भव-लज्जा-माः प्रासादपरया सह
प्रणवाः पञ्च तैर्वाच्यः पञ्चप्रणवभावितः ॥

इत्यादि स्थलों में वेदान्त, उपनिषद्, तन्त्र, पुराण तथा प्रसङ्गौचित्य के अनुसार अर्थ कुशलता से किया गया है। प्राचीन टीकाकार ने जहाँ भ्रामक अर्थ किये हैं उनका भी सप्रमाण खण्डन कर सम्प्रदायानुकूल अर्थ निश्चित किया गया है।

इस प्रकार यह व्याख्या आकार में संक्षिप्त होने पर भी व्यापक विषयों पर प्रकाश डालती है तथा वैदिक मर्यादाओं की महत्ता को प्रतिष्ठापित करती है। इसका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर विशेष निष्कर्ष प्राप्त हो सकता है।



—५—

# महाभाष्य का पस्पशाह्निक और व्याकरण के प्रयोजन

पं० करुणापति त्रिपाठी

वाराणसी

The author here throws light on the characteristics of *Mahābhāṣya's* 'Paspaśāhnika' and the purpose of studying *Vyākaraṇa.*

**महाभाष्य** के पस्पशाह्निक अर्थात् प्रथम आह्निक का महत्त्व इसलिये अत्यधिक है कि उसमें अन्य बातों के अतिरिक्त शब्द-शास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन बताया गया है। पतञ्जलि ने व्याकरण शास्त्र को—'शब्दानुशासन' (शब्दशास्त्र) कहा है। अर्थात् यह लक्ष्यग्रंथ न होकर लक्षणशास्त्र है। लक्ष्यानुसारी तथा प्रयोगों को देखकर विश्लेषण-विधि से प्रयोग-नियमों का आकलन करना इसका सिद्धान्त है। भाषा के पीछे व्याकरण चलता है। व्याकरण भाषा का नियामक न होकर अनुशासक होता है। **महाभाष्य** के प्रारम्भ में 'अथ शब्दानुशासनम्' द्वारा यही अभिव्यक्त किया गया है।

महाकवि माघ ने भी **'शिशुपाल वध'** महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में पस्पशाह्निक को शब्दशास्त्र में अत्यन्त महनीय मानते हुए कहा है—

> अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
> शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥
>
> (सर्ग २ श्लोक ११२)

अर्थात् जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र पस्पशाह्निक के बिना निस्तेज हो जाता है, उसी प्रकार गुप्तचर प्रणाली के प्रयोग बिना राजनीति भी वर्चस्वहीन प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि किसी शासन की राजनीति में गुप्तचरों के जाल का जैसा महत्त्व

है, वैसा महत्त्व व्याकरणशास्त्र पढ़ने वालों के लिये **महाभाष्य** के पस्पशाह्निक का है ।[1]

पाणिनि का व्याकरण लौकिक और वैदिक द्विविध-संस्कृत-प्रयोगों का अनुशासक है। व्याकरण के अध्ययन-प्रयोगों का उल्लेख करते हुए पतञ्जलि ने सबसे प्रथम प्रयोजन बताया है वेदों की रक्षा—

**"रक्षोहागमलध्वसंदेहाः प्रयोजनम्" रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान्परिपालयिष्यतीति ।।**

वर्णलोप, वर्णआगम, वर्णविकार आदि को वैदिक प्रयोगों में लौकिक की अपेक्षा विचित्र देखकर पाठक की बुद्धि भ्रमित न हो और पाठान्तर की कल्पना करके अशुद्ध पाठ न करे, इसके लिये व्याकरण पढ़ना आवश्यक है। यहाँ एक उदाहरण दिया जा रहा है—

"त्मनाव्योमन्" "त्मनादेवेभिः" को देखकर लौकिक संस्कृत जानने वाला व्यक्ति 'त्मना' को 'आत्मना और 'देवेभिः' को 'देवैः' के रूप में पाठ परिवर्तन करले, इसके लिये पाणिनि व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। तभी वैदिक पाठ की शुद्धता सुरक्षित रह सकती है। कारण यह है कि यज्ञादि में वेद मन्त्रों का जो स्वरतः वर्णतः शुद्ध पाठ होता है वही शास्त्र-विहित फल-साधक होता है।

वैदिक मन्त्रों की पाठ शुद्धि के लिये उनकी आठ पाठ विकृतियाँ परिकल्पित की गई हैं—संहिता पाठ, पदपाठ, क्रमपाठ आदि। इन विकृति-पाठों द्वारा क्रम, अनुक्रम, प्रतिक्रम, विलोम के अनुलोम पाठों और उनमें वैदिक व्याकरणानुसारी संधियों के अनुसार पाठ निर्धारित होता है। और इस प्रकार विकृतियों के माध्यम से वर्ण शुद्धि, स्वर शुद्धि और सन्धि शुद्धि निर्भ्रान्त हो जाती है। वर्ण-प्रयोग और स्वर-प्रयोग में विशेष रूप से अशुद्धि होने पर दोष या अपराध होता है।

यज्ञ-कर्त्ता यजमान के लिये अशुद्ध मन्त्रपाठ कभी-कभी वाग्वज्र बनकर यज-

---

१. **शिशुपालवध** का यह श्लोक दो अर्थों के पक्षों का बोधक है। एक पक्ष में व्याकरण शब्दविद्या की और दूसरे पक्ष में राजनीति की निरर्थकता तब मानी गई है जब वह पस्पशाह्निकोक्त प्रयोजन बिना जाने पढ़े और दूसरे पक्ष में गुप्तचर-प्रणाली (स्पशप्रयोग) से हीन हो। एक पक्ष में सूचनानुसारी वृत्ति अर्थात् जयादित्य-वामनकृत **काशिकावृत्ति** कृत **'न्यास'** **पदमंजरी** आदि टीकाओं की ओर संकेत है तथा दूसरी ओर राजनीति व्यवस्था का (देखिये उक्त श्लोक की मल्लिनाथी टीका)।

मान का नाश कर देता है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में आगे कहा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥इति॥

"दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्"।[२]

महर्षि पतञ्जलि ने यहाँ संकेत किया है कि 'इन्द्रशत्रु' शब्द में वृत्रासुर द्वारा "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" मन्त्र के प्रयोग में तत्पुरुष या बहुव्रीहि समास होने पर दोनों के स्वर-प्रयोग में अन्तर आ जाता है। शत्रु शब्द यहाँ क्रिया-शब्द है। शातयिता को शत्रु कहा गया है। यदि बहुव्रीहि समास होगा तो उसका अर्थ होगा— इन्द्र है शातन अर्थात् दण्ड देने वाला है जिसका। और तत्पुरुष समास होने पर अर्थ होगा इन्द्र है जिसका शातयिता। इन समासों का यथार्थ ज्ञान मन्त्रोच्चारण में 'शत्रु'— शब्द के पाठ स्वर (उच्चारणस्वर) द्वारा ज्ञात होता है। गलत स्वर का प्रयोग करने से यहाँ समास-भेद हों गया है उसी कारण अर्थ भेद भी हो जाता है। यज्ञकर्ता वृत्रासुर अपने ही अभिचार-प्रयोग में अभीष्टार्थ बोधक स्वर वाले समास के स्थान पर भिन्न स्वर वाले पाठस्वर का प्रयोग करने से अभीप्सितार्थक फल का भागी होकर मारा गया।

दूसरा प्रयोजन है :—'ऊहः'। यह विषय बहुत कुछ मीमांसा शास्त्र से सम्बद्ध है। पतञ्जलि ने कहा है कि वेद में मन्त्रों का निगदन अर्थात् समुपदेश सभी लिंगों और विभक्तियों में नहीं किया गया है। यज्ञ के पुरोहित, आचार्य और यजमान उनके परिणाम की परिकल्पना करके अनुष्ठान के अनुसार उनकी विभक्तियों, वचनों और लिंगों का आवश्यक विपरिणाम करके प्रयोग करते हैं। मीमांसा-शास्त्र बताता है कि —

'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या'। मन्त्रों की प्रकृति, प्रत्ययों का विपरिणाम यज्ञ में अनुष्ठान प्रकृति के अनुसार किया जाता है। इसका विस्तार यहाँ अनावश्यक है। इतना ही कहना है कि वैयाकरण ही इन प्रकृति-प्रत्ययों और लिंगों की विकृति का शुद्ध निर्धारण और विकृति-विपरिणाम कर सकता है। तभी यज्ञ का सम्पादन समुचित हो पाता है।

---

२. महाभाष्य पृ० २२।

तीसरा प्रयोजन है 'आगम'। कहा है :—**"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयः"**। अर्थात् ब्राह्मण के लिए आवश्यक धर्माचरण है कि बिना किसी अन्य स्वार्थ के षडङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, वैदिक-छन्द-शास्त्र और ज्योतिष सहित) वेद का अध्ययन करें। पतञ्जलि ने कहा है कि इन छह वेदाङ्गों में व्याकरण सर्वप्रधान है।

व्याकरण के अध्ययन का चतुर्थ प्रयोजन है लाघव पूर्वक शब्दज्ञान। व्याकरण के बिना लघूपाय द्वारा शब्दों का विज्ञान हो सकना कथमपि संभव नहीं है। व्याकरणज्ञ प्रतिपद-पाठ सुने बिना भी व्याकरण के ज्ञान से शब्दों का अवगम कर लेता है जैसे भू धातु के सैकड़ों तिङन्त और कृदन्त रूप हो सकते हैं, और उनसे बनने वाले पदों में अलग-अलग उदात्त, अनुदात्त, स्वरित,आदि स्वर का अवस्थान होता है। वैयाकरण ही उसे समझ सकता है। व्याकरण पढ़ने से लघु-उपाय द्वारा शब्दों का ज्ञान हो जाता है। प्रकृति-प्रत्यय विभाग के द्वारा रूपज्ञान, पदज्ञान इस प्रयोजन द्वारा विवक्षित है।

अन्तिम प्रयोजन है :—'असन्देह'। सन्देह के अपाकरणार्थ व्याकरण का अध्ययन अपरिहार्य रूप में अपेक्षित है। याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—**'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत'** यहाँ पर यह संदेह होता है कि **'स्थूलपृषती'** का विग्रह रूप क्या है ? **'स्थूला चासौ पृषती च'** अथवा **'स्थूलानि पृषन्ति यस्यां सा स्थूलपृषती'**। जो वैयाकरण होगा वही वैदिकों के द्वारा पठित वाक्य में स्वर के प्रयोग को देखकर समझता है कि यदि पठन में पूर्वप्रकृति स्वर है तो बहुव्रीहि समास होगा और यदि अन्तोदात्त है तो तत्पुरुष समास समझा जायेगा। अतः ऐसे स्थानों पर संदेह न हो और असंदिग्ध रूप से याज्ञिक क्रिया का सम्पादन हो, एतदर्थ शब्दानुशासनशास्त्र का सम्यक् नियम ज्ञान रहना चाहिए।

इन प्रयोजनों के अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरणाध्ययन के लगभग एक दर्जन इतर प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कहा है :—

**इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि-तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिं कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उतत्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि। वरुण इति[३]।**

इन में से कतिपय आरम्भिक प्रयोजनों की चर्चा की जाती है।

---

३ (महा० वही, पृ० २१)।

**(१) तेऽसुराः—**

संभवतः पाणिनि के समय में अपशब्द अर्थात् शब्द के विकृत रूपों का प्रयोग करने वाले, अपभाषण करने वाले 'म्लेच्छ' पद से अभिहित होते थे। यह म्लेच्छ पद नीचता का बोधक न होकर शुद्ध शब्दोच्चारण की अक्षमता का बोधक था। आज म्लेच्छ का विकृत 'मलिच्छ' शब्द का प्रयोग हिन्दी की पूर्वी बोलियों में निकृष्ट कर्म और निकृष्ट खान-पान वाले तथा निकृष्ट वेश-भूषा वालों के प्रति या इन्हीं के समान अर्थों में होता है। उस समय ऐसा नहीं था। असुरों का जो वर्ग संस्कृत शब्दों के साधु और शुद्ध उच्चारण से असमर्थ था वह 'म्लेच्छ' पद से अभिहित होता था। उनका असाधु उच्चारण उनके यज्ञादि अनुष्ठानों को फलहीन कर देता था। इसीलिए असुर लोग अभिचारादि के अवसर पर 'हेऽरयो हेऽरयः' के स्थान पर 'हेऽलयो हेऽलयः' उच्चारण करते हुए पराभूत हो गए। यह पराभव अपभाषण के कारण अर्थहीन प्रयोग का हुआ। इस लिए द्विज को म्लेच्छ-भाषा (अपभाषा) का प्रयोग नहीं करना चाहिए। 'हम म्लेच्छ न हों, अपभाषण के प्रयोग से दूर रहें, एतदर्थ व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए। क्योकि किसी प्रकार के अनुष्ठान, पुरश्चरण या अभिचार-प्रयोग में लक्ष्यभूत व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ का अत्यन्त शुद्ध उच्चारण अनिवार्यतः अपेक्षित होता है। यहाँ 'अरि' की जगह 'अलि' का प्रयोग होने से पदवाच्य पदार्थबोध बाधित हो गया। फलतः यज्ञानुष्ठान व्यर्थ होकर देवों के वध में समर्थन हुआ और अनुष्ठाता असुर ही मारे गए।

**(२) दुष्टः शब्दः—**

इस संदर्भ में अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक है। ऊपर उसका उद्धरण दिया गया है **'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा'** इत्यादि।

स्वरदोष या वर्णदोष से युक्तदुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें—एतदर्थ व्याकरण का ज्ञान अपरिहार्य है। इस प्रसंग में 'इन्द्रशत्रु' शब्द का उदाहरण दिया जाता है। 'शत्रु' शब्द का अर्थ होता है शातयिता दण्डदाता। इन्द्र है शत्रु अर्थात् शातयिता जिसका इस प्रकार के बहुव्रीहि समास में 'इन्द्रशत्रु' शब्द बोध्य वृत्रासुर होता है और इन्द्र उक्त अभिचार प्रयोग में शातन का कर्म न होकर शातनकर्ता हो जाता है। यदि तत्पुरुष समास में प्रयोग होता तो उसका अर्थ होता इन्द्र का शातन कर्ता अर्थात् वृत्रासुर और उसकी विजय, उत्कर्ष, वर्धन होता।

यहाँ एक वैदिक पुराणोपाख्यान का प्रदीपकार कैयट ने उल्लेख किया है—

प्राचीन काल में त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का जब इन्द्र ने वध कर दिया तब त्वष्टा ने इन्द्र के शातयिता अर्थात् इन्द्रहन्ता ( इन्द्र का वध करने में समर्थ ) पुत्र की

उत्पत्ति के लिए यज्ञ किया और चाहता था कि उसका पुत्र 'इन्द्रशत्रु' हो, इन्द्रवधकर्ता हो। परन्तु तत्पुरुष समासानुसारी स्वरवाले उच्चारण के स्थान पर विपरीतार्थ वाले बहुव्रीहि समास युक्त 'इन्द्रशत्रु' शब्द का प्रयोग होने से आभिचारिक अनुष्ठान अनुष्ठाता के लिए विपरीतार्थ दायक होकर यजमान के पुत्र का ही नाशक हो गया। ऐसी स्थिति न हो, एतदर्थ व्याकरणाध्ययन अपेक्षित है।

**(३) यदधीतम्—**

**यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।**
**अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।।**

जो कुछ पाठ किया जाता है वह यदि प्रकृति-प्रत्यय ज्ञानरहित अथवा अर्थज्ञानहीन होता है तो वह उसी प्रकार निष्फल (निरर्थक) होता है जिस प्रकार विना आग जलाये यज्ञकुण्ड में सूखा ईंधन डालना निष्फल होता है। अतः पाठकों के वेदादि पठन, यज्ञादि निष्फल न हो इसलिए व्याकरण अधीतव्य है। व्याकरण पढ़कर अर्थ-बोधपूर्वक वैदिक मंत्रों का प्रयोग उपयोग करते हुए प्रयोक्ता का कर्म सार्थक सफल होता है।

**(४) यस्तु प्रयुङ्क्ते—**

**यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले ।**
**सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।।**

इस प्रयोजन के संवन्ध में इतना ही कहना है कि व्यवहार के अवसर पर चाहे लौकिक शब्द हो अथवा वैदिक, उनका जो कुशलतापूर्वक प्रयोग करता है (वाक्योगवित् है) उसके अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों सिद्ध होते हैं। लौकिक जीवन में सफलता मिलती है और पारमार्थिक पुरुषार्थ श्रेय भी प्राप्त होता है। जो अपशब्द का प्रयोग करता है (वाक् प्रयोगों में कुशल नहीं है—अवाग्योगविद् है) वह दोषभाक् होता है, असफल होता है, अकीर्ति प्राप्त करता है, उसके लौकिक अनुष्ठान और पारमार्थिक कर्म सभी बेकार हैं, फलहीन हो जाते हैं।

इस प्रसङ्ग में **महाभाष्यकार** ने कहा है कि 'शुद्ध' शब्द अल्प होते हैं और अपशब्द बहुसंख्यक होते हैं। एक ही शब्द के देश-भेद, संस्कार-भेद और कभी कभी काल-भेद से अनेक अपभ्रंशरूप विकसित या व्युत्पन्न हो जाते हैं, जैसे एक ही 'गो' शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप होते हैं :—**गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका**[४]।

---

४. (वही, पृ० २५ में देखिए)।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राचीन ग्रन्थों में 'अपभ्रंश' शब्द के सबसे पुराने प्रयोग पतञ्जलि के **महाभाष्य** में अथवा भरत के **नाट्यशास्त्र** में मिलते हैं।

यह ऐतिहासिक महत्त्व की बात है। क्योंकि अपभ्रंश काव्यों और व्याकरणों का विकास परवर्ती अनेक शताब्दियों के बाद हुआ है। यहाँ अपभ्रंश अर्थ भी विशिष्ट है।

**(५) अविद्वांस: —**

**अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।**
**कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥**

विद्वान् के अभिवादन में दूसरे तरह का प्रयोग होता है और अविद्वान् के अभिवादन में दूसरे प्रकार का। विद्वान् के अभिवादन में कृष्णशर्मा कहेंगे :—'अभिवादये अमुकगोत्रः कृष्णशर्माऽहं भोः' परन्तु स्त्री और अविद्वान् के अभिवादन में कहा जाता था —'अहं नमामि'। विद्वान् आचार्य के अभिवादन में स्व-नाम, गोत्र-पूर्वक पादग्रहण किया जाता था। अविद्वान अथवा महिला के अभिवादन में हाथ जोड़कर 'अयमहं प्रणमामि' कहा जाता था।

अभिवादन प्रसंग में **'स्त्रीवन्माभूमेत्यध्येयं व्याकरणम्'**। अर्थात् अभिवादन प्रसङ्ग में स्त्रीवत् न हो, एतदर्थ व्याकरण का अध्ययन अपेक्षित है।

**(६) विभक्तिं कुर्वन्ति।**

**(७) यो वा इमाम्।**

ये दो प्रयोजन मुख्य रूप से वैदिक-व्यवहार से संबद्ध हैं। अतः आज की दृष्टि से लौकिक आचार में स्वल्प-प्रयोजन है। केवल यज्ञों में उसकी उपयोगिता है।

**(८) चत्वारि—**

इस सम्बन्ध में 'चत्वारि' प्रतीक को लेकर **महाभाष्यकार** ने विकल्परूप से दो छन्द उद्धृत किये हैं :—

**चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा**
**द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।**

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महो देवो मर्त्यां आ विवेश ।।इति।।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।इति।।२।।

इन दोनों छन्दों से सम्बद्ध व्याख्यायें महाभाष्य[५] में देखी जा सकती हैं । प्रथम छन्द के अन्त में कहा गया है—

'महता देवेन नः साम्यम यथास्यादित्यध्येयं व्याकरणम्' महान् देव के साथ साम्य हो, यह व्याकरण के अध्ययन का एक प्रयोजन है । इस मन्त्र का अर्थ लौकिक भी है और आध्यात्मिक भी है । उद्योतकार ने शब्द-शास्त्र प्रतिपाद्य शब्दों को अत्यन्त महत्त्व दिया है। प्रदीपकार ने महता देवेन का तात्पर्य परब्रह्म के साथ किया । उद्योतकार ने शब्द-शास्त्र प्रतिपाद्य शब्द को अत्यन्त महत्त्व दिया है । उद्योतकार ने महान् देव को अन्तर्यामी शब्द से व्याख्यात किया है । शब्द-ब्रह्म की कल्पना भी इससे ध्वनित होती है । इससे यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया गया है कि वाक्यपदीयकार 'हरि' ने वैयाकरणों के दर्शनशास्त्रीय पक्ष में जिस शब्द-ब्रह्म का सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया है उसका मूल बीज व्याकरण 'महाभाष्य' में उपलब्ध है और दाक्षायण 'व्याडि' के संग्रह में भी उसका बीज विस्तार से व्याख्यात है (महा० पृ० ४६) ।

अंग्रेजी के व्याकरण में हमलोग 'पार्ट्स् ऑफ स्पीच्' के अन्तर्गत आठ अवैज्ञानिक, अशास्त्रीय, भेदों की कल्पना देखते हैं । 'नाउन' 'प्रोनाउन' आदि । पश्चिमी व्याकरण के इतिहास में पश्चिमी देश के वैयाकरणों ने भाषा-शास्त्र के सन्दर्भ में इसकी विभिन्न संख्याओं का उल्लेख किया । इस प्रसंग में चत्वारि शृङ्गा की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने 'नामाख्यातोपसर्गनिपातश्च' कहा है । यास्क ने अपने निरुक्त में—"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताः" कहा है। 'पदजात' के विषय में निरुक्तकार का पदजात विभाजन सबसे अधिक भाषा वैज्ञानिक, ठोस और स्पष्ट है ।

'चत्वारि' की व्याख्या करते हुए उद्धृत दूसरे छन्द में इन्हीं चार 'पदजातो' का उल्लेख है । इस दूसरे छन्द की ओर भी व्याख्या की जाती है । 'चत्वारि' का अर्थ है—मूलतः नित्य, कूटस्थ शब्द के चार स्तर । (१) परा, (२) पश्यन्ती,

५. पृ० ३०-३४ तक ।

(३) मध्यमा और (४) वैखरी। व्याकरण-दर्शन में आगे चलकर तथा अन्य दर्शनों में भी इनकी बृहत् चर्चा हुई है। इन छन्दों का प्रतिपाद्य शब्द ब्रह्म-स्वरूप अविनाशी नित्य, कूटस्थ शब्द के विषय में **वाक्यपदीयकार** ने शब्द तत्त्व कहकर शब्द ब्रह्म का स्वरूप वतलाया है। आगे कहा है कि वही अनादि अनन्त, शाश्वत, कूटस्थ शब्द तत्त्व है जिसका विवर्त स्वरूप यह समस्त पदार्थ या विश्व प्रपंच है। व्याकरण में ही नहीं अनेक आस्तिक दर्शनों में भी और शैव-शाक्त तन्त्रों में भी इसका बड़ा ही गूढ़ विचार किया है।

**महाभाष्य** का पस्पशाह्निक अपने समकालीन भारत का शास्त्रीय, आध्यात्मिक, भाषा-वैज्ञानिक, ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक समाज के स्वरूप-परिचय देने का असामान्य स्रोत है।

# ऋग्वेद में अङ्गिरा

## अग्निदेव के विशेषण के रूप में

डा० कपिलदेव शास्त्री

कुरुक्षेत्र

The word *Aṅgirā*, like any other *nāma* in the Vedas is *yaugika* and used as an adjective of *Agni*. In the *Ṛgveda*, the word connotes three different meanings, viz., first, the divine light or power, god or consciousness; second, the *ṛṣi* having realisation of that supreme consciousness, and third the *Pitaras*. A study of such mantras with the use of *Aṅgirā* in the sense of God *Agni* is presented here.

'अङ्गिराः' शब्द ऋषि नाम के रूप में संस्कृत वाङ्मय में विशेष प्रसिद्ध है। वेदों में भी इस शब्द के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। परन्तु वेदों की शब्दावली यौगिक मानी गई है। वैदिक भाषा के शब्द, लौकिक भाषा के अनेक शब्दों के समान रूढ़ि न होकर, आख्यातज हैं, प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न हैं। 'सभी नाम आख्यातज (धातुज) हैं'[1], नैरुक्तों के इस सिद्धान्त का विशेष सम्बन्ध वैदिक भाषा से है। वैदिक शब्दावली स्वयं इस बात का प्रमाण है कि उसमें प्रयुक्त 'नाम' शब्द यौगिक हैं, किसी विशेषता के बोधक हैं और इस रूप में विशेषण मात्र हैं। वेदों में अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति भी उपलब्ध हो जाती है[2]। एक देवता के लिये दूसरे देवता-

---

१. निरुक्त, १, १२, तत्र नामान्याख्यातजानि इति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।

२. द्र० ऋग्वेद ६. १५. १३ में 'जातवेदाः' शब्द की व्युत्पत्ति "विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः" तथा ऋग्वेद ८. ४४. ८ में 'अग्नि' शब्द की व्युत्पत्ति "अग्ने यज्ञं नय" दी गयी है।

वाचक शब्द का प्रयोग[३] तथा नाम के रूप में प्रतीयमान इन्द्र, अङ्गिरस् जैसे शब्दों के साथ 'तमप्' प्रत्यय का प्रयोग[४] भी यही प्रमाणित करता है। इसलिये 'अङ्गिरस्' शब्द की व्युत्पत्ति और तदनुसार इसके अर्थ के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

**ऋग्वेद** के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह नाम वहाँ तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है अथवा अङ्गिरा के तीन स्वरूप पाये जाते हैं। इसका पहला अभिप्राय अथवा स्वरूप अग्नि है, जिसे आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार, प्रमुख, प्राण, ईश्वर या परमेश्वर भागवती चेतना, दैवी संकल्प अथवा दिव्य प्रकाश या ज्वाला की शक्ति कहना उपयुक्त होगा। इस अङ्गिरस् रूप अग्नि को ब्राह्मण-ग्रन्थों[५] तथा उपनिषदों[६] में प्रमुख प्राण कहा गया है। स्वामी दयानन्द ने इस अङ्गिरस् का प्रमुख अर्थ ईश्वर परमेश्वर अथवा भगवान् माना है[७]। श्री अरविन्द ने दिव्य चेतना रूप अग्नि की जाज्वल्यमान अथवा प्रकाश से परिपूर्ण आध्यात्मिक शक्तियों को अङ्गिरस कहा है[८]।

इस अङ्गिरस् नाम वाली दैवी चेतनामयी शक्ति को जिन ऋषियों ने अपनी अन्तश्चेतना में उतार लिया, प्रकट कर लिया और इस रूप में परम तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया वे ऋषि भी अङ्गिरस् के नाम से प्रसिद्ध हुए, यह अङ्गिरस् का दूसरा अभिप्राय अथवा स्वरूप है। इन अङ्गिरस् ऋषियों का कुछ समय पश्चात् मानव जाति के पितरों के रूप में मानवीयकरण हो गया[९], यह अङ्गिरस् का तीसरा स्वरूप है।

---

३. उदाहरणार्थ—सूर्य के लिये 'जातवेदस्' शब्द का प्रयोग—ऋग्वेद (१. ५०. १) में **उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्** इस मन्त्र में किया गया है।

४. उदाहरणार्थ—'इन्द्र' तथा 'अङ्गिरस्' शब्दों के साथ 'तमप्' प्रत्यय का प्रयोग **ऋग्वेद** में उपलब्ध है।

५. द्र० **शतपथ** ५. २. ३. ४; ६. १. २, २८ **प्राणो वा अङ्गिराः।**

६. द्र० **छान्दोग्योपनिषद्**, १. २. १० तथा इसकी शंकराचार्य कृत व्याख्या।

७. द्र० **ऋग्वेद भाष्य** १. १, ६; १. ३१. १, २।

८. द्र०, **वेद-रहस्य** (अनु० अभयदेव, पाण्डिचेरी, १९४८), पृ० २१४; **अग्निमन्त्रमाला** (अनु० जगन्नाथ वेदालंकार, पाण्डिचेरी), पृ० ८५, १७८, २२८।

९. द्र० **वेदरहस्य**, पृ० २१४।

परन्तु ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनमें अङ्गिरस् का प्रथम स्वरूप अर्थात् उसका अग्निरूप अर्थ ही अभिप्रेत है। इन मन्त्रों के अध्ययन से पूर्व अङ्गिरस् शब्द के निर्वचन पर ध्यान देना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं —

(क) **अङ्ग + इरस्** - पाणिनि व्याकरण में 'अग्' तथा 'अङ्ग्' (अगि) धातुएँ मानी गई हैं[१०]। ये दोनों ही गति अर्थवाली हैं। एक निरनुनसिक है तथा दूसरी सानुनासिक है। संस्कृत व्याकरण में अनेक धातुओं के ये दोनों रूप मिलते हैं। जैसे—**मद्, मन्द्, इध्, इन्ध्, रध्, रन्ध्, मिद्, मिन्द्**। इन धातुओं से द्विविध शब्द-निष्पत्ति भी देखी जाती है। जैसे '**मद्**' से मद, मदन, मदिर तथा '**मन्द्**' से मन्द, मन्द्र मन्दता, मन्दिर इत्यादि। इसी प्रकार '**इध्**' से इद्ध, इध्म और '**इन्ध्** से इन्ध, इन्धन, इन्धनवत् इत्यादि शब्द निष्पन्न होते हैं।

यहाँ भी '**अग्**' धातु से अग्नि, अग्र, अग्रि तथा '**अङ्ग्**' से अङ्गार, अङ्गिर, अङ्गिरस् इत्यादि शब्द निष्पन्न होते हैं। ये दोनों ही धातुएँ समानार्थक हैं, दोनों गति अर्थ वाली हैं। 'गति' के तीन अर्थ माने गये हैं—ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति। अर्थात् सभी गत्यर्थक धातुएँ ज्ञान अर्थ वाली, गति अर्थ वाली तथा प्राप्ति अर्थ वाली हैं। **अष्टाध्यायी** के परिशिष्ट उणादिकोष के सूत्र "**अङ्गिराः**" में यह शब्द निपातन से सिद्ध किया गया है। किन्हीं अन्य संस्करणों में इस सूत्र के स्थान पर "**अङ्गेरसिः**" पाठ मिलता है। इस सूत्र के अनुसार "**अङ्ग्**" धातु से 'असि' प्रत्यय तथा 'इट्' आगम के द्वारा यह शब्द निष्पन्न होगा। स्वामी दयानन्द ने इस शब्द के निर्वचन में यह कहा है—**अङ्गति प्राप्नोति जानाति वा स अङ्गिराः', ईश्वरोऽग्निः, ऋषिभेदो वा**" अर्थात् जो गतिशील है, सर्वत्र प्राप्त है तथा सब कुछ जानता है वह अङ्गिराः है। इस रूप में वह ईश्वर का नाम है अथवा इस नाम वाले ऋषि का बोधक है[११]। 'अङ्गिराः' शब्द की इस व्युत्पत्ति के आधार पर स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'अङ्गिराः' शब्द का अर्थ ईश्वर, प्राण, विद्वान्, इत्यादि किया है। श्री अरविन्द 'अङ्गिराः' शब्द के अर्थ में ऊर्ध्वगति एवं ऊर्ध्वारोहण अभिप्रेत मानते हैं। उनके अनुसार, जिस शक्ति से मानव का ऊर्द्ध्वारोहण हो, जो मानव-चेतन में अङ्गारे के समान गतिशील हो ऐसी, जाज्वल्यमान शक्ति अङ्गिराः है[१२]। शतपथ

---

१०. द्र० **धातुपाठ** सं० वी० एस्० पाठक), धातु संख्या ७९३ तथा १४६।

११. द्र० **उणादिकोष** ४. २३७ (सं० युधिष्ठिर मीमांसक, सोनीपत, १९७४), पृ० १६६।

१२. द्र०, **अग्निमन्त्रमाला**, पृ० ८५।

ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् में अङ्गिराः का अर्थ प्राण (प्रमुख प्राण) भी, इसी निर्वचन की दृष्टि से, किया गया है। प्राणों के कारण ही प्राणी में चेतना अथवा गति होती है।

'अङ्ग्' धातु से 'अङ्गिरस्' शब्द' को व्युत्पन्न मानते हुए आचार्य सायण ने 'अङ्गिरस् शब्द का अर्थ विकल्प के रूप में 'सर्वत्र गन्ता' किया है[१३]।

स्वामी दयानन्द ने 'अङ्ग्' धातु से अङ्गिराः को निष्पन्न मानते हुए 'अङ्गिरस्' शब्द की व्युत्पत्ति की है—'अङ्गति जानाति यो विद्वान्'[१४]। स्वामी दयानन्द ने 'अङ्गिराः' का अर्थ प्राण मानते हुए, अनेक स्थलों पर इस शब्द से प्राणों के समान प्रिय (बृहस्पति, विद्वान्, राजन् इत्यादि) अभिप्राय प्रकट किया है[१५] तथा कुछ स्थलों पर 'प्राण-विद्या का ज्ञाता' अर्थ भी किया है।[१६]

(ख) अङ्ग + रस—'अङ्गिरस्' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति 'अङ्ग' तथा 'रस' इन दो शब्दों के योग से की गई है। गोपथ ब्राह्मण में 'अङ्गिरस्' शब्द की व्याख्या में कहा गया है—'येऽङ्गिरसः स रसः''[१७]। गोपथ ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि वरुण के सब अंगों से रस क्षरित हुआ और वह अङ्गिरस् बना, उसे ही अङ्गिरा कहा जाता[१८] है। छान्दोग्योपनिषद् में अङ्गिरस् उद्गीथ को कहा गया है क्योंकि वह अङ्गों के रस के समान महत्त्वपूर्ण है। उस उद्गीथ रूप अङ्गिरस् की उपासना करने वाले भी अङ्गिरस् कहलाते[१९] हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद १. १. ६ के भाष्य में 'अङ्गिराः' शब्द का अर्थ ईश्वर किया है। उनका कथन है कि ''ब्राह्मण के अंग पृथ्वी आदि पदार्थों को प्राण रूप से और शरीर के अंगों को अन्तर्यामी रूप से रस रूप होकर रक्षा करने वाले

---

१३. ऋग्वेद, सायणभाष्य ५. ८. ४., ८. ७४. ११, इस दृष्टि से सायण की कुछ अन्य व्याख्याएँ भी द्रष्टव्य हैं। जैसे ऋ० ८. ६०. २ में अङ्गतिर्गतिकर्मा, सर्वत्र संगत तथा ऋ० ७. ७९. ३ में 'अङ्गिरस्तमा गन्तृतमा' इत्यादि।

१४. ऋग्वेद भाष्य १. ११२. १८., तु० १. ७५. २।

१५. ऋग्वेद २. २३. १८; ४. ३. १५; ४. ९. ७; ५. १०. ७ इत्यादि।

१६. द्र० ऋ० भाष्य १. ६२. २; १. १०७. २; १. १३९. ७, ९।

१७. गोपथ ब्राह्मण, १. ३. ४।

१८. वही १. १७।

१९. छान्दोग्योपनिषद्, १. २. १०।

होने से यहाँ 'अङ्गिरस्' शब्द से ईश्वर लिया गया है''। इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी 'अङ्गिरस्' का अर्थ प्राण किया जा सकता है क्योंकि वह भी अंगों के रसों के समान आवश्यक तत्त्व है। स्वामी जी ने अपने भाष्य में **"अङ्गेषु रसवद् वर्तमानः"**[२०] **'अङ्गानां रसरूपः प्राण इव'**[२१] इत्यादि अर्थ इसी दृष्टि से किया है।

(ग) तीसरे विकल्प के अनुसार 'अङ्गार' शब्द से 'अङ्गिरस्' शब्द को निष्पन्न माना जा सकता है। **ऐतरेय ब्राह्मण** (३. ३४) तथा **शतपथ ब्राह्मण** (४. ५. १. ८) में कहा गया है कि 'जो अङ्गार थे वही अङ्गिरस बन गये अथवा अङ्गारों से अङ्गिरस् उत्पन्न हुए। इसी दृष्टि से **निरुक्त** (३. १७. १) में 'अङ्गार' शब्द से 'अङ्गिरस्' शब्द को व्युत्पन्न किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'अङ्गिरस्' और 'अङ्गार' दोनों ही शब्द एकार्थक हैं और दोनों का मूल एक ही धातु है। **शतपथ ब्राह्मण** में इसी दृष्टि से 'अङ्गिराः' का अर्थ अग्नि किया गया[२२] है। वस्तुतः अग्नि अथवा अङ्गार के समान पवित्र, प्रदीप्त, प्रकाशयुक्त, तेजस्वी इत्यादि विशेषताओं को 'अङ्गिरस्' शब्द व्यक्त करता है।

'अङ्गिरस्' शब्द से सम्बद्ध इस पृष्ठ-भूमि के साथ **ऋग्वेद** के उन मन्त्रों का अध्ययन प्रस्तुत है जिनमें 'अङ्गिरस्' शब्द अग्नि का विशेषण है।

**ऋग्वेद** के अनेक मन्त्रों में 'अङ्गिरस्' का सम्बोधनात्मक रूप 'अङ्गिरः' मिलता है। आमन्त्रित अथवा सम्बोधनान्त होने के कारण ही यह पद सर्वानुदात्त है[२३]। यह सम्बोधनान्त 'अङ्गिरः' पद ऋग्वेद के जिन मन्त्रों में प्रयुक्त है उनमें दो प्रकार की स्थिति पायी जाती है। कुछ स्थल ऐसे हैं जिनमें केवल अङ्गिरस् शब्द ही सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त है। ऐसे स्थलों में विशेष्यभूत 'अग्ने' पद का अध्याहार करके 'अग्नि' तथा 'अङ्गिरस्' में विशेष्य-विशेषण भाव की संगति लगानी होगी। दूसरे स्थल ऐसे हैं जिनमें 'अग्नि' तथा 'अङ्गिरस्' दोनों पदों का सम्बोधनात्मक प्रयोग उपलब्ध है। ऐसे स्थलों में इन दोनों का विशेष्य-विशेषण भाव स्पष्ट है—

हे अङ्गिरः! देने वाले, जीवन रूप हवि देने वाले (दाशुषे) का जो तुम कल्याण

---

२०. **ऋग्वेद भाष्य** ३. ३१. ७।

२१. **वही**, ५. ४५. ७।

२२. **शतपथ** १. ४. १. २५ **अङ्गिरा उ ह्यग्निः**, ६. ४. ४. ४ **अङ्गिरा वा अग्निः**।

२३. **अष्टाध्यायी**, (सं० वी० एस० पाठक, पूना, १९३५) ८. १. १९।

करते हो वह तुम्हारे सम्बन्ध में ही सत्य है (अन्य कोई भी उतना कल्याण नहीं कर सकता जितना तुम करते हो[२४])।

हे तेज के पुत्र अङ्गिरः ! तुम जिसके दूत हो तथा हव्य-भक्षण के लिये जिसके घर जाते हो उस यजमान को लोग सुहव्य, सुदेव तथा सुबर्हिष् कहते हैं, अर्थात् वही सुन्दर हवि, देवता तथा आसन वाला माना जाता है[२५]।

हे अङ्गिरः ! तुम हमारी स्तुतियों को सुनो[२६]।

हे अङ्गिरः ! हमारे अध्वर का, यज्ञ का, सेवन करो तथा हमारी पुकार को सुनो[२७]।

हे प्रदीप्त अङ्गिरः ! मुझ मर्त्य की पुकार को यश तथा तेज के साथ सुनो[२८]।

हे अङ्गिरस् ! तुम हमारी (जीवन-) हवि का सेवन करो[२९]।

हे अङ्गिरः ! तुमको हम समिधाओं से और घृत से बढ़ाते हैं। हे युवकतम ! तुम विस्तृत, विशाल रूप से चमको[३०]।

---

२४. ऋग्वेद १. १. ६, यदङ्ग दाशुषे भद्रं करिष्यसि ।
तवेतत् सत्यमङ्गिरः ॥

२५. वही, १. ७४, ४-५, यस्य दूतो असि क्षये वेषि हव्यानि वीतये ।
दस्मत् कृणोष्यध्वरम् ॥
तमित् सुहव्यमङ्गिरः सुदेवं सहसो यहो ।
जना आहुः सुबर्हिषम् ॥

२६. वही, ४. ३. १५, उत ब्रह्माण्यङ्गिरो जुषस्व सं ते शस्तिर्देववाता जरेत ।

२७. वही, ४. ९. ७ अस्माकं जोष्यध्वरमस्माकं यज्ञमङ्गिरः ।
अस्माकं शृणुधी हवम् ।

२८. वही, ५. ८. ४,
स नो जुषस्व समिधानो अङ्गिरो देवो मर्तस्य यशसा सुदीतिभिः ॥

२९. वही, ६. २. १०, जुषस्व हव्यमङ्गिरः ।

३०. वही ६. १६. ११, तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥

हे तेज अथवा शक्ति के पुत्र अङ्‌गिरस् ! अध्वर में स्रुक् (घृत को हवि देने की कलछी) तुम्हें प्राप्त होते हैं। तुम पराक्रम के पौत्र, घृत-युक्त केश वाले (घृत-युक्त ज्वाला वाले) तथा यज्ञ में सबसे पूर्व उपस्थित होने वाले, अग्नि हो[३१]। हे अङ्‌गिरस् ! नेमि को ऋभुओं के समान (जिस प्रकार ऋभु अथवा दिव्य शिल्पी रथ-नेमि को उत्तम रूप से बनाते हैं उसी प्रकार) पुकारों के द्वारा इस यज्ञ को अपने समीप उत्तम रूप से प्राप्त करो[३२]।

हे अङ्‌गिरः ! तुझ कवि, हव्यवाहक एवं अमर्त्य को देवों ने, माता की तरह, उत्पन्न किया।[३३]

इन स्थलों में अग्नि देव के लिये केवल 'अङ्‌गिरः' शब्द का प्रयोग किया गया है, उसके विशेष्यभूत 'अग्नि' शब्द का प्रयोग अनुपलब्ध है। अतः इन स्थलों में 'अग्नि' पद का अध्याहार करके विशेष्य-विशेषण भाव की संगति लगानी होगी अथवा 'अङ्‌गिरस्' और 'अग्नि' को वाच्य-वाचक रूप से अभिन्न मानना होगा।

नीचे वे स्थल प्रस्तुत हैं जहाँ 'अग्नि' तथा 'अङ्‌गिरस्' दोनों पदों का सम्बोधन में प्रयोग हुआ है। इन स्थलों में 'अग्नि' पद को विशेष्य तथा 'अङ्गिरस्' को विशेषण मानना होगा। इन मन्त्रों में निम्नलिखित भाव अंकित है—

हे पवित्र अङ्गिरः ! तुम मनु, अङ्‌गिराः तथा ययाति के समान पूर्ववत् अपने अपने सदन में आओ, दिव्य जन को लाओ, आसन पर बिठाओ तथा प्रिय यज्ञ करो[३४]।

हे अङ्‌गिरः अग्नि ! स्तुत एवं स्तूयमान तुम हम स्तोताओं को स्तुति करने के लिये असाधारण रयि दो तथा युद्धों में हमारी वृद्धि के लिये तुम बढ़ो[३५]।

---

३१. वही ८. ६०. २, अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्‌गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥

३२. वही ८. ७५. ५, तं नेमिमृभवो यथा नमस्व सहूतिभिः।
नेदीयो यज्ञमङ्‌गिरः ॥

३३. ऋग्वेद ८. १०२. १७ तं त्वाजनन्त मातरः कविं देवासो अङ्‌गिरः। हव्यवाहममर्त्यम् ॥

३४. वही १. ३१. १७, मनुष्वदग्ने अङ्‌गिरस्वदङ्‌गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे। अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम् ॥

३५. वही ५. १०. ७ त्वं नो अग्ने अङ्‌गिरः स्तुतः स्तवान आ भर।
होतर्विभ्वासहं रयिं स्तोतृभ्यः स्तवसे च न उतैधि पृत्सु नो वृधे ॥

हे अग्नि ! प्रत्येक वन में आश्रित एवं रहस्य से समावृत अथवा हृदयरूप गुफा में स्थित तुमको अङ्गिरसों ने प्राप्त किया । हे अङ्गिरः ! वह तुम मथने से उत्पन्न होते हो, प्रकट होते हो, तुझ तेज के पुत्र को तेज की महत्ता कहते हैं[३६] ।

हे अङ्गिरः ! हम मनुष्य बनकर तुम्हें (अपने अन्तर्हृदय की वेदी में) स्थापित करते हैं । मनुष्य के समान तुम्हें प्रदीप्त करते हैं । तुम, मनुष्य के समान दिव्यताओं की कामना वाले साधक को (दिव्य गुणों से) सुसंगत करो[३७] ।

हे अङ्गिरः, पावक अग्ने ! जिस तुम को गोपवन (व्याख्याकार सातवलेकर के अनुसार 'वाणी का पति') अपनी स्तुति से अतिशय बलशाली बनाता है, वह तुम हमारी पुकार को सुनो[३८] ।

हे पराक्रम के पौत्र अङ्गिरः देव ! तुझ श्रेष्ठ एवं मन्युयुक्त के लिये किस वाणी से स्तुति करूँ[३९] ।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'अङ्गिरस्' पद का सम्बोधन एक वचन में प्रयोग मिलता है तथा मन्त्र का देवता अश्विनौ है । 'अङ्गिरस्' पद के साथ कोई क्रिया भी नहीं दिखलायी देती है । एकवचनान्त होने के कारण 'अङ्गिरस्' पद की संगति 'अश्विनौ' के साथ नहीं लग सकती । इसलिये आचार्य सायण[४०] ने यह कल्पना की है कि 'अङ्गिरस्' यहाँ ऋषि का नाम है । अङ्गिरा ऋषि स्वयं अपने आपको सम्बोधित करके अश्विनों की स्तुति करने के लिये प्रेरित करता है । स्कन्द स्वामी[४१] ने यहाँ 'अङ्गिरस्' शब्द का अर्थ अङ्गिरस् सम्बन्धी

---

३६. वही ५. ११. ६,

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वने वने ।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥

३७. वही ५. २१. १, मनुष्वत् त्वा नि धीमहि मनुष्ववत् समिधीमहि ।

३८. वही ८. ७४. ११ यं त्वा गोपवनो गिरा चनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥

३९. वही ८. ८४. ४, कया ते अग्ने अङ्गिरः ऊर्जो नपादुपस्तुतिम् ।
वराय देव मन्यवे ॥

४०. द्र०, सायण भाष्य, ऋ०, १. ११२. १८ ।

४१. स्कन्दस्वामी भाष्य (विश्वबन्धु सम्पा०, होशियारपुर, १९६३) १. ११२. १८, अङ्गिरश्शब्देन अत्राङ्गिरःसम्बद्धाश्विनौ उच्येते ।

अश्विनौ' किया है अर्थात् अङ्गिरस् ऋषि द्वारा स्तुत्य। वेंकट माधव[४२], 'अङ्गिरस्' पद को विशुद्ध यौगिक मानते हुए तथा उसे अश्विनौ का विशेषण मानते हुए, इस पद का अर्थ **'गमनशीलौ अश्विनौ'** करते हैं। इन दोनों ही व्याख्याकारों ने 'अङ्गिरस्' पद में, व्यत्यय के सिद्धान्त के आधार पर, द्विवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग माना है। मुद्गल[४३] ने अपनी व्याख्या में सायण का ही अनुसरण किया है। स्वाभाविकता की दृष्टि से 'अङ्गिरः' को अश्विनों का विशेषण मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

मन्त्र का अभिप्राय है—हे गमनशील अश्विनौ! तुम दोनों मन से जिन संरक्षणों के द्वारा स्तोताओं को आनन्दित करते हो तथा गो-प्रवाहों के मूल में सबसे आगे पहुँचते हो और जिन संरक्षणों से वीर मनुष्य की सम्पत्ति से (उसे सम्पत्ति देकर) रक्षा करते हो उसके साथ हमारे पास भी आओ"[४४]।

एक अन्य मन्त्र में मन्त्र का देवता वृहस्पति है तथा उसके लिये 'अङ्गिरस्' सम्बोधन विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। सायण ने इसकी व्याख्या में वृहस्पति को 'अङ्गिरस्' माना है। मन्त्र का अभिप्राय है—"हे आङ्गिरस् वृहस्पति! इन्द्र की सहायता से जब तुमने गायों के समूह को ऊपर की ओर प्रेरित किया तथा अन्धकार से आच्छादित जल-समूह को नीचे की ओर भेजा तब गायों (को छिपाने वाला, उन्हें सुरक्षित रूप से रखने वाला) का पर्वत तुम्हारे श्रेय के लिये उन्मुक्त (द्वार वाला) हो गया"[४५]।

अब तक **ऋग्वेद** के उन मन्त्रों का संक्षिप्त भाव प्रस्तुत किया गया जिनमें 'अङ्गिरस्' पद केवल अथवा 'अग्नि' पद के साथ सम्बोधन के रूप में तथा एक स्थल पर अश्विनौ और दूसरे स्थल पर वृहस्पति के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

---

४२. द्र० वही।

४३. द्र०, वही।

४४. वही, १. ११२. १८—

> याभिरङ्गिरो मनसा निरण्यथोऽग्रं गच्छथो विवरे गोअर्णसः।
> याभिर्मनुं शूरमिषा समावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥

४५. ऋ० २. २३. १८—

> तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
> इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥

इन स्थलों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'अङ्गिरस्' पद यहाँ, ऋषि का वाचक न होकर, अग्नि देव का तथा अश्विनों और बृहस्पति का विशेषण है। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'अङ्गिरस्' के विशेष्यभूत 'अग्नि' शब्द का अर्थ, आध्यात्मिक के अनुसार, ब्रह्म अग्नि है। यज्ञाग्नि अथवा अन्य किसी प्रकार की पार्थिव अग्नि, वैद्युत अग्नि अथवा सौर्य अग्नि का कारणभूत यह ब्रह्माग्नि ही अग्नि शब्द का वास्तविक एवं प्रधानरूप से अभिप्रेत अर्थ है। यज्ञ-अग्नि उस ब्रह्म-अग्नि का स्थूल, पर एकदम सटीक, प्रतीक है। नैरुक्तों के अनुसार भले ही वह—अग्नि पार्थिव, अन्तरिक्षीय, तथा द्युस्थानीय इस रूप में—तीन प्रकार की हो, पर इन सभी में उस मौलिक अग्नि (ब्रह्म-अग्नि) की शक्ति ही कार्यरत है, उसी के प्रकाश से ये सभी प्रकाशित हैं[४६]। वही सबकी प्रकृति है तथा सब नाम उसी के हैं[४७]। नैरुक्त प्रक्रिया के पोषक आचार्य यास्क ने भी एक मन्त्र की व्याख्या में इस ब्रह्माग्नि को विशेष्य (वाच्य) माना है तथा इन्द्र, मित्र, वरुण इत्यादि सभी अन्य देवता-वाचक शब्दों को विशेषण (वाचक) माना है[४८]।

**ऋग्वेद** के अनेक मन्त्रों में अग्नि के लिये असाधारण, सर्वातिशायी, अतिभव्य विशेषणों से मण्डित वर्णन उपलब्ध है। उसे—मर्त्यों में अमर्त्य, प्रकृष्ट चेतना वाला, कवि के संकल्प से युक्त, सत्य द्रष्टा, सत्य श्रोता इत्यादि—कहा गया है[४९]। ये कथन इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि वेदों में 'अग्नि' पद का प्रधान एवं परम अर्थ ब्रह्मरूप अग्नि है[५०] और सभी अर्थ उसकी अपेक्षा गौण हैं, व्यावहारिक हैं। अग्नि की इस प्रमुख विशेषता को ध्यान में रखते हुए अङ्गिरस् के स्वरूप के सम्बन्ध में यहाँ कुछ विचार प्रस्तुत किया जाता है।

**ऋग्वेद** ५. ११. ६ (द्र० पूर्व पृष्ठ ५, पा० टि० सं० ४) में अग्नि के सम्बन्ध

---

४६. तु० कठोपनिषद् ५. १५,

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

४७. द्र० निरुक्त, ७. ४, महाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च।

४८. द्र० निरुक्त, ७. १८, इममेवाग्निं महान्तमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति। इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं च गरुत्मन्तम्।

४९. द्र०, ऋ० १. १. ५; १. ७७. १; ५. २५. ४; ६. ५. ५; ७. ४. ४।

५०. द्र०, यजुर्वेद ४. ११, व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः।

में यह कहा गया है कि 'यह अग्नि गुहाहित' है, अर्थात् रहस्य से आच्छादित है अथवा हृदयरूप गुहा में स्थित है[५१]। इसे अङ्गिरसों ने प्राप्त किया और वह मथने से उत्पन्न होता है तथा उसे तेज की महत्ता कहते हैं। यहाँ 'अङ्गिरस्' शब्द का उभयविध—अङ्गिरस् ऋषि के नाम के रूप में तथा अग्नि देव के विशेषण के रूप में—प्रयोग मिलता है। अग्नि का मन्थन करके उसे प्रकट करने वाले ऋषि को अङ्गिरस् कहा गया है।

यहाँ के 'वने-वने' शब्द का अर्थ सेवनीय, सम्भजनीय[५२] (आदर्श साधक) किया जा सकता है, जिसके हृदय में दिव्य संकल्प की अग्नि अव्यक्त रूप से विद्यमान है। मथने से—निरन्तर तपस्या, संयम एवं साधना के संघर्षपूर्ण जीवन से—यह अग्नि प्रकट होती है (स जायसे मथ्यमानः)। इसी दृष्टि से उपनिषद्[५३] में कहा गया है कि अपने शरीर को नीचे की अरणि तथा भगवान् के नाम (प्रणव) को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान की प्रक्रिया से मथने का अभ्यास करके सुगुप्त देव को प्रकट किया जा सकता है।

ऋग्वेद ६. १६. ११ (द्र० पूर्व पृष्ठ ४, पा० टि० सं० ७) में समिधा तथा घृत से अग्नि को बढ़ाने की बात कही गई है। यहाँ समिधा तथा घृत का रूपक अथवा प्रतीक यज्ञ की प्रक्रिया से लिया गया है। परन्तु इन्हें वहीं तक सीमित नहीं मानना चाहिये। अग्नि के लिये इस मन्त्र में 'बृहत् रूप से चमकने' (**बृहच्छोचा**) की शुभ कामना यह संकेत देती है कि यहाँ अध्यात्म अग्नि को जीवन में प्रदीप्त करने, उससे जीवन को पूर्णतः परिमार्जित करने तथा अध्यात्म तेज से जीवन को तेजस्वी बनाने की भावना ऋषि को अभिप्रेत है।

ऋग्वेद ५. १०. ७ (द्र० पूर्व पृष्ठ ५, पा० टि० सं० ३) में अङ्गिरस् अग्नि से जो यह प्रार्थना की गई है कि "वह स्तोता को व्यापक एवं अपराजेय (विभ्वासह) रयि (सम्पत्ति) प्रदान करे तथा युद्धों में हमारी वृद्धि के लिये वह स्वयं भी वृद्धि को

---

५१. परमतत्त्व के गुहा-हित होने की बात वेदों में अन्यत्र भी कही गयी है। द्र० यजुर्वेद ३२. ८, **वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।**

**तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥**

५२. द्र० धातुपाठ धातु सं० ४६३-६४, **वनषणसम्भक्तौ।**

५३. **श्वेताश्वतरोपनिषत्** २. १. १४

**स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।**

**ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥**

प्राप्त हो," इस प्रार्थना में युद्ध को, आसुरी वृत्तियों के साथ दैवी वृत्तियों के, संघर्ष का प्रतीक माना जा सकता है। जब अग्नि (दिव्य संकल्प) बढ़ा हुआ होगा तभी इस युद्ध में आसुरी शक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है तथा साधक की वास्तविक वृद्धि अथवा उन्नति हो सकती है।

**ऋग्वेद** २. २३. १८ (द्र० पूर्व पृष्ठ ६, पा० टि० सं० ६) में गायों के गोत्र (समूह) को ऊपर की ओर प्रेरित करने तथा अन्धकार से आच्छादित जल-प्रवाह को अन्धकार से उन्मुक्त करके नीचे की ओर प्रेरित करने के लिये अङ्गिरस् बृहस्पति से जो प्रार्थना की गई है उसका भी प्रतीक की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। दिव्य ज्ञान-रश्मि तथा अन्तश्चेतना ही यहाँ क्रमशः गायों के गोत्र (गो-समूह अथवा गायों को छिपाने वाला पर्वत) एवं जल-प्रवाह के रूप में अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। अध्यात्मसाधक की साधना में सत्ता के तमोमय निश्चेतन समुद्र से परिमार्जित एवं समुन्नत चेतना की रश्मियाँ ऊपर की ओर गति करती हैं तथा ऊर्ध्व चेतना का समुद्र अपनी सत्य, ज्योति तथा आनन्द की लहरियों को नीचे की ओर, साधक की अन्नमय सत्ता की ओर, भेजता है[५४]।

इस प्रकार गो-समूह (गवां गोत्रम्) को ज्ञान रश्मियों के समूह तथा जलधाराओं (अपाम् और्णवम्) को दिव्य चेतना का प्रवाह मानने पर वेद के ये स्थल बड़े महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं तथा आध्यात्मिक साधना एवं आध्यात्मिक आरोहण के गीत का रूप ले लेते हैं।

इस मन्त्र में 'अङ्गिरः' पद 'बृहस्पते' का विशेषण है। बृहस्पति (ब्रह्म अथवा वेदवाणी का अधिपति[५५]) वह परमात्मा है जो दिव्य चेतना के रूप में अध्यात्म-साधक के हृदय में प्रादुर्भूत होता है। अध्यात्म तेज से जाज्वल्यमान अथवा अत्यधिक प्रदीप्त एवं प्रकाशित होने के कारण चेतना को 'अङ्गिरस्' कहा गया है। यह दिव्य चेतना जब साधक में प्रकट होती है तो ज्ञान की रश्मियाँ चेतना के निम्न स्तर से ऊपर की ओर तथा ऊपर की चेतना से नीचे की ओर प्रवाहित होती हैं और इस प्रकार उसकी सम्पूर्ण चेतना, भावना तथा अनुभूति सभी कुछ दिव्य बन जाता है।

सम्भवतः इसी दृष्टि से इस दिव्य चेतनामयी अग्नि को ऋग्वेद के अनेक

---

**५४. द्र०, अग्निमन्त्रमाला, पृ० ७२-७३।**

**५५. द्र० छान्दोग्योपनिषत् १. २. ११, वाग् हि बृहती, तस्या एष पतिः।**

मन्त्रों में 'अङ्गिरस्तम' शब्द के द्वारा भी सम्बोधित किया गया है तथा उससे निम्नलिखित प्रार्थना की गयी है—

हे विधातृतम (विधाताओं में श्रेष्ठ) अङ्गिरस्तम अग्निदेव ! हम तुम्हारे लिये सेवन योग्य प्रिय वाणी का उच्चारण करें[५६]। हे अङ्गिरस्तम अग्नि ! वे सभी प्रजाएँ कामनाओं की पूर्ति के लिये तुमसे प्रार्थना करती हैं[५७]। हे अङ्गिरस्तम अग्नि ! जिस तुम को (साधक) जन या लोग प्रदीप्त करते हैं वह तुम हमारी पुकार को सुनो[५८]। हे अङ्गिरस्तम ! इन (जीवन) हवियों का निरन्तर सेवन करते हुए (जीवन) यज्ञ को ऋतु के अनुकूल (प्रत्येक अवसर पर) आगे बढ़ाओ, समुन्नत करो[५९]।

यहाँ के 'अग्ने नय' अंश से 'अग्नि' शब्द के निर्वचन 'अग्रणीर्भवति'[६०] का मूल आधार प्राप्त हो जाता है जो 'अग्नि' तथा 'अङ्गिरः' के विशेष्य-विशेशण भाव का पोषक है।

सामान्य अथवा भौतिक अग्नि को भी अङ्गिरा कहा जा सकता है। वेद-मन्त्रों का प्रथम बार पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार का अर्थ करने वाले, अद्भुत मेधा-सम्पन्न, स्वामी दयानन्द ने 'अङ्गिरस्' पद का—ईश्वराग्नि तथा मौलिक अग्नि—दोनों प्रकार का अर्थ किया भी है,[६१] क्योंकि सामान्य अग्नि में भी स्वयं प्रकाशयुक्त होने, अन्यों को प्रकाशित करने, प्रज्वलित होने तथा परिमार्जित करने का गुण विद्यमान है। परन्तु सामान्य अग्नि की अपेक्षा ब्रह्माग्नि का विशेष

---

५६. ऋग्वेद १. ७५. २, अथा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम्।
वोचेम ब्रह्म सानसि॥

५७. ऋग्वेद ८. ४३. १८, तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितयः पृथक्।
अग्ने कामाय येमिरे॥

५८. ऋग्वेद ८. ४३. २७, यं त्वा जनास इन्धते मनुष्वदङ्गिरस्तम।
अग्ने स बोधि मे वचः।

५९. वही ८. ४४. ८, जुषाणो अङ्गिरस्तमेमा हव्यान्यानुषक्।
अग्ने यज्ञं नय ऋतुथा॥

६०. निरुक्त, ७. १४, अग्निः कस्मात्। अग्रणीर्भवति।

६१. द्र० वैदिककोष, राजवीरशास्त्री (आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, १९७५)।

रूप से बोध ऋषि को इन मन्त्रों में अभीष्ट प्रतीत होता है। इसी कारण इन मन्त्रों में 'अङ्गिरस्तम' (अत्यधिक प्रज्ज्वलित), 'वेधस्तम' (विधान, रचना तथा सृष्टि करने में अत्यन्त समर्थ) जैसे 'तमप्' प्रत्ययान्त विशेषणों का प्रयोग किया गया है। इन 'तमप्' प्रत्ययान्त 'अङ्गिरस्तम' जैसे विशेषणों के प्रयोग से भी यह स्पष्ट है कि इन प्रसंगों में 'अङ्गिरस्' पद, किसी व्यक्ति अथवा ऋषि-विशेष का नाम न होकर विशेषण मात्र हैं।

'अग्नि' के विशेषण के रूप में 'अङ्गिरस्तम' पद का प्रयोग ऋग्वेद में प्रथमा अथवा द्वितीया विभक्ति के एक वचन में भी मिलता है। प्रथमा विभक्ति का प्रयोग जिस मन्त्र में हुआ है उसका आशय है—"हे अग्नि ! तुम अङ्गिरस्तम हो, कवि हो तथा देवों के कर्मों को अलंकृत करते हो[६२]"। द्वितीया विभक्ति में 'अङ्गिरस्तम' शब्द का प्रयोग जिस मन्त्र में हुआ है उसमें यह प्रार्थना की गई है कि—"अङ्गिरस्तम अग्नि को हमारे संयमपूर्ण यज्ञ प्राप्त हों। वह होता है तथा प्रजाओं में सर्वाधिक यशस्वी है[६३]।"

अग्नि देव के अतिरिक्त इन्द्र, सोम तथा उषा के लिये भी ऋग्वेद में 'अङ्गिरस्तम' विशेषण-प्रयुक्त हुआ है[६४] है—क्योंकि वे भी प्रकाश के देवता हैं तथा आध्यात्मिक व्याख्याताओं के अनुसार क्रमशः दिव्य चेतना, आनन्द तथा प्रकाश के प्रतीक हैं[६५]। ऋग्वेद १. ३१. १ में यह तथ्य स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया गया है कि मूलतः अग्नि ही अङ्गिरा है और वही ऋषि भी है। मन्त्र का भाव है—"हे अग्नि ! तुम (आद्य) अङ्गिराः हो, ऋषि हो, देवों में देव हो, कल्याणकारी हो तथा सखा हो। तुम्हारे कर्म में (कर्म के अनुसार) क्रान्त द्रष्टा (दूरदर्शी), ज्ञानयुक्त कर्म वाले तथा तेजस्वी मरुत् प्रकट होते हैं। मरुतों को एक अन्य मन्त्र में सत्य-द्रष्टा,

---

६२. ऋग्वेद १. ३१. २, त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परि भूषसि व्रतम्।

६३. ८. २३. १० अच्छा नो अङ्गिरस्तमं यज्ञासो यन्तु संयतः।
होता यो अस्ति विक्ष्वा यशस्तमः॥

६४. द्र० इन्द्र के लिये 'अङ्गिरस्तम' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद १. १००. ४; १. १३०. ३ में, सोम के लिये ९. १०७. ६ में तथा उषा के लिये ऋग्वेद ७, ७५. १; ७. ७९. ३ में उपलब्ध है।

६५. द्र० वेदरहस्य पृ० १११-१२, १७२-८०।

तरुण, अमर सत्यवेत्ता, सत्य-श्रोता देव कहा गया है[६६]। स्पष्ट है कि अध्यात्म-साधक की अदम्य शक्ति, जो इन विशेषताओं से युक्त है तथा दैवी संकल्प अथवा भागवत चेतना से सुनियमित होकर अपना कार्य करती है, उसे ही सम्भवतः 'मरुत्' शब्द द्वारा संकेतित किया गया है। यहीं ऋग्वेद १. ३१. २ में पुनः इसी बात को और प्रबल शब्दों में कहा गया है कि "हे अग्ने! तुम प्रथम अङ्गिरस्तम हो, कवि हो, देवों के कर्म को अलंकृत करने वाले हो" इत्यादि।

एक अन्य मन्त्र में अग्नि को 'अङ्गिरसों में ज्येष्ठ' कहा गया है[६७]। ऋग्वेद १० ६७. २ में यह कहा गया है कि "ऋत का शंसन करते हुए ऋजु मार्ग का ध्यान करते हुए, प्राण-शक्ति एवं दिव्यता के पुत्र वीर अङ्गिरस्, प्रेरक बनकर यज्ञ के मूल (अग्नि) का सर्वप्रथम स्तवन करते हैं"।

इस प्रकार, ऋग्वेद के इन स्थलों के अध्ययन से, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कम से कम ऋग्वेद के इन मन्त्रों में 'अग्नि' तथा 'अङ्गिरस्' शब्द विशेष्य-विशेषणभाव से सम्बद्ध हैं अथवा अङ्गिरस् अग्नि की वह विशेषता है जो अग्नि से ही उत्पन्न होती है। जिन ऋषियों ने इस विशेषता को, दैव्य अग्नि अथवा आत्म-चैतन्य के अंगारे को, जीवन में प्रकट किया, अनुभव किया, चरितार्थ किया, वे भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुए, उन्हें भी 'अङ्गिरस्' नाम दिया गया है। ये अङ्गिरस् ऋषि ही कुछ समय बाद पितर कहलाये। अङ्गिरस् ऋषियों का उल्लेख ऋग्वेद में इन्द्र और वृत्र तथा पणि आदि के प्रसंगों में अनेक बार हुआ है, वह अलग विचारणीय विषय है।



---

६६. ऋग्वेद ५. ५७. ८, हये नरो मरुतो मृळा नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥

६७. ऋग्वेद १. १२७. २, यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र....।

# वेदव्याख्या में कर्मकाण्ड-सिद्धान्त की भूमिका

डा० कृष्ण लाल

दिल्ली

The ritual explanation and application of each and every mantra of the Vedas even through false etymologies and far-fetched imaginations makes the Vedas more unintelligible. The commentators only followed the tradition of the Brahmaṇas and Kalpa-sūtras. In fact, the true sense of the Vedas can be grasped only by the independent study of the mantra itself.

वेदव्याख्या में कर्मकाण्ड-सिद्धान्त की भूमिका पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रही है क्योंकि अधिकांश वेदभाष्यों का आधार यही है। सुप्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव, सायण, उव्वट एवं महीधर यद्यपि कुछ स्थानों पर आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ भी देते हैं, परन्तु अधिकांशतः उनकी व्याख्या कर्मकाण्ड-परक ही है।

वस्तुतः कर्मकाण्डपरक-व्याख्या की आधारभूमि ब्राह्मण ग्रन्थों में ही निर्मित हो गई थी। ब्राह्मणों का प्रमुख विषय यज्ञ-विद्या की व्याख्या है। श्रौतसूत्रों में जिस जटिल कर्मकाण्ड का सूक्ष्म वर्णन प्राप्त होता है, उसका सूत्रपात ब्राह्मणों में हो चुका था। उसी प्रसंग में ब्राह्मणों में यज्ञ क्रियाओं में मन्त्रों का विनियोग निर्दिष्ट है और उनकी व्याख्या भी की गई है। इन्हें ही हम वेदव्याख्या के प्रथम प्रयास कह सकते हैं। इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि संहिताओं और ब्राह्मणों में पर्याप्त कालान्तर है जिससे ब्राह्मणों में मन्त्रों की व्याख्या की आवश्यकता समझी गई। यह भी सम्भव है कि मन्त्रों को कर्मकाण्ड के अनुकूल सिद्ध करने के लिये उनकी विशेष व्याख्या की आवश्यकता पड़ी हो। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यापक दृष्टि से यज्ञ-सामान्य के अनुकूल कुछ मन्त्रों के होने पर भी सभी मन्त्र जटिल कर्मकाण्ड के अनुकूल नहीं रहे होंगे। उदाहरणार्थ दर्शपूर्णमास याग के आरम्भ में श० ब्रा० १।७।१।२ में, 'इषे त्वोर्जे त्वा' मन्त्रांश का विनियोग शाखाच्छेदन निमित्त दर्शाया गया है 'तमा-

च्छिनत्ति' परन्तु मन्त्र के शब्दों से ऐसा कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। 'त्वा' को किसी अन्य पदार्थ का प्रतिनिधि भी माना जा सकता है। इसी प्रकार 'द्यौरसि पृथिव्यसि' मन्त्रांश का विनियोग उखा को ग्रहण करने की क्रिया में किया गया है **(अथोखामादत्ते-द्यौरसि पृथिव्यसीति—श० ब्रा० १।७।१।११)** जब कि मन्त्र में ऐसा संकेत नहीं है। इसीलिये इसकी सार्थकता सिद्ध करने के निमित्त कहा गया है कि इस मन्त्र के द्वारा उखा की उपस्तुति करता है, उसका महत्त्व प्रतिपादित करता है।[1] इसके अतिरिक्त **वा० सं०** और **श० ब्रा०** के क्रम में भेद भी ध्यातव्य है। **वा० सं०** का प्रारम्भ **'इषे त्वा'** आदि मन्त्र से होता है जब कि श० ब्रा० में सर्वप्रथम व्रत धारण करने के निमित्त **'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' (वा० सं० १।५)** का विनियोग बताया गया है। यदि मन्त्र मूलतः विनियोगार्थ होते तो मन्त्रक्रम और विनियोगक्रम एक ही होने चाहिये थे।

ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रारम्भ किये गये इस मन्त्र विनियोग का और अधिक विस्तार श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में हुआ। एक एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म यज्ञक्रिया के लिये किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध, अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध अथवा नितान्त असम्बद्ध कोई न कोई मन्त्र जोड़ा ही गया है। ऐसे स्थानों पर गो० ब्रा० (२।२।६) के उस वचन की भी अवहेलना हो जाती है जिसके अनुसार यज्ञ की समृद्धि इसी बात में है कि उसमें कर्म ऋचा अथवा यजुर्मन्त्र के अनुकूल हो।[2] 'इषे त्वोर्जे त्वा' आदि के उदाहरण ऊपर भी दिये जा चुके हैं। इसी प्रकार आ० श्रौ० (१०।६) में अश्वमेध यज्ञ में सवन के पश्चात् तीन सावित्री इष्टियों का विधान है। उनमें से द्वितीय इष्टि की याज्या के रूप में **'आ देवो यातु सविता'**—इत्यादि[3] का विनियोग किया गया है। यहाँ केवल इसी सावित्री ऋचा के विशेष विनियोग का कोई विशेष औचित्य नहीं दिखाई देता। कुछ गृह्यसूत्रों[4] में वरवधू द्वारा दधि-भक्षणनिमित्त **'दधिक्राव्णोऽकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः'** इत्यादि[5] मन्त्र का विनियोग केवल मन्त्र के आद्य दो अक्षरों के आधार पर किया गया प्रतीत होता है यद्यपि प्रसंगानुसार यह दधिक्रा अश्व के विषय में है और इसका दही से कोई सम्बन्ध नहीं।

सम्भवतया ऐसे विनियोगों को देखकर ही आदित्यदर्शन अपनी **पाकयज्ञविवृति**

---

१. **उपस्तौत्येवैनामेतन्महयत्येव यदाह द्यौरसि पृथिव्यसीति।**

२. **एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति।**

३. **ऋ० ७।४५।१।**

४. **शां० गृ० १।१७।१; का० गृ० २८।५; वा० गृ० १५।२।**

५. **ऋ० ४।३९।६।**

में यह कहने को बाध्य हुआ कि—"प्रायः सभी पुरोहित वेद पढ़ने में लगे रहते हैं, परन्तु कभी भी उसमें से एक शब्द का भी अर्थ नहीं समझते। वेद के पठनमात्र से ही अपने आपको कृतकृत्य समझते हुए वे घर में उसी प्रकार निष्फल गर्जना करते हैं जैसे शरद् ऋतु के मेघ। वे परस्पर एक दूसरे को कहते हैं कि हमें वेद के अर्थ से क्या लेना, और यह कर वेदार्थ ज्ञान में लगे हुए अर्थज्ञ विद्वानों का उपहास करते हैं।"[६]

वेदार्थ के विषय में यह उपेक्षा और मन्त्रों के मूल उद्देश्य से हटकर विनियोग की यह प्रवृत्ति आगे के युग में लगभग वेदव्याख्या पर पूर्णरूपेण छा गई। सम्भवतया इसीलिये स्कन्दस्वामी, उव्वट, वेंकट, महीधर, सायण प्रभृति भाष्यकारों ने अपने भाष्य इस विनियोगपरक कर्मकाण्ड पर आधारित किये हैं और सभी मन्त्रों के अर्थों की संगति येन केन प्रकारेण तत्तत् से बिठाई है। ऐसा करने में बहुधा कठिनाई सामने आई, उन्हें मन्त्रों के शब्दों के दूराकृष्ट अर्थ करने पड़े। इस प्रक्रिया में कई बार कृत्रिम निर्वचनों, कल्पनाओं तथा व्यत्ययों का आश्रय लेना पड़ता है।

उदाहरणार्थ निम्नलिखित मन्त्र लिया जा सकता है—

**स्रक्वे द्रप्सस्य धमतः समस्वरन्**

**ऋतस्य योना समरन्त नाभयः।**

**त्रीन्त्स मूर्ध्नो असुरश्चक्र आरभे**

**सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्॥** (ऋ० ९।७३।१)

आ० श्रौ० (४।६) का अनुसरण करते हुए सायण ने इस मन्त्र से आरब्ध सम्पूर्ण सूक्त का विनियोग सोमयाग से पूर्व प्रवर्ग्य में अभिष्टव के अन्तर्गत निर्दिष्ट किया

---

६. **इहैतेच्छान्दसाः प्रायः सर्वे वेदमधीयते।**
**पदमप्येकमेतस्मान्न बुध्यन्ते कदाचन॥**
**पाठमात्रेण वेदस्य मन्यमानाः कृतार्थताम्।**
**गर्जन्ति श्रोत्रिया गेहे निष्फलं शरदभ्रवत्॥**
**अर्थेन किं नो वेदस्य वदन्ति इति ते मिथः।**
**अर्थज्ञानसमासक्तानर्थज्ञान् विहसन्ति च।**

(पं० मधुसूदन कौल द्वारा लौगाक्षिगृह्यसूत्र की भूमिका (पृ० ७-८) में पाण्डुलिपि से उद्धृत)।

है ।[७] तदनुसार सृक्व (ओष्ठप्रान्त) को यज्ञ का जबड़ा या अधिषवण फलक बताया है ।[८] ऋत का अर्थ यज्ञ बताया है, और 'नाभयः' सोमरस है ।[९] नाभि के सोमरस होने का कोई आधार नहीं बताया गया । तृतीय पाद का अर्थ यह किया गया है—'मनुष्यों, देवों आदि के संचरण के लिये सोम तीन ऊँचे लोकों को बनाता है'।[१०] अन्तिम पाद में "सत्यस्य नावः" का अर्थ करने के लिये सायण ने पहले तो सत्य को सोम बताया है और फिर नावः' को नौका के समान रखी हुई चार आदित्य, आग्रयण, उक्थ्य और ध्रुव हाँडियाँ ( स्थालियाँ ) बताया है ।[११] दूसरी ओर इसका सीधा सा अर्थ "सत्य की नौकायें" अर्थात् सत्यरूपी नौकायें (शोभन कार्य करने वाले को पार करती हैं, जीवन में सफल बनाती हैं)" होगा ।

इसी सूक्त के नवम् मन्त्र के निम्नलिखित पूर्वार्ध का सायणभाष्य भी ध्यान देने योग्य है—

> ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ
> जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया ।

सायण के अनुसार प्रथम पाद का अर्थ होगा—'सत्यरूप यज्ञ का विस्तारक (सोम) वस्त्र के छलने में फैला हुआ है ।'[१२] ऋत का अर्थ सत्य और यज्ञ सर्वथा सीधा न होते हुए भी किसी प्रकार संगत हो जाता है । परन्तु द्वितीय पाद के अर्थ में सायण को अर्थ सिद्ध करने में कठिनाई का अनुभव करना पड़ा है । उसने निम्नलिखित रूप में व्याख्या की है —'सोम वरुण की जिह्वा के आगे माया अर्थात् कर्म से स्थित है । वरुण की जिह्वा के आगे जल रहता है । उस जल में सोम रहता है, इस प्रकार वसतीवरी आदि जल में स्थित है, यह अर्थ हुआ ।'[१३] अब यहाँ वरुण की

---

७. प्रवर्ग्येऽभिष्टव एतत् सूक्तम् ।

८. सृक्वे यज्ञस्य हनुस्थानीये.....अधिषवणफलके ।

९. ऋतस्य सत्यभूतस्य यज्ञस्य.....नाभयः सोमरसाः ।

१०. सोमः समुच्छ्रितांल्लोकान् मनुष्यदेवादीनां सञ्चरणाय करोति ।

११. सत्यस्य सत्यभूतस्य सोमस्य नावो नौका इव स्थिताश्चतस्रः स्थाल्यः आदित्याग्रयणोक्थ्यध्रुवस्थाल्य इति ।

१२. ऋतस्य सत्यभूतस्य यज्ञस्य तन्तुस्तनिता पवित्रेऽविवालमये दशापवित्रे विततो विस्तृतः ।

१३. वरुणस्य जिह्वाया अग्रे मायया कर्मणा आ । आस्थितः । वरुणजिह्वाग्र आपस्तिष्ठन्ति । तासु सोमो वसतीति वसतीवर्याद्युदकेषु स्थित इत्यर्थः ।

जिह्वा की उपर्युक्त व्याख्या सायण ने इन शब्दों के यौगिक अथवा रूढ़ दोनों अर्थों की अवहेलना करके कर दी है। वरुण की जिह्वा क्या है, उसके अग्रभाग में जल कैसे होगा—इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं है।

इसी प्रकार **अथर्ववेद** पर सायणभाष्य का एक उदाहरण उपलक्षणार्थ लिया जा सकता है। **अथर्व०** २।२७ में पाठा नामक ओषधि की स्तुति है और उससे शत्रुओं को पराजित करने, विवाद के समय उन्हें शुष्ककण्ठ करने (परिणामतः प्रार्थी के कण्ठ को सशक्त करने) और विरोधी से उत्कृष्ट बनाने की प्रार्थना की गई है। स्पष्ट है कि पाठा का औषध-गुण कण्ठ को शक्ति प्रदान करने वाला है। इस प्रसंग में आयुर्वेदिक ग्रन्थ **भावप्रकाशनिघण्टु** द्रष्टव्य है जहाँ पाठा को कटु, तीक्ष्ण, वायु और श्लेष्मा का हरण करने वाली, हल्की, वेदना, ज्वर, वमन, कुष्ठ, अतिसार, हृदयरोग, दाह, खुजली, विष, श्वासरोग, कीड़ों, गुल्मों आदि के व्रणों को नष्ट करने वाली बताया गया है।[१४] इन गुणों में से वायु और श्लेष्मा का हरण तथा श्वास रोग का नाश, ये दोनों गुण वादविवाद से सम्बद्ध हैं क्योंकि इन रोगों से युक्त व्यक्ति में अधिक तथा ऊंचे स्वर में बोलने की क्षमता में कमी आ जाती है। स्वाभाविक रूप से पाठा का भक्षण द्वारा सेवन करने वाले व्यक्ति को वह (पाठा) प्रभावित करेगी। परन्तु सायण ने इस औषध गुण की उपेक्षा करके केवल **कौशिकसूत्र** के आधार पर इस सूक्त (**अथर्व०** २।२७) का विनियोग पाठा की जड़ को पीस कर बाँधने तथा सिर पर बाँधने के लिये पाठा के सात पदों से बनाई गई माला के अभिमन्त्रण के लिये बताया है।[१५] इन विनियोगों से इस सूक्त के प्रति जादू टोने की भावना जागृत होती है। वस्तुतः सूक्त के मन्त्रों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं है। एक मन्त्र में तो स्पष्ट ही इन्द्र द्वारा इसके भक्षण का उल्लेख है।[१६] इसके अतिरिक्त यह सर्वविदित है कि कालसूक्त (**अथर्व०** १९।५३) विशुद्ध दार्शनिक सूक्त है, परन्तु कर्मकाण्ड के मोह में सायण ने **अथर्व-परिशिष्ट** के आधार पर इसका विनियोग सुवर्णभूषण या भूमि के दान के प्रसंग में आज्यहोम की आहुतियों के लिये किया है।[१७] किन्तु सूक्त की

---

१४. पाठोष्णा कटुका तीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः। हन्ति शूलज्वरच्छर्दिकुष्ठातिसारहृद्रुजः। दाहकण्डुविषश्वासकृमिगुल्मगरव्रणान्॥ गुडुच्यादिवर्ग—१९१-९२।

१५. एवं पाठामूलं सम्पात्य अनेनाभिमन्त्र्य बध्नीयात्। एवमेवानेनाभिमन्त्रितां पाठामालां सप्तभिः पत्रैर्विरचितां शिरसि धारयेत्। (कौशिक० ३८-१८-२१)

१६. पाटामिन्द्रो व्याऽश्नादसुरेभ्यस्तरीतवे।

१७. कालो अश्वो वहतीति सूक्तद्वयस्य सौवर्णभूमिदाने आज्यहोमे विनियोगः, उक्तं हि परिशिष्टे अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम्। (अथर्व० परि० १०।१)।

सम्पूर्ण व्याख्या सायण को दार्शनिक ढंग से ही करनी पड़ी, वहाँ उक्त विनियोग तिरोहित हो गया।

उव्वट तथा महीधर को **वाजसनेयीसंहिता** के भाष्य में कर्मकाण्ड का अत्यधिक आग्रह होने के कारण कई बार अनोखी कल्पनायें करनी पड़ी है। पूर्वोद्धृत मन्त्र **'द्यौरसि पृथिव्यसि'** (वा० सं० १।२) का विनियोग उखाग्रहण के लिये बता कर उसकी संगति बिठाने के लिये उव्वट और महीधर कहते हैं कि द्युलोक में प्राप्त जल से निर्मित होने के कारण वह द्यौः है और पृथिवी से प्राप्त मिट्टी द्वारा निर्मित होने के कारण वह पृथिवी है।[१८]

आगे चलकर (वा० सं० १।४ में) आज्य के निमित्त दही जमाने के प्रसंग में **'इन्द्रस्य त्वा भागं सोमेनातनच्मि'** का विनियोग बताया गया है। अब मन्त्र में जमाने का साधन सोम उल्लिखित है। परन्तु महीधर के अनुसार सोम दही जमाने के लिये प्रयुक्त नहीं होता और उससे दही जमना सम्भव भी नहीं। वस्तुतः दधिशेष ही आतञ्चनार्थ प्रयुक्त होता है। अतः महीधर को कहना पड़ा कि सोम की भावना यजमान के मन में होने के कारण दही का ही सोमत्व हो जाता है। भावना के लिये उसने **वसिष्ठ स्मृति** का वचन उद्धृत किया है कि भावना के आधार पर ही कोई मित्र या शत्रु हो जाता है।[१९] वस्तुतः मन्त्र का उद्देश्य विनियोग न होने के कारण ही महीधर को इतना प्रयास करना पड़ा है।

कर्मकाण्डपरता की पराकाष्ठा और तदनुसार कृत्रिम निर्वचन का एक रोचक उदाहरण **वा० सं०** १।१६ के 'कुक्कुटोऽसि' शब्दों के उव्वट तथा महीधर के भाष्य में प्राप्त होता है। **का० श्रौ०** (२।४।१५) के प्रमाण पर जिस सिलबाट पर चावल पीसे जाते हैं उन्हें शम्या से टकराने के लिये ये शब्द विनियुक्त हैं। कुक्कुट के सामान्य लोक प्रसिद्ध अर्थ की संगति इस विनियोग से नही होती, अतः संगति बताने के लिये दो कृत्रिम निर्वचन दिये गये हैं। प्रथम के अनुसार असुरों के नाश के लिये असुर विनाशक कटु शब्द का विस्तार करता है, अतः शम्यारूप आयुध

---

**१८. उव्वट—सा यद्दिवोऽवयवभूतेनोदकेन क्रियते तेन द्यौरित्युच्यते। यत्पृथिव्यवयवभूतया मृदा क्रियते तेन पृथिव्युच्यते।**

**१९. यद्यप्यत्रातञ्चनहेतुर्दधिशेषस्तथापि भावनया तस्यैव सोमत्वं संपाद्यते। यथा कश्चित् पुमान् बन्धुत्वेन भावितो बन्धुर्भवति प्रातिकूल्येन भावितः शत्रुश्च। तदुक्तं वसिष्ठेन बन्धुत्वे भावितो बन्धुः परत्वे भावितः परः। विषामृतदृशैवेह स्थितिर्भावनिबन्धिनी॥**

कुक्कुट है (कुक् + कुट्)। दूसरे निर्वचन में क्व से सम्प्रसारण की कल्पना करके बताया गया है कि शम्या कुक्कुट है क्योंकि वह असुर नामक शब्द करता हुआ यह बोलता हुआ इधर उधर घूमता है कि 'कहाँ है असुर, कहाँ है असुर ?'[२०] (क्व + क्व + अट्)।

इन उदाहरणों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार कर्मकाण्ड-परक व्याख्या को मन्त्रानुकूल बनाने के लिये उद्भावनाओं, कल्पनाओं एवं कृत्रिम निर्वचनों का आश्रय लेना पड़ता है।

यास्क के समय तक भी याज्ञिकों अथवा कर्मकाण्डानुसार वेद की व्याख्या करने वालों का प्रतिष्ठित सम्प्रदाय विकसित हो चुका था। अनेक स्थानों पर यास्क ने 'याज्ञिकों' का उल्लेख किया है। परन्तु कहीं कहीं अत्यल्प स्थलों पर व्याख्या के लिये कर्मकाण्ड के प्रति संकेत भर किया है। उदाहरणार्थ नि० २।११ में व्याख्यात मन्त्र **'आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्'** आदि (ऋ० १०।९८।५) की भूमिका के रूप में यास्क ने इसे 'वर्षकाम सूक्त' बताया है।[२१] अन्यथा अधिकतर यास्क ने याज्ञिकों के मत को पूर्वपक्ष में रखकर उनकी आलोचना ही की है। उदाहरणार्थ अनादिष्ट-देवता मन्त्रों के प्रसंग में (नि० ७।४) यज या यज्ञांग के देवता को मन्त्र का देवता बताने के पश्चात् भी उसने यज्ञ के अतिरिक्त मन्त्रों का प्रश्न उठाया है।[२२] इससे यास्क की यह दृष्टि स्पष्ट है कि सभी मन्त्रों का विनियोग नहीं होता और बहुत से मन्त्र कर्मकाण्ड की परिधि से बाहर हैं। इसी प्रश्न के उत्तर में याज्ञिकों का पक्ष 'कि ये मन्त्र प्राजापत्य हैं' पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करके अन्त में जो अपना मत 'यज्ञ सम्बन्धी देवता अर्थात् अग्नि देवता वाले हैं वे मन्त्र'[२३] दिया है वह अग्नि को व्यापक मानकर दिया है। इसी प्रकार वैश्वानर पर विचार करते हुए (नि० ७।२३)

---

२०. **कुकं कुत्सितं शब्दमनुरघ्नमसुराणां कुटति तनोतीति कुक्कुटः।**
**उव्वट—असुरघ्नीं वाचमुपादाय क्व, क्व असुरा एवं, योऽटति असौ कुक्कुटः।**
**महीo—असुराः क्व क्वेति तान् हन्तुमिच्छन्योऽटति सर्वत्र संचरति स कुक्कुटः।**

२१. **तस्यैतद् वर्षकामसूक्तम्।**

२२. **यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञांगं वा, तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्।**

२३. **प्राजापत्या इति याज्ञिकाः...... ...याज्ञदैवतो मन्त्र इति।**

**द्र० दुर्ग—याज्ञो वा दैवतो वा; विष्णुर्वै यज्ञ इति ह विज्ञायते। अवशिष्टं हि देवतात्वमग्नावेव। सर्वदेवताभिवादात् 'अग्निर्वै सर्वा देवता' इति ह विज्ञायते।**

पूर्व पक्ष के रूप में 'वैश्वानर वह सूर्य है' यह याज्ञिकों का मत दिया है तथा उसकी युक्तियाँ दी हैं, परन्तु वहीं आगे चलकर उन युक्तियों का खण्डन करके वैश्वानर को यही अग्नि सिद्ध किया है। यास्क ने उदारहृदय से त्रिविध प्रक्रिया का आश्रय लेकर निरुक्त के आधार पर मन्त्रों की व्याख्या की है। यास्क के अनुसार मन्त्रों का प्रतिपाद्य मुख्यतया अध्यात्म ही है, वही उनका फल है। इसीलिये उसने कहा है कि वाणी का पुष्प और फल (वेद-) वाणी का अर्थ है। ये पुष्प और फल क्रमशः आधियाज्ञिक और आधिदैविक विज्ञान अथवा आध्यात्मिक विज्ञान है।[२४] यहाँ अन्ततः अध्यात्म को फल बताकर यास्क ने अध्यात्म के प्रति अपना झुकाव प्रकट कर दिया है। और इसीलिये उसने आगे चलकर देवता के महान् ऐश्वर्य की बात-बताकर कहा है कि एक ही आत्मा की अनेक रूपों में स्तुति होती है।[२५]

पं० भगवद्दत्त के शब्दों में, 'वेद का प्रतिपाद्य विषय अधिदैवत और अध्यात्म ही है। आधिदैविक अर्थ की भी परिणति अध्यात्म में ही होती है। इन दोनों अर्थों में भी अध्यात्म अर्थ प्रधान है। वेद का यही आध्यात्मिक विचार परा-विद्या है।'[२६]

विनयतोष भट्टाचार्य के मतानुसार तो वैदिक ज्ञान का कर्मकाण्ड अथवा यज्ञों से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, वेद सृष्टि का, उसकी उत्पत्ति, रक्षा और संहार का ज्ञान प्रसारित करता है और इस सर्वोच्च दर्शन का विश्लेषण करता है जो उन शाश्वत प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिये प्रयत्नशील हैं जिनमें प्रत्येक देश तथा प्रत्येक युग में मनुष्य की गहन रुचि रही है।[२७] कर्मकाण्ड से सम्बद्ध न होने का

---

२४. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा।
(नि० १।२०)

२५. महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।.....आत्मा सर्वं देवस्य।
(नि० ७।४)

२६. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग—२ (१९७६) पृ० १९।

२७. हरिबाबा पुराणिक कृत सूक्तार्थमुक्तावली की भूमिका।

"This (Vedic) knowledge can thus have no reference to Karmakaṇḍa or sacrifices; the Vedas seem to disseminate a knowledge of the creation, its origin, protection and destruction, and treats of the highest philosophy, which seeks to throw llght on those eternal questions in which man in every country and in every age is deeply interested."

अभिप्राय वस्तुतः यही होना चाहिये कि वेद मन्त्र प्रत्येक सूक्ष्म जटिल कर्मकाण्डीय कृत्य से सम्बद्ध नहीं है, व्यापक सामान्य जटिलताओं रहित यज्ञ तथा यज्ञभावना से तो वेदमन्त्रों का सम्बन्ध स्पष्ट हीं है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक जटिल यज्ञकृत्य में मन्त्रों का विनियोग करके उनकी एकान्तिक कर्मकाण्डीय व्याख्या में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें सुलझाने के लिये कृत्रिम एवं काल्पनिक दूराकृष्ट व्याख्याओं का आश्रय लेना पड़ता है। ये उपाय अवैज्ञानिक तथा तर्कहीन भी होते हैं और उनसे दुरूहता उत्पन्न होती है। परन्तु किसी अन्य इनसे पूर्ववर्ती व्याख्या के अभाव में इन कर्मकाण्डीय व्याख्याओं की उपादेयता का अवमूल्यन भी नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इन व्याख्याकारों ने ब्राह्मणों और कल्प-सूत्रों की परम्परा का पालन किया और मन्त्रों को पूर्णतया दुर्बोध होने से बचा लिया। **'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः'** इत्यादि जैसे जो मन्त्र यज्ञकृत्यों से सीधे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं उनके विनियोगों के स्पष्टीकरण के द्वारा उनकी कर्मकाण्डीय व्याख्या तो उनका अर्थ स्पष्ट कर ही देती है। किन्तु सभी मन्त्रों को बलात् कर्मकाण्ड की नौका पर चढ़ाकर व्याख्या करने से दुर्बोधता और अवैज्ञानिकता उत्पन्न होती है। मन्त्रों की भावना कल्पसूत्रों से नहीं, जितना सम्भव हो मन्त्रों से ही समझने का प्रयास करना श्रेयकर है।



# स्वस्वामिभाव

पं० बदरीनाथ शुक्ल

वाराणसी

The author in this paper has discussed the nature of स्वत्व and स्वामित्व. यथेष्टविनियोगकर्मत्वयोग्यता is स्वत्व and यथेष्टविनियोगकर्तृत्व-योग्यता is स्वामित्व ।

स्व और स्वामिभाव का अर्थ है स्वत्व और स्वामित्व । यह धन और धनी के मध्य का सम्बन्ध है । स्वत्व धन में रहता है और स्वामित्व धनी में रहता है । 'चैत्रस्य धनम्' (चैत्र का धन) इसमें चैत्र शब्द से लगी षष्ठी विभक्ति 'स्य' का अर्थ है स्वत्व किं वा स्वामित्व । षष्ठी के स्वत्व अर्थ में चैत्र का निरूपितत्व सम्बन्ध से और स्वत्व का धन में आश्रयता सम्बन्ध से अन्वय होने से 'चैत्रस्य धनम्' का अर्थ होता है चैत्र निरूपित स्वत्व का आश्रय धन । षष्ठी के स्वामित्व अर्थ में चैत्र का अन्वय होता है निष्ठत्व सम्बन्ध से, और स्वामित्व का धन में अन्वय होता है निरूपकता सम्बन्ध से । अतः 'चैत्रस्य धनम्' का दूसरा अर्थ होता है चैत्रनिष्ठ स्वामित्व का निरूपक धन । यदि स्वत्व और स्वामित्व सम्बन्ध न हो तो 'चैत्रस्य धनम्' में षष्ठी विभक्ति से उसका बोध नहीं होगा, क्योंकि 'चैत्रस्य धनम्' में चैत्र शब्द से सम्बन्ध अर्थ में ही षष्ठी सम्भव है ।

स्वत्व और स्वामित्व का विचार करने पर अपने सम्बन्धी से पृथक् उसका अस्तित्व नहीं सिद्ध होता । जैसे स्वत्व का अर्थ है यथेष्ट विनियोग कर्मत्वयोग्यता । मनुष्य जिस वस्तु का अपनी इच्छा के अनुसार विनियोग कर सके, जो वस्तु मनुष्य की इच्छा के अनुसार विनियुक्त की जा सके, उसी को मनुष्य का स्व-अपना कहा जाता है । यह क्रय-प्रतिग्रह विनिमय, वेतन, अधिकार के स्थानान्तरण आदि से उत्पन्न होता है विक्रय दान आदि से इनकी निवृत्ति होती है । जैसे चैत्र मैत्र से गौ का क्रय करता है । मैत्र चैत्र के हाथ अपनी गौ का विक्रय करता है । विक्रय से गौ में मैत्र के स्वत्व की निवृत्ति और क्रय से उस गौ में चैत्र के स्वत्व की उत्पत्ति होती है । राजा ब्राह्मण को गौ का दान करता है, ब्राह्मण राजा से गौ का प्रतिग्रह करता है ।

दान से गौ में राजा के स्वत्व की निवृत्ति और प्रतिग्रह से ब्राह्मण के स्वत्त्र की उत्पत्ति होती है ।

विचारणीय है कि स्वत्व-यथेष्ट विनियोग कर्मत्व योग्यता क्या है ? जिसकी उत्पत्ति और निवृत्ति क्रय, विक्रय आदि द्वारा गौ में सम्पन्न होती है, उसे द्रव्य मानने पर गौ आदि अन्तिम अवयवी में उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, गुण कर्म आदि में भी उसका समावेश सम्भव प्रतीत नहीं होता है क्योंकि जो गुण और कर्म प्रमाण सिद्ध है क्रय विक्रय आदि से उनकी उत्पत्ति निवृत्ति नहीं होगी । अतः यही कहना होगा कि, यतः क्रय आदि के बाद क्रीत वस्तु क्रय कर्ता के यथेष्ट विनियोग के योग्य बनती है अतः क्रीत वस्तु में क्रयोत्तरकाल का तथा प्रतिगृहीत वस्तु में प्रतिग्रहोत्तरकाल का सम्बन्ध ही स्वत्व है । वस्तु और काल का कालिक सम्बन्ध होता है । कालिक सम्बन्ध का स्वरूप से भिन्न न होने के कारण स्वरूप सम्बन्ध विशेष कहा जाता है । विक्रय से विक्रय की जाने वाली वस्तु में विक्रयकर्त्ता के पहले से विद्यमान क्रयोत्तर सम्बन्ध रूप स्वत्व की निवृत्ति होती है, और क्रय से क्रय की जाने वाली वस्तु में नये क्रय कर्त्ता के क्रयोत्तरकाल सम्बन्ध रूप स्वत्व की उत्पत्ति होती है ।

स्वत्व के उक्त स्वरूप के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि किसी वस्तु में विद्यमान किसी व्यक्ति के क्रयोत्तर काल सम्बन्ध रूप स्वत्व की निवृत्ति विक्रय से नहीं हो सकती, क्योंकि विक्रेता द्वारा पूर्व में किये गये उस वस्तु के क्रय का उत्तरत्व आगामी सभी कालों में रहेगा, अतः विक्रय काल और उसके बाद का सभी काल विक्रेता के क्रय का उत्तर काल होगा, और उसका सम्बन्ध विक्रीत वस्तु के साथ बना ही रहेगा । इसका उत्तर यह है कि क्रय आदि से किसी वस्तु में क्रेता का स्वत्व तब तक रहता है, जब तक किसी अन्य मनुष्य के हाथ क्रेता उसका विक्रय नहीं कर देता । अतः स्वत्व की परिभाषा इस प्रकार होगी कि अमुक वस्तु में अमुक मनुष्य का स्वत्व है । अमुक मनुष्य द्वारा अमुक वस्तु के क्रय के उत्तर और उसके द्वारा अन्य मनुष्य के हाथ उस वस्तु के विक्रय के अनुत्तर काल का अमुक वस्तु के साथ सम्बन्ध ।

इस बात को शास्त्रीय शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है । तन्निरूपित स्वत्व का अर्थ है, तत्कर्तृकक्रयविशिष्ट सम्बन्ध । सम्बन्ध में क्रयवैशिष्टय स्वकर्म प्रतियोगिकत्व स्वविशिष्टकालानुयोगिकत्व उभय सम्बन्ध से, काल में स्व स्व का वैशिष्टय स्वोत्तरत्व स्वविशिष्टविक्रयानुत्तरत्व उभय सम्बन्ध से, विक्रय में स्व-वैशिष्टय स्वसमानकर्मकत्व, स्वसमानकर्तृकत्व उभय सम्बन्ध से विक्रय कर देने पर उस वस्तु का क्रयोत्तर काल विक्रयादनुत्तरकाल नहीं होता । अतः विक्रयानुत्तरत्व की निवृत्ति होने से उससे विशिष्ट विक्रेता के क्रयोत्तर काल की निवृत्ति होने से

उक्तविशिष्ट कालसम्बन्धरूप विक्रेता के स्वत्व की निवृत्ति में विक्रय साध्यता निर्विवाद है।

स्वामित्व के स्वरूप का अवधारण स्वत्व के स्वरूप पर निर्भर होने से स्वत्व के स्वरूप वर्णन से अनायास सम्पन्न हो जाता है। जैसे यथेष्ट विनियोग कर्मत्व-योग्यता स्वत्व है और यथेष्ट विनियोगकर्तृत्वयोग्यता स्वामित्व है। जिस वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने को जो अधिकृत होता है वह उस वस्तु का स्वामी कहा जाता है अतः किसी वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने के लिये अधिकृत होना ही उस वस्तु का स्वामित्व है और किसी वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने के लिये अधिकृत होने का अर्थ है उस वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने पर अपराधी न होना, इस प्रकार अमुक वस्तु के स्वामित्व का अर्थ है—अमुक वस्तु का यथेष्ट विनियोग करने पर भी अपराधराहित्य। क्रय आदि द्वारा वस्तु में स्वत्व के सम्पादन से इसकी प्राप्ति होती है। उक्त स्वत्व और स्वामित्व भी अपने सम्बन्धी से भिन्न न होते हुए सम्बन्ध कार्य-कारी होने से स्वरूप सम्बन्ध की ही श्रेणी में आते हैं।

—१०—

# श्रृङ्गार-रसाभास

प्रो० चण्डिका प्रसाद शुक्ल

इलाहाबाद

According to Bharata, the *hāsya*, *karuṇa*, *adbhuta* and *bhayānaka* rasas are respectively the by-products of four basic rasas—the *śṛṅgāra*, *raudra*, *vīra* and *bībhatsa*. The author contends that this statement only propounds the theory of *rasābhāsa* which was further elaborated by the later ācaryas, whose views have been presented in this article.

नाटयशास्त्र में भरत ने चार मौलिक अथवा मुख्य एवं चार गौण रसों का विवेचन किया है। श्रृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स—ये चार मौलिक रस हैं। इन्हीं से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक इन चार गौण रसों की उत्पत्ति होती है।[1] इस प्रकार उन्होंने श्रृंगार से हास्य की उत्पत्ति बताई है। वस्तुतः जब श्रृंगार की नकल की जाती है तब श्रृंगार नहीं रहता। वहाँ स्वभावतः हास्यरस समुत्पन्न होता है। अर्थात् श्रृंगार की अनुकृति हास्य का विभाव है। इसी प्रकार रौद्र का जो कर्म अथवा चेष्टा होती है उसका पर्यवसान अथवा फल करुण में होता है, अर्थात् रौद्र करुण का विभाव है। वीर की चेष्टाएँ अद्भुत पैदा करती हैं। अर्थात् वीर अद्भुत का विभाव है और बीभत्स को देखकर स्वभावतः भय उत्पन्न होता है, अर्थात् बीभत्स, भयानक का विभाव है।[2] (यद्यपि भोज ने भरत के इस

---

१. तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—श्रृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। अत्र—

श्रृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥—ना० शा० ६।३९

२. श्रृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः॥—वही ६।४०, ४१

सिद्धान्त का विरोध किया है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त में अन्वय-व्यतिरेक दोनों रूप से व्यभिचार दोष उपस्थित होता है, क्योंकि यदि शृंगार की अनुकृति से हास्य है, तो वीर की अनुकृति को भी हास्य कहा जाना चाहिये, क्योंकि वह भी हास्य का विभाव है।[३] यद्यपि भरत के पूर्वोक्त सिद्धान्त को कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया, और उनके अनुसार 'भरत का यह पूर्वोक्त कथन रसों के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से केवल एक प्रकार की अध्ययन-दृष्टि की ओर संकेत करता है कि किस प्रकार भाव एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं और किस प्रकार एक भाव दूसरे भाव तक पहुँचता है'[४] आदि। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस रूप में भरत ने रसाभास के ही सिद्धान्त की अवतारणा की है। इस प्रसंग में अभिनव ने अपनी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका मत है कि प्रत्येक रस का आभास अन्ततः हास्य में परिणत हो जाता है, क्योंकि आभास एक प्रकार से विकृत रूप ही होता है और विकृति हास्य का मूल आधार है। अनुचित विषय में स्थायी की प्रवृत्ति उसकी विकृति है जिससे प्रमाता का हास्य ही उद्‌बुद्ध होता है। किन्तु यह रसास्वादन प्रक्रिया में पश्चाद्‌वर्ती स्थिति है—हास्य की अनुभूति अनौचित्य का ज्ञान होने पर ही होती है, उससे पूर्व शृंगारादि रसों की अस्थायी प्रतीति हो लेती है। इस प्रकार आरम्भ में सहृदय शृंगाराभास आदि का अनुभव करता है और परिणति में हास्य रस का। आभास कहते हैं प्रतिबिम्ब आदि के समान अवास्तव स्वरूप को, जैसे शुक्ति में रजत के स्वरूप की प्रतीति रजत का आभास है। यह एक प्रकार से अतद् में तद् की प्रतीति रूप है। किन्तु जिस क्षण यह प्रतीति होती है उस क्षण तो वास्तविक ही रहती है—उसका मिथ्यात्व तो बाद में भासित होता है। इस प्रकार जहाँ रस या भाव अवास्तविक होते हुए भी पहले तो वास्तविक ही प्रतीत हों और बाद में अवास्तविक, वहाँ उन्हें रसाभास अथवा भावाभास कहा जायगा। अतः भरत ने शृंगार की अनुकृति को हास्य रस ठीक ही कहा है।[५] **नाट्यशास्त्र** की इस पूर्वोक्त पंक्ति का उल्लेख करते हुए अभिनव कहते हैं कि भरत का यह अनुकृति शब्द 'आभास' का ही पर्यायवाची है।[६] बाद में इस प्रश्न पर परवर्ती आचार्यों ने विस्तार से विचार किया। उद्‌भट ने यद्यपि आभास के लक्षण

---

३. अथोच्यते—शृंगारानुकृतिर्येह स हास्यरस इष्यते। तर्हि वीरस्यानुकृतिर्या हि सोऽपि हास्य इतीष्यताम्।—शृ० प्र०, भाग २।

४. एन० ओ० आर० में डा० राघवन्।

५. ना० शा० ६।४०

६. एतच्च शृंगारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः ॥—'लोचन', पृ० १७८-१७९

का अलग से उल्लेख नहीं किया है, किन्तु ऊर्जस्वि अलंकार का लक्षण वही किया है जो बाद के मम्मट आदि ने रसाभास-भावाभास का माना है। उनका कहना है है कि 'काम, क्रोध आदि के कारण अनुचित प्रवृत्त रसों तथा भावों को ऊर्जस्वि अलंकार कहते हैं।[७] सम्भवतः यही उद्भट का रसाभास भी था, क्योंकि रसाभास की सत्ता तो वे मानते ही थे, जैसा कि समाहित अलंकार के लक्षण में उन्होंने इसका उल्लेख किया है।[८] रुद्रट ने केवल श्रृंगाराभास का विवेचन किया है और अपने विरक्त के प्रति किसी के रक्त होने अथवा रति भाव होने को उसका लक्षण बताया है, साथ ही यह भी कहा है कि श्रृंगाराभास उत्तम प्रकृतियों (आभाष्य) में नहीं प्रयुक्त किया जाना चाहिये।[९] आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के प्रसंग में रसाभास एवं भावाभास की भी गणना की है।[१०] तथा उसमें भी प्रधान रूप से व्यंग्यता होने से, ध्वनिकाव्यता का सद्भाव बताया है।[११] किन्तु इनकी आभासता कब माननी चाहिये, उसके क्या लक्षण हैं, इत्यादि प्रश्नों पर उन्होंने कोई विचार नहीं किया, सम्भवतः रुद्रटवाला 'विरक्ते-रक्तः' आदि लक्षण इन्हें स्वीकृत था। अभिनव ने ध्वन्यालोक की पूर्वोक्त कारिका के प्रसंग में विभाव की आभासता होने पर रत्यादि स्थायिओं की चर्वणाभासता मानी है तथा उसे रसाभासता का विषय बताया है।[१२] वस्तुतः इसमें रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है, जो स्थायिस्वरूप नहीं अपितु व्यभिचारि मात्र है। किन्तु उसका अनुभव करने वाले सहृदय को स्थायिभाव-सी प्रतीति होती है। रस रत्याभास या व्यभिचारिभावरूप-

---

७. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।—का० सा० सा० ४।७॥

८. रसाभाव-तदाभासवृत्तेःप्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम्। वही

९. श्रृंगाराभासः स तु यत्रविरक्तेऽपि जायते रक्तः।
एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः॥ काव्या १४।३६

१०. रसभाव-तदाभास-तत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ ध्व० २।३

११. रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालंकारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरितिव्यपदेशः।
ध्व० २। प १९०

१२. 'यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः।' 'लोचन', ध्व० २।३

रति के कारण विभावाद्याभास बन जाते हैं। इसीलिये वह रति स्थाय्याभासरूप में ही उपस्थित होती है। अर्थात् विभावाभास, अनुभावाभास तथा व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर (रति का वास्तविक परिपाक न होकर जो केवल चर्वणाभास होता है) वह श्रृंगाराभास कहलाता है। जैसे सीता के प्रति रावण की दूराकर्षण-मोहमन्त्र इव मे—इत्यादि उक्ति को सुनकर श्रृंगाराभास की प्रतीति होती है। रावण द्वारा सीता के प्रति व्यक्त की गई रति वस्तुतः रति नहीं है, रत्याभास है, क्योंकि इसमें दोनों ओर से परस्पर आस्थाबन्ध नहीं है। रावण अपनी कामान्धता के कारण, अपने प्रति सीता की घृणा तथा उपेक्षा को समझ नहीं पा रहा है, क्योंकि जिस क्षण वह ऐसा जान जाय उसी क्षण उसका सीता के प्रति सारा अभिलाष विलीन हो जाय और न ही उसे इस बात का भी निश्चय है कि सीता उसके प्रति अनुरक्त ही हैं। अतएव रावण के उस अभिलाष को रति का आभास ही कहा जायगा, वैसे ही जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति रजतभास कही जाती है। इस प्रकार अभिलाष के एक पक्ष में ही रहने पर श्रृंगाराभास ही समझना चाहिये।

रुद्रट के लक्षण के अनुसार अभिनव ने भी विभाव की आभासता को ही रसाभास का हेतु माना है। मम्मट द्वारा दी गई आभास की परिभाषा में उद्भट के ऊर्जस्विगत अनौचित्य शब्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है—जब रस तथा भाव अनुचित रूप में प्रवर्तित दिखाये जाँय तो क्रमशः रसाभास एवं भावाभास कहलाते हैं।[१३] अर्थात् जब किसी स्थायी भाव अथवा किसी संचारीभाव का विषय ऐसे को बनाया जाय जिसे नहीं बनाना चाहिये, तो वह, अनुचित प्रवर्तित होने के कारण, न पूर्ण, न वास्तविक ही आस्वाद्य होगा, अपितु वह उसका आभास कहा जायगा। उदाहरण में उन्होंने अनुभयनिष्ठ तथा बहुनायकनिष्ठ रतिविषयक पद्य प्रस्तुत किया है। यहाँ आस्वाद्यदशा में तो यह असंलक्ष्यक्रमरूप श्रृंगार आदि रस ही होगा—अनौचित्य की प्रतीति थोड़ी देर बाद होती है, और तब वह रसाभास तथा भावाभास कहलायेगा।[१४]

मम्मट ने तिर्यगादिकों के भावों को रसाभास नहीं माना था। भयानक रस के उदाहरण में उन्होंने शाकुन्तल का 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं' आदि का पद्य उद्धृत किया, जिसमें मृग के भय का वर्णन है, तथा 'मित्रे क्वापिगते' आदि में पक्षी के विप्रलम्भ

---

१३. तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः।—का० प्र० ४

१४. तन्मयीभवनदशाया तु रतेरास्वाद्यतेति श्रृंगारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन।····तदसौ श्रृंगाराभास एव तदङ्गभावाभासः।—'लोचन, पृ ९, के० एस० एस०, ४०

का, क्योंकि इनमें उन्हें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। किन्तु उनके सिद्धान्तों का बहुशः अनुगमन करने वाले आचार्य हेमचन्द्र ने अपने **काव्यानुशासन** में इस प्रश्न पर कुछ अधिक विस्तार में विचार किया है। उनका कहना है कि—'इन्द्रिय-रहितों (जैसे वृक्ष, लता, नदी आदि) में तथा पशुपक्षियों (तिर्यगादि) में तथा इसी प्रकार निशा, चन्द्रमा आदि में रत्यादि भावों का आरोप करने पर रसाभास तथा भावाभास माना जाता है।[१५] हेमचन्द्र ने ऐसे रसाभास तथा भावाभास को समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, श्लेष आदि अलंकारों के रूप में माना है, अर्थात् उन अलंकारों के सहारे से ही रसाभास तथा भावाभास की योजना की जा सकती है।[१६] किन्तु ध्वनिवादी रसाभास तथा भावाभास वहीं मानते हैं, जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान हो और उसको भी असंलक्ष्यव्यंग्य प्रकार का ध्वनिकाव्य कहते हैं। समासोक्ति आदि अलंकारों में तो व्यंग्यार्थ गुणीभूत रहता है, वाच्यार्थ प्रधान होता है। सबसे बड़ी बात तो यही है कि अभिनव तथा मम्मट के अनुसार तो निरिन्द्रियों एवं तिर्यगादिकों के भावों में रस-भाव ही होंगे, उनकी आभासता नहीं।

साथ ही हेमचन्द्र ने अनौचित्य के कारण भी आभास माना है।[१७] अन्योन्य के प्रति अनुरागादि के अभाव के कारण रत्यादि में अनौचित्य रहता है। अतएव उसे रसाभास तथा भावाभास कहते हैं।[१८] इसी प्रकार अनेक कामुकविषयक अभिलाष को भी आभास ही कहा जायगा।[१९] इस अनौचित्य-कृत रसाभास के प्रसंग में तो हेमचन्द्र ने मम्मट का ही अनुगमन किया है।

---

१५. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासो।... आदिशब्दान्निशा-चन्द्रमसोर्नायिकत्वाध्यारोपात्संभोगाभासः। —का० अनु०, पृ० १२०-२२।

१६. रसाभासस्य भावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमा-श्लेषादयो जीवितम्। —का० अ०, पृ० १२२

१७. अनौचित्याच्च। —का० अनु०, पृ० १२३

१८. अन्योन्यानुरागाद्यभावेनानौचित्याद्रसभावाभासो॥ —का० अनु०, पृ० १२३

१९. यथा वा—स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विनायन्न रमसे।
........................................ध्यायसि तु यम्॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः स्तुमः इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति॥ —का० अनु०, पृ० १२३।

**एकावलीकार** विद्याधर ने मम्मट के अनुसार केवल अनौचित्य-प्रवृत्त स्थायी (और व्यभिचारी) को रसाभास तथा भावाभास का हेतु माना है।[२०] हेमचन्द्र आदि द्वारा तिर्यगादिगत रसाभास वाले सिद्धान्त का उन्होंने प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि तिर्यक् प्राणियों को विभावादि का ज्ञान नहीं होता, अतः वे रसभाजन नहीं हो सकते—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो कुछ मनुष्य भी विभावादि-ज्ञानशून्य होने के कारण इसके विषय नहीं हो सकते। रस के प्रति प्रयोजकता किसी का विभावादिरूप से सम्भव होना होता है, उसका विभावादि ज्ञान नहीं। विभावादिज्ञान उसे हो चाहे न हो और पशु-पक्षियों में इस प्रकार की विभावता को प्राप्त करने को योग्यता होती है, अतः उनके भावों का निरूपण रस का विषय बन सकता है—जैसे **कुमारसम्भव** के इस श्लोक में—

> **ददौ सरः (रसात्) पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।**
> **अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा॥**

यहाँ पूर्वार्ध में गज-आलम्बनविभाव से उत्पन्न होकर, वसन्त आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीपित होकर, सुगन्धित गण्डूषजलदानरूप अनुभाव से प्रकाशित होकर, तथा हर्षादि व्यभिचारी भावों से उपस्थित होकर करेणु (हथिनी) की रति सम्भोग शृंगार रूप में आस्वाद्य बनती है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में चक्रवाक की रति सम्भोगशृंगार-रूप में प्रकाशित होती है।[२१]

**प्रतापरुद्रीय** में विद्यानाथ ने शृंगार को लोकोत्तरनायकाश्रित रहने पर तो रस माना है, किन्तु तिर्यक् म्लेच्छादिविषयक होने पर रसाभास रूप कहा है। उन्हें शृंगाराभास तीन प्रकार का स्वीकृत है—एकत्रानुराग (अनुभयनिष्ठरति) रूप, तिर्यङ्म्लेच्छादिगत तथा नायिका का बहुनायकनिष्ठ।[२२] तीनों प्रकारों के मूल में अनौचित्य ही माना जायगा। शारदातनय ने **भाव-प्रकाश** में अङ्गीरस के तृतीयांश में भी अङ्गरस के प्रविष्ट हो जाने पर मर्यादोल्लंघन होने के कारण रसाभासता

---

२०. यत्र पुनरेकतरानुरागस्तत्र स्थायिनोऽनौचित्येन प्रवृत्तत्वात् तदाभास एव॥ —**एकावली** उन्मेष ३, पृ० १०६, **बी० एस० एस०** १९०३।

२१ **एकावली,** उन्मेष ३, पृ० १०६-७।

२२. अतएव शृंगारस्य म्लेच्छादिविषयत्वेनाभासत्वम् तथा चोक्तम्—
**एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यङ्म्लेच्छगतोऽपि वा।**
**योषितो बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः॥ प्र० रु० पृ० २२८-२९**

मानी है।[२३] शिङ्गभूपाल ने अपने 'रसार्णवसुधाकर' में इस रसाभास के प्रश्न पर कुछ अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया है। वे सिद्धान्ततः इस विषय में शारदातनय के अनुगामी हैं। उनका कहना है कि जैसे कोई अविनीत अमात्य स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति बढ़ाकर स्वामी (राजा) को आभास (गौण) दशा में पहुँचा देता है वैसे ही अङ्गरस के कारण अङ्गीरस आभास बन जाता है।[२४] इस विषय में उन्होंने **भावप्रकाश** की उन कारिकाओं को उद्धृत किया है, जिनमें प्रत्येक अङ्गरस के उद्रेक के कारण अङ्गीरस की आभासता कही गयी है।[२५] हास्य-भूयिष्ठ होने पर शृंगार शृंगाराभास कहलाता है, जो चार प्रकार का होता है—अराग, अर्थात् नायक-नायिका में एक में ही राग हो, दूसरे में नहीं, अनेकराग, अर्थात् स्त्री का अनेक पुरुषों अथवा पुरुष का अनेक स्त्रियों में राग (दक्षिण नायक का तो नायिका में ही प्रौढ़ राग होता है, अन्यों में केवल उसकी नायक वृत्ति ही रहती है, राग नहीं। अतः उसे आभास नहीं कहा जायगा, तिर्यग्राग, म्लेच्छराग अर्थात् अनुत्तम-प्रकृतिवाले व्यक्तियों का राग।[२६]।

शिङ्गभूपाल ने इस रसाभास के प्रसंग में 'एकावली' में विद्याधर के 'तिरश्चामस्त्येव रसः' वाले मत का बड़े तर्क के साथ खण्डन किया है। उनका

---

२३. भागद्वयप्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता।
रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्॥

२४. अङ्गेनाङ्गी रसः स्वेच्छावृत्तिर्वर्धितसम्पदा।
अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्।'
—र० सु० २।२६३, टी० एस० एस०

२५. वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—
शृङ्गारो हास्यभूयिष्ठः शृङ्गाराभास ईरितः॥
हास्यो बीभत्सभूयिष्ठो हास्याभास इतीरतः॥
वीरो भयानकप्रायो वीराभास इतीरितः।
अद्भुतः करुणाश्लेषाद‌द्भुताभास उच्यते॥
रौद्रः शोकभयाश्लेषाद् रौद्राभास इतीरितः।
करुणो हास्यभूयिष्ठःकरुणाभास उच्यते॥
बीभत्सोऽद्भुतशृङ्गारी भीमत्साभास उच्यते।
स स्याद्भयानकाभासो रौद्रवीरोपसंगमात्॥

२६. र० सु०; पृ० २०३-५।

कहना है कि मुनि (भरत) ने शृंगाररस में शुचि, समुज्ज्वल तथा दर्शनीय वस्तु को ही विभाव होने योग्य बताया है। तिर्यक् प्राणियों में उद्वर्तन, मज्जन, आकल्प-रचना आदि के अभाव के कारण उज्ज्वलत्व, शुचित्व तथा दर्शनीयत्व सम्भव हीं नहीं। और यह कहना कि अपने जातिगतोचित धर्मों से करी-करिणी के प्रति विभाव हो जायेगा, ठीक नहीं। क्योंकि उस रूप में करी करिणी के राग के प्रति कारण बनता है विभाव नहीं और स्वजातिगतोचितधर्मों के कारण कोई वस्तु विभाव नहीं बनती, अपितु भावक अथवा सामाजिक के चित्त में उल्लासोत्पत्ति के हेतु रत्यादि-विशिष्ट धर्मों के ही कारण। फिर, औचित्यविवेक ही विभावादि ज्ञान होता है। उससे रहित होने के कारण तिर्यक् प्राणी विभावत्व नहीं कर सकते। यद्यपि कुछ ऐसे भी मनुष्य होते हैं, जिन्हें विभावादि-ज्ञान नहीं होता। तो क्या उनमें भी रसा-भास ही माना जायगा ? हाँ, म्लेच्छगतराग ऐसे ही विवेकरहित मनुष्यों का तो उपलक्षण है। अतः उसे रसाभास ही कहना चाहिये। रसाभासता के लिए अविवेक-जन्य अनौचित्य ही मूल में रहता है।[२७]

वस्तुतः अनौचित्य ही रस-भाव की आभासता के मूल में माना जाना चाहिए। अनौचित्य भी दो प्रकार का होता है—असत्यरूप तथा अयोग्य रूप। वृक्ष, लता, नदी आदि अचेतन प्राणियों में वर्णित होने पर रत्यादिभाव असत्यरूप अनौचित्य से युक्त होता है, तथा नीच पुरुष एवं तिर्यक् प्राणियों में रहने पर अयोग्य रूप अनौचित्य से युक्त होता है। अतः वह उभयत्र आभास ही कहा जायगा।[२८]

रसाभास के प्रसंग में भानुदत्त ने एक बड़ा मार्मिक विवेचन किया है—जैसे एक नायिका का अनेक नायकविषयक रति आभास है, उसी प्रकार एक नायक का अनेक नायिका-विषयरति भी आभास ही है। किन्तु यहाँ (नायक की नायिका-विषयक रति में) एक विशेषता की ओर ध्यान रखना चाहिये, कि जिस नायक की बहुत-सी नायिकायें व्यवस्थित हैं वहाँ अनौचित्य के अभाव के कारण रसाभास नहीं माना जायेगा, नहीं तो, कृष्ण की रति, जो सकलोत्तम नायक माने जाते हैं, आभासरूप

---

२७. र० स० पृ०, २०६-७।

२८. आभासता भवेदेषामनौचित्यप्रवर्तिनाम्।
असत्यत्वादयोग्यत्वाद् अनौचित्यं द्विधा भवेत्।
असत्यत्वकृतं तत् स्याद् अचेतनगतं तु यत्।
अयोग्यत्वकृतं प्रोक्तं नीचतिर्यङ्नराश्रयम्॥
—दी० एन० ओ० आर० में उद्धृत पृ० १४९।

हो जायेगी, क्योंकि वह भी तो बहुकामिनी विषयक ही है। अतः अव्यवस्थितबहु-कामिनी-विषयिणी, वैशयिकविषयिणी तथा बहुनायकविषयिणी रति ही आभासरूप मानी जायगी। इसीलिये तो प्राचीन आचार्यों ने वैशयिकों तथा वेश्याओं के शृंगार को रसाभास ही कहा है।[२९]

शारदातनय ने हास्यरस से अभिभूत शृंगारस को शृंगाराभास कहा है।[३०] यह इसलिये कि जब एक रक्त हो और दूसरा अपरक्त हो तो उसकी चेष्टा लोगों में हासकरी होती ही है। अतः वह (चेष्टा) दृष्टा, श्रुता या सूचिता भी शृंगाराभास की हेतु बनती है।[३१] दो भागों में प्रविष्ट रस के प्रधान के एक भाग को लेकर उसका आभास कहा जाता है।[३२] जो रस पहिले दिखाई पड़े, सुनाई पड़े अथवा सूचित हो, उसे प्रधान कहते हैं।[३३]

हरिपालदेव ने तो नीच-तिर्यगाश्रितरति को शृंगार से पृथक् सम्भोग नाम से दूसरा रस ही करार दिया है।[३४] विश्वनाथ ने अनौचित्य प्रवृत्त रसाभास को रसाभास या भावाभास तो माना ही है, साथ ही शृंगार में कहाँ-कहाँ अनौचित्य होता है उसका भी लेखा गिना दिया है—"जब रति उपनायक में स्थित हो, मुनि-गुरुपत्नी-गत हो, बहुनायकविषयक हो, तथा अनुभयनिष्ठ हो तो उसमें अनौचित्य होता है।

---

२९. एवमेकस्या अनेकविषयारतिराभास एव। परन्त्वेष विशेषः यस्य व्यवस्थिता बह्व्यो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासस्तथा सति कृष्णस्य सकलोत्तम-नायकस्य बहुकामिनीविषययारतेराभासतापत्तेःतस्मादव्यवस्थितबहुकामिनीवैषयिक-बहुनायकपरमेतत्, अतएव वैशयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्।

—र० त० ८

३०. हास्याभिभूतःशृङ्गारस्तदाभासो भविष्यति। भा० प्र० ६।१३२

३१. रक्तापरक्तयोश्चेष्टा यतो हासकरी नृणाम्।
दृष्टा श्रुता सूचितापि शृङ्गाराभासकारिका॥ वही ६।१३३

३२. भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता।
रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम्॥ वही ६।१३३

३३. प्रथमं दृश्यते यत्तु श्रूयते सूच्यतेऽपि वा।
तत्प्रधानमितिप्राहूरसप्राधान्यवेदिनः। भा० प्र० ६।१३३

३४. सर्वजन्तुषु दृश्यत्वात् संभोगस्यास्ति नित्यता।
अतोऽभ्यधायि संभोगो रसः शृङ्गारतः पृथक्'॥

.दी० एन० ओ० आर० में उद्धृत, पृ० १४५

इसी प्रकार जब शृंगार प्रतिनायकनिष्ठ अधमपात्रगत अथवा तिर्यगादिगत होता है तो उसमें अनौचित्य माना जाता है।[३५] इसी प्रकार लज्जादिभाव वेश्यादिगत होकर भावाभाव कहलाते हैं।[३६]

और अन्त में पण्डितराज ने रसाभास की अपने ढंग से मीमांसा की है। उनका कहना है कि कुछ आचार्यों के मत से जहाँ अनुचित विभाव का आलम्बन लिया जाय वह रसाभास होता है।[३७] विभावादिकों का अनौचित्य तो लोकव्यवहार से जाना जा सकता है—जिसे लोग अनुचित कहें वही अनुचित है।[३८] परन्तु रसाभास के उक्त लक्षण को दूसरे विद्वान् नहीं मानते। वे कहते हैं—इस लक्षण से यद्यपि मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी आदि के विषय में होने वाली रति का संग्रह हो जाता है, क्योंकि मुनिपत्नी आदि इतर मनुष्य की रति के लिये अनुचित हैं, यह बात लोगों की बुद्धि स्वीकार करती है, तथापि किसी नायिका की अनेक नायकों के विषय में जो रति होती है और नायक-नायिका की दोनों में से केवल एक एक में जो रति होती है, उनका संग्रह नहीं होगा, क्योंकि वहाँ विभाव अनुचित नहीं है। अतः अनुचित विशेषण विभाव में न लगाकर रति आदि स्थायी भावों में लगाना चाहिये—अर्थात् जिसके रति आदि स्थायी भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हों, वे रसाभास कहलाते हैं। ऐसा करने पर अनुचितविभाव वाली बहुनायकगत, तथा अनुभयनिष्ठ तीनों का संग्रह हो जायगा। क्योंकि तीनों में रति ही अनुचितप्रवृत्त होती है। अनौचित्य का लक्षण वहाँ भी पूर्ववत् ही रहेगा, अर्थात् जिसे लोग अनुचित समझें।[३९]

---

३५. उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते शृंगारेऽनौचित्यम्।

सा० द० ३।२६३-२६४

३६. भावाभासोलज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्।—सा० द० ३।२६६

३७. अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्।—र० ग०

३८. 'विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् अनुचितम् इति धीरिति केचित्।—र० ग०

३९. तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिवियपयकरत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायक-विषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात्। तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात्। तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः। इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायक-विषयाया अनुभयानिष्ठायाश्च संग्रह इति। 'अनौचित्यं च प्राग्वदेव।'—र० ग० १

फिर पण्डितराज का कहना है कि कुछ लोग रसादि के आभास को रसादि के साथ समानाधिकरण नहीं मानते, क्योंकि रसादि तो वह है जो निर्मल अथवा निर्दोष हो। रसादि का आभास तो सदोष होता है। तो जैसे हेत्वाभास हेतु नहीं हो सकता, वैसे ही रसादि का आभास और रसादि एक हैसियत के नहीं माने जा सकते।[४०] किन्तु अन्य मत से रसादि का आभास भी रसादि ही है—अर्थात् उसमें अनुचितत्व अथवा सदोषत्व के कारण उसके रसादि स्वरूप में कोई क्षति नहीं आयेगी, और, जैसे सदोष अश्व को ही अश्वाभास कहा जाता है, वैसे ही उस सदोष रस को ही रसाभास कहा जायेगा।[४१] जैसा कि एक प्रकरण में स्पष्ट किया गया है 'आभास का अर्थ है अवास्तवप्रतीति—शुक्ति में रजत का आभास रजत की अवास्तव प्रतीति है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु अवास्तविकता का ज्ञान तब होता है, जब प्रतीति नष्ट हो जाती है—शुक्ति में जब तक रजत की प्रतीति होती है तब तक अवास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार रसाभास में अनौचित्य का ज्ञान बाद में होता है। रस की प्रतीति पहले हो जाती है। जब तक प्रतीति रहती है तब तक अनौचित्य का ज्ञान नहीं रहता और जब अनौचित्य का ज्ञान हो जाता है तभी प्रतीति बाधित होती है। अतः रसाभास रस के अन्तर्गत ही आता है (I **"तथापि पश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवनदशायां तु रतेरास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्य-विवेकावधीरणेन।"** II **"अतएव तदाभाससत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजता-भासवत्।"**)

पण्डितराज ने नववधू के प्रति नायक की उस रति को, जो नववधू में नायक के प्रति अभी बिलकुल अंकुरित ही नहीं हो पाई है, उभयनिष्ठ होने के कारण, आभास रूप ही मानी है।[४२] उन्होंने बहुनायकनिष्ठता का उदाहरण रूप से,

---

४० तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्ववादिना न समानाधिकरणम्। निर्मलस्यैव रसा-दित्वात् हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन, इत्येके॥ र० ग०

४१. नह्यनुचितत्वेनात्महानिः अपितु सदोषत्वादाभास-व्यवहारः। अश्वा-भासादिव्यवहारवत्, इत्यपरे॥—र० ग०

४२. यथा वा—**भुजपंजरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधूः।**
**तत्कालजालपतिता, बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्॥**

अत्र रतेर्नववध्वामनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम्।—र० ग०

(किन्तु नायक की इस रति को कौन सहृदय अनुचित कहेगा? पण्डितराज का यह विवेचन अधिक उचित नहीं समझ पड़ता। परिणीता के हृदय में तो परिणय के साथ ही नायक के प्रति रति का बीजारोपण हो जाता है। अतः उसके प्रति नायक की रति को अनुभयनिष्ठ दोष देना ही अनुचित है।)

द्रौपदी का पाँचों पाण्डवों की पत्नी बनने पर, उनके प्रति उसके रति-विषयक एक पद्य का उल्लेख किया है, और कहा कि इसे नव्य आचार्य तो रसाभास मानते हैं, किन्तु प्राचीन आचार्य तो उसी रति को आभास मानते हैं, जो बहुत से अपरिणेता नायकों के प्रति होती है, पाण्डव तो द्रौपदी के परिणेता थे।[४३] अतः अन्त में उन्होंने शृंगाररस की भाँति उसके आभास के भी दो भेद किये हैं—संयोगाभास तथा विप्रलम्भाभास[४४] और उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः समाज में नैतिक सिद्धान्त अथवा शास्त्र लोकप्रकृति के नियामक हुआ करते हैं। भारतीय वाङ्मय में लोकशास्त्र का प्रयोग प्रायः एक साथ होता आया है। परन्तु कभी-कभी दोनों में तीव्र संघर्ष भी उत्पन्न हो ही जाता है।

---

४३. अथात्र किं व्यंग्यम्—व्यानम्राश्चलिताश्चैव, स्फारिताःपरमाकुलाः।
पाण्डुपुत्रेषु पांचाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः॥

अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थूलाकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम् स्फारिततया अलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम् परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेवयोरौत्सुक्यं च व्यंजयन्तीभिर्दृग्भिः पांचाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसाभास एवेति नव्याः। प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः।—र० ग०

४४. तत्र शृंगाररस इव शृंगाररसाभासोऽपि द्विविधः संयोगविप्रलम्भभेदात्।
—र० ग०।

# पालि भाषा : एक संक्षिप्त परिचय

डा० कोमलचन्द्र जैन

वाराणसी

The author in this paper has tried to give a general introduction regarding the etymology of the word *Pāli*; it's use in the sense of a dialect, regions of it's usage and the reason of it's availability only in the *Theravāda* literature.

पालि भाषा प्राचीन भारत की संस्कृत तथा प्राकृत के समान ही एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। प्राचीन भारतीय साहित्य प्रधानतः इन्हीं तीन भाषाओं में उपलब्ध है। संस्कृत में भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण और श्रमण—इन दोनों परम्पराओं का प्रचुर साहित्य है। प्राचीन मूलभूत जैन साहित्य प्राकृत में तथा आधारभूत प्राचीन बौद्ध साहित्य पालि में उपलब्ध है। अतः भारतीय संस्कृति के यथेष्ट ज्ञान के लिये संस्कृत एवं प्राकृत के समान पालि भाषा का भी ज्ञान अपेक्षित है।

थेरवाद परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश बोलचाल की भाषा में दिये थे। उनके उपदेशों में आडम्बर नहीं था। वे भाषा एवं शैली—दोनों ही दृष्टि से इतने सरल और स्वाभाविक होते थे कि उन्हें साधारण नर-नारी से लेकर विशिष्ट व्यक्ति तक सभी सरलता से समझ लेते थे। बुद्ध की इच्छा थी कि उनके अनुयायी उनके उपदेशों को सुविधानुसार अपनी अपनी भाषा में सीखें। वे यह कदापि नहीं चाहते थे कि उनके उपदेशों को उस समय की श्रेष्ठ एवं पवित्र मानी जाने वाली संस्कृत भाषा में परिवर्तित कर उन्हें भाषागत श्रेष्ठता का जामा पहनाया जाय।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बौद्ध भिक्षुओं ने बुद्धोपदेशों को सुरक्षित कर चिरस्थायी बनाने के लिये पर्याप्त सतर्कता अपनाई। समय-समय पर संगीतियों का आयोजन कर संकलन एवं संगायन किया गया। राजा अशोक के समय मोग्गलिपुत्त थेर की अध्यक्षता में सम्पन्न तृतीय संगीति में तिपिटक का संगायन कर अन्य देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिये बौद्ध भिक्षुओं को भेजने का निश्चय किया

गया। इसी निश्चय के अनुसार राजा अशोक के पुत्र महेन्द्र को लंका द्वीप भेजा गया। वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। लंका द्वीप में महेन्द्र द्वारा ले जाये गये बुद्ध वचनों को वर्षों तक मौखिक परम्परा से सुरक्षित रखा गया। बाद में ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में लंका के तत्कालीन राजा वट्टगामणि अभय ने बुद्ध के धर्मोपदेशों को चिरस्थायी बनाने के लिये लिपिबद्ध करवा दिया।

भारत में बुद्ध वचनों के संकलन एवं संगायन के तुरन्त बाद ही बौद्ध भिक्षुओं ने उन पर भाष्यात्मक साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया था तथा बुद्ध के परिनिर्वाण के दो शताब्दियों बाद कुछ भाष्यात्मक साहित्य को मूल बुद्ध वचनों के साथ जोड़ दिया गया। किन्तु जब बौद्ध धर्म के ही कुछ सम्प्रदायों द्वारा थेरवाद के समर्थक बौद्ध भिक्षुओं को भारत से बाहर जाने के लिए विवश कर दिया गया तो वे श्रीलंका के विहारों में जा बसे। फलतः लंका के विहार थेरवादियों के प्रमुख गढ़ बन गये। पालि साहित्य में यही भाग कर गये हुए बौद्ध भिक्षु ही 'पोराणा' शब्द से अभिप्रेत हैं। कालान्तर में भाष्यात्मक साहित्य के बाद बौद्ध भिक्षुओं का काव्यात्मक साहित्य की ओर झुकाव हुआ। इससे पालि भाषा में काव्य साहित्य लिखने की प्रवृत्ति का विकास हुआ और यह प्रवृत्ति बुद्ध, धर्म एवं संघ पर जाकर केन्द्रित हो गई।

इस प्रकार पालि साहित्य की धारा जिसका उद्गम भगवान् बुद्ध के उपदेशों से हुआ था, आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। जैसे-जैसे पालि-साहित्य की धारा आगे बढ़ी, वैसे-वैसे वह संस्कृत साहित्य की धारा के समीप आती गई। यही कारण है कि नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद से आज तक के पालि साहित्य के अधिकांश ग्रन्थों पर न केवल भाषा की दृष्टि से अपितु भावों एवं शैली की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य का बढ़ता हुआ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

## व्युत्पत्ति एवं अर्थ

भिक्षु जगदीश काश्यप ने पालि शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए उसकी उत्पत्ति **परियाय** शब्द से मानी है। उनके मतानुसार पालि बुद्ध के उपदेशों के अर्थ में प्रयुक्त **परियाय** शब्द का ही परिवर्तित रूप है। **परियाय** शब्द का प्रयोग पालि तिपिटक में बुद्ध उपदेशों के अर्थ में उपलब्ध होता है। यही शब्द इसी अर्थ में अशोक के शिलालेखों में **पलियाय** शब्द के रूप में दृष्टिगोचर होता है। उपसर्ग के प्रथम स्वर में दीर्घीकरण की प्रवृत्ति के कारण **पलियाय** शब्द कालान्तर में **पालियाय** और बाद में उसी से **पालि** बन गया। अतः इस मत को संक्षेप में इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

**परियाय > पलियाय > पालियाय > पालि।**

इस व्युत्पत्ति के अनुसार पालि शब्द का अर्थ बौद्धोपदेश किया जाता है। इस अर्थ की पुष्टि तिपिटक ग्रन्थों के साथ प्रयुक्त पालि शब्द से होती है। भाष्यात्मक एवं इतर पालि ग्रन्थों में भी पालि शब्द मूल बुद्धोपदेश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बुद्धोपदेशों की भाषा को पालिभाषा कहा जाने लगा। कालान्तर में पालिभाषा ही अपने लघु रूप पालि शब्द से व्यवहृत होने लगी।

इस विषय में दूसरा उल्लेखनीय मत पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का है। उनके मतानुसार पालि शब्द का उद्‌भव **पङ्क्ति** शब्द से हुआ है। यही **पङ्क्ति** शब्द क्रमशः **पंति > पत्ति > पट्ठि > पल्लि** के रूपों में परिवर्तित होता हुआ **पालि** बन गया है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पालि शब्द का अर्थ मूल ग्रन्थ की पङ्क्ति होता है। पालि भाषा के कोशग्रन्थ '**अभिधानप्पदीपिका** से भी इस मत की पुष्टि होती है। उक्त कोश-ग्रन्थ में पालि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—**पा पालेति रक्खतीति पालि** अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है, वह पालि है।

पर भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुसार पङ्क्ति के लिये लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है जब कि बुद्ध वचन तिपिटक के रूप में संकलित होने के बाद भी ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक मौखिक परम्परा में ही थे। इसके अतिरिक्त पालि साहित्य में कहीं भी पालि शब्द ग्रन्थ की पङ्क्ति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। मूलग्रन्थ के अन्त में पालि शब्द जुड़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है जैसे **दीघनिकायपालि, मज्झिमनिकायपालि** आदि। यदि यहाँ **पालि** का अर्थ **पङ्क्ति** से लें तो अभीष्ट भाव नहीं निकलता है। इसी प्रकार यदि **पालि** शब्द का अर्थ **पङ्क्ति** लें तो उसका बहुवचनान्त रूप भी मिलना चाहिये किन्तु सर्वत्र एकवचनान्त रूप ही उपलब्ध होता है।

पं० भट्टाचार्य का मत **अभिधानप्पदीपिका** से पुष्ट होता है। पङ्क्तिबद्ध हो जाने से बुद्ध वचन अधिक सुरक्षित हो गये हैं—इस आशय को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः यह व्युत्पत्ति की गई है। अतः इसे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

पालि की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में तीसरा मत भिक्षु सिद्धार्थ का है। उनके मतानुसार पालि शब्द संस्कृत के **पाठ** शब्द का परिवर्तित रूप है। अपने मत के समर्थन में उनका कथन है कि जब बुद्ध के धर्म में ब्राह्मणों ने प्रवेश किया तो उन्होंने वेदपाठ की भाँति बुद्धवचनों की आवृत्ति के लिये पाठ का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। यही पाठ शब्द कालान्तर में **पाळ > पाळि > पालि** बन गया। भिक्षु

सिद्धार्थ ने अनेक उदाहरणों की सहायता से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि **पाठ > पाळ > पाळि > पालि**—यह परिवर्तन का क्रम भाषा विज्ञान के नियमों के सर्वथा अनुरूप है। इस मत में सबसे बड़ी कमी यह है कि इसकी सिद्धि के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त पालि साहित्य में पालि शब्द के प्रयोग के साथ-साथ पाठ शब्द का भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। अतः विद्वानों ने भाषा-विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरने भी पर इस मत को मान्य नहीं किया है।

इनके अतिरिक्त निम्न व्युत्पत्तियाँ भी हैं—

**पल्लि** (गाँव की भाषा) > **पालि**; (**प्राकृत**-बोलचाल की पुरानी बोली) > **पाकट** > **पाअड** > **पाअल** > **पालि**; प्रालेयक (पड़ोसी) > पालि; प्रकट > पाअड > **पाअल** > **पालि**; **पाटलि** (पाटलीपुत्र की भाषा) > **पालि** आदि।

इन सभी व्युत्पत्तियों में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा प्रस्तुत व्युत्पत्ति एवं तज्जन्य अर्थ ही न केवल भाषा विज्ञान के नियमों के अनुकूल है अपितु ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी समर्थित है। अतः विद्वानों ने उसी व्युत्पत्ति को मान्य किया है।

## पालि भाषा का मूल प्रदेश

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि पालि बोलचाल की बोली थी तो वह किस प्रदेश की थी ?

इस विषय में आज तक जितने मत व्यक्त किये गये हैं उन्हें स्थूल रूप से तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है। पहले विभाग में ऐसे मतों को रखा जा सकता है जिनमें पालि भाषा को किसी प्रदेश विशेष के बोल-चाल की बोली सिद्ध करने का प्रयास किया है। दूसरे विभाग में उन सभी मतों का समावेश किया जा सकता है जो बुद्धवचनों की भाषा को अनेक भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी मागधी मूलक विशुद्ध साहित्यिक भाषा बतलाते हैं। अन्तिम विभाग में उन मतों की गणना की जा सकती है जो बुद्धवचन की भाषा को किसी अन्य भारतीय भाषा का अनुवाद मात्र मानते हैं।

प्रथम विभाग में जितने भी मत हैं वे सभी एक दूसरे से भिन्न हैं तथा अलग-अलग प्रान्तों की भाषा मानते हैं। उदाहरणार्थ—**रीज डेविड्स** के मतानुसार पालि कौशल प्रदेश की भाषा थी। कारण, कोशल प्रदेश के होने से भगवान् बुद्ध की मातृभाषा यही थी तथा परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर उनके उपदेशों का

संग्रह कोशल प्रदेश में ही प्रधानरूप से हुआ। **वैस्टर गार्ड तथा ई० कुन्ह** इसे उज्जयिनी की भाषा मानते हैं। कारण, एक तो पालि गिरनार के अशोक के शिलालेखों से समानता रखती है और दूसरा यह महेन्द्र की मातृभाषा थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महेन्द्र ही धर्म प्रचार के लिये लंका जाते समय तिपिटक (मौखिक रूप से) अपने साथ ले गये थे। **आर० ओ० फैंक** तथा **स्टेन कोनो** विन्ध्य प्रदेश को पालि का उद्गम स्थल मानते हैं। कारण, एक तो पालि का गिरनार शिलालेख से अधिक साम्य है तथा दूसरा यह कि विन्ध्य प्रदेश के आस पास बोली जाने वाली पैशाची प्राकृत से इसका अधिक साम्य है। **डा० ओल्डनबर्ग एवं ई० मूलर** पालि को कलिंग से सम्बन्धित करते हैं। कारण, एक तो यह कि पड़ोसी होने के कारण कलिंग से ही बौद्धधर्म लंका पहुँचा तथा दूसरा यह कि पालि खंडगिरि के शिलालेखों से मिलती है।

इस प्रकार पालि को किसी प्रदेश की बोली सिद्ध करने वाले सभी व्यक्तियों ने अपने अपने मत की सिद्धि के लिये जो अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किये हैं वे किसी न किसी दृष्टि से सत्य भी हैं।

द्वितीय विभाग में जिन व्यक्तियों ने अपने मत प्रस्तुत किये हैं उनमें जेम्स एलिवस, चाइल्डर्स. विन्टरनित्ज, ग्रियर्सन, गायगर आदि प्रमुख हैं। इनमें से प्रथम दो व्यक्तियों ने पालि का मौलिक रूप मागधी भाषा को बतलाया है। विन्टरनित्ज ने पालि को अनेक भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी बताया है जिनमें प्राचीन मागधी प्रमुख थी। ग्रियर्सन ने पालि का मूल विशुद्ध मागधी को न मान कर पश्चिमी बोली को माना है। गायगर पालि को मागधी भाषा का वह रूप मानते हैं जो सभ्य व्यक्तियों द्वारा बोलचाल में प्रयुक्त होता था। इस विभाग में रखे जाने वाले मतों को सरसरी दृष्टि से देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पालि जनसाधारण के बोलचाल की बोली नहीं थी अपितु वह साहित्यिक भाषा या शिष्ट व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त भाषा थी।

अन्तिम विभाग में लूडर्स, सिलवां लेवी आदि के मत प्रमुख हैं। लूडर्स के मतानुसार पालि तिपिटक पहले अर्धमागधी प्राकृत में था। बाद में उसका अनुवाद वर्तमान पालि में कर दिया गया। सिलवां लेवी के मतानुसार पालि तिपिटक पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनूदित रूप है।

उक्त तीन विभागों में से प्रथम विभाग के मत अंशतः सत्य होते हुये भी ग्राह्य नहीं हैं। कारण, यदि पालि वास्तव में किसी प्रदेश के बोलचाल की भाषा होती तो यह भाषा केवल बौद्धों के थेरवाद सम्प्रदाय तक ही क्यों

सीमित होकर रह गई, पालि तिपिटक में भाषा गत एकरूपता क्यों है तथा वह विशिष्ट नाम से अभिहित क्यों नहीं हुई इत्यादि प्रश्नों का समुचित समाधान प्राप्त नहीं होता। यहाँ यह स्मरणीय है कि पालि तिपिटक में प्रत्येक व्यक्ति के कथन में पालि भाषा का ही प्रयोग किया गया है। सबकी एक सी भाषा है। साथ ही जिस भाषा को आज पालि शब्द से कहा जाता है, वह उसका प्राचीन नाम नहीं है। इन सभी वातों को ध्यान में रखते हुए पालि तिपिटक की भाषा को किसी प्रदेश विशेष की बोली कहा ही नहीं जा सकता। कारण, जो बोल चाल की भाषा होती है वह न तो किसी सम्प्रदाय विशेष की होती है, न सर्वत्र एक रूप में रहती है और न ही संज्ञाहीन होती है। यही कारण है कि इस मत के पोषक विद्वानों में स्थान-निर्धारण के प्रश्न को लेकर गम्भीर मतभेद रहा है।

द्वितीय एवं तृतीय विभाग के मत पालि को बोल-चाल की बोली नहीं मानते हैं। द्वितीय विभाग के मतों में पालि को सामान्यतया साहित्यिक या वर्ग विशेष की भाषा माना गया है जब कि तीसरे विभाग के मतों में पालि तिपिटक की भाषा के मूल को खोजने का प्रयत्न किया गया है।

श्रमण संस्कृति में भगवान् बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा रूप धर्म का प्रवर्तन किया किन्तु अपने धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए यह आवश्यक था कि वे किसी ब्राह्मण को अपना शिष्य बनायें। कारण, तत्कालीन परिस्थिति में ब्राह्मण का सहयोग लिए बिना धार्मिक प्रचार सम्भव नहीं था। बुद्ध ने भी यही किया। पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को प्रथम धर्मोपदेश देने के बाद भगवान् बुद्ध ने वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों को शिष्य बनाने में क्षमता दिखायी। कुछ ही समय में बुद्ध के संघ में ब्राह्मणों का बाहुल्य-सा हो गया। तब कुछ ब्राह्मण जाति से प्रव्रज्या लेने वाले बौद्ध भिक्षुओं ने यह चाहा कि भगवान् बुद्ध के उपदेशों को वैदिक छन्द में परिवर्तित कर दिया जाय जिससे नाना प्रदेशों से आकर बौद्ध भिक्षु बने लोग उन उपदेशों को दूषित न कर सकें।

जब भगवान् बुद्ध को यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने ऐसी इच्छा व्यक्त करने वाले भिक्षुओं को डांटा और अपने उपदेशों को अपनी-अपनी भाषा में सीखने की अनुमति दे दी।[१] दूसरे शब्दों में बुद्ध के उपदेशों को वैदिक छन्द में परिवर्तित करने के प्रयास को स्वयं बुद्ध ने कुचल दिया। फिर भी बुद्ध धर्म में ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ता गया। वैदिक धर्म के चार आश्रम की तरह बुद्ध के धर्म में गृहपति, श्रामणेर, भिक्षु तथा आरण्यक ये चार परिषदें बन गईं।

भगवान् बुद्ध के बाद बुद्ध संघ की स्थिति कुछ और बदल गई। महाकाश्यप संघ के प्रमुख बन गये। आनन्द ने २५ वर्षों तक बुद्ध की परिचर्या की, किन्तु प्रथम संगीति में सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं का चुनाव करते समय उन्हें इस आधार

पर नहीं चुना जा सका क्योंकि वे अर्हत् पद को प्राप्त नहीं हुए थे। पहले संघ का आधिपत्य था, अब प्रमुख का आधिपत्य हो गया।

इस बदलती परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि बुद्ध के उपदेशों की भाषा को भी संस्कृतनिष्ठ बनाया गया हो। इस बात की सम्भावना उस समय और अधिक बढ़ जाती है जब संघ का प्रधान वैदिक आचार से प्रभावित व्यक्ति हो। अतः प्रथम संगीति के समय भगवान् बुद्ध के उपदेशों की भाषा में पर्याप्त परिवर्तन किये गये। प्रथम संगीति के पूर्व भिक्षुओं को बुद्ध के उपदेश अपनी भाषा में सीखने की अनुमति थी। फलतः प्रथम संगीति में इस विविधरूपता के स्थान पर एकरूपता लाई गई। उसके बाद बुद्धोपदेशों की बोली ने एक ऐसा विचित्र रूप धारण कर लिया जिसे स्पष्ट रूप से संस्कृत एवं प्राकृत के बीच का कह सकते हैं। कहीं संस्कृत की विशेषता ले ली गई तो कहीं प्राकृत की, तो कहीं दोनों की। बोल चाल की बोली में शब्द के प्रारम्भ में प्रायः संयुक्त व्यञ्जन नहीं आते, शब्द के मध्य में विद्यमान संयुक्त व्यञ्जन से पूर्व में आने वाले दीर्घस्वर को ह्रस्व स्वर हो जाता है तथा हकार एवं अनुनासिक व्यञ्जनों से बने संयुक्त व्यञ्जन में अनुनासिक व्यञ्जन पहले तथा हकार बाद में हो जाता है। किन्तु मजे की बात यह है कि पालि में उसके अपवाद में ब्राह्मण शब्द उपलब्ध होता है। फिर भी कुछ लोग उसे बोल चाल की बोली कहते हैं। प्रथम संगीति में थेरवादियों द्वारा निर्मित होने के कारण यह भाषा केवल थेरवाद की ही भाषा बन कर रह गई। इतना ही नहीं अपितु तृतीय संगीति के बाद महेन्द्र द्वारा, जिनकी मातृभाषा उज्जयिनी प्रदेश की भाषा थी, लङ्का में तिपिटक को मौखिक परम्परा में ले जाना तथा शताब्दियों बाद तिपिटक का लङ्का में लिपिबद्ध होना आदि ऐसी घटनायें हैं जिनसे संगीतियों में संकलित तिपिटक की भाषा प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकती है। सारांश यह कि पालि भाषा कभी भी किसी प्रदेश में बोल-चाल की भाषा नहीं रही है। यह एक ऐसी कृत्रिम साहित्यिक भाषा है जो अनेक बोल चाल की भाषाओं को संस्कृतभाषानुगामी रूप देने से बनी है, यद्यपि इसका मुख्य आधार मागधी प्राकृत है।

●

# शिलष्टोपमा : एक समालोचन

डा० हरिदत्त शर्मा

इलाहाबाद

*Śliṣṭopamā* should not be taken as a kind of *upamā* because here it is *śleṣa* that dominates over upamā. It is better to call it *upamāśrita śleṣa.*

संस्कृत काव्यशास्त्र में उपमा अलंकार को समस्त सादृश्यमूलक अर्थालंकारों के बीजभूत अलंकार के रूप में उपन्यस्त किया गया है। दूसरी ओर शब्दालंकारों में श्लेष आचार्यों के मध्य सबसे अधिक चर्चा एवं समीक्षा का विषय रहा है। साथ ही इन दोनों अलंकारों के सांकर्य की स्थिति में उनके प्राधान्याप्राधान्य पर भी पर्याप्त विवाद हुआ है। इन दोनों अलंकारों का संयोग संस्कृत कवियों को अत्यन्त रुचिकर लगा है, विशेष रूप से गद्यकवियों ने श्लेषानुप्राणित उपमा का अत्यधिक प्रयोग किया है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि क्या श्लेष अलंकार के बल पर बनी हुई उपमा वास्तविक उपमा है? इस प्रश्न के समाधान हेतु हमें 'उपमा' के स्वरूप का पर्यालोचन करना होगा।

उपमा अलंकार का मूलतत्त्व है—साधर्म्य और साधर्म्य का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है उपमान और उपमेय का समान धर्म के साथ सम्बन्ध—**'समानः एकः तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरूपो ययोः ( उपमानोपमेययोः ) तौ सधर्माणौ, तयोर्भावः साधर्म्यम्।'** अर्थात् उपमा में कोई ऐसा धर्म या वैशिष्ट्य होता है जो उपमान एवं उपमेय दोनों पदार्थों में साधारण होता है, दोनों में समान रूप से मिलता है— **'उभयोः पक्षयोः सङ्गतो धर्मः साधारणधर्मः।'** दोनों पक्षों में सङ्गत यह साधारण धर्म ही उन दोनों के परस्पर सादृश्य का कारण बनता है। अतः उस साधारण धर्म के सम्बन्ध से प्रयोज्य धर्मविशेष ही सादृश्य है और उपमानोपमेय के उस सादृश्य के प्रयोजक साधारण धर्म का सम्बन्ध ही उपमा है —**'सादृश्यं च साधारणधर्मसम्बन्ध-**

**प्रयोज्यो धर्मविशेषः''''सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा ।**[1] यह साधारण धर्म सामान्यतया गुण एवं क्रिया के रूप में मिलता है, अर्थात् दोनों पदार्थों के गुण अथवा क्रिया में समानता पाई जाती है। **काव्यप्रकाश** के टीकाकार वामनाचार्य झलकीकर ने 'गुणक्रियादि' पद में 'आदि' शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा है कि आदि पद से यहाँ गुण एवं क्रिया के अतिरिक्त समान शब्दरूप अथवा समानशब्दवाच्यत्वरूप का ग्रहण होता है। **काव्यप्रकाश** के टीकाकार का यह निर्देश अपने मूलग्रन्थ का मतानुसारी ही है। मम्मट का अभिमत है कि जिस प्रकार **'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् कचतितराम्'** इस उदाहरण में मनोज्ञत्वरूप गुण तथा दीप्तिरूप क्रिया का साम्य अथवा उभयगत साम्य होने पर उपमा होती है, उसी प्रकार **'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव'** इत्यादि अंश में शब्दमात्र के साम्य में भी उपमा हो ही सकती है। सम्भवतः आचार्य का मत है कि उपमा के लक्षण में साधारणतया साम्यमात्र का निर्देश किया गया है। ऐसा कोई उल्लेख नहीं है जिससे शब्दसाम्य में उपमा न हो सके। मम्मट को भी अपने इस मत का आधार अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रट के इस कथन में मिला है—

**स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किं तु।**
**आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः ॥**[2]

अर्थात् ये दो उपमा और समुच्चय स्पष्ट रूप से अर्थालंकार हैं, फिर भी शब्दमात्र सामान्य धर्म का आश्रय लेकर ये शब्द में हो सकते हैं। **काव्यालंकार** के टीकाकार नमिसाधु ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इन दोनों अलंकारों में यद्यपि अर्थ की दृष्टि से कोई सादृश्य नहीं होता, किन्तु दोनों वाक्यों में साधारण शब्दगत सादृश्य होता है। अतः शब्दसाम्य का आश्रय लेकर भी ये अलंकार बनते हैं। इस प्रकार शब्दमात्र के साम्य पर आधारित उपमा की शब्दालंकार तक में आचार्य ने परिगणना कर ली है।

परन्तु गहनतापूर्वक विचार करने पर मन्तव्य एकांगी एवं असमीचीन प्रतीत होता है। वस्तुतः उपमा सादृश्यमूलक अलंकारों में प्रथम एवं प्रधान अलंकार है और उसके मूल तत्त्व साधारणधर्म का चरम प्रयोजन भी सादृश्य है। उपमा में कविवर्णन का विषय एक प्रकृत या प्रस्तुत पदार्थ होता है। उस वर्णनीय पदार्थ को

---

१. **काव्यप्रकाश**, दशम उल्लास 'उद्योत' टीका, झलकीकरकृत 'बालबोधिनी' टीका में उद्धृत, पृ० ५४१।

२. **काव्यालङ्कार**, (रुद्रट), ४/३२।

समीचीन रूप से वर्णित करने के लिये कवि एक वाह्य,' सर्वसाधारण एवं अप्रस्तुत पदार्थ का सहारा लेता है जो किसी न किसी रूप में प्रस्तुत पदार्थ के समान ही होता है, जैसे रमणीमुख के सौन्दर्य को प्रकाशित करने के लिये कवियों ने चन्द्र तथा कमल को उपमान के रूप में चुना जो रूप, रंग, आकार-प्रकार, कोमलता, आह्लादकता आदि गुणों से रमणीमुख के अनुरूप ही होते हैं। इस औपम्य से प्रकृत वर्णन में एक विशेष वैचित्र्य भी आ जाता है और यह वैचित्र्य ही अलंकार है। यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि चन्द्रमा का जो स्वरूप वैज्ञानिक या खगोल-शास्त्री प्रदिपादित करते हैं नायिकामुख से उसके स्वरूप एवं आकार का दूर-दूर तक कोई साम्य नहीं, तव वास्तविक साम्य वाली बात तो यहीं निरस्त हो जाती है। इसका उत्तर तो यह है कि कवि का यह उपमाप्रयोग केवल कविदृष्टि से ही होता है। चन्द्रमा का जो रूप सामान्य सांसारिक जनों को दृश्यमान होता है वही कवि का उपमान चन्द्रमा है। इसलिये उपमेय एवं उपमान दोनों का साम्य एक सर्वानुभूत वास्तविक साम्य ही होता है। यदि वह वास्तविक साम्य विद्यमान न हो तो उपमा अलंकार का मूल प्रयोजन ही समाप्त हो जायगा। इसलिये दो पदार्थों का साम्य वस्तुस्थिति में होना अवश्य चाहिये। यों कमल एवं चन्द्रमा का अपना सौन्दर्य अलग है नायिका मुख का अपना अलग सौन्दर्य है। दोनों पदार्थ नितान्त भिन्न स्थिति वाले होते हुए भी अपने स्वरूप में समान हैं, दोनों का धर्म या वैशिष्ट्य साधारण है। अतः इस यथार्थ साम्य के रहते हुए केवल शब्दमात्र पर आधारित साम्य को उपमा अलंकार मानना उचित नहीं है।

इस प्रकार यह श्लेषानुप्राणित उपमा आचार्यों के मध्य विवाद का विषय बनी हुई है। एक ओर जहाँ मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, अप्पय दीक्षित आदि आचार्य श्लेष को उपमा का पोषक एक गौण अलङ्कार मानते हैं, वहाँ रुय्यक, महिमभट्ट आदि श्लेष को ही प्रधान एवं साध्य मानते हैं। शब्दसाम्य की वास्तविकता पर विचार करते हुए आचार्य विश्वनाथ यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि **'सकलकलम्'** इत्यादि उदाहरण में श्लेष ही साम्य का निर्वाह कर रहा है, न कि साम्य द्वारा श्लेष का निर्वाह किया जा रहा है, क्योंकि श्लेषबन्ध से पूर्व साम्य होना ही असम्भव है। इस प्रकार श्लेष को प्राणभूत तत्त्व मानते हुए भी उन्होंने उपमा को अङ्गी सिद्ध किया है। आलङ्कारिकों में **अलंकारसर्वस्वकार** रुय्यक ने इस शब्दसाम्य पर आधारित उपमा का घोर विरोध किया है। उनके अनुसार **'सकलकलम्'** इत्यादि उदाहरण में गुण एवं क्रिया के साम्य की भाँति शब्दसाम्य उपमा का प्रयोजक नहीं है, अपितु उपमा के प्रतिभास की उत्पत्ति के हेतु श्लेष में ही उसका अवसान मानना चाहिए। इस प्रकार श्लिष्टोपमा के उदाहरणों में रुय्यक जहाँ श्लेष को प्रधान मानते हुए

उसे उपमारूप गौण अलंकार के प्रतिभासमात्र का हेतु मानते हैं, वहीं इसके विपरीत मम्मट आदि आचार्यों के मत में ऐसे स्थलों में उपमा ही प्रधान अलङ्कार है और वह श्लेष रूप गौण अलङ्कार के प्रतिभासमात्र का हेतु है।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने अलङ्कारों की सीमा निर्धारित करते हुए इस विषय में कहा है—"**यत्र हि यदलङ्कारं प्रतिभानुगुणशब्दोपरचितः श्लेषः तत्र तदलङ्कारनिबन्धैः तमेव श्लेषमभिव्यनक्ति, न तु तस्य विषयमाक्रामति**'[३] अर्थात् जहाँ जिस अलङ्कार का आभासमात्र कराने के लिए की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलङ्कार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस श्लेष के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं आ धमकता।' श्लेप की प्रधानता के पक्षधर रुय्यक ने व्यक्तिविवेक की टीका में भी श्लेप को निरवकाश मानकर अन्य अलङ्कारों का बाधक माना है—'**उपमोत्थापिते श्लेषे नोपमा श्लेषं बाधते, तस्य विविक्तविषयत्वाभावात्। श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम्।**' इस प्रकार उपमादि अलङ्कारान्तर के साहचर्य में श्लेष बाधक है या साधक, प्रधान है या अप्रधान—आचार्यों में यह विवाद का विषय बना हुआ है। अन्य अलङ्कारों के साथ चाहे जो स्थिति रहती हो, परन्तु उपमा के प्रसङ्ग में तो श्लेष उसका बाधक ही सिद्ध होता है।

इस विषय में एक प्रश्न और उठाया गया है कि "**कमलमिव मुखं मनोज्ञम्**' इत्यादि उदाहरण में उपमेयगत एवं उपमानगत साधारण धर्म के स्वरूपतः भिन्न होने के कारण यहाँ भी अर्थश्लिष्टता के कारण श्लेष की ही मुख्य स्थिति हो जायेगी। इसलिये साधारण धर्म के प्रयोग से शून्य ही उपमा का विषय होना चाहिए। इस विषय में एक सीधी सी बात यह है साधारण धर्म का कथन अभिधया किया जाय या न किया जाय, साधारण धर्म के मूल में हुए विना उपमा बनेगी ही नहीं। इसलिए पूर्णोपमा एवं धर्मलुप्तोपमा दोनों में ही उपमालङ्कार होता है। साधारण धर्म शब्दोपात्त न रहने पर भी प्रायः उपमान सार्वजनीन एवं प्रसिद्ध होने के कारण उसका वैशिष्ट्य सर्वविदित रहता है। हाँ, यदि साधारणधर्म का भी उपादान कर दिया जाय तो सादृश्य के अवगमन में, उसको हृदयङ्गम करने में शीघ्रता एवं सरलता रहेगी। धर्म का कथन न करने से सादृश्यावगम में विलम्ब होने से चमत्कार में कमी हो सकती है। जैसा कि उद्योतकार ने कहा है—'**पूर्णोपमात्वं हि चमत्कारातिशयाय, उपात्तधर्मेण झटिति सादृश्यावगमात्। अनुपात्तेन विलम्बेन तदवगत्या चमत्कारापकर्ष इति भावः।**'[४]

---

३. **व्यक्तिविवेक**, द्वितीय विमर्श, चौखम्बा संस्करण, पृ० ३९५।

४. **काव्यप्रकाश**, नवम उल्लास, 'उद्योत' टीका, झलकीकर-कृत 'बालबोधिनी' टीका में उद्धृत, पृ० ५२२।

श्लेषानुप्राणित उपमा के उदाहरण हमें संस्कृत गद्यकाव्यों में विशाल संख्या में मिलते हैं। बाणभट्ट की **कादम्बरी** से ही उदाहरण लें तो देखेंगे कि विन्ध्याटवी जैसे महाजङ्गल के लिए कवि ने दुर्गा, गिरिजा, जानकी जैसी देवियों, यमनगरी, सेना, समरभूमि, अमृतमन्थनवेला, प्रलयवेला, वर्षा, राज्यस्थिति, बालग्रीवा, पानभूमि, अम्बरश्री, जैसी मूर्त-अमूर्त वस्तुओं, कामिनी, सोत्कण्ठा, मत्ता, उन्मत्ता, विधवा, जैसी स्त्रियों को केवल श्लेष के बल पर उपमान रूप में उपस्थित किया है। यथार्थ रूप में विन्ध्य की अटवी से इन विविध चेतन-अचेतन पदार्थों का कोई साम्य नहीं है। इन स्थलों पर दोनों पदार्थों में समानता का तत्त्व खोजें तो कुछ नहीं मिलता, केवल उन विशेषणों के दो दो अर्थ प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार हम **नलचम्पू** का उदाहरण देख सकते हैं जिसमें सभङ्ग श्लेष का चमत्कार दिखाने के लिए बलात् ऐसी शब्दावली का संयोजन किया गया है जो येन केन प्रकारेण दोनों में सङ्गत हो जाती है, जैसे श्लेष की झोंक में कवि ने राजा नल की विश्वम्भराभोग, प्रासाद, दनुजलोक, सुमेरु आदि से उपमायें दी हैं। इन स्थलों पर विशेषणपद उपमेय एवं उपमान के साथ पृथक्-पृथक् तो सङ्गत बैठ जाते हैं परन्तु उनका परस्पर कोई सम्बन्ध या सहधर्मिता नहीं बैठ पाती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपमेय एवं उपमान की इस सहधर्मिता का न हो पाना ही उसके उपमागत औचित्य में बाधा उपस्थित करता है, और वास्तविक सहधर्मिता अर्थ से होती है, शब्द से नहीं। श्लिष्टोपमा के स्थल में सहृदय श्लेष से ही चमत्कृत होता है। उसका भावोद्वेलन श्लेष से ही होता है, उपमा से नहीं, और संस्कृत काव्य की समस्त समालोचना सहृदयपरक ही है। सहृदयगत चमत्कार के अतिरिक्त कविसंरम्भ भी यहाँ श्लेष में ही है और सिद्धि भी श्लेष की ही होती है। उपमा श्लेषानुसारिणी होने के कारण गौण एवं निर्बल प्रतीत होती है। श्लेष के बिना उपमा निष्प्राण है। अतः श्लेष से जीवन प्राप्त करने वाली ऐसी निष्प्राण उपमा अस्तित्वहीन की तरह ही है और इसको कम से कम उपमा अलङ्कार के रूप में मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। दण्डी ने **काव्यादर्श** में इस प्रकार की उपमा को उपमा के एक भेद के रूप में 'श्लेषोपमा' नाम से उपन्यस्त किया है। परन्तु श्लिष्टोपमा को उपमा अलङ्कार का एक भेदमात्र बताने से समस्या का समाधान नहीं होता। वस्तुतः कवि एवं सहृदय दोनों की दृष्टि से यहाँ श्लेष की ही प्रधानता सिद्ध होगी, और इस दृष्टि से इस स्थल पर 'श्लेषोपमा' न कहकर 'उपमामूलक या उपमाश्रित श्लेष' कहना अधिक सङ्गत होगा।

●

# सात्वत-वैष्णव धर्म के महान् स्रोत—श्रीकृष्ण

प्रो0 कृष्णदत्त वाजपेयी

सागर

The author, in this paper, has tried to throw light on the beginning and development of the *Bhāgavata dharma* on the basis of literary and archaeological evidences.

चिंतन तथा लोक-जीवन के क्षेत्रों को असाधारण रूप से प्रभावित करने का अप्रतिम श्रेय श्रीकृष्ण को प्राप्त है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक दार्शनिक, साहित्यकार, कलाकार एवं धर्म-प्रचारक-जन भगवान् श्रीकृष्ण के उदात्त चरित से प्रेरणा ग्रहण करते आये हैं। फलस्वरूप भारत तथा एशिया के अन्य अनेक देशों में ही नहीं, यूरोप और अमेरिका के कई क्षेत्रों में भी श्रीकृष्ण की लोकरंजक लीलायें प्रभावशील हैं।

श्रीकृष्ण देश-काल की सीमाओं में आबद्ध न रहकर विश्वजनीन हुए। उनके व्यक्तित्व में लोकरंजक चारुत्व तत्त्वों के साथ एक प्रखर राजनेता एवं कर्म-योगी दार्शनिक के गुणों का अद्भुत समन्वय है। भक्ति, ज्ञान और कर्म की जिस पावन त्रिवेणी की सृष्टि उन्होंने की वह उनके जीवन में भी व्याप्त मिलती है। उनका ब्रज का प्रारम्भिक जीवन भक्ति का, कुरुक्षेत्र में गीतोपदेश ज्ञान का तथा द्वारका का जीवन कर्म का प्रतिनिधित्व करता है।

सात्वत-भागवत धर्म के महान् स्रोत के रूप में श्रीकृष्ण प्रख्यात हैं। इस उदार धर्म ने दार्शनिक-चिंतन की अनेक धाराओं को पल्लवित-पुष्पित किया। उससे भी बड़े आयाम जो इस धर्म द्वारा उद्घाटित हुए, वे साहित्य और अन्य ललित कलाओं के क्षेत्रों में थे। काव्य, नाटक, कथा-साहित्य आदि विधाओं को इस धर्म ने प्रचुर रूप में श्री-सम्पन्न किया। मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और नाट्य के विविध रूप श्रीकृष्ण को केन्द्र मानकर इस देश में ही नहीं, दक्षिण-पूर्व एशिया के एक बड़े भाग में संवर्द्धित हुए। भारतीय-संस्कृति की व्यापकता के अध्ययन-अन्वेषण हेतु इन रूपों का विशेष स्थान है।

पुरातत्त्व की दृष्टि से भगवान् विष्णु के सभी अवतारों में श्रीकृष्ण ही ऐसे हैं जिनके मूर्त-रूपों में सहज मानव-भाव सर्वाधिक विद्यमान है। प्राचीन-भारतीय-कला में उनका अंकन किसी देवता के रूप में नहीं मिलता जो मानव-धरातल से बहुत ऊँचा उठा हुआ हो और जिसमें केवल असाधारण दैवी तत्त्वों का ही समावेश हो। श्रीकृष्ण को ऐसा लोकनायक माना गया जो जनसाधारण के बहुत निकट हैं और जिनके जीवन के साथ लोक की बहुमुखी आकांक्षाएँ घुली-मिली हैं। कलाकारों को श्रीकृष्ण का बाल-रूप सर्वाधिक ग्राह्य लगा। **भागवत, विष्णु, हरिवंश** आदि पुराणों में उनकी मधुर बाल-लीलाओं का विस्तृत वर्णन है। उन्हें अपनी कला में रूपायित कर कलाकारों ने अपनी कृतियों को अमरत्व प्रदान किया।

ईसवी प्रथम-द्वितीय शती से लेकर मध्यकाल के अंत तक की जो कला-कृतियाँ मिली हैं, उनमें प्रायः श्रीकृष्ण के बाल-भाव का ही आलेखन है। प्राचीन शिलापट्टों पर उत्कीर्ण अधिकांश लीलायें कृष्ण-जन्म, पूतना-वध, शकट-वध, यमलार्जुन-मोक्ष, कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण एवं अरिष्ट, केशि तथा कंस आदि के वध से सम्बन्धित है। इनके अतिरिक्त गोकुल-वृन्दावन की कतिपय अन्य लीलाओं का चित्रण भी प्राचीन मूर्तियों में मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पहले भीम और अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण, जरासंध की राजधानी गिरिव्रज (आधुनिक राजगृह) गये थे। वहीं भीम और जरासंध के मध्य मल्ल-युद्ध हुआ। इसका अत्यन्त रोचक चित्रण इलाहाबाद जिले में गढ़वा नामक स्थान से प्राप्त एक शिलापट्ट पर मिलता है। यह पट्ट ईसवी पाँचवीं शती का है और अब लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है। कृष्ण-लीला-सम्बन्धी यह एक दुर्लभ कलाकृति है, क्योंकि कंसवध के बाद श्रीकृष्ण के जीवन-सम्बन्धी बहुत कम दृश्य प्राचीन मूर्तिकला में मिले हैं।

शिल्प-विषयक अनेक ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के प्रतिमाशास्त्रीय विवरण उपलब्ध हैं। **'विष्णुधर्मोत्तर'** तथा **'वैखानस-आगम'** में श्रीकृष्ण के साथ रुक्मिणी तथा सत्यभामा की मूर्तियाँ बनाने का विधान मिलता है। **भागवत पुराण** में श्रीकृष्ण के चतुर्भुजी रूप का कथन है। **'शिल्परत्न'** नामक ग्रंथ में गोप-गोपियों से घिरे हुए श्रीकृष्ण की मूर्ति की चर्चा है। **पद्मपुराण** में कदंब-वृक्ष के नीचे एक गोपिका के साथ खड़े हुए श्रीकृष्ण का वर्णन उपलब्ध है। यह विशिष्ट गोपिका श्रीराधा हो सकती हैं। जोगीशाही नामक स्थान से द्विभुजी, वेणुधर गोपाल की एक मूर्ति मिली है। उनके एक ओर गोपियों का वृंद प्रदर्शित है, ओर दूसरी ओर गोपों का। नीचे गायें दिखायी गयी हैं।

श्रीकृष्ण की उक्त प्राचीन मूर्तियों में उन्हें प्रायः सहज रूप में द्विभुजी ही दिखाया गया है। उनकी आंगिक मुद्राओं में भी उनका लोकरंजक मानव रूप ही

अभिव्यक्त है, चामत्कारिक दैवी रूप नहीं। श्रीकृष्ण का यही सहज मानवरूप कोटि-कोटि जनों को भाया और उनके लिए प्रेरणादायक बना।

साहित्य तथा पुरातत्त्व में श्रीकृष्ण के साथ गोपियों तथा मुख्य-सखी राधा के सम्बन्ध में कतिपय प्रमाण उपलब्ध हैं। श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा के साहचर्य ने ब्रजभूमि को धन्य किया। इन दोनों के व्यक्तित्व के साथ लोक-जीवन की एक दिव्य प्रेम-परम्परा का निर्माण हुआ। कतिपय प्राचीन शिलालेखों में राधा का उल्लेख मिला है। सातवाहन वंश के शासक हाल द्वारा प्रणीत प्राकृत ग्रन्थ **'गाथासप्तशती'** में उल्लिखित 'राहिआ' नाम राधा के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। **'पंचतंत्र'** में तथा मध्यकालीन अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों में राधा का उल्लेख है। साहित्य और कला में राधा तथा गोपियों के अलावा रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण की पटरानियों का भी चित्रण मिलता है। लगभग ४०० ई० के एक ब्राह्मी शिलालेख में श्रीकृष्ण की एक पटरानी जाम्बवती का नामोल्लेख है।

श्रीकृष्ण के अतिरिक्त उनके अग्रज बलराम भी प्राचीन-कला में बहुत आदृत हुए। उन्हें शेषनाग का अवतार माना गया। अतः बलराम की प्रतिमाओं के पीछे शेषनाग का, अनेक फणों सहित, अंकन मिलता है। बलराम के आयुध हल और मूसल हैं। वृष्णि-वंशी श्रीकृष्ण और बलराम का एक साथ उल्लेख न केवल साहित्यिक ग्रन्थों में, अपितु कई पुराने अभिलेखों में भी हुआ। अभिलेखीय प्रमाणों से इस बात की पुष्टि हुई है कि भागवत या सात्त्वत धर्म की प्रारम्भिक अवस्था में वासुदेव-संकर्षण, अर्थात् कृष्ण-बलराम, की पूजा साथ-साथ होती थी। बाद में इन दोनों के साथ साम्ब, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को भी जोड़कर मुख्य वृष्णियों की संख्या पाँच हो गयी और 'वृष्णियों के पंचवीरों' के रूप में पूज्य हुए।

कुछ समय पूर्व यूनानी शासक अगाथोक्लीज़ की चाँदी की दुर्लभ मुद्रायें मिली हैं। उन पर हल-मूसलधारी बलराम तथा चक्रधर श्रीकृष्ण का अत्यन्त रोचक चित्रण है। उनकी वेशभूषा ब्रज की है। इस शासक का समय ईसवी पूर्व दूसरी शती का प्रारम्भ है। एक यूनानी शासक द्वारा अपने सिक्कों पर बलराम-श्रीकृष्ण का अंकन इन दोनों देवों के असाधारण महत्त्व का परिचायक है।

गोप वेश में चक्र-गदाधारी वासुदेव की चतुर्भुजी कायपरिमाण मूर्ति मध्यप्रदेश के बिलासपुर जिला के मल्हार नामक स्थान से मिली है। पाषाण को चारों ओर से उकेर कर बनाई गयी यह पूज्य प्रतिमा है। इस पर लगभग २०० ईसवी पूर्व का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। वासुदेव विष्णु की अब तक प्राप्त प्रतिमाओं में यह मूर्ति सर्वाधिक प्राचीन है। यूनानी शासक अगाथोक्लीज़ के सिक्के की कृष्ण-प्रतिमा पर मल्हार की मूर्ति का प्रभाव है।

श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान मथुरा था। मथुरा तथा ब्रज के कई अन्य स्थलों में उन्होंने लोकाह्लादिनी लीलायें कीं। ब्रज में श्रीकृष्ण की अनेक पुरानी मूर्तियाँ मिली हैं। उनके अतिरिक्त उनकी तथा बलराम की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएँ तुमैन (जिला गुना), एरण (जिला सागर), केवगढ़ (जिला ललितपुर), खजुराहो (जिला छतरपुर), मंडोर (जिला जोधपुर), सूरतगढ़ (जिला बीकानेर) आदि स्थानों से मिली हैं। बंगाल में पहाड़पुर, उड़ीसा में भुवनेश्वर, कर्णाटक में बादामी तथा तमिलनाडु में महाबलीपुरम् आदि स्थानों की कला में श्रीकृष्ण की लीलाओं के विविध मनोरंजक रूप विद्यमान हैं। जावा के 'प्रवनं' तथा 'पनतारन' नामक स्थानों के अतिरिक्त विदेशों में थाईलैण्ड (स्याम), कंबोडिया (कम्पूचिया), सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत आदि में उपलब्ध अनेक कलाकृतियाँ प्रमाणित करती हैं कि उन देशों में कृष्णचरित बहुत लोकप्रिय हुआ था।

प्रारम्भिक वैदिक काल में इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि प्रमुख देवता मान्य थे। परवर्ती वैदिक-युग से विष्णु का महत्त्व बढ़ने लगा। शनैः शनैः तीन प्रमुख देवों—ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अन्तर्गत लोक-रक्षक के रूप में विष्णु को प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। उनका तादात्म्य ऋत और तप के प्रतिनिधि देवता नारायण के साथ स्थापित किया गया। कालांतर में वासुदेव-कृष्ण को विष्णु का मुख्य रूप स्वीकार कर लिया गया। परवर्ती ग्रन्थों तथा अभिलेखों में अनेक स्थलों में विष्णु का स्मरण वासुदेव के रूप में ही किया गया।

गुप्तयुग में विष्णु के मुख्य चार अवतार—वराह, नृसिंह, वामन (त्रिविक्रम) तथा कृष्ण थे। इसमें संदेह नहीं कि श्रीराम का आविर्भाव श्रीकृष्ण के पहले हुआ था। विष्णु के दस अवतारों में दाशरथि राम की भी गणना है। उनके प्राचीन शिला-फलकों पर अवतारों का क्रम दर्शाते समय कृष्ण के पहले राम को स्थान दिया गया। यह कालक्रम इस बात की पुष्टि करता है कि राम का समय कृष्ण के पहले का है। तो भी यह बात विचारणीय है कि उपलब्ध पुरातात्त्विक प्रमाणों से श्रीराम की प्रतिमाओं तथा उनके मन्दिरों का निर्माण श्रीकृष्ण की मूर्तियों और मन्दिरों के काफी बाद प्रारम्भ ज्ञात हुआ है। कालक्रमानुसार अभिलेखों में श्रीराम की स्तुति या ध्यान श्रीकृष्ण की अपेक्षा बाद में मिलता है।

प्राचीन शिलालेखों और ताम्रपत्रों में भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति और उनकी महत्ता का गुणगान प्रचुर रूप में उपलब्ध है। अभिलेखों के प्रारम्भ में प्रायः इष्टदेव का ध्यान या स्तुति की जाती थी। वैष्णव शासक तथा अन्य दानदाता अभिलेखों का आरम्भ विष्णु, लक्ष्मी, कृष्ण आदि की स्तुति से कराते थे। ध्यानपरक मंगलाचरणों के अतिरिक्त अनेक अभिलेखों में श्रीकृष्ण की मूर्तियों अथवा मन्दिरों के निर्माण के

विषय में अथवा उनकी लोकोत्तर शक्ति या उदारता के बारे में भी विवरण मिलते हैं। अभिलेखों में उनके नाम कृष्ण, वासुदेव, माधव, जनार्दन, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम, कंसनिषूदन, अहिमर्दी आदि मिले हैं।

प्रारम्भ में वासुदेव-कृष्ण की पूजा के तीन मुख्य केन्द्र थे—माध्यमिका, विदिशा और मथुरा। मथुरा इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई। राजस्थान में चित्तौड़ के समीप माध्यमिका नगरी को अब ताँबावती या नगरी कहा जाता है। ईसवी पूर्व तीसरी शती के अंत का एक ब्राह्मीशिलालेख वहाँ हाथीवाड़ा नामक स्थान में मिला है। उनमें वासुदेव कृष्ण की पूज्य-पाषाण-मूर्ति का, उसके चारों ओर बनायी गयी रक्षा-वेदिका का तथा 'नारायणवाटिका' का उल्लेख है। यह लेख बड़े महत्त्व का है और इस बात का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है कि ईसा पूर्व तीसरी शती में देव रूप में श्रीकृष्ण की मूर्ति-पूजा होने लगी थी। डा० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर द्वारा नगरी में अब से लगभग सत्तर साल पहले उत्खनन कार्य कराया गया था। खुदाई में भगवान् कृष्ण के पूजा-स्थल तथा नारायण-वाटिका (वर्तमान हाथीवाड़ा) के अवशेष मिले।

मिश्रित-संस्कृत-भाषा में लिखा हुआ एक अन्य मौर्यकालीन ब्राह्मी लेख घोसुंडी नामक स्थान से मिला है। घोसुंडी नगरी (माध्यमिका) के समीप है। सौभाग्य से तीन पंक्तियों का यह लेख पूर्ण है। लेख इस प्रकार है :

**१. कारितो अयं राज्ञा भागवतेन गाजायनेन पाराशरीपुत्रेण स—**

**२. र्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगवद्भ्यां संकर्षण—वासुदेवाभ्यां**

**३. अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारो नारायणवाटिका।**

उक्त घोसुंडी लेख तथा हाथीवाड़ा के लेख को मिलाकर देखने से ज्ञात होता है कि भगवान् संकर्षण-वासुदेव के सम्मान में वृष्णियों की राजधानी नगरी में तीन निर्माण कार्य किये गये—

(क) पूजा-शिला—अर्चा के लिए बलराम तथा कृष्ण की पाषाण मूर्तियाँ।

(ख) प्राकार-रक्षा के लिए वेदिका या बाड़ा और।

(ग) नारायण के नाम पर वाटिका या फुलवाड़ी—(इसे अब हाथीवाड़ा कहते हैं)। यह निर्माण-कार्य श्रीकृष्ण के भक्त (भागवत) राजा सर्वतात (सर्वत्रात) के द्वारा कराया गया। हमारा विचार है कि यह राजा माध्यमिका के स्थानीय वृष्णि-वंश का था।

माध्यमिका नगरी की चर्चा पतंजलि के **महाभाष्य** में मिलती है। यवनों (यूनानियों) के द्वारा माध्यमिका नगरी पर भी आक्रमण किया गया, ऐसा उल्लेख **महाभाष्य** में मिलता है: **'अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्।'**

'माध्यमिका' का महत्त्व बहुत समय तक कृष्ण-पूजा के केन्द्र-रूप में अक्षुण्ण रहा। बड़ली (जिला अजमेर) से ई० पू० दूसरी शती का एक भग्न ब्राह्मी लेख मिला है। उससे ज्ञात हुआ है कि माध्यमिका के किसी निवासी द्वारा बड़ली में श्रीकृष्ण के मन्दिर का निर्माण कराया गया[1]।

मध्यप्रदेश की विदिशा नगरी की गणना भारत के प्रमुख प्राचीन सांस्कृतिक नगरों में की जाती है। ईसवी शती में वहाँ विष्णु का मन्दिर विद्यमान था। इसका पता हाल में केन्द्रीय-पुरातत्त्व-विभाग द्वारा वहाँ कराये गये उत्खनन से चला है। उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि मौर्यकालीन मन्दिर का आकार अण्डाकार था। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य प्रमुख वृष्णियों के प्रतीक ध्वजस्तम्भ वहाँ लगाये गये।

शुङ्ग-शासकों के राज्यकाल में ईसवी पूर्व दूसरी शती के उत्तरार्द्ध में विदिशा के उक्त मन्दिर के सामने एक ऊँचा गरुड़-स्तम्भ वनवाया गया। इस स्तम्भ ( जिसे अब 'खामबाबा' कहते हैं ) पर खुदे हुए ब्राह्मी-लेख से पता चला है कि उसे तक्षशिला के यूनानी राजा ऐंटिअल्काइडीज़ ( अन्तलिकित ) के राजदूत हेलिओदोर ने वनवाया था। हेलियोदार ने अपने लेख के प्रारम्भ में देवताओं के देव वासुदेव का नाम दिया है, जिनके प्रति भक्ति-भाव व्यक्त करने के लिए उसने विदिशा के मन्दिर के सामने गरुड़ध्वज स्थापित किया। हेलियोदोर ने लेख में अपने को 'भागवत' ( भगवान् वासुदेव का भक्त ) कहा है[2]। इस लेख से विदिशा नगरी की राजनीतिक महत्ता के साथ यह भी ज्ञात हुआ है कि ई० पूर्व दूसरी शती में वहाँ वासुदेव-पूजा का एक प्रधान केन्द्र था। यहीं वृष्णियों के अन्य चार प्रमुखों ( बलराम, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध ) के पूजा का भी केन्द्र बना। विदिशा में श्रीकृष्ण के गरुड़ध्वज के अतिरिक्त ताड़ध्वज (बलराम का) तथा मकरध्वज (प्रद्युम्न का) प्रतीक भी प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान् कृष्ण की उपासना का तीसरा बड़ा केन्द्र था - मथुरानगरी। वहाँ

---

१. हाथीवाड़ा, घोसुण्डी तथा बड़ली के मूल ब्राह्मी लेखों के लिए द्रष्टव्य, दिनेश चन्द्र सरकार, **सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस**, जिल्द १ ( द्वितीय संस्करण ), कलकत्ता १९६५, पृ० ८९-९१)।

२ मूल लेख के लिए देखिये सरकार, **वही**, पृ० ८८-८९!

से अनेक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मिले हैं, जिनमें वहाँ वासुदेव की प्रतिमाओं तथा मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है। अनेक वर्ष पहले दो शिलालेख मथुरा के मोरा नामक गाँव से प्राप्त हुये थे[३]। लेख ब्राह्मी में है और मथुरा में राज्य करने वाले शक-वंशी शोडास के समय (ई० पूर्व प्रथम शती) के हैं। पहले लेख में भगवान् श्रीकृष्ण के जन्मस्थान में भगवान् वासुदेव के सम्मान में मूर्ति और तोरणद्वार के सहित वेदिका निर्माण का कथन है। मूर्ति पत्थर की थी, अतः उसकी संज्ञा 'शैल' दी है। तोरण तथा वेदिका का भी वहाँ स्पष्ट उल्लेख है। (**शैलं तोरणं वेदिका च**)। मोरा से मिले हुए दूसरे शिलालेख में मन्दिर के लिये 'शैलदेवगृह' शब्द आया है और उसमें वृष्णियों के पाँच वीरों (प्रमुखों) की प्रतिमायें प्रतिष्ठापित करने की चर्चा है (भगवतां वृष्णीनां पञ्चवीराणां प्रतिमाः शैलदेवगृहे....')। इस लेख से स्पष्ट है कि मन्दिर पत्थर का बना हुआ था और उसमें पाँच वृष्णियों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी थीं। मोरा से प्राप्त पाषाण-निर्मित एक वृष्णि-मूर्ति मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित है। उसमें ब्राह्मी लेख का कुछ अंश भी बचा है। सम्भवतः यह प्रतिमा उन पाँच मूर्तियों में से एक थी, जिनकी प्रतिष्ठापना का उल्लेख मोरा-अभिलेख में मिला है। मथुरा से हाल में प्राप्त एक अन्य शिलालेख में भगवान् के मन्दिर के लिए 'देवकुल' नाम आया है। **वायुपुराण** (अध्याय ७९,१-२) में वृष्णियों के पाँच वीरों (व्यूहों) की चर्चा इस प्रकार मिलती है।

**'संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः साम्ब एव च।**
**अनिरुद्धश्च पञ्चैते वंशवीराः प्रकीर्तिताः ॥'**

अर्थात् वृष्णियों के पाँच प्रसिद्ध वीर इस प्रकार हैं : संकर्षण (बलराम), वासुदेव (कृष्ण), प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध। **विष्णु संहिता** (६७,२) में केवल चार व्यूह वर्णित है। वहाँ अनिरुद्ध का उल्लेख नहीं है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अवस्थानुसार बलराम को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और उनके बाद क्रमशः प्रद्युम्न, साम्ब तथा अनिरुद्ध के नाम आये हैं। विदिशा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश के एरण, बडोह-पठारी आदि स्थानों में गुप्तकालीन विशाल गरुड़ध्वज स्तम्भ विद्यमान है। इससे ज्ञात होता है कि वासुदेव-विष्णु के मन्दिरों के सामने गरुड़ध्वज स्थापित करने की प्रथा शुङ्गकाल के बाद शताब्दियों तक जारी रही। वासुदेव के स्तम्भ पर गरुड़, बलराम के स्तम्भ पर तालवृक्ष और प्रद्युम्न के स्तम्भ पर मकर चिन्ह था। बलराम और प्रद्युम्न के ध्वजों के नाम क्रमशः

---

३. लूडर्स, **मथुरा इंस्क्रिप्शंस** ( संपादक क्लॉस एल० जोनेर्ट ), गाटिंजन, १९६१, पृ० १५४-६।

तालध्वज, और मकरध्वज प्रसिद्ध हुए। विदिशा तथा पद्मावती (ग्वालियर के समीप आधुनिक पवाया) से कलात्मक तालध्वज प्राप्त हुए हैं जो वहाँ पर बलराम के मन्दिरों के सूचक प्रतीत होते हैं।

मथुरा नगर तथा उसके समीप से हाल में अन्य शिलालेख मिले हैं। उनसे ज्ञात हुआ है कि शक-क्षत्रप शोडास के राज्यकाल में उसके कोषाध्यक्ष मूलवसु तथा उसकी पत्नी पक्षका के द्वारा क्रमशः वासुदेव तथा श्रीदेवी के मन्दिरों और प्रतिमाओं का निर्माण कराया गया।

सातवाहन राजवंश के एक शिलालेख में इन्द्रादि देवों के साथ संकर्षण वासुदेव का भी उल्लेख है। ई० पूर्व दूसरी शती का यह लेख पुणे के समीप नाणेघाट नामक स्थान में मिला है। इसकी भाषा प्राकृत है। इसकी प्रथम पङ्क्ति में धर्म तथा इन्द्र को नमस्कार करने के बाद **'संकर्षण-वासुदेवानन्'** शब्द आये हैं। इसके बाद चन्द्र, चारों लोकपालों, यम, वरुण, कुबेर तथा वासव के उल्लेख हैं[४]। इससे वृष्णियों के वीरों का महत्त्व प्रतिपादित होता है।

ईसवी चौथी शती के आरम्भ से लेकर लगभग छठी शती के मध्य तक शासन करने वाला गुप्तवंश भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। इस वंश के अधिकांश शासक वैष्णव थे। उनका राजचिह्न गरुड़ था। उनके सिक्कों, मुहरों तथा अभिलेखों में लक्ष्मी, कमल, शंख, चक्र आदि चिन्ह मिले हैं। इस वंश का प्रतापी-सम्राट् चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य अपने को 'परमभागवत' कहने में गर्व का अनुभव करता था। उसके कई वंशजों को भी 'परमभागवत' कहा गया। यूनानी हेलियोदोर की 'भागवत' उपाधि की श्रीवृद्धि अब 'परमभागवत' रूप में हुई। चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य ने सोने का एक ऐसा सिक्का चलाया जिसके एक ओर चतुर्भुज भगवान् प्रदर्शित हैं। दूसरी ओर सम्राट् की उपाधि 'चक्रविक्रम' लिखी है। साँची से उसका ताँबे का एक ऐसा सिक्का मिला है जिस पर भगवान् का नाम पद्मनाभ दिया है : **जितं भगवता पद्मनाभेन'**। यह सिक्का पद्मनाभ विष्णु के नाम पर चलाया गया, जिसके आशीर्वाद से सम्राट् चन्द्रगुप्त ने मालवा के विदेशी शकों पर विजय प्राप्त की थी।

धातु तथा पकी-मिट्टी की अनेक गुप्तकालीन मुहरें मथुरा, राजघाट, कौशाम्बी, झूसी, (इलाहाबाद), पटना आदि से मिली हैं। उन पर पद्म, शंख, चक्र आदि चिन्ह अंकित हैं। उन पर ब्राह्मी लेख भी मिले हैं, जो इस प्रकार हैं : **'माधव', 'हरिस्मरण' 'नमो भगवते वासुदेवाय'** तथा **'जितं भगवता वासुदेवेन'**।

---

४. आर्किओलॉजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया, जिल्द ५, पृ० ६० तथा ८६।

सागर जिला के एरण नामक स्थान से एक दुर्लभ शिलालेख मिला था, जो अब कलकत्ता के इण्डियन-म्यूज़ियम में सुरक्षित है। यह लेख गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का माना जाता है,[५] परन्तु उसे चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य के समय का मानना अधिक युक्तिसङ्गत है। इस लेख के अनुसार एरण में गुप्त-सम्राट् ने एक स्तम्भ स्थापित कराया। सम्भवतः यह गरुड़ध्वज था, जो भगवान्-वासुदेव के मन्दिर के सामने प्रतिष्ठित किया गया था।

साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक उक्त प्रमाणों से सात्त्वत भागवत धर्म के उदय तथा उसके प्रारम्भिक विकास की जानकारी मिलती है। गुप्तशासन काल तथा उसके परवर्ती-युगों में इस धर्म ने भारत तथा उसके बाहर प्रभूत विस्तार प्राप्त किया।

---

५. फ्लीट् कॉर्पस, जिल्द ३, पृ० २०।

# अद्वैत वेदान्त का 'सिद्धिवाङ्मय' एवं ब्रह्मसिद्धि


(कु०) *अर्चना चतुर्वेदी*

इलाहाबाद



We have in Indian Philosophy a series of *Siddhi* literature concerning *Advaita Vedānta*. The author, while describing the different works of this branch of literature, discusses in detail the nature and subject-matter of an important work *Brahma-Siddhi* written by Maṇḍana Miśra.


'सिद्धिवाङ्मय' अद्वैत वेदान्त दर्शन का एक प्रमुख अंग है। भारतीय दार्शनिक ग्रंथों की एक विशेष शैली की रचनाओं के शीर्षक के रूप में 'सिद्धि' शब्द का प्रयोग होता था। यह प्रयोग बौद्धकालीन विद्वानों के समय से ही पाया जाता है। सामान्यतः, सतर्क खोज के परिणामस्वरूप जो निष्कर्ष निकलता है उसके लिये 'सिद्धि' शब्द का प्रयोग किया जाता है, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो, पञ्चावयवी न्याय-वाक्य के द्वारा जो निर्णय होता है वही 'सिद्धि' शब्द का तात्पर्य है। किन्तु शीर्षक के रूप में सिद्धि' शब्द एक सम्पूर्ण वाङ्मय का परिचायक बन गया है।

सिद्धिवाङ्मय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के चार प्रसिद्ध ग्रन्थों को मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है। आचार्य मधुसूदन कृत अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अद्वैतसिद्धि' का अधोलिखित अन्तिम श्लोक इस विषय में प्रमाण है—

> "सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात्।
> अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत ॥"

अर्थात् ये चार प्रमुख ग्रन्थ हैं, (१) इष्टसिद्धि, (२) नैष्कर्म्यसिद्धि, (३) ब्रह्मसिद्धि, (४) अद्वैतसिद्धि। जैसा कि उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट होता है, "अद्वैतसिद्धि" ग्रन्थ उपर्युक्त चारों ग्रन्थों में सर्वाधिक परवर्ती ग्रन्थ है, जो कि शेष तीनों ग्रन्थों के बहुत बाद में लिखा गया। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर उस शताब्दी के अन्त तक आचार्य मधुसूदन सरस्वती अपनी ख्याति की पराकाष्ठा पर थे, और उसी

काल में उन्होंने 'सिद्धिवाङ्मय' से प्रभावित होकर **'अद्वैतसिद्धि'** नामक ग्रन्थ की रचना की। इससे बहुत पहले विमुक्तात्मा कृत **'इष्टसिद्धि'**, सुरेश्वराचार्य कृत **'नैष्कर्म्यसिद्धि'** तथा मण्डन मिश्र कृत **'ब्रह्मसिद्धि'** ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी।

उपर्युक्त, सिद्धि-चतुष्टय ग्रन्थों पर यदि ध्यान दिया जाय तो ये चारों परस्पर एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। यदि **'ब्रह्मसिद्धि'** ग्रन्थ ब्रह्माद्वैत अथवा सत्ताद्वैत सिद्धान्तों का विशद विवेचन करता है. अर्थात् यह प्रतिपादित करता है कि अन्तिम सत्ता के रूप में 'ब्रह्म' ही एकमात्र सत्य है; तो वहीं **'नैष्कर्म्यसिद्धि'** शुद्ध ज्ञान को कर्म की अधीनता से मुक्त करा कर यह स्थापित करती है कि शुद्ध 'चित्' स्वरूप 'ब्रह्म' ही सर्वोत्कृष्ट एवं एकमात्र सत्य है। **'इष्टसिद्धि'** में इस मत को पुष्ट एवं विख्यात करने की चेष्टा की गई है कि जिस प्रकार 'ब्रह्म' और 'आनन्द' समरूप हैं, उसी प्रकार 'ब्रह्म' और 'आत्मा' भी एकात्मक हैं। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अस्पष्ट अविविक्त एवं विपर्यासपूर्ण 'अविद्या' के आवरण-स्वभाव का विस्तृत स्पष्टीकरण किया गया है—जिसकी स्थापना करने के लिये अद्वैती वर्ग विशेष रूप से आतुर रहता है और वही उसका इष्ट है। 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त सम्मत अन्तिम तत्त्व की महत्ता को 'सच्चिदानन्द' रूप समस्त पद के माध्यम से स्पष्ट किया गया है, एवं अत्युत्कृष्ट शास्त्रार्थीय ढंग से यह प्रतिपादित किया गया है कि जो इन्द्रिय-अगम्य अर्थात् अप्रत्यक्ष है, केवल वह ब्रह्म ही अन्तिम सत्य है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त, सिद्धिवाङ्मय के अन्तर्गत, अद्वैत वेदान्त के दो अन्य ग्रन्थों, अर्थात् सदानन्द कृत **'अद्वैतब्रह्मसिद्धि'** एवं गंगाधरेन्द्र सरस्वती कृत **'स्वाराज्यसिद्धि'**, का भी प्रमुख ग्रन्थों के रूप में समावेश किया जाता है। इस प्रकार निष्कर्षतः सिद्धिवाङ्मय के अन्तर्गत उपर्युक्त छः ग्रन्थों को मुख्य रूप से ग्रहण किया गया है। एक प्रकार से ये ग्रन्थ ही 'सिद्धिवाङ्मय' का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सभी सर्वतोमुखी एवं मूर्धन्य ग्रंथ. अद्वैत वेदान्त द्वारा मान्य परम तत्त्व (ब्रह्म) विषयक हैं। इन्हीं ग्रंथों से यह वाङ्मय सुशोभित है।

अद्वैत-सिद्धान्त के उपर्युक्त सिद्धिग्रंथों के अतिरिक्त सिद्धि नाम से सम्बन्धित कतिपय अन्य आचार्यों के ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं, जो विभिन्न विषयक हैं। यथा— वसुबन्धु कृत **'विज्ञानमात्रसिद्धि'** अथवा **'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि'** (विज्ञानवाद), मण्डन मिश्र कृत **'स्फोटसिद्धि'** (व्याकरण), रत्नकीर्ति कृत 'अपोहसिद्धि' एवं **'क्षणभंगसिद्धि'** (स्थैर्य का खण्डन), भरत मिश्र कृत **'स्फोटसिद्धि'** (व्याकरण), उदयनाचार्य कृत **'प्रबोधसिद्धि'** (जाति-निग्रह-स्थान), श्रीधराचार्य कृत **'अद्वयसिद्धि'**, यामुनाचार्य कृत **'आत्मसिद्धि'**, **'सम्वित्सिद्धि'**, तथा **'ईश्वरसिद्धि'** (विशिष्टाद्वैत), ज्ञानोत्तम कृत

**'ज्ञानसिद्धि'** (वेदान्त), वेदान्तदेशिक कृत **'सर्वार्थसिद्धि'** (तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका) एवं **'न्यायसिद्धि'** (प्रकरणपञ्चिका की व्याख्या)।

सिद्धिवाङ्मय के उपर्युक्त समस्त ग्रन्थों में से, जिसके शीर्षक के अन्त में 'सिद्धि' शब्द का प्रयोग किया गया है, वसुबन्धु कृत **'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि'** ग्रन्थ में प्राचीन एवं समकालीन विचारकों एवं चिन्तकों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा उनके पक्ष में दिये गये विभिन्न तर्कों पर विचार-विमर्श करके उनका खण्डन करते हुए, अन्वेषण के माध्यम से, अद्वैत वेदान्त द्वारा मान्य अन्तिम तत्त्व अर्थात् 'ब्रह्म' के विषय में बृहद् स्पष्टीकरण किया गया है।

**ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ का स्वरूप एवं शीर्षक का तात्पर्य**—जैसा कि **'ब्रह्मसिद्धि'** से संकेत मिलता है, इसमें विचार-विमर्श के द्वारा इसी मत का पोषण किया गया है कि अपरिमित 'ब्रह्म-तत्त्व' सर्वथा अलंघ्य एवं असीमित आनन्दरूप है। वह एक-मात्र सत्ता, अनादि एवं अनन्त है। वह 'ब्रह्म' निरुपाधिक, प्रतिबन्ध रहित एवं चैतन्य है, समस्त वाक् का प्रणव है; निर्विकार एवं इन्द्रियानुभव से परे है। वह परमात्मा समस्त जीवों पर शासन करता है तथा संसार के चक्र को नियन्त्रित करता है। इसी आत्मा का उपनिषदों में प्रतिपादन किया गया है। इन विषयों के अतिरिक्त 'ब्रह्मसिद्धि' में कुछ अन्य सदृश विषयों का भी विवेचन मिलता है। यथा—भेद की अवास्तविकता, **उपनिषदों** का मुख्य अभिप्राय, मोक्ष का साधन एवं उसका स्वरूप, तथा अज्ञान एवं भ्रान्ति का स्वरूप आदि। इस प्रकार **'ब्रह्मसिद्धि'** ग्रन्थ में 'ब्रह्म' के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है, और इसके सन्दर्भ में आये अन्य सभी मतों का खण्डन करते हुए अद्वैत-वेदान्त-सम्मत सिद्धान्त की स्थापना की गई है।

यह ग्रन्थ चार काण्डों में विभाजित है—अर्थात् **ब्रह्मकाण्ड, तर्ककाण्ड, नियोग-काण्ड** तथा **सिद्धिकाण्ड**। सभी काण्डों की शैली गद्य-पद्य मिश्रित है। भाषा अत्यधिक क्लिष्ट एवं विषय अत्यन्त गम्भीर है। कुल मिला कर यह एक उल्लेखनीय किन्तु बहुत ही कठिन ग्रंथ है, जो चित्त की एकाग्रता पूर्वक गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा रखता है। उपर्युक्त चारों काण्डों में से तीसरा 'नियोगकाण्ड' सर्वाधिक विस्तृत है, जो कि लगभग आधी से अधिक पुस्तक में व्याप्त है; एवं चौथा सिद्धिकाण्ड लघुतम है।

**ग्रन्थ में निर्दिष्ट प्रमुख विषय**—प्रथम **'ब्रह्म-काण्ड'** में, जैसा कि **उपनिषदों** में ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है, उसी के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप एवं लक्षण का वर्णन किया गया है। लगभग सम्पूर्ण काण्ड, प्रथम मंगलाचरणरूप कारिका के

मुख्य तात्पर्य की व्याख्या करने में समर्पित है। इस स्पष्टीकरण का आधार वेद हैं। वेदों के आधार पर ही तर्क-वितर्क के माध्यम से, प्रतिपादित मुख्य विषय अर्थात् ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का निश्चय किया गया है। काण्ड के अन्त में 'कर्म' एवं 'ज्ञान' के स्थान विषयक विचारविमर्श किया गया है।

द्वितीय **'तर्ककाण्ड'** में सत्यज्ञान के साधन, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का सूक्ष्म परिदर्शन तथा परीक्षण किया गया है। साथ ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तुलना में उपनिषदों के प्रामाण्य की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। इसके अतिरिक्त इस काण्ड में 'भेद' के स्वभाव का आलोचनात्मक विवेचन तथा द्वैत सम्बन्धि वैशेषिकों, बौद्धों तथा भाट्टों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है।

तृतीय **'नियोगकाण्ड'** में इस मत का परीक्षण किया गया है कि 'ब्रह्मसाक्षात्कार' विधि का विषय नहीं। साथ ही कुछ अन्य विषयों का भी खण्डनात्मक एवं आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। अद्वैत वेदान्त द्वारा मान्य मुक्ति की व्याख्या तथा प्रभाकर सम्मत अख्यातिवाद का खण्डन भी इस काण्ड में दृष्टिगोचर होता है।

अन्तिम 'सिद्धिकाण्ड' में इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि **उपनिषदों** की, ब्रह्मज्ञान कराने में प्रामाणिकता हैं, अथवा नहीं? यह ज्ञान सामान्य अनुभव से परे है; तब शब्दों के माध्यम से **उपनिषद्** 'ब्रह्म' का ज्ञान कराने में समर्थ कैसे हो सकते हैं? इससे सम्बन्धित भर्तृमित्र के मत का खण्डन, और अन्ततः, अन्तिम सत्ता के रूप में ब्रह्म की सिद्धि की गई है।

**ब्रह्मसिद्धि की टीकायें**—जहाँ तक ज्ञात हो सका है, तदनुसार 'ब्रह्मसिद्धि' पर चार टीकायें लिखी गईं। इन चारों में से सर्वाधिक प्राचीन टीका वाचस्पति मिश्र कृत **'तत्त्वसमीक्षा'** है। यह टीका ९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी गई। इस टीका की कोई भी पाण्डुलिपि वर्तमान समय तक प्राप्त नहीं हो सकी है। अतः इस टीका के अस्तित्व को जानने का एकमात्र साधन कतिपय सन्दर्भ हैं[1]।

**'ब्रह्मसिद्धि'** के दूसरे टीकाकार हैं चित्सुखमुनि। ये तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने चरमोत्कर्ष पर थे। इन्होंने **'ब्रह्मसिद्धि'** पर **'अभिप्रायप्रकाशिका'** नामक एक संक्षिप्त टीका लिखी। यह टीका प्रकाशित है तथा इसकी पाण्डुलिपि राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि संग्रहालय, मद्रास में उपलब्ध है।

---

१. द्रष्टव्य—**भामती** (निर्णय सागर प्रेस) पृ० १०२० उपसंहार का श्लोक—३; तथा पृ० ३०, पङ्क्ति ९।

**'ब्रह्मसिद्धि'** पर एक अन्य विपुल टीका, आनन्दपूर्ण मुनि अर्थात् विद्यासागर द्वारा सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखी गई। इस टीका का नाम **'भावशुद्धि'** है। यह भी प्रकाशित है तथा इसकी पाण्डुलिपि भी राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि संग्रहालय मद्रास में सुरक्षित है।

**'ब्रह्मसिद्धि'** पर चौथी एवं अन्तिम टीका शङ्खपाणि नामक किन्हीं विद्वान् ने लिखी है, जिनके विषय में कुछ भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। इनके विषय में, मलाबार परम्परा के माध्यम से केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि ये मलाबार के नम्बूदरी ब्राह्मण थे। शङ्खपाणि कृत टीका की पाण्डुलिपियों में से एक पाण्डुलिपि में निरङ्क पत्र (कोरे-पन्ने) पर **'समीक्षाफक्किका'** शब्द लिखा प्राप्त हुआ है। यह शब्द विषय-सूची में कोष्ठक के अन्दर लिखा गया है। इस शब्द के द्वारा यह अनुमान होता है कि शङ्खपाणि की यह टीका वाचस्पतिमिश्र कृत **'तत्त्वसमीक्षा'** का ही लगभग अनुकरण करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ही नहीं, अपितु भारतीय दर्शन की विभिन्न परम्पराओं में भी सिद्धि साहित्य का प्रचलन रहा है। सूत्र साहित्य, स्तोत्र साहित्य आदि की भाँति सिद्धि साहित्य भी, उद्भट विद्वानों अथवा विचारकों के आकर्षण का केन्द्र बन गया जिसके फलस्वरूप उपर्युक्त सिद्धि ग्रन्थों की रचना हुई।



# श्री विन्ध्यनिवासिनी

## ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय दृष्टि में

डा० प्रकाश पाण्डेय

इलाहाबाद

The *Vindhyavāsinī pīṭha* has been one of the important ancient *Śaktipīṭhas* worshipped by Āryas and Anāryas alike. The author has traced in this article the tradition of Śakti worship in India and presents the Śāstric nature of the *Vindhyavāsinī pīṭha* based on literary evidences.

शक्तिपूजनोपासना की परम्परा समस्त विश्व में प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही है।[1] ऋग्वेद में भी शक्ति उपासना के पर्याप्त प्रमाण हैं यथा अदिति, वाक्, सिनीवाली, कुहू आदि। परवर्ती साहित्यों यथा उपनिषद्, महाभारत, रामायण, पुराणों आदि में उनका स्वरूप स्पष्टतर हुआ है। प्रतीकोपासना के अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय होने पर प्राचीन एवं प्रतिष्ठित शक्ति उपासना की परम्परा ने शक्ति पूजा का वर्गीकरण करके स्थान-महत्ता एवं उपासना सौकर्य को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण भारत में कुछ उपासना केन्द्रों को प्रतिष्ठापित किया। ये केन्द्र शक्तिपीठ कहे जाते हैं। या यह भी सम्भव है कि जिन स्थानों पर शक्ति पूजन की परम्परा थी उनमें से प्रधान एवं सर्वजनसुलभ स्थानों को शक्तिपीठो की प्रतिष्ठा दी गई हो। इनकी विभिन्न सूचियाँ विभिन्न तन्त्रग्रन्थों में प्राप्त होती हैं। उपासना की प्राचीनता के आधार पर इन पीठों की भी श्रेणियाँ हैं, जो कि उनकी महिमा वर्णन के आधार पर निर्धारित हैं। उत्तर भारत के क्या, सम्पूर्ण भारत के शक्तिपीठों में सर्वाधिक प्रधान, प्राचीनतम शक्तिपीठ है विन्ध्याचल, जिसकी अधिष्ठात्री देवी हैं श्री विन्ध्यवासिनी।

---

१. विश्व की प्राचीन सभ्यतायें श्रीनेत्र पाण्डेय, बनारस, १९७३।

इस लघुलेख में आज के प्राप्त साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इनके ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय स्वरूप का दर्शन करने का प्रयास किया जायेगा।

आधुनिक मीरजापुर के पश्चिमी प्रभाग में प्रकृति के सहज सुन्दर प्राङ्गण में, जहाँ विन्ध्यगिरि को भागीरथी अपने पावन सलिल से क्षालित कर रही हैं, श्री विन्ध्यवासिनी का स्थान है। **बृहन्नीलतन्त्र** ने इस चिह्न विशेष को श्री विन्ध्यवासिनी के स्थान का अनन्य परिचायक माना है—

**सङ्गमे विन्ध्यगङ्गायां विन्ध्ये श्रीविन्ध्यवासिनी (बृहन्नीलतन्त्रम् ५।१२९)**

**चन्द्रकला नाटिका** (१४-१५ ई०, ले० विश्वनाथ) के चतुर्थ अंश का वर्णन है कि चित्ररथदेव की प्रेमिका चन्द्रकला को शबरों ने श्री विन्ध्यवासिनी को बलि देना चाहा किन्तु उसे राजा के एक सैनिक ने बचा लिया जो वहाँ दर्शनार्थ गया था। १२वीं शती की कल्हण की **राजतरंगिणी** में श्री विन्ध्यवासिनी की चर्चा 'भ्रमर-स्वामिनी' के नाम से की गई है। यह चर्चा ग्रन्थकार ने ६०० ई० के काश्मीरी राजा राणादित्य से सम्बद्ध किया है, जिन्होंने 'चण्डी' नामक अपनी एक कृति में **मार्कण्डेयपुराण** से सामग्री लेकर उक्त शक्ति का वर्णन किया है।[2] भ्रमरस्वामिनी नाम का स्पष्टीकरण डा० डी० सी० सरकार इस रूप में करते हैं कि सम्भवतः विन्ध्य की गहन अटवी में, इस स्थान पर अत्यधिक मधुमक्खियाँ रही हों।[3] ७३०-५३ ई० का ग्रन्थ **गउडवहो** प्रधानतया इसी शक्ति का वर्णन करता है। इसमें राजा यशोवर्मन् द्वारा विजय के उपलक्ष में उनके पूजन का वर्णन किया गया है।[4] वाणभट्ट का **चण्डीशतक** (७०० ई०) पूर्ण रूप से विन्ध्यवासिनी का ही वर्णन करता है।[5]

यद्यपि पुराणों का संकलन ईसा की कई शताब्दी पूर्व प्रारम्भ हो चुका था—कई पुराणों की चर्चा **अर्थशास्त्र** भी (३०० ई० पू०) करता है, **'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं'** आदि वाक्य भी इस विद्या के अस्तित्व के द्योतक हैं—किन्तु उनका आधुनिक स्वरूप गुप्त काल तथा कुछ का उसके भी पश्चात् हुआ था ऐसी मान्यता है। अल्बरूनी के आधार पर उसकी अन्तिम सीमा ११०० ई० मानी जाती है। **मार्कण्डेय पुराण** ६०० ई० के पूर्व ही पूर्ण हो चुका था, यह **राजतरंगिणी** सिद्ध

---

२. **राजतरंगिणी** III PP. ३९४, ४-३१।

३. *The Śākta Pīṭhas* D. C. Sircar—Delhi 1973 P. 20 (Notes).

४. Do, P. 20.

५. **चण्डीशतकम्** सं० डा० फतह सिंह, जोधपुर।

करती है। इस पुराण में श्री विन्ध्यवासिनी का उल्लेख उनकी तत्कालीन स्थिति को सिद्ध करता है। हरिवंश (४०० ई० पू०) 'एकानंशा'[६] कृष्ण की भगिनी 'योग-कन्या' का समीकरण श्री विन्ध्यवासिनी से करता है। इनका अवतरण केशव के रक्षार्थ हुआ था—

**योगकन्यां दुराधर्षां रक्षार्थं केशवस्य च (हरि० ९६।९४)**

**वृहत्कथा** (१-२ ई०) में भी इनके विविध आख्यान हैं।[७] **महाभारत** (६००-४०० ई पू० के विराट् पर्व (अ० ६) तथा भीष्मपर्व (अ० २३) में विन्ध्यवासिनी का स्पष्ट उल्लेख है। महाराज युधिष्ठिर ने विराट नगर जाते समय स्वयं सपरिवार जाकर श्री देवी की स्तुति की थी।[८]

इसी प्रकार अन्य पुराण (**वामन, मत्स्य** आदि तथा **श्रीमद्भागवत** आदि) इनकी तत्कालीन सिद्धि के परिचायक हैं।

उक्त साहित्यिक साक्ष्यों से स्पष्ट है कि श्री विन्ध्यवासिनी ईसा की कई शताब्दी पूर्व ही पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय देवी थीं। सातवीं शती के **कादम्बरी** की विन्ध्याटवी जब इतनी सघन दुर्गम एवं अनतिक्रमणीय थी तब ईसा की कई शताब्दियों पूर्व के विन्ध्यारण्यकी कल्पना अनायास ही की जा सकती है। उस काल में इनकी प्रसिद्धि सुदूर प्रान्तों में थी, यह इनकी प्राचीनता का स्वतः प्रमाण है। क्योंकि सघनवन में स्थित किसी धार्मिक उपासना स्थल की व्यापक प्रसिद्धि कई शताब्दियों में ही सम्भव है। छा० उप० के "इतिहासपुराणं" में एक वचन प्रयोग से लगता है कि उपनिषत् काल में इस नाम की संयुक्त विद्या का अस्तित्व रहा हो जिसका दोहन करके **रामायण, महाभारतादि** की रचना हुई हो। सम्भव है विन्ध्याचल एवं विन्ध्यवासिनी के प्राचीन वर्णन को इन ग्रन्थों में उपनिबद्ध किया गया हो। वेदों में विन्ध्यगिरि का नाम न होना एक आश्चर्य है क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि उत्तरी ध्रुव तक का ज्ञान रखने वाली आर्य जाति जो कि गंगाघाटी के मैदान में विकसित हुई, विन्ध्य पर्वत का ज्ञान न रखती हो। सम्भव है **ऋग्वेद** की वाष्कलादि लुप्त शाखाओं में विन्ध्यपर्वत का वर्णन हो तथा उनमें रहने वाली शबर आदि जातियों का भी जो कि श्री विन्ध्यवासिनी की पूजक थीं। **हरिवंश** (II iii, ७-८) इन शबर, बर्बर, पुलिन्द आदि जातियों द्वारा विन्ध्यवासिनी के पूजित होने का वर्णन

---

६. **हरिवंशपुराण**—९६।१३।

७. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**—पृ० ४४०, आ० बलदेव उपाध्याय।

८. **महाभारत**—सुक्थंकर—पूना।

करता है। इनमें शबर जाति प्रागैतिहासिक काल की है। सिन्धु प्रदेश में भी इनके अस्थि अवशेष प्राप्त होते हैं। इनकी भाषा मुण्डा मानसमेर चूंकि लिपि एवं वर्णमाला-विहीन थी अतएव उनकी धार्मिक सामाजिक परम्पराओं का लिखित उल्लेख नहीं मिलता अपितु **महाभारतादि** ग्रन्थों में प्राप्त होता है। शबरादि से पूजित होने के कारण ही श्री एन० एन० भट्टाचार्य के श्री विन्ध्यवासिनी को (*Indian Mother Goddess* P. 61) अवैदिक देवी कह देने पर श्री डी० सी० सरकार ने सीधे अनार्य देवी कह दिया। यद्यपि यह सत्य है कि वेदों में इनका नाम नहीं है तथा शबर आदि आर्य नहीं थे, साथ ही भगवती को 'सीधुमांसबलिप्रिया'[९] भी कहा गया है। किन्तु **महाभारत** की जिस स्तुति[१०] को आधार बनाकर इन दोनों विद्वानों ने यह निर्णय लिया है उसी में एक आर्य द्वारा पूजन का भी वर्णन है तथा वह स्तुति भी आर्य कृत ही है। अतः आर्य देवी या अनार्य देवी बिना किसी ठोस प्रमाण के कहना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। इतना अवश्य है कि इस शक्ति की उपासना आर्य-अनार्य दोनों जातियाँ अपनी अपनी परम्पराओं के अनुसार करती थीं।

इस तरह श्रीविन्ध्यवासिनी की पूजा परम्परा सुदूर पूर्व काल तक जाती है तथा निश्चित रूप से ई० के ७००-८०० वर्ष पूर्व इनकी प्रसिद्धि आर्य अनार्य दोनों जातियों में हो गई थी।

पौराणिक परम्परा के प्रकाश में भी इनका इतिहास अति प्राचीन सिद्ध होता है। **श्री दुर्गासप्तशती (११।४२)** में ये श्री कृष्ण की अनुजा कही गई हैं। यही तथ्य **श्रीमद्भागवत, देवीभागवत, हरिवंश** आदि में भी है। **वाचस्पत्यं** (भा० ६) धृत **वामन पुराण** (अ० ५) के अनुसार कंस के हाथ से छूटने के बाद इन्द्रादि देवताओं ने उन्हें विन्ध्याचल में स्थापित किया तथा वे श्री विन्ध्यवासिनी के नाम से प्रसिद्ध हुईं। स्वयं **वाचस्पत्यं** भी इनका परिचय—**विन्ध्यवासिनी यशोदागर्भजातायां दुर्गायां** कहकर देता है। परवर्ती **लक्ष्मीतन्त्र** में भी इसी बात को दुहराया गया है।[११] इसके अनुसार कहा जा सकता है कि श्री विन्ध्यवासिनी की प्रतिष्ठा कृष्ण काल में ही हुई किन्तु अनेक अन्य कथायें एव विवरण इसके विपरीत प्राप्त होते हैं। **महाभारत** में ही विराट् पर्व में युधिष्ठिर कृत **दुर्गास्तोत्र** में विन्ध्याचल को देवी का शाश्वत स्थान कहा गया है—

**विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्वतम्।**

---

९. *Śākta Pīthas* 20.

१०. द्र० क्र० ८।

११. **लक्ष्मीतन्त्र**— अ० ९ पृ० ३३।

इनकी उत्पत्ति के विषय में पुराणों में जो विचित्र कथायें हैं संक्षेपतः प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. **देवीपुराण** के अनुसार घोर, काल, एवं वज्रदण्ड नामक राक्षसों के वध के लिये विन्ध्यपर्वत पर महाशक्ति का अवतरण हुआ था। ये राक्षस तीनों लोकों के राज्य का अनधिकृत उपभोग कर रहे थे। त्रस्त देवताओं ने तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश ने महाशक्ति का स्तवन किया। इनकी स्तुति के फलस्वरूप महाशक्ति ने स्त्री रूप में सिंहवाहिनी होकर विन्ध्यपर्वत पर अवतार लिया। उनके साथ ब्रह्मा-विष्णु-महेश परिचारक के रूप में आये तथा अनेक सुसज्जिता सदलंकृता कुमारी देवियाँ भी आयीं। नारद ने दौत्य द्वारा वज्रदण्ड को देवी की ओर आकृष्ट किया; तथा देवी को पाने की लालसा से गया हुआ दैत्य ससैन्य कालकवलित हुआ। घोर ने भी देवी के सौन्दर्य वर्णन को सुन कर उन्हें लाने के लिये क्रमशः दुर्मुख तथा कालको भेजा। ये दोनों दूत क्रमशः विजया एवं जया के द्वारा मारे गये। अन्ततः घोर भी विकट युद्ध के बाद यमलोक गया।[१३]

२. **देवीभागवत** के वर्णन के अनुसार ब्रह्मा के मानस पुत्र मनु ने सृष्टि के आदि में, प्रजोत्पत्ति करने में अपने को अक्षम पाकर महाभाग्यफलप्रदा देवी की मृण्मयी मूर्ति बना कर उसकी आराधना विविध प्रकार से स्तुति करते हुये किया। देवी ने प्रसन्न होकर मनु को अकण्टक राज्य एवं वंश वृद्धि का वरदान दिया तत्-पश्चात्—

**पश्यतस्तु मनोरेव जगाम विन्ध्यपर्वतम्।।**[१४]

अर्थात् सृष्टि के पूर्व ही उनका वास विन्ध्यपर्वत पर हो गया था।

३. चण्ड-मुण्ड के वध के समय उमा का वर्ण कृष्ण हो गया था तथा कौशिकी का प्रादुर्भाव हुआ था। उन्होंने अपने पूर्व वर्ण की प्राप्ति के लिये ब्रह्मा की तपस्या की। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर कहा कि आप पुनः स्वर्णिम कान्ति प्राप्त करेंगी तथा शिव की अर्धनारीश्वर रूप में अभिन्न संगिनी होंगी। हे रात्रि की देवी! आप पूर्व

---

१२. द्र० क्र० ८।

१३. **देवीपुराण**—९२-९-११; ७-२०; ७-२१-४४; ७-१-७; १२-६३-६४; १२, ७०; ३०-१-२८।

१४. **देवीभागवतम्**—१०।१-२।

में 'एकानंशा' थीं तथा अब विन्ध्यपर्वत पर निवास करिये तथा देवताओं की आकांक्षाओं को पूर्ण करिये। ऐसा सुनकर कौशिकी विन्ध्यपर्वत पर चलीं तथा उमा शिव के पास चली गई।"[१५]

एक अन्य कथा के अनुसार—कैलास पर रमण करते हुए शिव ने एक बार शिवा से अपनी एक मात्र आकांक्षा की पूर्ति के लिये कहा कि वह नारी होना चाहते हैं। उमा ने स्वीकार किया तथा वचन दिया कि वह धरती पर कृष्ण के रूप में निम्न कार्यों के लिये अवतरित होंगी—

(१) शिव के साथ विहार जो उस समय राधा होंगे।

(२) विष्णु द्वारा मारे गये राक्षसों के अवतरित रूपों के विनाश।

पृथिवी तथा ब्रह्मा की प्रार्थना पर उन्होंने विष्णु से परामर्श करके स्वतः को दो भागों में विभक्त किया।

(१) कन्या रूप में जो यशोदा के यहाँ पैदा हुईं एवं विन्ध्यवासिनी कही गईं।

(९) कृष्ण के रूप में जिन्होंने दैत्यों, दुष्कृतों का विनाश किया तथा देवकी को अपना असली रूप दिखाया।[१६]

इस प्रकार अनेक कारणों से इनके अवतरित होने की कथाओं से इस शक्ति-पीठ की महत्ता एवं प्राचीनता का प्रतिष्ठापन होता है। यहाँ प्रतिष्ठित होने के पश्चात् यही शक्ति अनेक नामों से विभिन्न स्थानों पर पूजित हुई।

**ततः स्थानसहस्रैस्त्वं पृथिवीं शोभयिष्यसि"**

**हरि० २, ४७।४९**

तन्त्रों में इनका अनेक शक्तियों के साथ साम्य अथवा अभेद प्रदर्शित है यथा **मेरु-तन्त्र** (पृ० ६२५) इन्हें महिषासुरनाशिनी के रूप में वर्णित करते हुए महिषमर्दिनी की उपासना का विधान देता है। इसी का अनुकरण **शारदातिलक** में भी मिलता है[१७]। **महाभारत** आदि भी इन्हें कौशिकी, एकानंशा, काली आदि रूपों में वर्णित

---

१५. *Śakti cult in Ancient India* पृ० १२२।

१६. वही पृ० १४१।

१७. **शारदातिलकम्**—सटीक—बनारस—१९६३।

करते हैं। इनके अतिरिक्त शूलिनी, भ्रमरस्वामिनी, वनदुर्गा आदि भी इनके विभिन्न विग्रह हैं। इन सभी देवियों के ध्यान में भी भेद है तथा उपासना पद्धतियाँ भी भिन्न हैं। दशमहाविद्याओं के सहस्रनामों[१८] में भी विन्ध्यवासिनी का नाम उनके सर्वात्मिकात्व का द्योतक है। रुद्रयामल तथा शिवचरित क्रमशः सती का पृष्ठ भाग एवं वाम पादाङ्गुलि के पतन की सूचना देते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दक्ष यज्ञ के पूर्व विन्ध्यवासिनी का स्थान यहां नहीं था अपितु इससे यह द्योतित है कि शक्ति को यह स्थान अतिप्रिय है तथा इसकी महत्ता महत्तर करने के लिये कारणों का योग इस स्थान पर पुञ्जीभूत कर दिया है।

## शास्त्रीय-रूप

जैसा कि कहा जा चुका है कि इस महती-विद्या-राज्ञी के अनेक विग्रहों का उल्लेख शास्त्र करते हैं; उनमें विष्णुयामल का निम्न ध्यान उनके सर्वात्मिकात्व एवं आद्यात्व का स्पष्ट परिचय देता है—

शुक्लाङ्गीं शुक्लकूटाभां शुक्लपुष्पप्रियां वराम् ॥
कोटिशुभ्रेन्दुसंकाशां मुक्ताभालामलङ्कृताम् ॥
पीठे चिन्तामणेर्दीप्तौ करचूडाप्रभामराम् ॥
ज्योत्स्नारत्नस्फुरद्देहां मन्दहासयुताननाम् ॥
महासरस्वतीं देवीं मणिद्वीपेश्वरीं पराम् ॥
सर्वाद्यां बालिकां नित्यां मणिदोलनसंस्थिताम् ॥
वक्त्राब्जेऽङ्गुष्ठधृन्मूलं कराब्जाभ्यां पदाब्जयोः ॥
पिबन्तीं शोभितां शुभ्रां ब्रह्मानन्दस्वरूपिणीम् ॥
सेवितां देवदेवैश्च संस्तुतां सर्वसिद्धिदाम् ॥
आदिरूपां महामायां ध्याये विन्ध्यनिवासिनीम्[१९] ॥

एक अन्य ध्यान में भगवती को परमैश्वर्यमयी चित्रित किया गया है—

रत्नकौस्तुभप्रकारे रत्नसिंहासनस्थिताम्।
रत्नचिन्तामणेर्दीप्तौ रत्नानां पूर्णभासुरे।

---

१८. शाक्तप्रमोद (बगलातन्त्र) पृ० ३२२—बनारस। ललितासहस्रनाम—बनारस।

१९. निज संग्रहीत पाण्डुलिपि से।

रत्नाङ्गीं रत्नवक्त्राभां रत्नज्योत्स्नाप्रसारिणीम् ।।
रत्नगां रत्नचूडाभां रत्नद्वीपनिवासिनीम् ।।
नवयौवनसंपन्नां त्रिनेत्रां च चतुर्भुजाम् ।।
वराभयारिशंखं च धृतां भक्तेष्टदां वराम् ।।
कलाकोटिपरिभ्रान्तां रत्नहारावलीयुताम् ।।
सेव्यमानां सुरस्त्रीभिः स्तुतामिन्द्राद्यखण्डलैः ।।
सदार्द्रचित्तां विश्वेशीं परामम्बां लोकपालिकाम् ।।
ध्याये कल्पतरोर्मूले विन्ध्येशीं विष्णुपूजिताम्[२०] ।।

इसी तरह का एक स्वरूप ध्यान राघवभट्ट के पदार्थादर्श में प्राप्त होता है (शा० ति० पृ० ४७२)—

हेमाचले तटे रम्ये कल्पवृक्षोपशोभिते ।।
दिव्योद्यानं चिन्तयेच्च विशालं हेमभूतलम् ।।
कृशानुरूपं वप्रेण करालेन समावृतम् ।।
तन्मध्ये चिन्तयेद्दिव्यं विचित्रं मणिमण्डपम् ।।
तस्मिन् सिंहासनेऽम्भोजकर्णिकायां विचिन्तयेत् ।।
दंष्ट्राकरालाट्टहासं कृष्णवर्णं भयानकम् ।।
अतितीव्रमुखं सिंहं ज्वलदग्निशिखोपमम् ।।
तस्योपरिष्टात्तां देवीं कोटिबालार्कसन्निभाम् ।।
चक्रासिवाणशूलाख्यान्दधतीन्दक्षिणैर्भुजैः ।।
शंखचक्रधनुर्वाणतर्जनीर्वामबाहुभिः ।
चन्द्रखण्डसभायुक्तामिति भीमत्रिलोचनाम् ।।
ऊर्ध्वं ज्वलत् केशपाशामशेषाहरणोन्मुखीम् ।।
अङ्गाद्यावृत्तिसंयुक्तामस्त्रशस्त्रपरीवृताम् ।।
इन्द्रादिलोकपालैश्च सेवितां विन्ध्यवासिनीम् ।।

हरिवंशपुराणोक्त देवी स्तुति में[२१] सिद्धि, धृति, मेधा, श्री, विद्या, नारायणी,

---

२०. निज संग्रहीत पाण्डुलिपि से ।

२१. श्रीदुर्गोपासनाकल्पद्रुमः पृ० ३५-३६ ।

संध्या, रात्रि, कालरात्रि, आर्या, कात्यायनी, कौशिकी, त्रिलोकजननी, नील कौशेय-वासिनी, आदि अनेक नाम दिये गये हैं तथा इन्हें "घण्टानिनादवहुला" कहा है।

**महाभारत** (विराट् प०, २३) इनके स्वरूप का वर्णन ४ भुजा, ४ वक्त्र, उदीयमानसूर्य के समान आकार वाली, पूर्ण चन्द्रनिभानना, मयूरपिच्छिल का वलय, केयूर, आङ्गद, कुण्डल, श्रोणिसूत्रादि आभूषण धारण करनेवाली, पाश, धनु, महाचक्रादि शस्त्र धारण करने वाली के रूप में किया है, जो त्रैलोक्य के रक्षार्थ विन्ध्यगिरि पर शाश्वत रूप से निवास करती हैं। कहीं इन्हें **सिंहस्था** कहा गया है (जैसा कि ऊपर कहा गया), कहीं **सौवर्णाम्बुजमध्यजा** हैं, कहीं **गजारूढा**[२२]। यह तो श्री विन्ध्यवासिनी का मूल रूप है। अब हम विग्रह भेद से उनका रूप देखेंगे।

**शूलिनी**—(तन्त्र रा० सं० प० २२ एवं दु० क० पृ० २५, शा० ति० पृ० २८७) श्री विन्ध्यवासिनी को ही देव-सिद्ध सुपूजिता-शूलिनी दुर्गा कहा गया है। इनका रूप तन्त्रों के अनुसार निम्न है—

शूल, वाण, असि, गदा, चाप, पाश, तथा वराभयमुद्रा धारण करने वाली भीषणवक्त्रा, किरीट में चन्द्रखण्ड धारण करने वाली तथा सिंहस्कन्धाधिरूढा हैं। ये परमन्त्र-परयन्त्र-परतन्त्र विद्या स्तम्भिनि स्वमन्त्र-स्वयन्त्र-स्वतन्त्र-विद्याविवर्धिनि हैं।

**महिषमर्दिनी**—इनका स्वरूप **सप्तशती** अ० २ के अनुसार सर्वदेवात्मक है। ये अपनी १८ भुजाओं में शूल, चक्र, शंख, शक्ति, चाप, वाण, वज्र, कुलिश, घण्टा, दण्ड अक्षमाला, कमंडलु, खण्ड इत्यादि शस्त्र धारण करती हैं, तथा अनेक प्रकार के आभूषण धारण करती हैं। वनदुर्गा—ये सुवर्ण कमल में विराजमान, त्रिनेत्रा, विद्युत के समान कान्तिमान्, शङ्खचक्र, वर अभयमुद्रा धारण करती हुई इन्दुकला से मण्डित ग्रैवेय, आङ्गदहारकुण्डल से भूषित, इन्द्रादि देवताओं द्वारा सेवित हैं। इस प्रकार संक्षेपतः श्रीविग्रह के शास्त्रीय रूप देखने के पश्चात् उनकी उपासना की प्रवृत्तियों को जानना भी प्रसङ्गानुकूल ही है।

**वीरमित्रोदय** (पूजाप्रकाश पृ० ३३३) में श्री विन्ध्यवासिनी की उपासना का महत्त्व निम्नरूप में व्यक्त किया गया है।

---

२२. **देवीनामविलास**—

**गजारूढा निजबन्धस्वाच्छन्द्यानन्दसुन्दरी।**
**अबन्धुरं सुदुर्बन्धं छिन्धि त्वं विन्ध्यवासिनी॥**

**सिंहे मन्दो यदा किञ्चिदंवान्मीने बृहस्पतिः ।।**

**जन्मगश्चाष्टमे मृत्युं कुर्याद्द्रव्यक्षयं त्रिगः ।।**

**तदा गौरी यजेद्देवीं विन्ध्यवासीं विशेषतः ।।**

इस प्रकार क्रूरग्रहों के वैपरीत्य की दशा में श्री देवी के पूजन का विधान है। विधि का निदर्शन भी ग्रन्थकार आगे करते हैं—

**बलिमाल्योपहारैश्च जपं होमं च कारयेत् ।।**

**वर्णैः षोडशभिर्विद्यानवभिर्वा सदाहिता ।।**

**तन्त्रसमुच्चयकार** ने श्री विन्ध्यवासिनी के एक मालामन्त्र (जो २० या अधिक वर्णों का होता है) का विधान महाविद्या के नाम से किया है। इसका जपानुष्ठान समस्त कामनाओं को सिद्ध करता है ऐसा कहा है[२३]। शूलिनी के रूप में इनकी काम्य विधियाँ **तन्त्रसार** संग्रहकार[२४] ने दिया है तथा मन्त्र एवं मालामन्त्रादि **श्री दुर्गोपासनाकल्पद्रुम** पृ० २५ ) देता है। **तन्त्रसारसंग्रहकार** इन्हें अमोघविद्या कहते हैं तथा इनके पूजाकाल हवनसामग्री (जो कामना भेद से वर्गीकृत है) आदि का विवरण देते हैं। यथा समस्त कार्यों के लिये सन्ध्याकाल में दूर्वा का हवन, समृद्धि के लिये नित्यप्रति घृत का हवन विहित है। महिषमर्दिनी के रूप में इनकी उपासना का विस्तृत विवरण **शारदातिलककार** (पृ० २९८) देते हैं। इनके यन्त्र का भी विवरण दिया है जिसका मन्त्र विन्यास रहितस्वरूप निम्न है—

मध्य में त्रिकोण, द्वादश दल तथा दो भूपुर। इस यन्त्र का वर्णन करके ग्रन्थकार—

**यन्त्रं विन्ध्यनिवासिन्याः प्रोक्तं सर्वसमृद्धिदम् ।**

ऐसा कहते हैं।

इनकी भी पूजा तान्त्रिक परम्परानुसार सोपचार होती है।

वनदुर्गा का महावज्र कवच जो कि स्तुति कवच दोनों है तथा **उपनिषत्संग्रह**

---

२३. **तन्त्रसमुच्चयः** पृ० ९८।

२४. **तन्त्रसारसंग्रहः** प० २२ पृ० ३०८ मद्रास।

में मोतीलाल वनारसी दास के यहाँ से **नवदुर्गोपनिषत्** नाम से प्रकाशित भी है। असाध्यसाधनार्थ इनकी उपासना का विधान है।

**योगिनीतन्त्र** इनकी पूजा कमल से करने का विधान देता है।

**विन्ध्येशी सा समाख्याता प्रयजेत् कमलादिना।**

(यो० त० पृ० ४४७-श्लोक ३५)

विन्ध्याचल की स्थानीय परम्परानुसार पुष्पशृङ्गार, वस्त्राभूषण नारिकेलादि-समर्पण, घण्टा-समर्पण आदि इनके पूजन के साधन हैं।

इस अति प्राचीन शक्ति केन्द्र में प्रतिष्ठित मूर्ति की प्राचीनता के विषय में भी प्रश्न हो सकता है। विदित है कि काल प्रवाह समस्त भौतिक पदार्थों के क्षय एवं नवीनीकरण का कारण एवं नियामक है। अतः सम्भव है कि मूर्ति का नवीकरण भी हुआ हो। किन्तु स्थान पूजा की महत्ता सर्वदा थी जैसा कि **वीरमित्रोदयकार** (पृ० ३३३) स्थान प्रधानता का पोषण करते हुये लिखते हैं—

**दक्षिणाद्या महाभोगा गौरी मेधा महाफला।**
**विन्ध्यवासा तथा देवी ज्वालास्या च तथापरा।**
**एताः पञ्च महाभाग सर्वकामप्रदा नृणाम्॥**

यह विवरण ग्रन्थकार स्थानपूजा के संदर्भ में देते हैं।

योगिनी तन्त्र के काल में यहाँ सम्भवतः सिन्दूर चर्चित प्रतिमा थी—

**ततो विन्ध्याचलं गत्वा कृष्णा रक्ता च या शिला।**

(यो० त० उत्तर खण्ड)

यह मूर्ति उस काल में भी कृष्ण पाषाण की ही थी जैसा कि आज भी हैं। चंडीशतक में भी मूर्ति की चर्चा है—

**सम्प्राप्यागामि विन्ध्याचलशिखरशिलावासयोग्योद्यतायाः**

(श्लोक ४५)

आधुनिक विग्रह भी प्राचीन शैली का है। इसमें भगवती चतुर्भुज रूप में सिंह पर खड़ी हैं तथा उनके दायीं ओर गणपति एवं बाँयीं ओर एक योगिनी हैं। इसकी प्राचीनता की कल्पना भक्तों के मस्तक स्पर्श से घर्षित चरणयुगल से की जा सकती है।

इस प्रकार श्री विन्ध्यवासिनी आर्य एवं अनार्य दोनों जातियों द्वारा सुपूजित शक्ति हैं। तथा यह स्थान शाक्त उपासना का सर्वोत्तम स्थान है—

विन्ध्याचलनिवासिन्याः स्थानं सर्वोत्तमोत्तमम् ॥

(देवी० भा० ७-३८-५-३०)



# वक्रोक्ति मत का स्वरूप
## ऐतिहासिक और दार्शनिक पीठिकायें

*डा० राममूर्ति त्रिपाठी*

उज्जैन

Dealing with the concept of *Vakrokti* ("crooked or uncommon way of expression") the author opines that it is a व्यापार and not a poetic figure (अलंकार). He points towards a close relationship of the concept of *Spanda* in Kaśmīra Śaivism with the *Vakrokti* of Kuntaka and contends that though accepting *Vakrokti* as the life-substance (जीवितम्) of poetry, Kuntaka did not consider it to be an alternative of रस (aesthetic pleasure) but rather held the view that *Vakrokti* culminated in *rasa*.

भारतीय रचनात्मक तथा शास्त्रात्मक वाङ्मय में भामह-दण्डी जैसे अलंकारवादी आचार्यों से पूर्व वक्रोक्ति को उस तरह से उपस्थापित नहीं किया गया, जिस तरह से इन लोगों ने किया। भामह ने काव्य का केन्द्रीय तत्त्व "चारुता" मानी और उसका स्रोत अलंकार।[1] उनकी धारणा है कि इन अलंकारों की स्वरूप निष्पत्ति वक्रता-सापेक्ष है।[2] इनकी दृष्टि में "वक्रता" शब्द और अर्थ की लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थिति है।[3] इन्होंने "अतिशय" को उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। यह मानना कि "वक्रता" में उक्ति को घुमा-फिरा कर प्रयुक्त किया जाता है और

---

१. काव्यालंकार—भामह, पृ० २ चोखंबा १९५८।

२. काव्यालंकार—भामह, पृ० १७।

३. ध्वन्यालोक लोचन।

"अतिशय" में बढ़ा-चढ़ा कर—फलतः दोनों में भामह अंतर करते हैं—ठीक नहीं।[४] भामह पर यह अपना आरोपण है, वास्तव कथन नहीं। दण्डी ने वाङ्मय को वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति[५], जैसे दो भेदों में विभाजित किया है और कहा है कि शास्त्र में स्वभावोक्ति—तथ्य कथन—होती है और काव्य में वक्रोक्ति।[६] किन्तु इसका आशय यह नहीं कि काव्य में स्वभावोक्ति होती ही नहीं। निश्चय ही उनकी दृष्टि में शास्त्रीय "स्वभावाख्यान" असुन्दर तथा काव्यगत स्वभावाख्यान सुन्दर होता है फलतः—

"काव्येष्वप्येतदीप्सितम्"[७]।

काव्य में भी स्वभावोक्ति का प्रयोग अभीष्ट है। यह अवश्य प्रतीत होता है कि स्वभावोक्ति अलंकार में भी जिस प्रकार भामह वक्रोक्ति की व्याप्ति मानते थे, उसी प्रकार दण्डी भी मानते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। वे वक्रोक्ति के साम्राज्य से स्वभावोक्ति को पृथक् कर देते हैं और भामह की तुलना में वक्रोक्ति की व्याप्ति कम कर देते हैं। वामन ने वक्रोक्ति की अर्थव्याप्ति और भी कम की। उन्होंने कहा—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।"[८]

सादृश्यमूलक लाक्षणिक प्रयोगों में ही वक्रोक्ति की संस्थिति कही जाती है। यद्यपि उन्होंने "अतिशय"[९] की भी बात की है, पर उसकी व्याप्ति कतिपय इने गिने अलंकारों में ही प्रदर्शित की है। रुद्रट[१०] ने इस वक्रोक्ति को और सीमित कर दिया। उन्होंने उसे शब्दालंकार के एक भेद के रूप में स्वीकार किया, जिसके दो भेद किये गये—काकु-वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति। इस अलंकारिकों ने अर्थालंकार के वर्गीकरण संदर्भ में वास्तव[११], औपम्य, श्लेष के साथ अतिशय का भी नाम लिया। पर "अतिशय" भामह की वक्रोक्ति का पर्याय नहीं था, सीमित था। ध्वनिवादी

---

४. काव्यालंकार—सं०—प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा।
५. काव्यादर्श—दण्डी।
६. वही।
७. वही।
८. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—वामन।
९. वही।
१०. काव्यालंकार—रुद्रट।
११. वही।

आचार्य आनन्दवर्धन ने परम्परागत दोनों अर्थों में "वक्रोक्ति"[१२] का उल्लेख किया, पर वह जिस "अलंकार" स्वरूप का निर्वर्तक माना गया, उसे व्यवस्थित कर दिया गया। सौन्दर्य स्रोतों में से एक और असाक्षात् (आत्म) सम्बद्ध तथा अनियत[१३] निरूपित किया गया।

इस रूप में परम्परा चर्चित "वक्रोक्ति" को निर्माण की दृष्टि से सोचने वाले कुन्तक ने काव्य को "जीवित' [१४] रूप में उपस्थापित किया।

प्रश्न यह खड़ा होता है कि "जीवित" शब्द का आशय क्या है? डा० राघवन् ने क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी चिंतन के प्रसंग में "रस" को आत्मा और "औचित्य" को जीवित के रूप में ग्रहण कर यह सिद्ध करना चाहा है कि क्षेमेन्द्र (ध्वनित) रसवादी अभिनवगुप्त के विरोधी नहीं हैं, अन्यथा यदि "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" के "जीवितम्" को "आत्मा" से अभिन्नार्थक माना जाता तो क्षेमेन्द्र अभिनव के विपक्ष में चले जाते। निष्कर्ष यह कि काव्यात्मवाद के संदर्भ में डा० राघवन् ने आत्मा को Soul तथा जीवित को Life के अर्थ में लेकर अभिनव और क्षेमेन्द्र के बीच एक संगति लगाई है। लेकिन इस भिन्नार्थकता से एक दूसरी समस्या भी खड़ी होती है और वह यह कि कुन्तक के "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" में भी क्या इसी प्रकार "जीवित" को समझा जाय? काव्यस्यात्मा स (रसः) एवार्थः"[१६], काव्यस्यात्मा ध्वनिः"[१७], "रीतिरात्मा काव्यस्य"[१८]—इन धाराओं में प्रयुक्त 'आत्मा" शब्द और वक्रोक्ति धारा का "जीवित" शब्द क्या भिन्नार्थक माने जायें? विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृष्टान्त में भले ही "आत्मा" और "जीवित" भिन्नार्थक हों, पर "काव्य" में दोनों शब्द समानार्थक ही सम्भव

---

१२. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन।

१३. काव्यप्रकाश—मम्मट—अष्टम उल्लास

१४. वक्रोक्तिजीवित—कुंतक।

१५. Some Concepts of the Alankar Shastra में संकलित History of Auchitya in Sanskrit Poeties शीर्षक लेख—लेखक डा० वी० राघवन्, १९४२।

१६. ध्वन्यालोक—प्रथम उद्योत, पृ० ८४, चौखंबा, काशी, संवत् १९९७।

१७. वही, पृ० ९।

१८. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वाणी विलास प्रेस १९०९ पृ० १५।

हैं। काव्यात्मवाद के सन्दर्भ में "आत्मा" शब्द का आशय "सारसत्ता" ही है, जो "जीवित" का भी अभिप्रेत है। कुन्तक के प्रयोगों का भी साक्ष्य लिया जाय—

(१) उचिताख्यानजीवितम् —उदाराभिधानं जीवितं परमार्थो यस्य[१९]।

(२) काव्यैकजीवितम्—काव्यस्य परः परमार्थं इत्यर्थः[२०]।

(३) शरीरं जीवितेनैव स्फुरितेनैव जीवितम्।[२१]
विना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम्॥

इन प्रयोगों को देखने से लगता है कि कुन्तक ने जीवित शब्द का प्रयोग सारसत्ता के ही अर्थ में किया है। निष्कर्ष यह कि आत्मवाद के सन्दर्भ में प्रयुक्त "आत्मा" और "जीवित" को समानार्थक ही माना जाना चाहिये। फिर "औचित्य-मत" के सन्दर्भ में जो भिन्नार्थकता वताई गई उसका क्या होगा? श्री रामपाल विद्यालंकार ने भी भेद नहीं माना[२२], भेद तो डा० के० कृष्णमूर्ति ने भी नहीं माना[२३], फलतः काव्य में रस को अंगी मानने वाले अभिनव ने "औचित्य" को अंगी मानने वाले क्षेमेन्द्र को विरोधी वताया और कारण यह वताया कि क्षेमेन्द्र रसौचित्य को औचित्य का एक भेद मानते हैं। मेरा विचार यह है कि डा० राघवन् व्यर्थ ही अव-रोध के लिये "आत्मा" और "जीवित" को भिन्नार्थक मानते हैं। भिन्नार्थक माने बिना भी उनका पक्ष सिद्ध हो सकता है। यदि यह मान लिया जाये तो क्षेमेन्द्र **आलोचक की दृष्टि** से महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अनुसंधान कर रहे हैं और अभिनव ग्राहक की ओर से—अतः पहला "औचित्य" (जो जहाँ है वह वहाँ ठीक तो है) को महत्त्व दे रहा है—रस को भी औचित्य की परिधि में ले रहा है और दूसरा ग्राहक रस को। अतः दृष्टि भेद से ही अभिनव तथा क्षेमेन्द्र के आपाततः प्रतीयमान विरोध का निरास हो

---

१९. **वक्रोक्तिजीवितम्—पृ०** ६७ कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७०।

२०. **वही—पृ०** ६९।

२१. **वही—पृ०** २६।

२२. **क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि**, १९६०, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, पृ०, ९।

२३. **वक्रोक्तिजीवितम्**, भूमिका सं० के कृष्णमूर्ति, धारवाड़ विश्वविद्यालय, १९७७।

जाता है—इसके लिये "आत्मा और "जीवित" को भिन्नार्थक मानने का प्रयास निरर्थक है।

एक बात अवश्य है कि काव्य के सारतत्त्व पर आलोचक, सर्जक और ग्रहाक—तीनों दृष्टियों से विचार हुआ है। आलोचक की दृष्टि से यह तत्त्व "औचित्य" है, ग्राहक की दृष्टि से "रस" और सर्जक की दृष्टि से अलंकार, रीति और वक्रोक्ति। सर्जक अभीष्ट प्रभाव में उत्पन्न करने के लिये किस सार तत्त्व का उपयोग करे? प्रभाव की प्रकृति क्या हो? भामह की कारिका "न कांतमपि निर्भूलं विभाति वनिताननम्[२४] से स्पष्ट है कि जिस प्रकार अलंकारवादियों को वनिता के आनन पर राजमान कमनीयता आकृष्ट नहीं कर पाती—फलतः आकर्षण के लिये भूषण द्वारा उत्पादित या प्रवर्द्धित सौन्दर्य ही अपेक्षित होता है, उसी प्रकार इन अलंकारवादियों को सहज कमनीयता संवलित उक्ति तब तक आकर्षक नहीं होती जब तक उस पर आलंकारिक छटा न उभर जाये। रुचि-रुचि की बात है। रीतिवादी यौवन-प्रभाव सहज कमनीयता में ही कवित्व का प्रस्फुटन मान लेता है—अलंकार उसको प्रवृद्ध मात्र करते हैं।[२५] भामह की कारिका बता रही है कि सहज कमनीयता की भित्ति तो अवश्य होनी चाहिये—पर वह आलंकारिक पेंटिग कवित्व के उन्मेष के लिये अपेक्षित है और इस पेंटिंग के लिये रंग—"वक्रता" या "लोकोत्तर अतिशय"[२६] का हो—यह शर्त है। यह अतिशय लोकोत्तर रूप से उक्ति की संस्थिति[२७] पर निर्भर है—शास्त्र और व्यवहार की पिटी-पिटाई पद्धति से अलंकार निर्माण के लिये अपेक्षित वक्रता कुछ और ही होती है। उक्ति में यह वक्रता सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के प्रातिभ आवेश में फूटती है। उक्ति की काव्यात्मक परिणति के लिये अलंकारवादी वक्रता-गर्भ अलंकारों की अनिवार्यता मानता है और रीतिवादी[२८] गुणों की। एक अलंकारों में सभी सौन्दर्य स्रोतों को समाविष्ट करना चाहता है और दूसरा गुणों में। सौन्दर्य दोनों को अभीष्ट है—उस तरह का प्रभाव

---

२४. काव्यालंकार—भामह, पृ० २ (१।१३) चौखंबा, १९८५।

२५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन, पृ० ६९-७० वही संस्करण।

२६. काव्यालंकार—भामह, चौखम्बा पृ० १८।
"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते"।

२७. विशेषो गुणात्मा—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति-वामन, पृ० १६।

२८. ध्वन्यालोक लोचन—चौखम्बा काशी संवत् १९६७।
शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।

दोनों उत्पादित करना चाहते हैं— पर एक सहज और दूसरा कृत्रिम। लोचनकार ने इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा था—"चारुत्वं द्विविधं स्वरूपनिष्ठं, संघटना-निष्ठं[२९] च" अर्थात् चारुता या सौन्दर्य उक्ति के स्वरूप में भी है और संघटना में भी। स्वरूपनिष्ठ सौन्दर्य का स्रोत अलंकार है और संघटना (रीति) निष्ठ सौन्दर्य का स्रोत गुण। इन अलंकार और रीतिवादी आचार्यों की दृष्टि से श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत "रस" को वह सर्वातिशायी मान्यता प्राप्त नहीं थी— जो आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मत से आगे चल कर हुई।[३०] भामह अलंकार में ही उसे अन्तर्भूत कर लेता है और रस व अलंकार नाम से कहता है जबकि वामन दीप्तरस वाले ओजोगुण से संपृक्त होने पर भी गौडी या[३१] रीति को अनात्मभूत या तुच्छ समझता है। इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन से पूर्व श्रव्यकाव्य में चारुता का प्रवाह और दृश्यकाव्य में रसानुभूति का प्रवाह स्थापित था। यह आनन्दवर्धन है जिसने उभयत्र "रसप्रवाह"[३२] के प्रामुख्य की बात की। दृश्यकाव्य में ही नहीं, मुक्तक काव्य[३३] में भी रस की सर्वातिशायी प्रतिष्ठा की। इन्होंने गुण और अलंकार की जगह व्यंजकत्व[३४] चारुता को स्रोत निरूपित किया और इस चारुता को रस में पर्यवसित किया। वैसे कवि की प्रतिभा सर्वोपरि है—मूलतः सौन्दर्य स्रोत का सौन्दर्यमय वही है। जिसे चाहे, उसके सिर पर सौन्दर्यस्रोतस्कता का सेहरा बाँध सकती है। उसके लिये अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का नियम नहीं है—वह नियतिकृत नियम रहित और स्वतन्त्र है। इसीलिये कालिदास की अभिधा समर्थित उपमा में जो सौंदर्य फूटता है, वह उत्प्रेक्षा सम्राट हर्ष की व्यंजना-समर्पित उपमा में नहीं। इसीलिये प्रतिभा-वादी आनंदवर्धन व्यंजकत्व को चारुता का स्रोत कहकर भी अभिधा की सम्भावना का निराकरण नहीं करते। यदि कवि की प्रतिभा-शक्ति का हस्तावलंब अभिधा को मिल गया, तब वह भी काव्योचित चारुता का स्रोत बन सकती है। इस गूढ़ तथ्य का संकेत आनन्दवर्धन ने **ध्वन्यालोक** के चतुर्थ उद्योत में किया है। उन्होंने कहा है—

---

२९. वही, पृ० सं०।

३०. वही।

३१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० १९।

३२. ध्वन्यालोक लोचन—चौखम्बा, पृ० १८६।
"काव्येऽपि च····इयमेव रसवार्ता"

३३. वही, पृ० ३६० तथा ३२५।

३४. वही, पृ० ३५८।

"वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषा "भेदनेव प्रतीयते"[३५]— काव्य में शास्त्र और वाच्यार्थ की अपेक्षा काव्यार्थ की प्रतीति प्रत्यक्ष की भाँति प्रातिस्विक विशेषताओं से संवलित रूप में होती है—फलतः काव्योचित चारुता से मंडित होती है। यह प्रत्यक्षायमाण वाच्यार्थ वाच्यार्थ ही नहीं होगा, यदि अभिधा का विषय नहीं होगा। व्यवहार और शास्त्र में सामान्य रूप से वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, पर काव्य में विशिष्ट रूप में होती है। महिमभट्ट ने कहा है कि शब्द की अभिधा शक्ति से समर्थित अर्थ दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशिष्ट[३६]।

अभिधा लब्ध अर्थ का विशिष्ट रूप वही है जो प्रत्यक्ष का विषय (व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित) होता है। महिम के मत से—"स एव सत्कविगिरां गोचरः।"[३७]

यह व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित प्रत्यक्षगोचर अर्थ ही प्रतिभाप्रसूत कवि की वाणी या शब्द का अर्थ होती है। बात यह है कि प्रतिभा कवि की तीसरी आँख है जिसके समक्ष अतीत और भूत का आवरण हट जाता है और सब कुछ वर्तमान सा हो जाता है—प्रत्यक्षायमाण हो जाता है। राजशेखर आदि समीक्षकों की धारणा है कि कवि में यदि प्रतिभा है तो वह अप्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष कर लेती है।[३८] वह योगी हो या नहीं, पर प्रतिभाशक्ति उसे उस भूमि पर कभी कभी उठा ले जाती है और वह सब कुछ दिखा देती है जो योगी साधनावश देखता है। पं० केशवप्रसाद मिश्र के इस कथन में सचाई है कि योगी जिस भूमि पर साधना के बल से पहुँचता है, प्रतिभावैभव सम्पन्न कवि वहाँ अनायास ही प्रतिष्ठित हो जाता है।[३९] लेकिन यह दृष्टांत ही है, सर्वथा एकरूपता करनी सम्भव नहीं है। निष्कर्ष यह कि यदि प्रतिभा-शक्ति है तो चारुता का कौन सा स्रोत किसके बल पर कब फूट जाय यह नियम बनाना कला के क्षेत्र में असम्भव है। इसीलिये यद्यपि (अभिनवगुप्त और) आनन्दवर्धन व्यंजकत्व को काव्योचित सौंदर्य का स्रोत निरूपित करते हैं, तथापि उपर्युक्त पंक्ति के आलोक में ( वाच्यानां च···· ) प्रातिभ सामर्थ्य के समक्ष उसे शिथिल भी कर देते हैं। "अभिनवभारती" में इस "साक्षात्कारकल्पः" अर्थ का संकेत अभिनव-

---

३५. वही, चतुर्थ उद्योत, पृ० ५४३।

३६. व्यक्तिविवेक—महिमभट्ट प्रणीत, पृ० ३९० चौखम्वा, काशी १९३६।

३७. वही, पृ० ३९०।

३८. काव्यमीमांसा—राष्ट्रभाषा परिषद बिहार, पृ० २७ जून, १९४५।

३९. साहित्यालोचन में उद्धृत—श्यामसुन्दरदास, १९४२, पृ० २८०।

गुप्त भी देते हैं। अतः के० कृष्णमूर्ति जी की यह स्थापना कि रस समर्थकता[४०] के कारण ही काव्य-भाषा व्यवहार और शास्त्र की भाषा से पृथक् हो जाती है—विचारित नहीं है। उसके और भी स्रोत हैं। पश्चिमी समीक्षा में तो क्रोचे[४१] ने Knowledge का विषय ही प्रत्यक्ष गोचर "व्यक्ति"[४२] को बताया है। बिंबवादी आचार्यों ने इस पर इतना बल दिया है कि कवित्व का एकमात्र स्रोत ही बन गया।[४३] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[४४] तथा प्रायः समस्त छायावादी चिंतकों[४५] ने इसी अभिप्राय से काव्य भाषा को चित्र भाषा कह दिया– चित्रार्थ बिंबार्थ समर्थक भाषा कह दिया। वहाँ तो Imagination उस शक्ति या Faculty को कहा गया जहाँ Image या बिंब गढ़ा जाता है। इसलिये भारतीय प्रतिभा उसको आत्मसात् करती हुई भी उसका पर्याय नहीं है—विशेषकर कश्मीरी आलंकारिकों के संदर्भ में। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा कुन्तक उसी कश्मीरी धारा के आगमिक आचार्य हैं। इसी चर्चा को यहाँ रोक कर प्रकृत में यह कहना चाहता हूँ कि श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में काव्य-भाषा द्वारा जिस प्रकार का प्रभाव अलंकारवादी और रीतिवादी अभिव्यक्त करना चाहते थे—वह चारुतात्मक था। ये लोग रस को वह महत्त्व नहीं दे रहे थे जो आनंद और अभिनव द्वारा दिया गया।

कुन्तक का काव्य प्रस्थान सर्जनापक्षीय है—इसीलिये भाषा ही—शब्दार्थ ही—उसके लिये सब कुछ है—

आखर अरथ कविहिं बल सांचा।
अनुहरि ताल गतिहिं नट नाचा।।[४६]

---

४०. अभिनवभारती भाग १—अभिनवगुप्त, पृ० २८७ गायकवाड़ सं० १९५६।

४१. अप्रकाशित लेख से—पृ० १—Abhinava Gupta's view of Aesthetic concepts—by K. Krishnamurthy पृ० १३६!

४२. चिंतामणि, भाग—२ में उद्धृत, पृ० १५६ सं० २०२६।

४३. कविता क्या है—चिंतामणि में संकलित लेख, पृ० १२० ना० प्र० सभा, १९७६।

४४. वही।

४५. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत।

४६. रामचरितमानस—गीताप्रेस, गोरखपुर—अयोध्याकाण्ड।

इसीलिये अलंकार और रीतिवादियों की भाँति उन्हें भी अपनी सारी क्षमता का उद्रेक शब्दार्थ को ही केन्द्र में रखकर (अलंकार्य बनाकर) बताना पड़ा। अलंकार और रीतिवादियों की तुलना में कुन्तक को विरासत में बहुत कुछ मिला था—इसीलिये उन्हें ध्वनि तथा रसवादियों की विरासत को आत्मसात् करके अपने को प्रस्तुत करना पड़ा। इसीलिये उनकी दृष्टि में एक तरफ "स्वभाव" और "रस" अलंकार्य[४७] हैं और दूसरी ओर "शब्दार्थ" भी अलंकार्य है[४८]। ग्रहण पक्ष से ये वस्तु सौन्दर्य पर भी बल देते हैं और पर्यवसित रसवत्ता या लोकोत्तराह्लाद पर भी। पर इन सबका स्रोत "वक्रता" को ही निरूपित करना है इसीलिये उनकी स्थापना है—

लोकोत्तराह्लादकारिवैचित्र्यसिद्धये ।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ।[४९]

सामान्य भाषा से काव्य भाषा का व्यावर्तक पूर्व सूरियों द्वारा अनुद्भावित "वक्रता" का विधान कुन्तक का अपना पौरुष है। लोकोत्तराह्लादकारिता काव्यभाषा का लक्ष्य होने से व्यावर्तक है—सामान्य काव्यभाषा यह काम नहीं करती। लोकोत्तराह्लाद समर्थक होने से ही काव्यभाषा का सामान्य भाषा से प्रस्थान भेद है—काव्य-भाषा में यह समर्थकता कविव्यापार स्वरूप 'वक्रता' की है। काव्यगत वस्तु और काव्यगत आह्लाद व्यवहार और शास्त्रगत वस्तु और आह्लाद से भिन्न प्रकृति का है—इस भिन्नता को उभारने का श्रेय कवि व्यापार को है। अलंकार और गुण भी यह काम करते थे, पर "वक्रता" की व्याप्ति उनसे बढ़कर है। अलंकार शब्दार्थ रूप भाषा की विशेषता है और वामन ने "गुण" को भी भाषा धर्म रूप[५०] से ही स्थापित किया है। कुन्तक ने अपनी "वक्रता" में इन सबका समावेश करते हुये भी (वैभिन्न्य या वैचित्र्यसम्पादक काव्यभाषा गत धर्म) उसे और व्यापक भूमिका भूमिका दी है। अलंकार या गुण (वर्ण, पद तथा वाक्य) शब्द तथा अर्थ के ही धर्म हैं, प्रकरण या प्रबन्ध के स्तर पर उभरने वाली चारुता के स्रोत रूप में उनका विधान नहीं है। ध्वनिवादी आचार्य की दृष्टि इस ओर गई—उसने प्रकरण और प्रबन्ध के सौंदर्यस्रोत के रूप में "ध्वनि" की व्याप्ति स्थापित की, कुन्तक ने इस

---

४७. वक्रोक्तिजीवित—पृ० १२९ पृ० २१।

४८. वही—पृ० २० "उभावेतावलंकार्यौ।

४९. वही—पृ० २ प्रथमोन्मेष—२।

५०. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—पृ० १७, समग्रगुणगुम्फितावैदर्भी।

विरासत को भी आत्मसात किया और आगे बढ़े। एक ओर ध्वनि के समस्त प्रभेदों को "वक्रता" में आत्मसात किया ओर दूसरी ओर "व्यंजकत्व" को भी सौन्दय स्रोत के रूप में आत्मसात कर सौंदर्यस्रोत को और व्यापकता दी। व्यंजकत्व को सौंदयस्रोत मानने से वाचकत्व की विबार्थसमर्थ रूप में सौंदर्यस्रोतस्कता छूट जाती है —"वक्रता" को मानने से काव्यभाषा की कोई शक्ति नहीं छूटती। कुन्तक ने अर्थप्रत्यायकत्व रूप साम्य से उपचारतः शब्दमात्र को काव्य में "वाचक" कहा। वह वाक्य काव्य में वही "सटीक शब्द" है, जिसकी ओर आनंदवर्धन ने कारिका द्वारा संकेत किया था[५१]। अर्थात् आनंदवर्धन ने कहा था कि अभीष्ट चारुता के प्रकाशक सटीक शब्द को—जिसका कोई पर्याय किसी अन्य शक्ति से उसे समर्पित न कर सके—व्यंजक या ध्वनि शब्द कहते हैं। ध्वनिवादियों की धारणा ही हो गई थी —"न तादृशो कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनाभृष्टप्रतीयमानः स्वत एव चमत्कारमाधातुं प्रभवति"[५२]—अर्थात् ऐसा कोई वाच्यार्थ हो ही नहीं सकता, जो प्रतीयमानार्थ की अपेक्षा किये बिना स्वयं चमत्कारोत्पादन में सक्षम हो सके। कुंतक इस संभावना का विस्तार करते हुए काव्यभाषा मात्र से उसे जोड़ना चाहते हैं। यह अवश्य है कि वे काव्य में न तो शब्द भेद स्वीकार करते हैं न ही अर्थभेद, किन्तु व्यवहार और शास्त्र की जड़भाषा से काव्यभाषा का व्यतिरेक दिखाने के लिए उसे "वक्र" या "विचित्र" कहना चाहते हैं। उनका "विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः"[५३] प्रमाण भूत वक्तव्य है। उन्हे काव्यभाषा में प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरेक इष्ट है। यद्यपि यह व्यतिरेक निम्नगामी या अपकृष्ट होने में भी संभावित है, तथापि सौन्दर्य के साथ लोकोत्तर आह्लाद के साथ जुड़े रहने के कारण उसे उत्कर्ष के साथ ही जुड़ना होगा। काव्यभाषा अभीष्ट सौंदर्य के संप्रेषण में क्षम हो—वह चाहे जिस सामर्थ्य से हो। यह कवि व्यापार है, प्रतिभा है—जो अपने पारस स्पर्श से काव्यभाषा की प्रत्येक क्षमता को सौंदर्य संप्रेषण का स्रोत बना सकती है—इसे कोई नियम रोक नहीं सकता। इसलिए तो वह नियतिकृत नियमरहित है।[५४]

कुन्तक "वक्रता" नामक अलंकृति को अलंकार्य काव्य से वस्तुतः अपृथक् सिद्ध मानते हैं—केवल समझने समझाने के लिए अलग कर लेते हैं [५५]। समूचा काव्य-

---

५१. ध्वन्यालोक—पृ० १४६।

५२. रसगंगाधर—पंडितराजजगन्नाथ-प्रथम आनन—पृ० ९४।

५३. काशी हिं वि० वि०, वाराणसी—संस्कृत साहित्यानुसंधान समिति।

५४. काव्यप्रकाश—मम्मट, १।१, पृ० २ भ० ओ० रि० इ०, पूना १९२२।

५५. वक्रोक्तिजीवितम्—पृ० ६।

शब्द और उससे समर्थित अर्थ—ही "वक्र" है—लोकोत्तर है—शास्त्र और व्यवहार की अपेक्षा "कुछ और" है। वर्ण्य वस्तु यदि स्वभावसुन्दर है तब तो कवि प्रतिभा उसे यथावत् उकेर ही देती है, यदि वैसी नहीं है तो बना देती है। सामान्यतः औचित्य तो यही कहता है कि पेण्टिग के लिए आधार को स्वभाव-सुन्दर होना चाहिये। स्वभाव पर ही वक्रता फवती है। कुंतक ने तो यहाँ तक कह दिया है—"स्वभावस्यैव रूपेण निरूपणमेव हि वक्रतायाः परं रहस्यम्।"[५६] वक्रता की अंतरात्मा स्वभाव का ही सहज उभार है। मैं उन दोनों प्रकार के कवियों की वंदना करता हूँ, जो वस्तु में निहित स्वभावसिद्ध अव्यक्त सुभग तत्त्व को वाणी के सहारे उभार देते हैं अथवा जो भूत को अपनी क्षमता से सुन्दर बना देते हैं।[५७] मतलब कवि लीन सौंदर्य को उभारता भी है और अपनी प्रौढ़ि से आहित भी करता है—और यह सब होता है कवि व्यापार से। वर्ण्यवस्तु में लीन सुभग तत्त्व कहने का स्पष्ट आशय है कि सौंदर्य लोकोत्तर—चारुतर उसमें स्वभावतः है, पर न तो वह सर्वसामान्य की आँखों में आता है न ही वर्ण्य बन पाता है—उसके लिये तो कवि को तीसरी आँख अपेक्षित होती है - जिसकी ओर महिम ने संकेत किया है—

> सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते
> येन साक्षात्करोत्येव भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः।[५८]

अर्थात् यह कवि की प्रतिभा नामक तीसरी आँख है, जिससे वह त्रैलोक्यवर्ती और त्रिकालवर्ती पदार्थ समुदाय को देख लेता है। इतना ही नहीं—वह उस लोकोत्तर सुभगतत्त्व का भी साक्षात्कार करता है -जो सर्वसामान्य की आँखों का विषय नहीं बना।

प्रश्न यह भी है कि यह चारुता या सुभगतत्त्व है क्या ? कुन्तक क्या इस तरफ कोई दार्शनिक आलोक भी विकीर्ण करते हैं ? यह स्वभाव है क्या, जो वक्रता का परम रहस्य है ? कुन्तक इस वक्रता को केवल प्रौढ़ि प्रसूत भी नहीं मानते और न ही सर्वथा लोक रूढ़। वास्तव में कुन्तक कश्मीरी आलंकारिक हैं और शैवदर्शन (त्रिक्दर्शन या स्पंददर्शन) से परिचित हैं। परिचित ही नहीं हैं—'वक्रोक्ति जीवित" के 'मूल में वही दृष्टि अंतर्निहित है'। आरम्भ के मंगलाचरण से ही उन्होंने कहा है

---

५६ वही, पृ० १०।

५७. वही, पृ० १२०।

५८. व्यक्तिविवेक—महिम भट्ट, चौखंबा-१९३६, पृ० ३९१।

कि उस शिव को नमस्कार है जो विश्व चित्र का निर्माण करने में केवल परिस्पन्द-स्वभाव आत्मशक्ति मात्र का सहारा लेता है।[५९] आगम का व्यवर्तक लक्षण है—शक्ति की विशिष्ट अवधारणा।[६०] इसके अनुसार मूलतत्त्व 'द्वयात्मक अद्वय'' है। इस मत में जगत् मिथ्या नहीं है। मूलतत्व की चिन्मयी संकोच प्रसारात्मिका शक्ति का विस्फार है। एक तरफ श्रुति कहती है—''एकाकी न रमते'[६१] ''स द्वितीयमैच्छत्''[६२] और दूसरी तरफ कहती है—''द्वितीया द्वै अत्र भवति''[६३]—अर्थात् एक तरफ वह लीला के लिये ''द्वितीय'' भी चाहता है और दूसरी ओर ''द्वितीय'' को भयोत्पादक भी मानता है। इस अन्तर्विरोध का निवारण इसमें है कि वह स्वयं अपनी क्षमता से ''द्वितीय'' बन जाय, इस तरह उसकी इच्छा शक्ति भी कार्यान्वित हो जाती है और भयोत्पादक की स्थिति भी नहीं आती। शाङ्कर अद्वैत में ''द्वितीय'' सर्वथा भिन्न है। आगम में शक्तिमान् की अपनी शक्ति का ही रूपांतरण है। यही वह शक्ति है जिसका सहारा लेकर शिव या शक्तिमान् जगत् का निर्माण करता है।[६४]

इस शक्ति का स्वरूप स्पंदात्मक है—

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम्।
शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः ॥

सृष्टिकाल में स्पंद स्वभाव[६५] यह शक्ति आनन्द लाभ करती है।

''स्पंद'' का शाब्दिक अर्थ है—कंपन, जिसकी निष्पत्ति किंचिच्चलनार्थक ''स्पदि'' धातु से होती है। यह एक ज्योतिर्मय बिन्दु है। कंपनात्मक होते हुए भी इस तत्त्व को उस ''क्रिया'' शब्द से बोधित नहीं किया जा सकता जो जागतिक

---

५९. वक्रोक्तिजीवितम्—१।१, पृ० १। कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७७।

६०. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—पृ० ३ (प्रस्तावना) बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, १९६३।

६१. बृहदारण्यक—पृ० ३९।

६२. वही।

६३. वही, पृ० ३८ (१।४।२) पूना १९२८।

६४. वक्रोक्तिजीवितम्—१।१ पृ०, १।

६५. तन्त्रालोक—कश्मीर सिरीज, १९१८।

क्रिया का, काल विशेष से घटित होने वाली "क्रिया" का द्योतक है। स्पंद को यदि समझकर कहा जाय तो "शक्ति" भी कहा जा सकता है, स्पंद को इच्छा भी कहा जा सकता है पर यह समझकर कि स्पंद "इच्छा" बनती है, पर "इच्छा" "स्पंद" नहीं। अतः उसे "इच्छा" से भिन्न भी नहीं कहा जा सकता। "स्पंद" सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी। सक्रिय इसलिये कि उसमें कंपन के कारण देश प्रच्युति रूप क्रिया रहती है, पर इस देश प्रच्युति की संतति नहीं चलती—अतः जागतिक क्रिया के बोधक क्रिया शब्द का प्रयोग भी यहाँ नहीं किया जा सकता—फलतः इस दृष्टि से उसे निष्क्रिय भी कहा जा सकता है। वह चित् स्वरूप नहीं चित् शक्ति रूप है। वैसे शक्ति और चैतन्य पर्याय ही हैं। चित्स्वरूप शिव की स्वभावभूता "शक्ति" उससे निकलकर पुनः उसी में समा जाती है—विश्रांत होती रहती है। यही आवर्तात्मक कंपन ही स्पंद है; जो निष्क्रिय एवं सक्रिय के मध्य है।[६६]

वैसे स्पंदन नैयायिकों और वैशेषिकों के परमाणु में, सांख्यों के गुण में और शक्ति में तीनों जगह हैं। योग भाष्यकार ने कहा है—जितने समय में एक परमाणु स्वदेश प्रच्युति करता है—वही समय "क्षण" है[६७]। इसी का प्रतिबिंब बुद्धिगत समुदित होकर काल कहा जाता है जिसमें भूत-भविष्य की कल्पना होती है।

यह "स्पंद" स्थिर भी है और गतिशील भी। गतिशील इसलिये कि यह कंपन है और स्थिर इसलिये कि उसमें स्वदेश प्रच्युति नहीं होती। यही स्पंद सारी सृष्टि का मूल स्रोत है—पर इसके लिये सामान्य स्पंद में वैषम्य आना आवश्यक है। रामकण्ठ ने "स्पंद" की चर्चा करते हुए कहा है—"स्पंदशब्दश्चायं स्वस्वभाव-परामर्शमात्रस्य नित्यस्य शून्यव्यतिरेचनकारणभूतस्य तावन्मात्रसंरंभात्मनः शक्त्यपरा-भिधानस्य पारमेश्वरस्य धर्मस्य किंचिच्चलनात् "स्पंद" इति अर्थानुगमात् वाचकत्वेन व्यपदिश्यते"[६८]—अर्थात् यह स्पंद परमेश्वर का किंचिच्चलनात्मक विशेषता है—उसे शक्ति भी कहा जाता है। यह स्पंद दो प्रकार का है—सामान्यात्मक तथा विशेषात्मक। "सामान्य स्पंद" का स्वरूप इस प्रकार है—"एष उपादेयतमः परम-कारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य अयमहमस्मि—अतः सर्वं प्रभवति, अत्रैव च

---

६६. स्पन्दकारिकाविवृत्ति २।५।

६७. पातंजल योग दर्शन—व्यास भाष्य—पृ० २८८ लखनऊ विश्व-विद्यालय।

६८. रामकण्ठ प्रणीत—स्पन्दकारिकाविवृत्ति, २।५।

प्रतीयते—इति प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्यस्पंदः।''[६९] अर्थात् इस संसार का परम कारण स्वरूप सत्य अपने स्वरूप का—यह मैं हूँ, इसी सब का उद्भव होता है इसी में सब प्रलीन हो जाते हैं—इस प्रकार का जो प्रत्यवमर्शात्मक निज धर्म है—वही सामान्य स्पंद है। यह कंपनशील पदार्थ मात्र में अनुस्यूत सामान्य स्पंद है। यह वह सदृश परिणामवाही ज्योतिर्मय विन्दु है जहाँ शिव और शक्ति समरस हैं। शिव तत्त्व की दृष्टि से वही निस्पंद है और शक्ति तत्त्व की दृष्टि से सदृश परिणामवाही शक्ति। सांख्यों का पुरुष भी ज्योतिरूप है—पर परिरमणशील नहीं। वहाँ तो इसे छोड़कर प्रकृति और तत्प्रसूत भावमात्र परिणामशील हैं। यह सदृश परिणामवाही प्रकृति या सामान्यस्पंद उस ऋतुमति स्नाता नायिका सी है जिसमें केवल गर्भधारणा की स्वरूप योग्यता है कार्यकारी योग्यता नहीं। इस सामान्य स्पंद में अशेष विशेष स्पंद समाये हुए हैं। उसमें इच्छा (कामाख्य बीज) का प्रतिफलन हुआ कि विशेष स्पंद व्यक्त हुआ। सामान्य स्पंद के सहारे ही अनिच्छात्मक इच्छावश विशेष स्पंद बनते हैं। विशेष स्पंद का स्वरूप—निर्देश करते हुए कहा गया है कि विशेष स्पंद के कारण ही अनात्मभूत देहादि में आत्माभिमन पैदा होता है, भिन्न भिन्न माया प्रमाताओं में ''मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ'' इस तरह का त्रिगुणात्मक ज्ञानप्रवाह उत्पन्न होता रहता है। ये विशेष स्पंद स्वरूप के आच्छादक हैं।[७०] इस प्रकार कश्मीरी दर्शन में जिस ''स्पंद'' का अत्यन्त सूक्ष्म और गहन विवेचन हुआ है—उसकी चर्चा ''वक्रोक्ति जीवित'' में अनेकशः हुई है। फलतः इस दार्शनिक विवेचन के आलोक में उसे समझने का प्रयास करना चाहिये।

कुंतक ने ''वक्रोक्ति-जीवित'' में ''स्पंद'' शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया है। काव्यमार्ग में अर्थ का स्वरूप क्या होना चाहिये—इस पर कुंतक का कहना है—''अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पंदसुन्दरः''[७१] और इसकी व्याख्या में वे स्पष्ट कहते हैं—''काव्ये ये सहृदयाः काव्यार्थविदः तेषामाह्लादमानंदं करोति यः तेन स्वस्पंदेन आत्मीयेन सुन्दरः सुकुमारः ''[७२]—काव्य में जिस अर्थ का विधान हो—वह अपने स्पंदात्मक स्वभाव से सुन्दर प्रतीत होकर सहृदयों को आह्लाद मग्न कर सके। यह स्पंद वस्तु का स्वभाव है—उसके विना तो वह कही ही नहीं जा सकती। इसी स्वभाव के कारण वस्तुगत उत्कर्ष की अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने ''स्वभाव''

---

६९ वही।

७०. वही।

७१. वक्रोक्तिजीवितम्—पृष्ठ १४, धारवाड़ संस्करण।

७२. वही—पृष्ठ १७।

का बहुत ही स्पष्ट व्याख्यान करते हुए कहा है—"अपरिम्लानः प्रत्यग्रपरिपोषपेशलः यः स्वभावः पारमार्थिको धर्मः....."[७३]—स्वभाव वस्तु का परमार्थ रूप है जो अभिनव और रसमय होता है। निष्कर्ष यह कि वर्णगत जिस सुभग तत्त्व की लीनता या संस्थिति बताई जाती है—वह स्पदमयता ही है—वही वस्तु मात्र का स्वभाव है—जो अपनी समग्रता से कवि की प्रतिभा का ही विषय होता है। कवि प्रतिभाप्रसूत वाणी से उसे उभार कर भावयित्री प्रतिभा के सामने प्रस्तुत कर देती है।

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबंध ने कुंतक के आशय को और भी स्पष्ट किया है। उसने कहा और ठीक कहा कि शब्द और अर्थ की योजना में इनसे अतिरिक्त कोई अलंकार नाम की वस्तु नहीं है। अपितु विलक्षण कविव्यापार पूर्वक अभिधान ही इसका अलंकार है—स्पष्ट ही इस प्रक्रिया में व्यापार की ही वक्रता की महत्ता है—उसी का प्राधान्य है—वही काव्य का जीवित है। इसीलिए कुंतक ने अलंकृत को ही काव्य कहा, काव्य का अलंकार नहीं। आनन्दवर्धन ने कहा था कि व्यापार वाक्यार्थ नहीं होता, व्यापार से वाक्यार्थ निष्पन्न होता है और कलात्मक वाक्यार्थ व्यंग्यार्थ ही है—वही गुण और अलंकार का उपस्करणीय है—फलतः वही प्रधान है, वही विश्रन्तिधाम है—अतः आत्मा है। कुंतक ने अर्थ का यह गौरव व्यापार के योग से सिद्ध करते हुए व्यापार प्राधान्यवाद चलाया, भट्टनायक ने भी व्यापार को ही महत्ता दी थी। अभिनवगुप्त ने कुंतक और भर्तृनायक से परिचित होने के कारण ध्वनन व्यापार को प्राधान्य देकर आनन्दवर्धन का समर्थन किया और कुन्तक की प्रतिस्पर्धिता की।

अब, दूसरा सवाल यह खड़ा होता है कि वक्रता नामक अलंकार के माध्यम से ही "काव्य चमत्कार" की स्थिति सम्भव मानने वाला कुन्तक "रस" के विषय में क्या सोचता है? काव्य की आत्मा का प्रश्न उठने पर "रस" के विषय में आखिर यह क्या कहता है? यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वे सर्जना की दृष्टि से सारसत्ता का अनुसंधान करने चले हैं और मानते हैं कि कवि व्यापार का पारस-संस्पर्श उद्दिष्ट सौंदर्य की निष्पत्ति में अपेक्षित है। उसकी वक्रता वस्तु के काव्योचित स्वभाव का अविच्छेद्य वैशिष्ट्य है—

उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्तनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता॥[७४] ३।१।

---

७३. वही—पृष्ठ १३७।

७४. वक्रोक्तिजीवितम्—३।१ धारवाड़ संस्करण।

काव्योचित शब्द द्वारा वस्तु का काव्योचित रूप में प्रतीत होना ही उसका बांकपन है। इस रूप में प्रतीत वस्तु आह्लाद पर्यवसित होती है। अतः यह कहना कि कुन्तक की आत्मा की खोज करने चले और रह गये अलंकार तक ही—माध्यम तक ही—पूर्ण विचारित नहीं है। कुन्तक आनन्दवर्धन की भाँति किसी भी स्थिति में रस को अप्रधान नहीं करना चाहते। महिम की भी यही स्थिति है। वस्तु और अलंकार की तरह रस कभी वाच्य नहीं होता और व्यंग्य होते ही वह स्वतः अन्य अर्थों को उपाय बना देता है, एवं स्वयं उपेय बन जाता है। निष्कर्ष यह कि उनका विवेचन आह्लाद तक जाता है--साध्य तक जाता है—बीच में ही नहीं रुकता।



# शतरञ्जकुतूहलम्

सम्पादक—*श्री जीवेश्वर झा*

**इलाहाबाद**

An unpublished ms. on chess-playing, entitled शतरञ्ज-कुतूहलम्—consisting of only nine verses with commentary—has been presented here.

प्रस्तुत **शतरञ्जकुतूहलम्** पाण्डुलिपि में उल्लिखित (संवत् १९२२) समयानुसार १९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की रचना है। देवनागरी लिपि में लिखित यह मातृका गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में सुरक्षित है। प्रति आधुनिक कागज पर सुस्पष्ट अक्षरों में लिखित व्याख्या से युक्त एवं पूर्ण है। आकार बहुत छोटा है। मात्र ९ श्लोकों को टीका सहित प्रस्तुत किया गया है!

हस्तलेख में श्रीकृष्ण भगवान की राधा के प्रति उक्ति लिपिबद्ध है। रचयिता का नाम निर्देश नहीं है। अतएव इस उक्ति से स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह किसी पौराणिक आधार पर ही लिखा गया है। इस मातृका का उल्लेख न तो **कॅटलॉगस कॅटलॉगरुम** में मिलता है और न अन्य सूचियों में। इस प्रकार के अन्य हस्तलेख कृष्णदास विरचित **शतरञ्जिनी** का उल्लेख **कॅटलॉगस कॅटलॉगरुम** के पृष्ठ संख्या ६३१ पर किया गया है। चूँकि भारतीय प्राचीन खेलों में शतरञ्ज का भी नाम लिया जाता है और इस खेल की प्राचीन परम्परा चली आ रही है इस दृष्टि से प्रस्तुत हस्तलेख का अपना एक महत्त्व है।

प्रस्तुत हस्तलेख का प्रकाशन मार्च, १९४६ में प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती द्वारा संस्कृत साहित्य परिषद्, श्याम बाजार, कलकत्ता के तत्त्वावधान में हुआ था। यह मुद्रित प्रति अनुपलब्ध है। ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, एम० एस० यूनिवर्सिटी, वड़ौदा के क्षेत्राधिकारी श्री वाई० एन० वाकङ्कर महोदय ने अपने शोधपूर्ण निबन्ध हेतु इस प्रति के आदि, अन्त, मध्य तथा पुष्पिका आदि का उपयोग करने के साथ ही सूचित

किया है कि प्रस्तुत हस्तलेख उक्त मुद्रित प्रति के समान है। मात्र मुद्रित प्रति में इस प्रति की अपेक्षा दो पुष्पिका क्रमशः मूल के लिये और टीका के लिये है। साथ ही मुद्रित प्रति में व्यवहृत हस्तलेख उल्लिखित समयानुसार (संवत् १९२४) से यह हस्तलेख दो वर्ष पुराना है।

प्रस्तुत मातृका में शतरञ्ज के पात्रों की गति (चाल) इस प्रकार है—(क) हाथी एक सीध में एकादि एक तथा एक ही साथ सात प्रकोष्ठ तक दाएँ-बाएँ और ऊपर-नीचे चल सकता है। (ख) घोड़ा अढ़ाई घर चारों ओर चलता है। इसका संचरण अधिक कुटिल और महत्त्वपूर्ण होता है। (ग) उष्ट्र चतुर्दिक एकादि एक तथा एक बार विभिन्न कक्षों में चलता है और आलसी पात्र होता है।(घ) अमात्य सर्वत्र संचरण करता है। यह समस्त पात्रों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यदि इसके साथ हाथी का सामञ्जस्य बना रहा और घोड़े का बल मिलता गया तो प्रतिस्पर्द्धी को पानी पिला देता है। (ङ) बादशाह सार्वभौम होता है। एक-एक कक्ष करके नीचे-ऊपर; दाएँ-बाएँ सीधा एवं टेढ़ा दो तरह से चलता है। (च) सेना सिर्फ सीधा आगे एक कक्ष ही चलता और वक्र हो कर मारने का कार्य करता है। यह पीछे नहीं चल सकता है। सभी पात्र एक दूसरे के सामने आने वाले पात्र को अपनी गति के अनुसार ही मारते है।

जहाँ तक शतरञ्ज खेलने की रीति का प्रश्न है, हस्तलेख में उल्लिखित बातों से यह संकेत मिलता है कि समस्त पात्रों का 'गतिज्ञान' शतरञ्ज के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसके बिना शतरञ्ज का खेल खेला ही नहीं जा सकता है। समस्त पात्रों के गतिज्ञान को समझकर ही पात्रों का संचरण किया जाना संभव होता है। एक ऐसी विषम परिस्थिति होती है जब प्रतिस्पर्द्धी के सार्वभौम के गति की 'शह' के द्वारा संचरण गति अवरुद्ध हो जाती है। (अर्थात् प्रतिस्पर्द्धी अपने पात्रों के द्वारा पूर्ण सामञ्जस्य एवं शक्ति के साथ स्थित सार्वभौम के घर पर अपना अधिकार करते हैं। यदि बादशाह को अन्य घर मिल गया तो चल सकता है अन्यथा वह परास्त हो जाता है जिसे 'मात' कहते हैं।) एक और विषम परिस्थिति सार्वभौम के लिये उस समय उपस्थित होती है जब प्रतिस्पर्द्धी के पात्रों के द्वारा सार्वभौम को शह दिये बिना एक भी स्थान नहीं छूटता उसे 'जिच्च' अवस्था कहते हैं। उससे बचने के लिये 'जिच्च' स्थिति में पड़ा हुआ खिलाड़ी अपने प्रतिस्पर्द्धी का कोई भी एक पात्र उठा लेता है तब सार्वभौम को चलने के लिये घर मिलता है।

इस खेल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रतिस्पर्द्धी के पात्र-संचरण को ध्यान में रखकर अपने पात्र को एक दूसरे पात्र का सहयोग बल एवं एकरूपता बनाये हुये चलना विजय के लिये आवश्यक है। मात्र पात्र का गतिज्ञान

तथा संचरण करने की कला से विजय प्राप्त नहीं होती अपितु प्रतिस्पर्द्धी के पात्र संचरण को देखते हुए गढ़ निर्माण, व्यूह रचना, सहयोग की सामञ्जस्यता एक दूसरे पात्र में रखते हुए पात्र संचरण करना चाहिये। साथ ही प्रतिस्पर्द्धी को परास्त करने के लिये पात्र संचरण में दूरदृष्टि, छल-प्रपंच, तर्कबुद्धि आदि द्वारा आक्रमण एवं सुरक्षा की रीति तथा राजनीति की तरह गंभीर रूप में पात्र-संचरण की कुटिल नीति का अवलम्बन आवश्यक है।

अन्त में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि आधुनिक समय में जिस प्रकार से शतरञ्ज-खेल का प्रचार-प्रसार एवं विकास हो रहा है, उस स्थिति में अनुपलब्ध मुद्रित शतरञ्जकुतूहलम् ग्रन्थ के अभाव को दूर करने के लिये तथा 'बहुजन हिताय' प्रस्तुत हस्तलेख को यथावत् विद्वानों के समक्ष रखने का यह एक प्रयास मात्र है। यदि इससे शतरञ्ज खिलाड़ियों को किञ्चित् भी लाभ हुआ तो इसे संस्कृत वाङ्मय साहित्य से लुप्त एक अणु प्राप्ति ही समझा जा सकता है।

श्री गणेशाय नमः।

**गणेशं नमस्कृत्य विष्णवङ्घ्रियुग्मं गुरून्**
**सर्ववन्द्यान् विशालान्दयाब्धीन्।**
**बुधानां मनोज्ञं प्रशस्तं हि**
**बुद्धिबलाख्यं वयं कुर्महे क्रीडनं सत् ॥१॥**

श्री गणेशाय नमः।

**नत्वा महेशानमुमापतिं गुरोर्विधाय चित्ते चरणारविन्दम्।**
**कुर्वे शुभां बुद्धिबलाभिधस्य टीकामहं क्रीडनकस्य सूक्तिम्॥**

अथ विघ्नविधाताय मङ्गलमाचरति—गणेशमिति गणानां प्रथमादीनामीशः स्वामी तं नमस्कृत्य नत्वेत्यर्थः। उपपदविभक्त्यपेक्षयाकारकविभक्तेर्बलीयत्वान्नमः स्वस्तीत्यादिना चतुर्थी न किन्तु द्वितीयैव विघ्नबाहुल्यात् पुनर्मङ्गलमाचरति। विष्णवङ्घ्रि इति गुरुनिति च दयाब्धीन् दयासमुद्रान् एकस्यां प्लवन्तक्रियायां त्रयाणां सम्बन्धः। वयं बुधानां मनोज्ञं प्रशस्तं बुद्धिवलाख्यं सत्क्रीडनं इति निश्चयेन कुर्महे।

**सद्वर्णमये वस्त्रखण्डे विशाले चतुःकोणयुक्ते समन्तात्समाने।**
**चतुःषष्ठिकोष्ठानि कौशेयसूत्रैर्विधायादिकोणादिकोष्ठादिभाद्याः ॥२॥**

प्रचुरे विशाले महति चतुःकोणयुक्ते चत्वारश्च तत्सहिते समन्तात् समाने सर्वतस्तुल्ये वस्त्रखण्डे हस्त्यादिस्थितिपात्रगृहे विषये कौशेयसूत्रैः पट्टतन्तुभिः चतुःषष्ठिकोष्ठानि हस्त्यादिगृहाणि विधाय कृत्वा आदिकोणादि कोष्ठात् आदिः पूर्वश्चासौ कोणश्च तस्य आदि प्राक् च तत् कोष्ठं च तस्मात् तथा इभाद्याः हस्त्यादयः सारिका स्थाप्याः ।

**इति स्थापनीया गजाश्वोष्ट्रसेनाधिराट् सार्वभौमक्रमेलार्वनागाः ।**
**ततः पत्तयोष्टौ गजाद्यष्टकानामधस्तात्तिरःस्थः क्रमेणार्पणीयाः ॥३॥**

इतीति । हे राधे ! अनेनप्रकारेण गजाश्वोष्ट्रसेनाधिराट् सार्वभौमक्रमेलार्वनागाः । प्रथमकोष्ठे हस्ती द्वितीये हयः तृतीये ऊष्ट्रः चतुर्थे सेनाधिराट् सेनानीः पञ्चमे सार्वभौमः सर्वेश्वरः षष्ठे क्रमेल ऊष्ट्रः सप्तमे अर्वा अश्वः अष्टमे नागः हस्ती एते अष्टौ गजादि गजान्ताः स्थापनेष्यष्टसु तिरः स्थाः तिरोभागे क्रीडितुः मम पुरः स्थापनीयाः ततः हस्त्याप्यग्रतः गजाप्यष्टकानां सारिकाणामधस्तात् अधोभागेषु कोष्ठेषु अष्टौ पत्तयः पदातयः सारिकाः तिरःस्थाः तिरोभागस्थाः क्रमेणार्पणीया आरोप्या इत्यर्थः ।

**अमात्यालये सार्वभौमं निदध्यादमात्यं तथा सार्वभौमस्य कोष्ठे ।**
**इति व्यत्ययादन्यहस्त्यादयस्ते प्रतिस्पर्द्धिनोप्येव मेवाधिरोप्याः ॥४॥**

अमात्यालये इति । हे राधे ! क्रीडाया प्रतिस्पर्द्धिनः प्रतिस्पर्द्धिरूपस्य कलत्रस्य तवापि पुरः अमात्यालये सेनानीकोष्ठे सार्वभौमं सर्वेश्वरं निदध्यात् आरोपयेत् तथा सार्वभौमस्य कोष्ठे अमात्यं सेनान्यं निदध्यात् आरोपयेत् इति व्यत्ययात् एवं वैपरीत्यात् अन्यहस्त्यादयः अपरगजादि गजान्ताः यथा मम आरोपिताः तथा तवैव क्रीडास्थाने एवमेव आरोप्या आरोपणीया इत्यर्थः ।

**ततः क्रीडितव्यं मनीषाविदग्धैर्बलं चाबलं स्वस्य दृष्ट्वा परस्य ।**
**गतिज्ञानमेषां विना क्रीडनं नो भवेत् (तत्) पुरस्ताद्विचार्यं विशेषात् ॥५॥**

ततः इति । हे राधे ! ततः स्थानद्वये हस्त्यारोपणान्तरं मनीषाविदग्धैः सुबुद्धिमद्भिः स्वस्य निजस्य परस्य प्रतिस्पर्द्धिनः सारिकानां बलं च पुनः अबलं निर्बलत्वञ्च दृष्ट्वा विलोक्य क्रीडितव्यं खेलनीयमित्यर्थः । एषां हस्त्यादीनां गतिज्ञानं

विना ऋते क्रीडनं नो भवेत् न स्यात् । तत् हस्त्यादीनां गतिज्ञानं विचार्यं पुरस्तात् प्रथमतः विशेषात् अधिकेन विचार्यं विचारणीयमित्यर्थः ।

**गजः सप्तकोष्ठान्तमेकाद्यवक्रो यथापेक्षमूर्ध्वं तिरश्चैति पश्चात् ।**
**हयः सार्द्धकोष्ठद्वयं चासमन्तात् क्वचिन्मध्यगाम्यष्टकोष्ठानि रक्षेत् ॥६॥**

गज इति । एषां गजादीनां गतिप्रकार उच्यते । गजगतिज्ञानमाह — गजः हस्ती अवक्रः सन् सप्तकोष्ठान्तं सप्तकोष्ठपर्यन्तं एकादि एकं स्वस्थानकोष्ठं आदौ यस्मिन् कर्मणि ऊर्ध्वं ऊर्ध्वभागे तिरः तिरोभागे पश्चात् पृष्ठभागे यथापेक्षं यादृशी चलनेच्छा भवेत् तथा एति गच्छति । हयगतिज्ञानमाह । हयोऽश्वः सार्द्धकोष्ठद्वयं अर्द्धेन सहवर्तमानं कोष्ठद्वय इति आसमन्तात् उपर्यधस्तिरः सर्वभागेषु एति गच्छति क्वचिन्मध्यगामी स्यात् तर्हि अष्टकोष्ठानि रक्षेत् । अष्टस्थानेषु तस्य बलं तिष्ठतीत्यर्थः ।

**यथापेक्षमेकादि सप्तान्तकोष्ठं व्रजेद् वक्रगामी समन्तात् महाङ्गः ।**
**अमात्यो विना वाजिनश्चैकगत्या समग्रा गतिः सञ्चलेत् सर्वगामी ॥७॥**

अथ ऊष्ट्रगतिज्ञानमाह । यथेति । महाङ्गः ऊष्ट्रः वक्रगामी वक्रं गच्छतीति तथा अलसगामी सन् यथापेक्षं क्रीडितुर्यथेच्छं एकादिएकमारभ्य सप्तकोष्ठपर्यन्तं समन्तात् सर्वतः व्रजेत् । सेनानीगतिज्ञानमाह । अमात्यः सेनानीः वाजिनोऽश्वस्यैकगत्या विना अश्वैकगतिं त्यक्त्वा सर्वगामी उपर्यधस्तिरोगामी सन् समस्ताः हस्त्यादिकृताः गतिः सञ्चलेत् गच्छेदित्यर्थः ।

**पुरः पृष्ठतः पार्श्वयोः कोणकेषु चतुर्ष्वेककोष्ठं चलेत सार्वभौमः ।**
**तुरङ्गस्य गच्छेद्गतिं ह्येकवारं न कस्यापि लग्नासृतिर्यावदस्य ॥८॥**

अथ सार्वभौमस्य गतिज्ञानमाह । पुरइति । हे राघे ! सार्वभौमः सर्वेश्वरः पुरः अग्रभागे पृष्ठभागे पार्श्वयोर्द्वयोः कक्षिकक्षप्रदेशयोः चतुर्थकोणकेषु सर्वकोणेषु एककोष्ठं चलेत् गच्छेदित्यर्थः । यावत्कालपर्यन्तं अस्य सार्वभौमस्य क्रीडायां कस्यापि द्वितीयक्रीडितुः प्रतिस्पर्द्धिनः सैन्यादिपदात्यावसानस्य सृतिः संसरणं न लग्ना भवेत् । तावदेकवारं सार्वभौमः तुरङ्गस्य अश्वस्य गतिं सार्द्धद्वय(कोष्ठ)रूपं इति निश्चयेन गच्छेत् गमनं कुर्यादित्यर्थः ।

**पदातिश्चलेदग्रतः कोष्ठमेकमृजुर्मारयेद्वक्रगत्यान्यकोष्ठे ।**
**न पादं क्वचिद्धारयेत् पृष्ठभागे व्रजेद्यस्य कोष्ठं भजेत् तत् स्वरूपम् ॥९॥**

पदातिसारिकागतिज्ञानमाह । पदातिरिति । हे राधे ! पदातिनाम्नी सारिका अग्रतः अग्रभागे ऋजुः सरलः सन् । एककोष्ठं चलेत् गच्छेदित्यर्थः । प्रतिस्पर्द्धिहस्त्यादि सारिकां वक्रगत्या वक्रतया अन्यकोष्ठें तिर्यक्कोष्ठे मारयेत् हन्तीत्यर्थः । पदातिः क्वचित् कदापि पृष्ठभागे पश्चाद्भागे पादं स्वचरणं न धारयेत् न स्थापयेदित्यर्थः । प्रतिस्पर्द्धिनः हस्त्यादि सारिकानां मध्ये स्वपदातिर्यस्य कोष्ठं व्रजेत् गच्छेत् । तत्स्वरूपं हस्त्यादिरूपतां भजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः । सार्वभौमं विनेति शेषः । हे राधे ! अनया रीत्या शतरञ्जकुतूहले क्रीडितव्यमिति ।

इतिश्रीराधां प्रति श्रीकृष्णोक्तं शतरञ्जकुतूहलाख्यं समाप्तम् । संवत् १९२२ शाके १७८७ पौषशुद्ध १ भौमवासरे मथुराहराग्न्या लिखितम् ।

# मुरारिपदचिन्ता

डॉ० चन्द्रभानु त्रिपाठी

प्रयाग

Commenting upon the verse *Murāripadacintā cet* etc. the author has presented in this article a critical and comparative study of the poetry of Māgha and Murāri and holds that the latter follows the former so much so that the understanding of the tough poetry of *Anargharāghava* requires the study of *Śiśupālavadha*. Murāri is very much indebted to Māgha.

मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माऽघे रतिं कुरु॥

अर्धावृत्तियमकालङ्कारमण्डितश्लोकरूपेयं सूक्तिः कस्यचिद् समीक्षकवरस्य भक्तिसाहित्यरसास्वादिनो गुरुवरस्य वा नूतनकाव्यजिज्ञासोः भगवदुन्मुखस्य शिष्यस्य च प्रबोधार्थं समुज्जृम्भते। अस्यास्तात्पर्यम्-यदि त्वं मुरारेः कवेरनर्घराघवस्य पदज्ञानं समीहसे तदा पूर्वम् माघकवेः शिशुपालवधकाव्यस्याध्ययने प्रीतिं कुरु, तथा यदि त्वं भगवच्चरणारविन्दं स्मर्तुं वाञ्छसि तदा अघे-पापे रतिं मा कुरु।

मुरारिकवेस्तावदनर्घराघवं नाम नाटकमित्येकैव कृतिरुपलभ्यते। माघकवेरप्येकमेव महाकाव्यमस्ति शिशुपालवधं नाम। अत्र मुरारिकवेर्वैशिष्ट्यज्ञानाय माघकाव्यस्य वैशिष्ट्यज्ञानं नापेक्षितम् उभयोर्दृश्यश्रव्यभेदेन भिन्नत्वात्। परमेतदुभयविधकाव्यस्य शरीरन्तु शब्दार्थरूपमेव भवति। शब्द एव संस्कृतम्—सुप्तिङन्तरूपं सत् पदं कथ्यते, इति वैयाकरणसम्मतम्। पद्यते गम्यतेऽर्थो येन तत्पदमित्यर्थावबोधकसुप्तिङन्तस्य शब्दस्य पदमिति संज्ञा भवति। तथा चेदं संस्कृतसाहित्येतिहासग्रन्थेषु प्रमाणपुरस्सरं निर्णीतं यन्माघकवेः स्थितिः, मुरारेरपेक्षया पूर्वाऽऽसीत्। अतः उभयोर्माघमुरारिग्रन्थयोः पदानां परस्परं बोध्यबोधकभावसम्बन्धः फलति।

माघमुरारिकविवरयोः प्रशस्तावन्या अपि सूक्तयो विलसन्तितराम् यथा माघस्य प्रशस्तौ—

**(१) नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते ।**

**(२) उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।**
**दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥**

पूर्वसूक्तेरर्थः—माघकाव्यस्य नवसु सर्गेष्वधीतेषु सर्वेषां प्रयोगार्हशब्दानां ज्ञानम् भवति । समीक्षकैर्माघकवे शब्दज्ञानं शब्दप्रयोगप्रावीण्यं चाधीत्येयं सूक्तिः कृता । द्वितीयसूक्तावुक्तास्त्रयोगुणामहाशब्दराशेस्तत्प्रयोगप्रकारस्य चापेक्षां कुर्वते यतो हि शब्दालङ्कारा: रचनारामणीयकं विदधति । समुचितपदप्रयोगो ऽर्थगौरवगुणं धत्ते । अलङ्कृता प्रसन्ना मधुरा च पदपङ्क्तिर्लालित्यं लाति । माघकाव्यस्याध्ययनेनास्य कवेः प्रचुरशब्दज्ञानं प्रयोगपाटवञ्च निर्णीयते ।

**महाभाष्यकारः पतञ्जलिः** शब्दज्ञानस्यानेकान् विधीन् व्याहृतवान्, तेषु लघीयान् विधिर्व्याकरणाध्ययनम् । कोशैरपि प्रतिपदं शब्दज्ञानम् भवति । अत्रेदमवधेयम् यत्कोशेषु सङ्गृहीताः पर्यायशब्दाः विभिन्नदेशीयसाहित्यग्रन्थेषु पूर्वम् प्रयुक्ता एव भवन्ति । व्याकरणेन तावन्नवीना अपि यौगिकाः शब्दाः संस्कृत्य प्रयोगार्हाः क्रियन्ते । वैयाकरणशिरोमणिः कविवरस्तान् शब्दान् स्वकाव्ये प्रयुङ्क्ते तथा प्रयुज्यमाना अनेके सुबन्ततिङन्तशब्दास्तद्धितशब्दाः कृदन्तशब्दाश्च काव्यवपुरलङ्कुर्वते, अर्थगौरवं लालित्यञ्च पुष्णन्ति । महाकविर्माघस्तथा कृत्वा पूर्वोक्तं गुणत्रयमस्थापयत् ।

मुरारिकवेः प्रशस्तौ राजानकरत्नाकरमहाकविः स्वकीये हरविजयमहाकाव्ये तस्य नामोल्लेखं कृतवान्—

**अङ्कोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम् ।**
**(हर० ३८।६७)**

मुरारिकवेर्विषये इमेऽपि श्लोकाः केनचिदुक्ताः सन्ति ।

**(१) देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं,**
**जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः ।**

**(२) मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा ।**
**भवभूतिमनादृत्य मुरारिमुररीकुरु ॥**

**(३) भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया ।**
**मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ॥**

एभिः प्रशस्तिश्लोकैर्मुरारेर्विद्वत्कविसमवाये समादरः प्रतीयते, तस्य गुरुकुले

विद्योपार्जनक्लेशः स्वसामयिकभवभूतिकवेरपेक्षयोत्कृष्टत्वञ्च गम्यते । 'मुरारिपद-चिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु' इति व्याख्येयसूक्तिविशेषे त्रीणि व्याख्यानानि भवितु-मर्हन्ति ।

(१) माघस्योत्तमर्णता मुरारेश्चाधमर्णता परिस्फुटति ।

(२) माघापेक्षया मुरारेरुत्कृष्टता प्रतिभाति ।

(३) माघकवेः कृतेरपेक्षया मुरारिकृतेः क्लिष्टतया तदवबोधार्थं पूर्वं समुचित शब्दार्थज्ञानजनकं माघकाव्यं परिशीलनीयम् तेनानर्घराघवनाटकपदानां काठिन्य-क्लेशो नानुभूयेत ।

यथा माघकविर्बहुश्रुतः नूतनतमपदप्रयोगप्रवण आसीत्तथैव मुरारिरपि स्वयं-कथितवालवाल्मीकिपदवीविशिष्टः पदवाक्यप्रमाणपारावारीणो गुणगरिमगभीरमधुरो-दारवचनोऽभूत् । चिन्तापदस्य प्रयोगो विचारणीयविषयस्य दुरबोधतया तस्य क्लिष्ट-ज्ञाने भवति । मुरारिप्रयुक्तपदानां क्लिष्टत्वात्तेषामर्थबोधः क्लेशेन जायते । अत्र काठिन्यं त्रिविधं भवितुमर्हति, अप्रसिद्धत्वरूपम्, व्युत्पत्तिज्ञानराहित्यरूपम्, विविध-शास्त्राज्ञानरूपं वा । प्रथमस्य निराकरणं कोषग्रन्थानामध्ययनेन, द्वितीयस्य व्याकरण-शास्त्राध्ययनेन, तृतीयस्य च निखिलनिगमागमावगाहनेन भवति । एवं रीत्योभयोः कविवरयोः कृती समवेक्षणीये तेनास्याः समीक्षासूक्तेराशयः स्फुटो भविष्यति ।

माघेन स्वीयकाव्ये प्रयुक्तानाम् पदानामध्ययनेनेदं स्पष्टं भवति यदयं महाकविः स्वकाव्ये पूर्वोक्तगुणत्रयस्य सन्निवेशाय तान्येव पदानि प्रायुङ्क्त यानि काव्यालङ्कर-णानि, अर्थगौरववर्धकानि, लालित्यापादकानि च सन्ति । मणिकाञ्चनयोग इवोपयुक्त-पदप्रयोगनैपुण्यं माघकवेर्दृश्यते तदीयकाव्ये । तेनास्य कवेः व्याकरणप्रमुखवेदाङ्गसहित-वेदस्य, पुराणेतिहासदर्शनानां, साहित्यादिकलानां च सम्यग्ज्ञानं निश्चीयते । क्रमशः उदाहरणद्वारोपर्युक्तमतं समर्थ्यते । तत्र काव्यशोभाकरी शब्दयोजना पुरस्क्रियते—

व्रततीततीरिव । (१-५), विहङ्गराजा रुहैरिव, (१-७) मिजोजसोज्जासयितुम्, (१-३७) ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना । (२-१४) तथ्यामुतथ्या-नुजवज्जगादाऽग्रे गदाग्रजम् । (२-६९) लोचनललामललाटलीलाम् (४-२८) ।

माघकवेः यमकालङ्काररञ्जिता नवनवपदप्रयोगप्रवीणताऽत्यन्तं चकास्ति यथा—

वनं तताऽनेकतमालतालम्, वनन्तताने कतमा लताऽलम् । (४-३९)

षष्ठसर्गे प्रायः सर्वेषु पद्येष्वेषा सुषमा मन आवर्जयति यथा—

**नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।**
**मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥ (६-२)**
**कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशा । (६-१४)**
**रुचिरं कमनीयतरा गमिता रुचिरङ्कमनीयत रागमिता । (६-७१)**

एतेषु पद्येषु सौष्ठवापादनाय महाकविना कोषव्याकरणयोराश्रयणं कृतमिति स्पष्टमेव । अर्थगौरववर्धकाः शब्दप्रयोगाः माघकविना स्वकाव्यस्य शास्त्रीयगौरववृद्धये कृताः । प्रथमसर्गे भागवतः श्रीकृष्णस्य वर्णनं सांख्ययोगदर्शनानुसारि वर्तते । चतुर्थसर्गे एकः श्लोकः "सहस्रशीर्षा....." इति मन्त्रस्यानुवाद एवास्ते । पञ्चमसर्गे पशूनां स्वभावोक्तिवर्णनं चतुर्दशसर्गे च दार्शनिकविवेचनमस्य कवेः श्रुतविस्तरं शास्त्रेषु प्रौढिञ्च प्रथयति ।

द्वितीयसर्गे राजनीतिविषयकानि पद्यान्यप्यर्थगौरवं पुष्णन्ति । एकमुदाहरण-मत्र दीयते यस्मिन् राजनीतेरौपम्यं व्याकरणशास्त्रेण कृतम् ।

**अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।**
**शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥**

महाकविः बहुत्र तद्धितकृदन्तधातूनां समस्तपदानां च प्रयोगेणार्थगौरवं प्रावर्धयत् यथा सितिम्ना (१-२५), नेदीयः (७-८), सौगन्ध्यम् (७-४८), माघवनी (९-२५), चौतपल्लवी (२-१९), लघूकरिष्यन् (१-३५), ईषुः (७-२), मिमान, न्यञ्चित (७-१३), उदास (७-४६), अधिश्रितश्रिणी (१-२४), हरिहेतिहूति (६-१५)। सप्तम सर्गे चतुस्त्रिंशत्तमः श्लोकः समस्तपदसमूहरूपः । केचन श्लोकाः एकक्षराः, द्वयक्षराः वा सन्ति । वस्तुतः चतुर्थसर्गे माघेन रमणीयतायाः यत् 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' इति स्वरूपमुक्तम् तद्वस्तुतः कविताया एव सौन्दर्यमभिव्यनक्ति । एवमुत्तरोत्तरं प्रयुक्ताः नवीनाः शब्दाः कवितायाः सुषमां, सरसतां, नवताञ्च प्रतिपाद-यन्तीति माघकवेराशयस्तत्र स्फुटोभवति ।

एवं प्रयोगबाहुल्येन, रचनाचातुर्येण 'चानन्तपारं किल शब्दशास्त्रम् ।' इति भाष्यवचनं माघकाव्ये प्रत्यक्षं दृश्यते । माघकवेः शब्द-कोशः सुसमृद्ध आसीदिति नानेन पदप्रयोगावृत्तिः कृता । प्रथमसर्गे भगवतः कृष्णस्य षोडश पर्याया अनेन प्रयुक्ताः सन्ति । एवं नवमसर्गे चन्द्रस्य विंशतिः पर्यायाः सन्ति । पर्यायेषु चक्रवाकसंज्ञकः 'हरिहेतिहूतिः', ऐरावतवाचकः 'भर्तुरभ्रमोः' 'उद्धवस्य पर्यायः 'पवनव्याधेः' इन्द्रस्यार्थे 'कौशिकः' वडवानलवाचकः 'तुरंगकान्तामुखहव्यवाहः' इत्यादि पदानि महाकवेर्माघस्य मनसि चिरसम्भृतं शब्दनिधिं ख्यापयन्ति ।

लालित्यलुब्धेन माघेनोत्तरवर्तिनां कवीनां समक्षमादर्शभूता अनेके नवीनाः पदप्रयोगाः कृताः यथा नवयौगिकपदानां यमकालङ्कारे नवसौन्दर्यम्, संहित-समस्त-तद्धित-कृदन्त-सुबन्त-तिङन्तपदानामेकत्र विन्यासवैचित्र्यम् । अस्मिन् प्रसङ्गे द्वित्र्याण्युदाहरणानि दीयन्ते —

(१) परितस्तार रवेरसत्यवश्यम् परितस्ताररवे रसत्यवश्यम् । (६।७०)

(२) रुचिरं कमनीयतया गमिता रुचिरङ्कमनीयत रागमिता (६।७१)

(३) समुद्धृताशं कमनी चकाशे समुद्धृताशङ्कमनीचकाशे । (६।७४)

एवं रीत्या माघकविः शिशुपालवधविषयकं भगवत्कथानकं भित्तिरूपमेवाश्रित्य तत्र नूतनानि चित्राण्युल्लिख्य काव्यं पूर्वोक्तोपमादित्रिविधगुणगरिमरमणीयं व्यदधादिति परिस्फुटो भावः ।

अथ मुरारिकवेरनर्घराघवं नाम नाटकं पर्यालोच्यते । महाकाव्ये माघो भारविमिव नाटके मुरारिर्भवभूतिमनुचकार तदनु तं पर्यक्राम्यत् । इति 'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।' तथा 'भवभूतिमनादृत्य मुरारिमुररीकुरु' इति समीक्षासूक्तिद्वयेन सिद्ध्यति । यद्यपि भवभूतिर्मुरारिश्चोभावपि पाञ्चालीं गौडीञ्च रीतिमाश्रित्य स्वनाटकानि व्यरचयताम् तथापि मुरारेः पदचिन्तायां भवभूतेः पदानां चिन्ता न कार्या परम् माघे (माघपदेषु) रतिः कर्त्तव्या इति समीक्षकवरस्य कथनं किमपि वैशिष्ट्यमादधाति ।

अनर्घराघवस्याध्ययनेन ज्ञायते यन्महाकविर्मुरारिर्माघ इव स्वीयनाटके तानि पदानि प्रायुङ्क्त, येषामर्थाविबोधाय कोशग्रन्थानां व्याकरणस्य परिज्ञानमनिवार्यं भवति । एषा प्रवृत्तिरेव पदचिन्तोच्यते । मुरारेः पदानामध्ययनक्लेशः शक्तिग्रहाभावादेव भवति । स च शक्तिग्रहः (पदार्थविबोधः) कोशादिसाहाय्येनापि कर्तुं शक्यते यदाहुः—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

परमेकः साधारणः सुकुमारमतिर्जनोऽल्पेन कालेन कोशग्रन्थान्, षड्ङ्गवेदसहितं पुराणेतिहासदर्शनवाङ्मयं साहित्यशास्त्रं देशीयभाषाविशेषम् चाध्येतुं न शक्नोति तथा च कथमेतस्याः समस्यायाः समाधानं भवेदिति समीक्षकैर्माघकाव्येऽपि कोशादिसाहाय्येन सुबोधानि ललितानि प्रौढानि पदानि समवलोक्य सरला सुभगा च सूक्तिराजवीथिः प्रदर्शिता—

'मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु ।'

सम्प्रति मुरारिकृतानर्घराघवनाटकात् कतिपयान्युदाहरणानि प्रदीयन्ते । तत्र तावत्कोशमाश्रित्यैवावबोद्धुं शक्यानि नातिप्रसिद्धानीमानि पदानि सन्ति १।६ नीवी (मूलधनम्) १।१४ विस्रा (आमगन्धि) १।१५ गर्भरूपः (बालस्तरुणश्च) १।२४ जङ्घालम् (अतिवेगसहितम्। सुत्रामा (इन्द्रः) २।६ तर्कुः (कुम्भकारः) २।१७ कृपीटयोनिः (अग्निः) २।२३ गोकर्णतर्णकः (मृगशिशुः) २।४४ करम्भः (दधिसक्तवः) ३।२० ययुः (अश्वमेधीयाश्वः) ३।५१ गद्ये डुलिः (कच्छपी) ४।२४ खुरलीकलहः (शस्त्राभ्यासस्पर्धायुद्धम्) ४।५८ अण्डीरः (दर्पिष्ठः) ५।२ आतरम् (नदीसंतरणपण्यम्) ६।४३ रामायणम् (रामेण रावणवधो रामायणमिति स्मृतम् इति त्रिकाण्डशेषः) ६।५५ जाङ्गलिकः (विषवैद्यः) जङ्गलम् (मांसम्) ६।७७ डमरणम् (चमत्कारः) ७-४१ गद्ये चारहली (देशीयभाषाशब्दः पौरुषार्थकः) मस्तु (दधिजलम्) ७।५७ सांरावणम् (बहुभिर्मिलित्वा कृतः शब्दः) ७।६० झलञ्झला (आघात आस्फालो वा) ७।६१ रसवतीपौरोगवः (महानसाध्यक्षः) ७।६३ गञ्जापतिः (मदिरालयाध्यक्षः) ७।१०६ कुतुपः (चर्मघटः) ।

अनर्घराघवे व्याकरणशास्त्रस्य विशिष्टानि पदान्यपि विद्यन्ते तानि नावैकरणो वेद यथा—

१।२ उपस्थानीयाः ( कर्मकर्तरि निपातितः ) १।२४ सुभगंभावुकः (कर्तरि भुवः खुकञ्) १।२५ शौवापदः (शुनोऽणि 'द्वारादीनाञ्च' इत्यैच्) १।२७ गद्ये अभ्यमित्रीणस्य (अभ्यमित्र + खः) १।४४ सर्वपथीना (सर्वपथिन् + खः) २।३९ घानिष्यते (√हन् + णिच् कर्मणि लृट्) ३।५५ गद्ये सर्वकर्मीणम् (सर्वकर्ममुसाधु) ४।४ वैहासिकः, तथा अग्रे श्लोकेषु वैजयिकः. शावाशौचम्, पारस्त्रैणेयः, दौर्भागिनेयः, वैकर्तनिः इति तद्धितप्रत्ययान्तप्रयोगाः । ६।२० उत्क्षिप्नुना ( उत्√क्षिप् + क्नुः ) ६-३९ परिपुच्छमान (परि√पुच्छ + णिङ् + शानच्) ६।४४ तलातलि (समासानन्तरमिच्) ७।३३ तपसित्वा (तपः + क्यङ् + क्त्वा, यलोपः) ७।१०७ पतयालुभिः (√पत् + आलुच्) ७।१२६ वैबुधसैन्धवी (विबुधसिन्धु + अण्, उभयपदवृद्धिः) ७।१३३ ऐन्द्राबार्हस्पत्यम् (इन्द्रश्च बृहस्पतिश्चेतीन्द्राबृहस्पती + ष्यञ्, उभयपदवृद्धिः) तथा २।६ गद्ये, अङ्कुशयितुम् एवमयन्त्र आलानयति, कन्दलयतीति नामधातुप्रयोगाः ।

अर्थगौरवकृतेऽयं महाकविरोजस्विनीं पदावलीं प्रायः प्रायुङ्क्त । यथा—

इह महिषविषाणव्यस्तपाषाणपीठस्खलनसुलभरोहिद्वर्गभिणीभ्रूणहत्याः ।
कुहरविहरमाणप्रौढभल्लूकहिक्काचयचकितकिरातत्रस्तशस्त्रा वनान्ताः (५।२०)

अयं महाकविर्बहुश्रुत आसीदिति नाटके वैदिक-पौराणिक-दार्शनिक-विचाराणामुल्लेखेन ज्ञायते तत्र व्याकरणसूत्रार्थपरमिदं वाक्यम्—

तपोभिरस्य ब्राह्मणादेशोऽपि स्थानिवद्भावेन क्षत्रकार्यं न जहाति।
(४।११ गद्यम्)

अस्मिन् श्लोके तस्य वैदिकमन्त्रज्ञानं तद्विनियोगश्च दर्शनीयः—

गायत्री द्रुपदा देवी पाप्मानमपहन्तु ते।
पुनन्तु पावमान्यस्त्वामृध्नोतु ब्रह्म ते परम् ॥ (४।६२)

महाकविरयं स्वं श्रोत्रियपुत्रमचकथत् (१-८ गद्यम्, तथाऽस्मिन् श्लोके गृहस्थधर्ममूचिवान् सः, तेनास्य श्रोत्रियपरम्पराऽविच्छिन्ना लक्ष्यते—

वैतानेषु कृपीटयोनिषु पुरोडाशं वषट् कुर्वते।

वैशेषिककटन्दीपण्डितः (५।५ गद्यम्) इति श्रुतिशष्कुलीवलयितव्योमावगाही-गुणः (७।१५२) इति शब्दलक्षणकथनेन न्यायवैशेषिकशास्त्रज्ञानमस्य प्रसिद्ध्यति।

वैदर्भीरीतिप्रशंसकोऽप्ययं (७।१०२) स्वरचनायां पाञ्चालीं गौडीञ्चोभे वृत्ती समाश्रयद्येनास्य नाटके काठिन्यक्लेशः समापतितः। अयं मुरारिकविर्नूतनशब्द-निर्माणेऽपि प्रवीण आसीत्। अस्मिन् श्लोके चन्द्रस्येमानि नूतनानि नामानि प्रयुक्तानि सन्ति—

नेत्राणां मधुपर्कसत्रमुदधेः सर्वाङ्गमेदस्करः,
शृङ्गारस्य रसायनं मखभुजां पीयूषगण्डापतिः।
देवः किं स्तुमहे महेश्वरशिरोनेपथ्यरत्नाङ्कुरः,
क्षीरोदार्णवशुक्तिमौक्तिकमयं दाक्षायणीनायकः ॥ (७।८७)

अनुप्रासयमकालङ्कृतपदावलीलालित्यमप्यस्य श्लोकेषु दर्शनीयम् यथा—

तस्मिन्नतरुणरोहिणीरमणचूडामयिपाणिप्रणयिनि। (२।८७ गद्यम्)
कात्यायनीकामुककार्मुकारोपणप्रणयप्रवीणेन। (३।१६ गद्यम्)
प्रसृमरसमरोड्डामरौजा बिडौजाः। (५।४२)
ज्वालाजाङ्गलिकेन जङ्गलभुजां पत्याऽपि न त्याजितः। (६।५५)
वन्दारुवृन्दारकवृन्दवन्दीमन्दारमालामकरन्दबिन्दून्।
मन्दोदरीयं चरणारविन्दरेणूत्करैः कर्करतामनैषीत्। (६।८२)

वर्णननैपुण्येनायं मरुस्थलमपि करभीकाम्यं कृत्वा रमणीयतामनैषीत्—

**ज्येष्ठामूलीययात्रासरभसकरभीकाम्यकान्तारवर्त्मा। (७।८६)**

एवं माघस्य मुरारेश्च काव्ययोर्वैशिष्ट्यस्य पर्यालोचनेनेदं वक्तुं शक्यते यन्मुरारिकविः स्वरचनायां माघमादर्शं कृत्वा तमनुचकार। इदमपि तावल्लक्ष्यते-यदयं माघं कविमूर्धन्यं मत्वा तमुल्लङ्घयितुमना नाभूत् अतएव सः रामचरितमाश्रित्य माघकविगुणगणगरिमोपेतमनर्घराघवमरचयत् यत्र नाट्यगुणैः सह काव्यगुणा अपि विलसन्ति। माघस्य पूर्वोक्तगुणत्रयं मुरारेरपि नाटके प्रदर्शितपूर्वम्। उभयोः कविवरयोः प्रयुक्तपदानां पर्यालोचनेन माघस्य कालकृतज्येष्ठत्वेन सह काव्योत्कृष्टत्वमपि सिद्ध्यति। यतोऽयं मुरारिः श्रुताभ्याससम्पन्नस्त्वासीत् परं न माघवत्प्रतिभाभास्वरोऽभूत्। नाटकं दृश्यं भवति, प्रेक्षकाः रसावगाहनाय नाटकं पश्यन्ति न पदार्थज्ञानाय। **अनर्घराघवे** चन्द्रवर्णनम्, परशुरामरोषः, रामरावणयुद्धसूचना तथा भारतवर्षवर्णनम् एषु सर्वे एव श्लोकाः काठिन्यदोषोपहताः अतो नीरसाः प्रतीयन्ते।

मुरारेरपेक्षया माघस्य श्रुतनिधिरपि समृद्धतरोऽस्ति। माघकाव्ये प्रायः सर्वे दर्शनभेदाः, सर्वाश्चतुर्दशविद्याः सर्वाः कलाश्च कवितासुधासिक्ताः नवीनतां रमणीयताञ्चोपयाताः सन्ति। प्रथमसर्गे चतुर्दशसर्गे च शास्त्रीयपाण्डित्यम्, द्वितीयसर्गे राजनीतिविवेचनम् पञ्चमसर्गेऽश्वगजविज्ञानम् दशमसर्गे कामशास्त्रप्रावीण्यम्, एकादशसर्गेऽपूर्वं सूर्योदयादिवर्णनम् माघस्यानुत्तमत्वं द्योतयन्ति। माघस्य शब्दकोषोऽपि मुरारेः सम्पन्नतर आसीत्। **अनर्घराघवे** प्रायः पदान्यमरकोशसंगृहीतान्येव, क्वचिदेव **विश्व-हलायुध-मेदिनीकर-धरणि-हारावली**-नानार्थकोषेभ्यः पदानि गृहीतानि सन्ति; परं **शिशुपालवधे केशव-शाश्वत-वैजयन्ती** इत्येतेभ्योऽपि कोषेभ्यः पदान्युद्धृतानि। अनेकार्थवाचकानि पदानि माघस्यापूर्वं पाण्डित्यमभिव्यञ्जयन्ति।

माघस्योक्तिवैचित्र्यमपि नान्यत्र लभ्यते। समरस्य पाणिनीयव्याकरणेनौपम्यं मन आवर्जयति—

**निपातितसुहृत्स्वामिपितृव्यभ्रातृमातुलम्।**<br>
**पाणिनीयमिवालोचि धीरैस्तत्समराजिरम्॥ (१९-७५)**

तथा रैवतकपर्वतवर्णने '**सहस्रशीर्षे**'तिमन्त्रस्तदौपम्येऽनूदितः—

**सहस्रसंख्यैर्गगनं शिरोभिः पादैर्भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम्। (४।४)**

अथ व्याकरणप्रयोगेष्वपि न मुरारिर्माघमतिशय्य वर्तते। मुरारेः पदप्रयोगाः तद्धित-कृदन्त-नामधातुष्वेव प्रायोऽन्तर्भूताः सन्ति। समस्तपदावलिरपि मुरारेः प्रकाण्डपाण्डित्यं

प्रकटीकुरुते परं माघस्योत्कृष्टपदप्रयोगास्तस्य पाणिनीयशास्त्रावगाहनं प्रमाणयन्ति यथा—

**(१) पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः । (१।५१)**

अत्र क्रियासमभिव्याहारे कालसामान्ये लोट्लकारप्रयोगः ।

(अत्र तिङ्वैचित्र्यात्सौशब्दाख्यो गुण इति मल्लिनाथः ।)

**(२) मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति । (२।४५)**

अत्र 'माङ्याक्रोशे' इति लटः शत्रादेशः ।

**(३) निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलुवाचिकम् । (२।७०)**

अत्र **''अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा'** इति क्त्वाप्रत्ययः ।

एवं माघस्य मुरारेः गुणगरिमाढ्यत्वं सिद्धम् भवति । तेन 'मुरारिपद ' इति समीक्षासूक्तेः पूर्वोक्तं **'माघापेक्षया मुरारेरुत्कृष्टता प्रतिभाति'** इति द्वितीयं व्याख्यानं निरस्तं भवति । माघकवेरिमानि पदानि मुरारेर्ग्रन्थे उपलभ्यन्ते—

(१) माघस्य **गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः । (१-२)**
मुरारेः **अनूरुसारथिरथप्रस्थानघण्टापथः । (५।५६)**

(२) माघस्य **वपुर्गुणनिकेव सा । (२।७५)**
मुरारेः **तौर्यत्रिकगुणनिकाम् । (५।१८)**

(३) माघस्य **उद्वोढुं········सध्रीचा । (८।४४)**
मुरारेः **आयुधसध्रीचा । (१।३६ गद्यम्)**

(४) माघस्य **दुःखाकरोति । (२।११)**
मुरारेः **दुःखी दुःखाकरिष्यति । (१।५७)**

एवमनेके तद्धित-कृदन्त प्रयोगाः उभयोर्ग्रन्थयोः साम्यं भजन्ते । मुरारेरेकस्मिन् गद्ये कालिदासकृतप्रयागसङ्गमवर्णनसाम्यमुल्लसति । यथा—

कालिदासस्य-**अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ।**

**(रघुवंश १३।५५)**

**मुरारेः कृष्णागुरुमलयजमयमङ्गरागमिवान्योन्यस्य कुर्वाणे कलिन्दकन्या मन्दाकिन्यौ संगच्छेते** (७।१२४ गद्यम्)।

एवं विवेचनेन मुरारेः पाण्डित्यप्रकर्षः सिद्धो भवति। विशेषरूपेण माघस्य **शिशुपालवधमनर्घराघवस्यार्थाव**बोधाय पूर्वानुशीलनीयं महाकाव्यं वक्तुं शक्यते तथा च माघस्योत्तमर्णता स्वत एवायाति। क्वचित्स्थलेषु मुरारिरत्यप्रसिद्धानि तर्कु-मस्तु प्रभृतीनि, विटप्यते इत्यादि च पदानि प्रायुङ्क्त। माघकाव्येऽपि बहून्येतादृशानि पदानि प्रयुक्तानि सन्तीति प्राक् तस्याध्ययनं मुरारिनाटकस्यार्थबोधने साहाय्यमाचरति। तथा चास्याः सूक्तेरयं समीक्षितो निर्गलितोऽर्थः सम्पद्यते—

मुरारिप्रयुक्तपदार्थावबोधाय पूर्वं माघकाव्यमनुशीलनीयम् यतः **शिशुपालवधे** यादृशानि कोश-व्याकरण-व्यवहारज्ञेयानि पदानि प्रयुक्तानि सन्ति तानि तादृशानि तथारूपाणि **वाऽनर्घराघवेऽपि** विद्यन्ते। यथा मुरारिः **शिशुपालवधम**धीत्य तादृग्गुण-गौरवमण्डितं स्वं नाटकं रचितवान् तथाऽध्येतारोऽपि पूर्वं **शिशुपालवधपदप्रयोगाव**-बोधपाटवं प्राप्यानर्घराघववर्ण्यवैशिष्ट्यं जानन्त्विति।

# रत्नाकराभिमता-गैर्वाणवाणी

डा० गोपराजु रामा

इलाहाबाद

Changeability is the normal feature of a language which appears in the literature of the great poets. The author in this paper, has thrown light on the nature and usage of Sanskrit language in the time of Rājanaka Ratnākara, as revealed in his work—the *Haravijaya Mahākāvya*.

भाषायाः असाधारणं लक्षणं खलु नित्यं परिवर्तनशीलत्वम् । प्रचलने वर्तमाना एव भाषा परिवर्तनं भजते परिवर्धते च । यत्र भाषायां प्रचलनव्यवहारादिवैरल्यात् व्याकरणनियमप्रतिबन्धकत्वाच्च परिवर्तनस्य ईषत् एव संभावनं वर्तते तत्रापि वाक्य-विन्यासवैचित्र्यापादानं सा भाषा न त्यजति । सा एव रीतिः संस्कृतभाषाया अपि ।

सैषा भाषा काव्यनाटकादिसाहित्यरूपेण कालिदासप्रभृतिमहाकवीनां समयात् व्यवह्रियमाणा वर्तते । समयानुसारेण परिवर्धनमपि भजते स्म । महाकवयः स्वेषु स्वेषु काव्येषु स्वसामयिकीं एनां भाषां प्रत्यक्षेण अप्रत्यक्षरूपेण च स्मारितवन्तः तेषां साहित्यं एतस्या एवं प्रतिविम्बभूतम् वर्तते ।

अत्र लेखे राजानकरत्नाकरसमये भाषा कीदृशी आसीदिति निगदितुकामोऽयं जनः काश्च युक्तयः प्रस्तौति । राजानकरत्नाकरनिर्मिते हरविजये गैर्वाण्याः वाण्याः उद्देशाभूता पदावलिः तत्र तत्र विलोक्यते । तां पदावलिमाधारीकृत्य भाषायाः स्वरूपम् इत्थं विचार्यते । तथाहि ।

रत्नाकरस्याभिमता गैर्वाणीवाणी पञ्चाशत् वर्णयुता । एषैव वाङ्मयपङ्कजरूपेण वर्णिता । अस्यां भाषायां वर्णानां वाचकत्वसिद्धेः प्रागेव वाक्तत्त्वं सिद्ध्यतीति कविः उक्तवान् । स्त्रीणां कृते संकेतप्रायैव भाषा कवेः अभीष्टा आसीत् ।

सेयं भाषा अवमृष्टकलङ्कदोषरम्या, सामृतोद्गारा, औचित्यशालिनी, प्रसादगाम्भीर्यविशेषशालिनी, मनोहरपदोज्ज्वलवर्णहंसा, मनोरमा, अनेकमार्गवृत्तिः, कल्याणी, गुर्वी, ऊर्जिता, मधुरा, नवाम्बुदगभीररवा, निरर्गला, माधुर्यसंभृतिजृक्, निसर्गविनिर्मला, उदात्ता च भवेदिति कवेर्मतम् ।

एतादृशविशेषणविशिष्टाया अस्या भाषायाः कवेः अस्य पद्यात्मके साहित्ये विपुलान्युदाहरणान्युपलभ्यन्ते ।

व्यवह्रियमाणायां भाषायां पदावलिः अमृतस्यन्दिनी भवेत् तदानीमेव भाषा आहृता सती अन्यं जनं तां प्रयोक्तुं प्रवर्तयति । यथा—

**कोपः क एव दयिते त्वमिहानये-**
**स्त्वमालिङ्गिता नवममन्दरसानुनीति ।**
**तेनागतेन ललना गमिता प्रसाद-**
**मालिङ्गिता नवममन्दरसानुनीति ।। ३.९३**

भाषा यदि प्रकरणौचित्यं भजते तदा भावाभिव्यक्तये पदकदम्बकमपि तादृगेव समापतति । यतः प्रकरणौचित्यमन्तरा अभिव्यक्तेः निरर्थकतैव । यथा—

**वार्धकक्षीणशक्तिर्गतो तापसस्तापसीदत्तमालम्बनं याचते ।**
**अत्र पश्य क्षितिं संततानाप्रतस्तापसीदत्तमालं वनं या च ते ।। ५.५८**

भाषायां गाम्भीर्यशालिन्यां सत्यां व्यक्तो विषयः आदर्शप्रायेण जनैः आद्रियते । यथा—

**चन्द्रोदयेऽपि जलधिः स्तिमितत्वमेति**
**विद्युल्लतापि परिमुञ्चति चञ्चलत्वम् ।**
**तिग्मांशुमण्डलमपि ग्रसते न राहुः**
**प्रज्ञावतां नय इह प्रवितन्यमाने ।। १०.१६**

भाषा कल्याणमयी यदि स्यात् सर्वजनादरणं लभते । तादृश्येव भाषा रत्नाकरेण प्रयुक्ता वर्तते । यथा—

**शासति त्वयि पाताले त्रिदिवं च पुरन्दरे ।**
**स सुरासुरचक्रस्य त्रैलोक्यस्यास्त्वनामयम् ।। ३२.१०६**

भाषा हास्योत्पादिकाऽपि भवेत् । तदैव सा जनान् आह्लादयति अध्ययने दत्तचित्तानपि प्रकुरुते । यथा—

बद्धास्तु नाम भवती वनितानितम्ब-
बिम्बे पुरा भवति ते रत एव मोक्षः ।
मा भून्मुधैव मुखरा विरुतैरितीव
कालीमुवाच चरणाभरणं रणन्तीम् ॥ २३.६

एवमेव प्रकारेणान्यविशेषणविशिष्टा गैर्वाणवाणी रत्नाकरेण प्रयुक्ता विलोक्यते ।

अपि च रत्नाकरः संस्कृतभाषायाः संप्रदायसिद्धं (idiomatic) पदसमूहमपि उपयुक्तवान् । यथा—

विरचितसंहति, आक्षिप्तहृदयाः, अलंघ्यतमां श्रियम्, सात्तजृम्भमाननम्, श्मश्रुप्ररोहजटिलम्, चातुर्यचारुसदनम् वदनम्, करालकुटिला, प्रकटास्पदम्, आवद्धशोभम्, अनायासमुखा, बद्धास्पदा, भ्रमणानुबन्धि, अपोढबन्धनः, अविदित-बन्धनव्यथः, उपात्तमध्यभागा, करतलप्रहितैः आलक्ष्यलाघवम्—इत्यादि ।

एतानि सरलानि पदानि संस्कृतभाषाया औन्नत्यं प्रकटयन्ति । रत्नाकरः तान्येव आलम्ब्य संस्कृतभाषायां निहितां उपादेयभूतां सूत्रप्रायाञ्च वाग्वल्लरीं प्राकाश्यं नीतवान् इति शम् ।



# नव्यन्यायस्योद्भवो विकासश्च

डा० किशोरनाथ झा

प्रयागः

Although, the rich tradition of teaching and writing in *Navya-Nyāya-Śāstra* is not vouge in the present age, it's traces can be detected in the other Śastras in the form of the method and style of analysis (*vivecana*). The author has presented here a detailed account of the *Navya-Nyāya*, it's acaryas and their works.

(१)

गङ्गेशोपाध्यायस्य तत्त्वचिन्तामणिर्न्यायदर्शनस्य प्रमाणमात्रमवलम्ब्य प्रणीत इति विदितं तद्विदस्तु। तत्र सत्स्वपि षोडशपदार्थेषु विचारणीयेषु अभ्यर्हिततत्वात् सकलपदार्थमूलकत्वाच्च प्रमाणस्य प्राथम्येनोपादानम्। अतस्तदधिकृत्यैव तत्त्वचिन्तामणेर्निर्माणम्, इत एव च नव्यन्यायस्यारम्भः।

यद्यप्येतस्मात् प्राक् आचार्योदयनस्य पश्चाच्च मणिकण्ठशशधरतरणिमिश्रादिभिः प्रणीतेषु न्यायरत्नन्यायसिद्धान्तदीपरत्नकोषादिग्रन्थेष्वन्यत्र च नव्यन्यायस्य स्वरूपमुपलभ्यते। अत एवाचार्योदयनं प्राच्यनव्यन्याययोः मध्यमणितयाभिदधति न्यायशास्त्रविवेचकाः तथापि युक्तिप्रदर्शनकौशलं मितेन सारेण वचसा पदार्थोपस्थापनपाटवं लेखनचातुर्यं च गङ्गेशोपाध्यायमेव नव्यन्यायस्योद्भवस्थलतया परिग्राहयन्ति। स्वयमप्यसौ चिन्तामणिप्रारम्भे कथयति —

अन्वीक्षानयमाकलय्य गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतं
चिन्तादिव्यविलोचनेन च तयोः सारं विलोक्याखिलम्।
तन्त्रे दोषमणेन दुर्गमतरे सिद्धान्तदीक्षागुरु—
गंङ्गेशस्तनुते मितेन वचसा श्रीतत्त्वचिन्तामणिम्॥

**यतो मणेः पण्डितमण्डनक्रिया**
**प्रचण्डपाषण्डतमस्तिरस्क्रिया ।**
**विपक्षपक्षे न विचारचातुरी**
**न च स्वसिद्धान्तवचो दरिद्रता" ॥**

श्लोकावेतौ स्फुटं प्रतिपादयतश्चिन्तामणिकारस्य न्यायमीमांसाशास्त्रयोर्गुरुपरम्परातोऽधिगतिम् । उभयोः शास्त्रयोः सारं स्वकीयचिन्तनमन्थानेनादाय **चिन्तामणौ** तं निदधाति गङ्गेश इति ज्ञातचरम् । यावतीभिरुक्तिभिः पदार्थं उपपद्यते तावत्य उक्तयो नैयायिकानां प्रतिपादनावसरे कस्यापि पदार्थस्य व्ययीभवन्तीत्याभिप्रायकमेवाचार्योदयनस्य वाक्यम्—"यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिका इति (कुसुमाञ्जलिः-प्रथमस्तवकस्य प्रारम्भः) अस्यैव संवादः—

**विपक्षपक्षे न विचारचातुरी**
**न च स्वसिद्धान्तवचोदरिद्रता**

इति चिन्तामण्युक्ताववलोक्यते ।

फलितार्थस्तु गङ्गेशस्य चिन्तामणेरेव नव्यन्यायस्योद्भवोऽत्र च गुरुपरम्पराप्राप्तविद्याविवेचनाय च मीमांसामतजातस्य तत्रापि विशेषेण प्राभाकरस्य सम्यगुपपादनपूर्वकं निराकरणं च विद्यत इति ।

इदमिहावसेयम् । प्राचीनन्याये प्राधान्येन बौद्धाचार्याणां सिद्धान्तैः साकं न्यायाचार्याणां सारस्वती प्रतिस्पर्धा आसीत् । अतएव **न्यायवार्त्तिका**रम्भे उद्द्योतकराचार्यः कथयति—

**"कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः**
**करिष्यते तस्य मया निबन्धः । इति**

इह कुतार्किकपदेन बौद्धाचार्योऽभिप्रेत इति न तिरोहितं विद्वत्सु । एवं **तात्पर्यटीकायां** वाचस्पतिमिश्रः वार्त्तिकोपरि दूषणपङ्कसंलग्नार्थं तत्परान् धर्मकीर्तिप्रमुखान् बौद्धाचार्यानभिलक्ष्य कथयति—

**"इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्**
**उद्द्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात् । इति**

परस्मिन् पक्षे ज्ञानश्रीमित्राभिधः बौद्धाचार्यः वाचस्पतिमिश्रं तदीयं गुरुचरणं त्रिलोचनाचार्यं **न्यायभूषणस्य** प्रणेतारं भासर्वज्ञाचार्यमधुनालुप्तपरिचयमपि तत्समय-

प्रसिद्धं शङ्कराभिधं नैयायिकं न्यायवेदिकायाः स्तम्भचतुष्टयात्मकं स्वकीये निबन्धावलौ समुल्लिखति तन्मतानि नामग्राहमपाकर्तुम्। यतो हि तदानीमेते धर्मकीर्तिप्रमुखानां बौद्धाचार्याणां मतजातान्यपाकर्तुं दृढपरिकरा आसन्। ज्ञानश्रीमित्रस्तु धर्मकीर्तिप्रमुखबौद्धाचार्यमतसंरक्षणव्रती स्वभावतो न्यायमतनिराकरणशील आसीत्। अतएव कथयति—

"दुर्नीताश्रमवेदिकादृढतरस्तम्भानमून् शङ्कर—
न्यायालङ्करणत्रिलोचनवचस्पत्याह्वयान् हेलया।
उन्मूल्य क्षणभङ्ग एव विहितः" इति।

उदयनाचार्यस्तु कुसुमाञ्जलावात्मतत्त्वविवेकेपरिशुद्धौ चामुं ज्ञानश्रीमित्रं निपुणं निराकरोति।

**ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।**
**समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः॥**

इत्युदयनाचार्योक्तिस्तु प्रसिद्धतमैव विद्यते। बौद्धाचार्यन्यायाचार्ययोरियं प्रतिस्पर्धाऽत्रैवावसिता। अनया च यथोभयोः शास्त्रयोरभिवृद्धिस्तथैव पारस्परिकसिद्धान्तसंक्रान्त्या दुरूहतापि समजायत। अन्यथा षोडशपदार्थानां परिचयार्थं प्रवृत्तस्य शास्त्रस्य तल्लक्षणपरीक्षयोर्न तथाविधं काठिन्यं संभवति यथा समनुभूयते। अत्र मन्ये दुरूहतायाः काठिन्यस्य वा निदानं शास्त्रान्तरयुक्तिजालसंक्रान्तिस्ततः स्वाभिमानां मतानां रक्षणायासो विद्यत इति।

पश्चात् ह्रासोन्मुखे बौद्धसिद्धान्ते संजातप्राबल्ये च मीमांसकानां तदीयैरेवसिद्धान्तैस्तत्रापि विशेषेण प्राभाकरैः साकं नैयायिकानां सारस्वतः कलहः प्रमुखं स्थानमलभत इति विलोक्यते। उदयनाचार्यस्य गुरुमतमेतन्न तु गुरोर्मतम् इत्युक्तिः कुसुमाञ्जलौ शक्तिपदार्थनिराकरणम्, ईश्वरसिद्धिप्रयासोऽदृष्टस्यात्मनिष्ठत्वसमर्थनम्, "कार्यायोजनधृत्यादेः' रिति कारिकायाः स्वाभिमतव्याख्यानानन्तरं मीमांसकरीत्या व्याख्यान्तरोपस्थापनं चोपर्युक्तस्य कलहस्यैव व्यञ्जकम्। चिन्तामणेरारम्भिकपद्यस्य "ज्ञात्वा गुरूणां मतम्" इत्यपि वाक्यमेतदेव संकेतयति।

(२)

अस्य चिन्तामणेष्टीकास्तु अपरिगणिताः सञ्जाताः। तत्रापि वङ्गमिथिलयोस्तासां प्राचुर्यं विलोक्यते। तथा हि गोपीनाथठक्कुरस्य मणिसारः, वटेश्वरोपाध्यायस्य

दर्पणम्, यज्ञपत्युपाध्यायस्य मणिप्रभा, शङ्करमिश्रस्य मयूखः, द्वितीयवाचस्पतिमिश्रस्य प्रकाशः पक्षधरापरपर्यायस्य जयदेवमिश्रस्यलोकः, नरहरि उपाध्यायस्य दूषणोद्धारः, वासुदेवस्य न्यायसिद्धान्तसारः, रुचिदत्तस्य प्रकाशश्च नव्यन्यायस्य मैथिलसम्प्रदाय-प्रवर्तकानां तत्त्वचिन्तामणिटीकाः विराजन्ते। एवं वङ्गाभिजनेषु प्रमुखव्याख्याकाराः प्रगल्भमिश्रः, वासुदेवसार्वभौमः, रघुनाथशिरोमणि, जानकीनाथ भट्टाचार्यचूडामणिः, मथुरानाथभट्टाचार्यप्रभृतयश्च विद्यन्ते। राजचूडामणि मखिन् धर्मराजध्वरीन्द्रः अन्नंभट्टश्च दाक्षिणात्यधीधनाः सन्ति एतस्य व्याख्याकृतः।

दक्षिणप्रान्ते तथा पूर्वोत्तरमीमांसयोरध्ययनाध्यापनव्याख्यादिभिः प्रचार-स्तथा न नव्यन्यायस्येत्यनुभूयते। पुनरपि काश्चन व्याख्योपव्याख्याः दाक्षिणात्यैर्विप-श्चिदपश्चिमैः कृता विराजन्ते। **चिन्तामणे**रेतस्य व्याख्यासु पक्षधरनाम्ना प्रसिद्धस्य जय-देवमिश्र**स्यालोका**ख्या रघुनाथशिरोमणे**र्दीधिति**श्च कालजयिन्यावभवताम्। एते यथा प्रसिद्धिमवाप्नुताम् न तथान्या इत्येतयोर्व्याख्योपव्याख्यापरम्परा स्फुटं प्रतिपादयति। अत्राप्येका मैथिलसम्प्रदायस्यापरा च गौडसम्प्रदायस्य प्रातिनिध्यं भजेते।

आलोकव्याख्यातः पूर्वं मिथिलायां वटेश्वरोपाध्यायेन प्रणीत**श्चिन्तामणिदर्पणः** एतदीयप्रपौत्रेणयज्ञपत्युपाध्यायेन विरचिता **चिन्तामणिप्रभा** च प्रचारं समादरं चालभेताम्। पक्षधरस्तु स्वटीकायामालोके यथास्थानमुभयोर्व्याख्ययोः दर्पणप्रभयोः सन्दर्भान् समुत्थाप्य स्वकीयदृष्टया तन्मतानि निराकरोति। अतएव खृष्टीयाष्टादश-शतकभवो गोकुलनाथोपाध्याय**श्चिन्तामणिटीका**यां चक्रदृशमावेकत्र कथयति—"सोऽयं मिश्राणामुपाध्यायैः सह सगोत्रकलहोऽवशिष्यते" इति। इदानीमपि पक्षताविचार-प्रसङ्गे **जागदीश्यां** यज्ञपत्युपाध्यायमतमध्याप्यते गुरुजनैः। अनुमानखण्डे बहुत्र उपा-ध्यायमततया यज्ञपतेः प्रभाया एव सन्दर्भाः स्मर्यन्ते।

विएना विश्वविद्यालयतः डा० गोपिकामोहनभट्टाचार्यमहाभागानां न्याय-दर्शने कृतभूरिपरिश्रमाणां सत्प्रयासेन **चिन्तामणे**रियं प्रभा सर्वांशतोऽधुना प्राकाश्यं गतेति हर्षस्य संवादः। श्रूयते किल पक्षधरमिश्रस्य गुरुरासीत् यज्ञपतिः शिष्यश्चासीद् यज्ञपतिसुतो नरहरिः, यो हि **चिन्तामणे**ष्टीकां दूषणोद्धाराख्यां प्रणीय पितुः सिद्धान्तेषु पक्षधरमिश्रेण प्रदर्शितान् दोषानपाकृत्य पितुर्वृद्धप्रपितामहस्य च सिद्धान्तान् दृढं समरक्षदिति। पुनः पक्षधरसुतः माधवमिश्रस्तदीयभ्रातुष्पुत्रः वासुदेवमिश्रश्च नरहरि-मतानि निराकृत्य पक्षधरमतानि समर्थयताम्।

रोचकोऽयं प्रसङ्गोऽन्यत्र शास्त्रान्तरेषु दुर्लभः। एकस्यामेव गुरुपरम्परायां शिष्यः गुरोः सकाशाल्लब्धविद्योऽपि विचारावसरे न केवलं स्वातन्त्र्यमात्मनः प्रकाश-

यति अपितु स्वकीयानुभूतिप्रतिभाभ्यां प्रसूतया युक्त्या गुरुमतमपाकरोत्यपीति दृष्टमस्माभिः न केवलं मिथिलायां वङ्गदेशेऽपि समाना वर्तते स्थितिरस्मिन् प्रसङ्गे। तथा हि गौडसम्प्रदाये नव्यन्यायस्य पुरातनोऽध्यापकः वासुदेवसार्वभौमः रघुनाथशिरोमणेर्गुरुरासीत्। अस्य व्याख्या **चिन्तामणिपरीक्षा**भिधाना विराजते। अस्य पिता नरहरिविशारदोऽपि **चिन्तामणे**ष्टीकाकार आसीत्। अतएव सार्वभौमः यत्र तत्र निजपितुः सन्दर्भजातं मणिपरीक्षायामुद्धरति। अस्याग्रजेन विष्णुदासविद्यावाचस्पतिना शब्दखण्ड-**चिन्तामणे**र्व्याख्या विरचिता या खलु मातृकागारेषु समुपलभ्यते। अस्यैव विष्णुदासविद्यावाचस्पतेरात्मजः काशीनाथविद्यानिवास**श्चिन्तामणे**र्विवेचनाभिधां टीकामकरोत्। यत्रायं स्वकीयपितृव्यस्य वासुदेवसार्वभौमस्य मतं युक्त्या द्रढयति। रघुनाथशिरोमणिस्तु **दीधितौ** पक्षधरप्रगल्भाभ्यां सह निजगुरोः सार्वभौमस्यापि मतानि पूर्वपक्षतयोद्धृत्य स्वकीयतर्केण निराकरोति।

तस्मात् यत्स्थानं मिथिलायां यज्ञपत्युपाध्यायस्य वटेश्वरोपाध्यायस्य वा आसीत् मन्ये तदेव स्थानं वासुदेवसार्वभौमस्य वङ्गदेशे समजायत। उभयोः शिष्यौ गुरुसिद्धान्तान् निराकुरुतामथ च कालजयिनौ लब्धप्रतिष्ठौ चाभवताम्।

तथा हि मैथिलसम्प्रदाये पक्षधरमिश्रप्रणीतस्य **चिन्तामण्यालोकस्य** महेशठक्कुरप्रणीता **दर्पणाख्या** देवनाथठक्कुरनिर्मितं **परिशिष्टम्** माधवमिश्र-रचिता **दीपिका** मधुसूदनठक्कुरकृतः **कण्टकोद्धारः** वङ्गाभिजनेषु पद्मनाभमिश्रस्य **पक्षधरोद्धारः** रुद्रन्यायवाचस्पतेः **आलोकपरीक्षा** कृष्णदाससार्वभौमस्या**लोकप्रसारिणी** मथुरानाथस्य प्रसिद्धनैयायिकस्य **टीकारहस्यम्** अथ चान्नंभट्टेन दाक्षिणात्येन धीधनेन प्रणीता **सिद्धाञ्जनाख्या** व्याख्याः प्रसिद्धाः सन्ति। रूपनाथठक्कुरस्तु अष्टादशशतकस्य खृष्टीयाब्दस्यान्ते **आलोकदर्पणस्य भावप्रकाशाभिधां** व्याख्यां व्यरचयदिति **आलोकस्य** टीकायाष्टीका आलोकं प्रति विदुषां समाजे समादरं व्यनक्त्येव।

एवमेव रघुनाथशिरोमणिविरचिताया दीधितिव्याख्याया व्याख्याः रघुनाथविद्यालङ्कारस्य **दीधितिप्रतिबिम्बः** रघुदेवस्य **निरुक्तिप्रकाशः** रुद्रन्यायवाचस्पतेः **दीधितिपरीक्षा** जयरामन्यायपञ्चाननस्य **दीधितिगूढार्थविद्योतनम्** रामचन्द्रसिद्धान्तवागीशस्य **दीधितिविवेचनम्** भवानन्दस्य **भवानन्दी** कृष्णदाससार्वभौमस्य **दीधितिप्रसारिणी** गुणानन्दस्य **दीधितिविवेकः** मथुरानाथस्य जगदीशस्य गदाधरस्य च माथुरीजागदीशी गादाधरी यथाक्रममुल्लेखमर्हन्ति। प्रसङ्गेऽस्मिन् पद्यमेकं स्मरामि यद्रोचकं सङ्गतं च विद्यते।

> **गुणोपरि गुणानन्दो भवानन्दी च दीधितौ।**
> **सर्वत्र मथुरानाथी जागदीशी क्वचित् क्वचित्॥**

मथुरानाथस्य पिता श्रीरामतर्कालङ्कारः दीधितेर्व्याख्यातासीत्। अस्य सन्दर्भान् मथुरानाथः यथास्थानं स्वकीयव्याख्यायां समुद्धरतीति दृष्टम्।

क्रोडपत्रस्य विवेचनायाः पत्रिकायाः परिष्कारापरपर्यायायाः कालः गदाधरभट्टाचार्यादनन्तरं खृष्टीयाष्टादश शताब्द्या आरम्भतो विंशतितमाया अस्याः शताब्द्याः पूर्वार्धं यावत् परिकल्पनीयः। युगेऽस्मिन् वङ्गाभिजना मैथिलाश्च नव्यन्यायस्य विचारे सूक्ष्मतमतां गभीरतां विपुलतां चार्थाचिन्तनस्य व्यापकतां प्रादर्शयन्। जगदीश गदाधरादेर्विचाराणामेव नव्यन्यायस्य परिष्कारपराकाष्ठा दृश्यते यद्यपि तथापि ततोऽप्यधिकतरं बुद्धिकौशलं प्रदर्श्य तत्रैव प्रतिपदमनुपपत्तिमुत्थाप्य तस्याः समाधानप्रदर्शनमेव क्रोडपत्रस्य स्वरूपं संक्षेपतोऽवगम्यते। अत्र चोल्लेखनीयास्तावत् जयदेवतर्कालङ्कारः श्रीकृष्णसार्वभौमः विश्वनाथन्यायालङ्कारः शिवरामवाचस्पतिः जयकृष्णतर्काचार्यः शङ्करतर्कवागीशः कृष्णकान्ततर्कवागीशः माधवचन्द्रतर्कसिद्धान्तः हरिनाथः गोलोकनाथभट्टाचार्यः चन्द्रनारायणन्यायपञ्चाननः कालीशङ्करभट्टाचार्योऽन्ये च वङ्गाभिजना धीधनाः विद्यन्ते ये खलु स्वकीयया कल्पनाशक्त्या नवनवोन्मेषशालिन्या बुद्धया च नव्यन्यायस्य चिन्तनधारायां प्रकृष्टं चाञ्चल्यमग्रेसरतां च समानीय तदीयां श्रियं समवर्द्धयन्। एषु शब्दखण्डे हरिनाथः कृष्णकान्तश्च **शक्तिवादशब्दशक्तिप्रकाशिकयो**र्गदाधरजगदीशयोः कृत्योर्व्याख्यातारौ प्रसिद्धौ स्तः अथ च चन्द्रनारायणः गोलोकनाथः कालीशंकरश्चानुमानखण्डसम्बन्धिचिन्तनेषु प्रवीणाः कालजयिनो विवेचका अभूवन् तत्रापि क्रोडपत्राणामध्ययनाध्यापनयोः निपुणस्य पुण्यश्लोकस्य वामाचरणभट्टाचार्यस्यान्तेवासिना पण्डितवर्येण शिवदत्तमिश्रेण कालीशंकरभट्टाचार्यरचिता **कालीशंकरीविवेचना** मुद्राप्य वाराणसीतः प्रकाशिता अथ च स्वनिर्मिता **गङ्गानिर्झरिणीविवेचना** विदुषां पुरः समुपस्थापिता च। गोलोकनाथी (गोलोकी) **चन्द्रनारायणी** (चान्द्री) च पत्रिका नाद्यावधि मुद्रापिता किन्तु महत्त्वाधिक्येन नैयायिकवृन्देनाभ्यस्य हस्तलेखं विधाय वा गुरुपरम्पराक्रमाद् वा संरक्षिता। प्रकाशनं तु कस्याश्चिदपि पत्रिकाया विना कालशंकर्या नैवजातमिति विद्वद्भिरिह शास्त्रसंरक्षणव्रतिभिर्दत्तावधानैर्भाव्यमिति प्रार्थना।

एवं मैथिलेषु बलदेवोपाध्यायः, ऋद्धिनाथ झा, विश्वनाथ झा, बबुजन झा, लोकनाथ झा, धर्मदत्त (बच्चा) झा, शशिनाथ झा, सहदेव झा, मार्कण्डेय मिश्रः महामहोपाध्यायः बालकृष्ण मिश्रः, यदुनाथ मिश्रः, नीलाम्बर झा, षष्ठीनाथ मिश्रः राधाकान्त झा, किशोरी झा, श्री कृष्ण माधव झा, रूपनाथझा, महेशझा प्रभृतयः प्रसिद्ध पाण्डित्याः क्रोडपत्रस्य रचनया चिन्तनस्य गभीरतां समग्रगतिकतां च विधाय शास्त्रस्यास्य श्रीवृद्धिमकुर्वन्। एषु **बलदेवीविवेचना** मिथिलासंस्कृतशोधसंस्थान (दरभंगा)-तस्तदीयनिदेशकेन मुद्रापिता सम्पादनं संशोधनं चेह पण्डितवर्यस्य रूपनाथझाशर्मणः।

लोकनाथझामहाशयेन प्रणीत उभयाभावस्य जातिबाधकसंग्रहस्य च परिष्कारस्तदीयेन योग्यान्तेवासिना म० म० बालकृष्णमिश्रेण प्रकाशितः। गुरुचरणस्य शशिनाथ झा शर्मणस्त्रितलावच्छेदकतावादः मिथिलाविद्यापीठतः दरभंगानगरात् प्रकाशितः यदुनाथमिश्रस्य पदवाक्यरत्नाकरस्य व्याख्या तदीय वंशधरेण धीमता नन्दिनाथमिश्रेण सम्पाद्य संस्कृतविश्वविद्यालयात् वाराणसीतः प्रकाशिता। धर्म (बच्चा) झा महाशयस्य सर्वाः कृतयस्तदीयशिष्येण प्रकाशिताः परमिदानीं दुर्लभतां गताः। असौ महात्मा स्वसमये भारतस्याद्वितीयो नैयायिकः अध्ययनाध्यापनयोः प्रचलितानां नव्यन्यायग्रन्थानां विवेचना व्यरचयत्। अतएव व्याप्तिवादे जगदीशस्य कृतिः परिष्कृता हेत्वाभासविचारे तु गदाधरग्रन्थाः विवेचिताः वङ्गमिथिलयोस्तत्कालप्रचलिताः सर्वा अपि विवेचना आलोच्य ततः सारमादाय स्वकीये तत्त्वालोकाभिधे प्रबन्धे सम्यक् परिष्कारसंग्रहमकरोदयमिति खलु तत्समयप्रसिद्धतमानां तज्ज्ञानां म०म० फणिभूषणतर्क वागीश म० म० वामाचरणभट्टाचार्य प्रभृतीनां सम्मतिः। मितलेखरुचेरस्य **तत्त्वालोकः** नव्यन्याये कृतभूरिपरिश्रमाणामपि कृते दुरूहः सञ्जात इति म० म० वामाचरणभट्टाचार्यशिष्यः पण्डित श्रीकृष्णमाधव झा महाभागोऽस्य **तत्त्वालोकस्य** सुबोधिनीं व्याख्यां व्यरचयत् या खल्वस्मात् गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठीयप्रधानाचार्यस्यौदार्येणेदानीं मुद्राप्यते। यद्यपि नास्मिन् समये नव्यन्यायस्याध्येतारः सुलभाः न वा शास्त्रसंरक्षणं विहाय काऽप्युपयोगितैवैतादृश्या कृतेरिति समनुभूयते तथापि भवभूतिपद्यमधस्तनं संस्मृत्य व्याख्यातुरिह प्रवृत्तिः—

> **"उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा।**
> **कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी"** ।।

अपि च यदि खृष्टीय पञ्चदशशताब्द्या मिथिलायाः कृतिः यज्ञपत्युपाध्यायप्रणीता **चिन्तामणिप्रभेदानीं** विएनाविश्वविद्यालयतः प्रकाशिताभवत् तर्हि लेखकस्य सौभाग्यमेतद् तदीय जीवनकाल एव तत्त्वालोकव्याख्या प्रकाशतां गता। समादरश्चायं नव्यन्यायविवेचनाया इत्यवधेयम्।

( ३ )

इदमिहावधेयम्। यद्यपि नव्यन्यायस्योद्भवभूमिर्मिथिला तत्र चास्य विकासः संरक्षणं चाभूताम् तथापि रघुनाथशिरोमणेर्दीधितिव्याख्यायाः निर्माणानन्तरं यथास्याः **दीधितेः** समादरः सर्वत्र भारतवर्षे समजायत न तथा पक्षधरमिश्रप्रणीतस्यालोकस्यान्यस्या वा तद्व्याख्यायाः।

मिथिलायामपि प्राचुर्येण दीधितेरेवाध्ययनमध्यापनमारब्धम्। वङ्गदेशेऽपि

सार्वभौमप्रणीतां व्याख्यां विहाय दीधितौ तत्रत्यविदुषां समादरः समदृश्यत। अद्यापि मिथिलायां प्रकाशनं कुर्वन्तु नाम मैथिलविद्वांसः नव्यन्यायस्य मैथिलपण्डितरचितानां व्याख्यानाम् अध्ययनाध्यापनौ तु दीधितेस्तदीयव्याख्यायाः जागदीश्याः माथुर्याः गादाधर्याश्चैव सञ्जायेते। इयमेव स्थितिः सर्वत्र भारतवर्षेऽन्यत्र च दृश्यते।

यद्यपि नव्यन्यायस्याध्येतारोऽस्मिन् भारतवर्षे सम्प्रति विरला एव सन्ति तथापि शास्त्रस्यास्य सर्वस्मिन्नपि शास्त्रे संक्रान्तिरस्ति यथा पयसि सितायाः समावेशः। अतएव साहित्यं व्याकरणं शास्त्रान्तरं वा भवतु सर्वत्र विवेचनाविधौ नव्यन्यायस्य शैली समागच्छति प्रक्रिया समापतति। अतएव नव्यन्यायेन विना कस्मिँश्चिदपि शास्त्रे तलप्रवेशिता नास्ति सुगमेति विदुषामनुभवः।

इत्यलं पल्लवितेन।

●

# कातन्त्रव्याकरणस्य वैशिष्टयम्

डा० जानकीप्रसाद द्विवेदः

**वाराणसी**

The system of the formation of words is the best in the *Kātantravyākarṇa* among the post-Pāṇinian grammar-works from the point of brevity and simplicity. A detailed study of *Kātantra-vyākaraṇa* with regard to its merits has been presented here.

## पूर्वाभासः

शब्दानां तत्त्वाववोधाय उपयुक्तं पदसाधुत्वलक्षणं व्याकरणं षट्सु वेदाङ्गेष्व-न्यतमं प्रधानं चाभिमतम्। इदं क्वचिदष्टधा क्वचिच्च नवधाऽप्युक्तं वर्तते। व्याकरणशास्त्रीयप्रयोजनविशेषस्य सिद्धये आचार्या बहून् ग्रन्थान् व्यरचयन्। तत्र महर्षिपाणिनिः शिष्टज्ञानार्थमष्टाध्यायीं प्रणिनाय। शिष्टैः प्रयुक्तानामभिमतानां वा शब्दानां साधुत्वबोधाय पाणिनिना सूत्राणि प्रणीतानीत्यर्थः। ते च शिष्टा यादृशा अभिमतास्तथा **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (पा० ६।१।१०९) इतिसूत्रव्याख्यानावसरे **महाभाष्ये** परिभाषिताः सन्ति।

यद्यपि **विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः** इत्यादिभिर्बहुभिर्वचनैः पाणिनीय-व्याकरणे क्वचिद् दोषोद्भावनमिवाभाति, तथापि पतञ्जलेः पूर्वमेवाष्टाध्याय्या अध्ययनाध्यापनादावुपयोगः कुमारदेशपर्यन्तम्, काशिकाकाराच्च पूर्वं भारताद् वहिरपि समभूदित्यत्र **आकुमारि यशः पाणिनेः (म० भा० १।४।८९), इतिपाणिनि, तत्पाणिनि, पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते (का० वृ० २।१।६)** इत्यादिवचनानि साक्षिरूपाणि भवन्ति। अधुना वैदेशिका अपि समीक्षकाः पाणिनीयव्याकरणस्य वैशिष्ट्यावबोधने न परिश्राम्यन्ति। तत्र केचित् तदीयसूत्ररचनापद्धतिं प्रशंसन्ति, अन्ये प्रत्याहारप्रक्रियां वैज्ञानिकीं मन्यन्ते, अपरे तदीयधातुरूपाणां प्राशस्त्यं वदन्ति, इतरे च तत्र प्राच्यभारतीयसंस्कृतिबोधकानामितिवृत्तावबोधकानामितरेषा च घटना-

विशेषविज्ञापकानां शब्दानां संग्रहस्य समीचीनतामुद्घोषयन्ति। एवं पाणिनीयं व्याकरणं न केवलं परिमाणकृतमहत्त्ववशादेव प्रशस्तं मन्यते, किं च विधानकृत-सौष्ठववशादपि तदुपलब्धव्याकरणेषु शिरोमणिभूतं परिगण्यते—**पाणिनीयं महत्सुविहितम् (म० भा० ४।२।६६)**।

पाणिनितः परवर्तिकाले बहुभिराचार्यैः प्रयोजनविशेषस्य संपत्तये प्रायेण चत्वारिंशद् व्याकरणानि रचितानि। एतेषु कातन्त्र-चान्द्र जैनेन्द्र-शाकटायन-सरस्वतीकण्ठाभरण-संक्षिप्तसार - हैम - सारस्वत - मुग्धबोध - सुपद्म - हरिनामामृत-प्रयोगरत्नमालाख्यव्याकरणानामध्ययनमध्यापनं च प्रचलितमासीत्। विश्रान्तविद्याधर-आशुबोध - दीप - बालशिक्षाप्रभृतीनां प्रायस्त्रिंशद्व्याकरणानामध्ययनादावत्यन्तं न जातः समादरः। बालावबोधन - मलयगिरिशब्दानुशासन - हरिनामामृताख्यानि व्याकरणानि पूर्वं प्रचलितान्यपि पश्चाद् ग्रन्थरूपेणावशिष्टानि।

पाणिनिपरवर्तिषु पूर्वं प्रचलितेषु च व्याकरणेषु कातन्त्रव्याकरणस्य शब्द-साधनप्रक्रिया संक्षिप्ता सरला च प्रतिभाति। प्रक्रियालाघवदृशा मया कातन्त्रीय-चतुर्दशशतसूत्राणि (१४००) पाणिनीयसूत्रैः सह पृथक् परीक्षितानि, तस्यायमेव निष्कर्षो यल्लाघवेन शब्दसाधुत्वस्यावबोधार्थं कातन्त्राध्ययनेन महानुपकारः कश्चिज्जायेतेति।

कातन्त्रव्याकरणमिदं पाणिनिपरवर्तिषु सर्वेषु व्याकरणेषु प्राथम्यं भजते इत्यत्रास्ति सम्मतिः प्रायेण सर्वेषामेव व्याकरणशास्त्रेतिवृत्तलेखकानाम्। अत्र युधिष्ठिर-मीमांसकः सुचिन्तितं स्वाभिमतमित्थं साधयितुं यतते—

"पाणिनीयं सूत्रमस्ति **सूत्राच्च कोपधात्** (पा० ४।२।६५) इति। अत्र कात्यायनस्यैकं वार्त्तिकं विलसति **संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्** एतेन सूत्रार्थो भवति—सूत्रवाचिनः कोपधात् संख्याप्रकृतिकाच्च शब्दादुत्पद्यमानस्य प्रत्ययस्य लुग् भवतीति। तेन अष्टकमधीयते **अष्टकाः** पाणिनीयाः, त्रिकमधीयते **त्रिकाः** काशकृत्स्नाः इति शब्दौ निष्पद्येते। अर्थाद् अष्टावध्यायाः परिमाणमस्येत्यष्टकं पाणिनिकृतं व्याकरणम्, तस्माच्च सूत्रवाचिनः कोपधात् संख्याप्रकृतिकाच्चाष्टकशब्दादुत्पद्यमानस्याध्येतृप्रत्ययस्य लुकि सति **अष्टकाः** इति शब्दरूपं साधु भवति। एवं **त्रिकाः** इति शब्दस्यापि साधुत्वम्। त्रिकशब्दोऽपि सूत्रवाची कोपधः संख्याप्रकृतिकश्चास्ति, तेन तत उत्पद्यमानस्याध्येतृप्रत्ययस्य लुक् प्रवर्तते। सूत्रस्यास्य प्रत्युदाहरणद्वयी महाभाष्यकारेणोपस्थापिता—**माहावार्त्तिकाः कालापकाश्चेति**। अर्थाद् महावार्त्तिकमधीयते इत्यर्थे सत्यपि सूत्रवाचित्वे कोपधत्वे च महावार्त्तिकशब्दस्य संख्याप्रकृतिकत्वाभावादेव तत उत्पद्यमानस्याध्येतृप्रत्ययस्य लुग् न भवति, एवं कोपधस्य कलापकशब्दस्यापि सूत्रवाचित्व-

मवश्यमेव स्यात्, परं तस्य संख्याप्रकृतिकत्वाभावादेवाण्प्रत्ययस्य लुगभावे **कालापकाः** इति शब्दः सिध्यति। एवमयं सूत्रवाची कलापकशब्दः कातन्त्रापरपर्याय एवेति पाणिनिपतञ्जल्योर्मध्यकाले कदाचित् कातन्त्रव्याकरणस्य रचना बभूव" इति।

अस्तु. मया कातन्त्रं यावदर्थं तं परिशीलितं च, तावताऽधिगतं वैशिष्ट्यमिह निबध्यते—

## १. *विविधनामकृतं वैशिष्टयम्*

### (१) कातन्त्रम्

ईषद् अल्पं संक्षिप्तं वा तन्त्रं कातन्त्रम्। ईषदर्थककुशब्दस्य का आदेशः **का त्वीषदर्थेऽक्षे (कात० १।५।२५)**। तन्त्र्यन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति तन्त्रं व्याकरणम्। अर्थात् संक्षिप्तं यद् व्याकरणं तदेव कातन्त्रपदवाच्यमस्ति। अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भविष्यतीति **अग्निपुराणम्** संक्षेपश्चापाणिनीयव्याकरणापेक्षया पूर्ववर्तिसमस्तव्याकरणापेक्षया वा सिद्धः। कार्तिकेयतन्त्रम्, काशकृत्स्नतन्त्रम्, कात्यायनतन्त्रम्, कालापकतन्त्रं वा कातन्त्रमिति केषांचिन्मतिः। इह सर्वत्र आद्यस्य पदस्य प्रथमेनाक्षरेण सह तन्त्रशब्दयोजनया कातन्त्रमित्यत्र कार्तिकेयादितन्त्रस्य संक्षेपोऽभिप्रेयते तैस्तैर्मतवादिभिः। कातन्त्रव्याकरणमिदं कस्माच्चिद् बृहत्तन्त्राल्लघूकृतमित्यभ्युपैति दशपाद्युणादिवृत्तिकारः। कुत्सितं तन्त्रं कातन्त्रमिति ये वदन्ति ते वस्तुतो व्याकरणेन च तत्रापि च कातन्त्रेण सर्वथाऽनभिज्ञा एव सन्ति।

### (२) कलापं कालापं कलापकं वा

गौडदेशीयास्तिब्बतदेशीयाश्च नामभिरेभिरिदं व्याकरणं व्यवहरन्ति। कलां व्याकरणांशम्, संक्षेपम् अल्पशब्दान् वा आप्नोति व्याप्नोति अधिकरोति वा कलापम्। तदेव कालापम्। संज्ञायां कनि प्रत्यये सति कलापकम् (संज्ञायां कन्—पा० ५।३।८७)। बृहत्तन्त्रात् कला आपिबतीति कलापकः शास्त्रमिति हेमचन्द्र। संग्रहार्थकोऽपि कलापशब्दः। अतो बहूनां व्याकरणानां संग्रहात्मकमिदं कलापव्याकरणम्। इदमप्युच्यते यत् कलापो मयूरपिच्छम्, तत्रैवास्य व्याकरणस्य सूत्रमादौ लिखितं बभूव, मयूरपिच्छस्य मध्याद् उपदेशो वाऽस्य समजनीति हेतोर्वा इदं कलापनाम्ना प्रथितमस्ति। उक्तमपि,

> **शंकरस्य मुखाद् वाणीं श्रुत्वा चैव षडाननः।**
> **लिलेख शिखिनः पुच्छे कलापमिति कथ्यते॥ इति॥**

अथवा कलापी मयूरः स व्याकरणस्यास्य सम्प्रदाने साहाय्यमारचयामासेति कलापमस्य नाम बभूव ।

### (३) कौमारम्

जैनाचार्याणां केषांचिन्मतानुसारेण (कुमार्या भारत्या सरस्वत्या प्रवर्तितत्वात् कौमारमित्यस्य व्याकरणस्य नामधेयम् । यथोच्यते—

**ब्राह्म्या कुमार्या प्रथमं सरस्वत्याऽप्यधिष्ठितम् ।**
**अर्हं पदं संस्मरन्त्या तत्कौमारमधीयते ॥**
**कुमार्या अपि भारत्या अङ्गन्यासेऽप्ययं क्रमः ।**
**अकारादिहपर्यन्तस्ततः कौमारमित्यदः ॥**

(द्र० कात० रूप ग्रन्थान्ते १९२७ खीस्ताब्दे मुम्बईतः प्रकाशिते)

अन्ये भाषन्ते—कुमारेण स्वामिकार्त्तिकेयेन प्रवर्तितत्वादिदं कौमारनाम्ना व्यवह्रियते । अर्वाचीनास्तु इदं मन्यन्ते यत् कुमाराणामल्पमतीनां बालानां कृतेऽत्यन्तं हितसाधकत्वादुपकारकत्वाद् वाऽस्य कौमारमिति सार्थकं नाम । राजकुमाराणां वा इदं कौमारं तन्त्रमित्यपि मतमाद्रियते व्युत्पत्तिविचक्षणैः कैश्चित्, तेनापीदं कौमारनाम्ना प्रसिद्धं वर्तते ।

### (४) शार्ववर्मिकम्

कार्त्तिकेयमाराध्य आचार्यशर्ववर्मणा प्रोक्तमिदं व्याकरणम्, तस्मादस्य शार्ववर्मिकमिति नामधेयमस्ति ।

### (५) दौर्गसिंहम्, दुर्गसिंहीयं वा

दुर्गसिंहेन व्याकरणस्यास्य क्वचित् परिष्कारः कृतः, वृत्ति-टीका-उणादिवृत्ति-लिङ्गानुशासन - परिभाषा - वृत्त्यादिभिर्वेदं परिबृंहितम् । तेनास्य दौर्गसिंहं दुर्गसिंहीयं वा नाम समादृतं वर्तते ।

## २. *रचनाप्रयोजनस्य वैशिष्ट्यम्*

सातवाहनाभिधानः (आन्ध्रप्रदेशीयः) कश्चिद् राजा एकदा स्वमहिषीभिः समं जलक्रीडायामासक्तो बभूव । बहुकालपर्यन्तं प्रवर्तमानया जलक्रीडया श्रान्ता सती काचिदेका विदुषी पत्नी तस्या राजानमाह—**मोदकं देहि देव !** इति । तस्या आवेदन-

स्यायमाशय आसीद् यद् राजन्! जलक्रीडया इदानीमहमतितरां श्रान्ता संजाताऽस्मि, अतो मयि जलवृष्टिर्न कार्येति, परं व्याकरणानभिज्ञत्वाद् राजा प्रेम्णा तस्यै बहून् मोदकान् व्यतरत्। एतेन व्याकरणानभिज्ञतां तस्य विज्ञाय विदुषी राज्ञी राजानमुपजहास। तेनोपहासेन राजा खिन्नो लज्जितश्च बभूव। तदा स मनसि संकल्पयामास—'यावदहं व्याकरणज्ञानं न करिष्यामि तावद् निश्चिन्तो न भविष्यामि' इति। एवं मनसि संकल्प्य लज्जितो राजा राजभवने क्वचिदेकान्तस्थाने शयनमारुरोह। व्युष्टायां शर्वर्यां संजाते च प्रभाते यदा राजा राजसभायामुपस्थितो न बभूव, तदा तदीयाः सर्वे सभ्याः सचिवा अमात्याश्च चिन्तिता विस्मिताश्चाभूवन्। राजपण्डितो गुणाढ्यः आचार्यः शर्ववर्मा च राजान्तिकं जग्मतुः। तत्र यत्नेन राज्ञोऽभिप्रायं विज्ञाय राजपण्डितो गुणाढ्यो राजानमुवाच—यद्यपि व्याकरणं द्वादशभिर्वर्षैः श्रूयते तथाप्यहं तथाविधं यत्नं करिष्यामि तादृशं ग्रन्थं वा रचयिष्यामि, यस्याध्ययनेन षड्भिरेव वर्षैः कश्चिद् वैयाकरणो भवेदिति। गुणाढ्यस्य वचनमिदमसहमान आचार्यः शर्ववर्मा अवोचद् यदहं तु तादृशं ग्रन्थं रचयितुं समर्थोऽस्मि यस्याध्ययनेन षड्भिर्मासैरेव व्याकरणज्ञानं कर्तुं शक्यते। 'यदि त्वमेवंविधे कर्मणि सफलो भवेस्तदाऽहं संस्कृतं प्राकृतं च परिहाय भूतभाषामेव काञ्चिदाश्रयिष्यामि' इति गुणाढ्यः सामर्षमाह।

अस्तु, राज्ञः समक्षं तादृशं ग्रन्थं रचयितुं प्रतिज्ञाय शर्ववर्मा कुमारकार्त्तिकेयसकाशाद् व्याकरणमधिगन्तुं तदीये कस्मिंश्चिद् मन्दिरे रात्रौ जगाम। तत्र गर्भगृहं प्रविष्टः स कुमारमाराधयामास। तदाराधनया प्रसन्नो भगवान् कार्त्तिकेयस्तस्मै स्वव्याकरणस्य प्रथमं सूत्रमुपदिदेश—**सिद्धो वर्णसमाम्नायः इति**। तदनन्तरमनादिष्ट एव आचार्यः शर्ववर्मा द्वितीयं सूत्रमुच्चारयामास—**तत्र चतुर्दशादौ स्वराः** इति। अनेन आचरणेन अप्रसन्नो भूत्वा कुमारकार्त्तिकेयस्तस्मै शापं व्यसृजत—अनादिष्टेनैव त्वया द्वितीयं सूत्रमुच्चारितम्, अतस्त्वदीयं व्याकरणं न भविष्यति पाणिनीयोपमर्दकम्, किं च **स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भविष्यति** इति। एवमाचार्येण शर्ववर्मणा कुमारकार्त्तिकेयसकाशाद् व्याकरणमधिगतम्। कलापचन्द्रकारः कविराजसुषेणवैद्यभूषणो रचनाप्रेरकं वृत्तमित्थं संघटितवान्—

> **"राजा कश्चिन्महिष्या सह सलिलगतः खेलयन् पाणितोयैः**
> **सिञ्चंस्तां व्याहृतोऽसावतिसलिलतया मोदकं देहि देव!।**
> **मूर्खत्वात्तन्न बुद्ध्वा स्वरघटितपदं मोदकस्तेन दत्तो**
> **राज्ञी प्राज्ञी ततः सा नृपतिमपि पतिं मूर्खमेनं जगर्ह॥**

पुरा किल श्रीसातवाहनाभिधानं वसुधाधिपं झटिति व्युत्पादयितुं प्रतिश्रुतवता भगवता शर्ववर्माचार्येण कुमाराभिधानो भगवान् भवानीसुतस्तपसा समाराधितः, स

च तदाराधनाधीनतामुपगतः सन् निजव्याकरणज्ञानमाविर्भावयितुं पद्यपादरूपं सूत्रमिदमादिदेश—**सिद्धो वर्णसमाम्नायः**'' इति ।

आचार्यशशिदेवविरचिते **व्याख्यानप्रक्रियाख्ये** लघुग्रन्थे कलापव्याकरणस्य रचनायाः प्रयोजनमेवमुक्तमस्ति—शास्त्रान्तररतानां वैदिकानाम्, परनिन्दाप्रसक्तचेतसामैश्वर्याभिभूतानां धनिनाम् आलस्ययुतानां यूनाम् लोभादिग्रस्तानां वणिजाम्, लोकयात्रादिषु व्यापृतानामपि मनुजानां शब्दसाधुत्वप्रक्रियाज्ञानं क्षिप्रं भवेदित्येतदर्थं कलापव्याकरणं रचितम् । उक्तं च तत्र—

**छान्दसाः स्वल्पमतयः शास्त्रान्तररताश्च ये**
**ईश्वरा वाच्यनिरतास्तथालस्ययुताश्च ये ।**
**वणिजस्तृष्णादिसंसक्ता लोकयात्रादिषु स्थिताः**
**तेषां क्षिप्रं प्रबोधार्थमनेकार्थं कलापकम् ।।** इति ।।

## ३. वेदाङ्गत्वाङ्गीकारे वैशिष्ट्यम्

बहवो वैयाकरणकल्पा एवं वदन्ति यद् व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वाद् यस्मिन् व्याकरणे वैदिकशब्दानां साधुत्वस्यान्वाख्यानाय सूत्राणि सन्ति, तस्य तु वेदाङ्गत्वमसंदिग्धमेवास्ति, परं यस्मिन् व्याकरणे केवलं लौकिकशब्दानामेव साधनाय सूत्राणि कृतानि, वैदिकशब्दसाधुत्वं च न दर्शितम्, तन्नास्ति वेदाङ्गम् । वेदाङ्गत्वाभावात्तस्य पुण्यजनकत्वेऽपि संदेहः कश्चिद् वर्तते इत्यादि ।

अत्र कातन्त्रव्याख्याकाराणामभिमतमिदमवधेयमस्ति—''वेदेऽपि बहवस्तथाविधा एव शब्दाः प्रयुक्ताः सन्ति, ये लोकेऽपि प्रयुज्यन्ते । अल्पीयांस एव शब्दास्तथाविधाः 'देवासः - जभार - गृभ्णामि' प्रभृतयो वर्तन्ते, येषां केवलं वेदे एव प्रयोगो दृश्यते न तु लोके । एवं वेदेऽपि प्रयुक्तानां बहूनां लौकिकशब्दानामेव यस्मिन् साधुत्वान्वाख्यानं वर्तते तदपि वेदाङ्गमेव, नास्ति तस्य वेदाङ्गत्वाभावः । एतेन लौकिकशब्दसाधनपरस्य कातन्त्रव्याकरणस्यान्येषां च तथाविधानां व्याकरणानां वेदाङ्गत्वमेव संपद्यते ।

अपि च वैदिकसम्प्रदायस्य वैदिकपरम्पराया वाऽविच्छिन्नत्वादेवाल्पीयसां वेदे एव प्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वज्ञानं शिष्टजनसकाशात् कर्तुं शक्यते एव, तदर्थं सूत्रं शास्त्रं वा नास्त्यावश्यकम्'' ।

अत्रेदमाशङ्क्यते—यथा वैदिकशब्दानां साधुत्वज्ञानाय शास्त्रं नापेक्ष्यते, तथैव लौकिकशब्दानामपि साधुत्वं शिष्टजनसकाशात् कर्तुं शक्यते इति कृत्वा तेषामपि

साधुत्वबोधाय सूत्रप्रणयनं नावश्यकमिति । अत्रेदमवगन्तव्यम्—लौकिकशब्दास्त्वनन्ताः सन्ति, तेषां साधुत्वबोधो लक्षणमन्तरा न संभाव्यते । कृतेऽपि लक्षणे एकस्मिन् कस्मिंश्चिदपि व्याकरणे सर्वे शब्दा न साध्यन्ते, का कथा पुनर्लक्षणाभावे लौकिक-शब्दसाधुत्वबोधस्य । अतो लौकिकशब्दानां लाघवेन साधुत्वबोधनाय शास्त्रं करणीयमेवेति ।

कातन्त्रे वैदिकशब्दाः कथन्न व्याख्यातास्तेन तेषां साधुत्वं कथमवगन्तव्यमिति समाधानाय कातन्त्रवृत्तिकारेण दुर्गसिंहेनोक्तं **लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः** (कात० १।१।२३) इति सूत्रव्याख्यानावसरे—

> **वैदिका लौकिकाश्चैव ये यथोक्तास्तथैव ते ।**
> **निर्णीतार्थास्तु विज्ञेया लोकात् तेषामसंग्रहः ॥** इति ।

## ४. सूत्रशैल्या वैशिष्ट्यम्

(१) पाणिनीये कार्यिणो निर्देशः षष्ठ्यन्तः, कार्यस्य च निर्देशः प्रथमान्तो वर्तते । पूर्वाचार्याः कार्यिणं प्रथमान्तम्, कार्यं च द्वितीयान्तमेव निर्दिष्टवन्त इति बहुभिराचार्यैस्तत्र तत्रोच्यते । इमामेव पद्धतिं कातन्त्रकारोऽप्यनुससार । अत एव **समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम्** (२।१।१) इति सूत्रे कार्यिणः समानस्य प्रथमया निर्देशः, लोपमिति कार्यस्य च द्वितीयया निर्देशस्तेन कृतः । एवमेव **इवर्णो यमसवर्णे न च परो लोप्यः, एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः, अकारो दीर्घं घोषवति** (१।२।८; १७; २।१।१४) इत्यादिसूत्रेष्वपि पद्धतिरियं द्रष्टव्या ।

(२) स्पष्टप्रतिपादनाय एकाराद्या बहव आदेशाः पृथक् सूत्रेषूपनिबध्यन्ते, न तु पाणिनीयव्याकरणवदेकस्मिन्नेव सूत्रे । यथा पाणिनीये एकाराद्यादेशार्थम् **आद् गुणः** (६।१।८७) इत्येकमेव सूत्रम् । कातन्त्रे तु **अवर्ण इवर्णे ए, उवर्णे ओ, ऋवर्णे अर्, लृवर्णे अल्** (१।२।२-५) इति सूत्रचतुष्टयं कृतम् । एवमेव **एचोऽयवायावः** (६।१।७८) इति पाणिनीयसूत्रविहितकार्यार्थं कातन्त्रे चत्वारि सूत्राणि कृतानि—**ए अय्, ऐ आय्, ओ अव्, औ आव्** (१।२।१२-१५) इत्येतानि ।

(३) व्याकरणेऽस्मिन् इत्संज्ञाया अभावाद् उकारादिघटितानामागमानां कुत्र योजना भवेदित्येतदर्थमत्र उदनुबन्ध आगमः स्वरादन्त्यात् परो विहितः—**आगम उदनु-बन्धः स्वरादन्त्यात् परः** (२।१।६) इति, तदनुसारेण 'मु-नु-नु' इत्येते आगमाः स्वरादन्त्यात् परा भवन्ति—**अकारादसंबुद्धौ मुश्च, अन्यादेस्तु तुः, घुट्स्वराद् घुटि नुः** (२।२।७; ८; ११) एते एव आगमाः **तृतीयादौ तु परादिः** (२।१।७) इति सूत्र-निर्देशानुसारेण परादयो भवन्ति ।

(४) अर्थसमाप्त्यर्थं सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्त्यते। यथा **उवर्णे ओ, ऋवर्णे अर्** (२।२।३; ४) इत्यादौ कार्यी अवर्णो न दृश्यते, स च पूर्ववर्तिनः सूत्रात् **अवर्ण इवर्णे ए** (२।२।२) इत्येतस्मादनुवर्त्यते, अथ च ओकाराद्या आदेशा विधीयन्ते। एवमन्यत्रापि विज्ञेयम्।

(५) व्याकरणेऽस्मिन् प्रत्याहाराभावाद् अचो बोधाय स्वरपदम्, हलश्च बोधाय व्यञ्जनपदमुपादीयते, वर्णविशेषा वा पठ्यन्ते। यथा **व्यञ्जने चैषां निः** (२।२।३८), **स्वरेऽक्षरविपर्ययः** (२।५।२३) इत्यादौ। एवं पाणिनीयझल्प्रत्याहारस्याव-बोधाय कातन्त्रे 'धुट्'—संज्ञाशब्दः प्रयुज्यते। एवमन्यत्रापि।

(६) पाणिनीयवैदिकप्रकरणे स्वरार्थं येऽनुबन्धा विहितास्ते अत्र वैदिक-प्रकरणाभावान्न योज्यन्ते। यथा पाणिनीये अच्प्रत्ययस्य चकारश्चित्स्वरार्थः पठ्यते। परं कातन्त्रे तदर्थं 'अ-ति' इत्येतादृशा एव प्रत्ययाः पठिताः सन्ति।

## ५. वर्णसमाम्नायकृतं लोकव्यवहारसमादरकृतं च वैशिष्ट्यम्

व्याकरणस्मृतिः प्रयोगमूलाऽस्तीत्यस्माद हेतोर्लोकव्यवहारः सर्वत्रैव व्याकरण-शास्त्रे समाद्रियते। न केवलं पाणिनीयव्याख्याकारा एव तत्र तत्र व्याचक्षते—**कारकाणि विवक्षातो भवन्ति, लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य, अत्र समासो न भवत्यनभिधा-नात्** इत्यादि। स्वयं पाणिनिरपि **तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्, प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थ-स्यान्यप्रमाणत्वात्, कालोपसर्जने च तुल्यम्** (अ० १।२।५३; ५६-५७) इत्यादिसूत्रवचनै-र्लोकव्यवहारमेव प्रमाणकोटौ व्यवस्थापयति।

अपि च येषु शब्देषु वर्णागम-वर्णविपर्यय-वर्णविकृति-वर्णनाशादीनि कार्याणि दृश्यन्ते तेषां शब्दानां लोक (शिष्ट)—व्यवहारानुसारमेव साधुत्वमवधारणीयमिति स उपदिशति—**पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (पा० ६।३।१०९) इति। वर्णागमादि-कार्याणां निदर्शनान्येवमुच्यन्ते—

**भवेद् वर्णागमाद् हंसः सिंहो वर्णविपर्ययात्।**
**गूढोऽऽत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात् पृषोदरम्॥**

**कातन्त्रे** तु लोकव्यवहारः पाणिनीयादप्याधिक्येन समाद्रियते। तदीयं प्रथमं सूत्रं वर्तते—**सिद्धो वर्णसमाम्नाय** इति अर्थाद् वर्णानां पाठक्रमः कातन्त्रे लोकप्रसिद्ध एव गृह्यते। अत एवात्र स्वरेषु दीर्घस्वरवर्णा अपि पठिताः सन्ति। एकारादनन्तर-

मैकारः, ओकारः औकारश्च वर्णाः पठ्यन्ते । पाणिनीये दीर्घस्वरा न पठिताः, एकारादनन्तरमोकारस्ततः 'ऐ—औ' इति वर्णौ पठ्येते । स्वरवर्णानन्तरमनुस्वार-विसर्ग-जिह्वामूलीय-उपध्मानीयाः पठिताः, अत एवैषामयोगवाहत्वमत्र नास्ति । पाणिनीये तु पाठाभावादेते वर्णा अयोगवाहसंज्ञकाः स्वीक्रियन्ते । व्यञ्जनवर्णेषु कातन्त्रे कादि-हान्तं क्रमेण वर्णानां पाठः । हकारादनन्तरं 'क्ष' वर्णोऽपि पठित, 'व्यञ्जनद्वयसंयोगे-नोच्चारणे कश्चिद् विलक्षणो वर्ण उत्पद्यते' इत्येतस्य निदर्शनाय । पाणिनीये तु प्रायेण व्यञ्जनवर्णानां पाठे व्यत्यास एव लक्ष्यते, तत्रापि च हकारस्य द्विः पाठो वर्तते । एवं कातन्त्रस्य वङ्गीयसंस्करणे एकोनपञ्चाशद् वर्णा सन्ति, काश्मीरकसंस्करणे च द्विपञ्चाशद् वर्णाः ।

लोकव्यवहारप्रामाण्यस्य साधकमपरमप्येकं सूत्रं वर्तते—**लोकोपचाराद् ग्रहण-सिद्धिः** (१।१।२३) इति । उपचारो व्यवहारः । गृह्यतेऽर्थोऽनेनेति ग्रहणः शब्दः, तेन लोकव्यवहारात् शब्दसिद्धिर्वेदितव्या इत्यर्थः । केषां शब्दानाम् ? अत्रानुक्तानां वैदि-कानां केषांचिल्लौकिकानाञ्चापि शब्दानाम् ।

सूत्रे लौकिकशब्दसिद्धावयं विशेषो वर्तते यत् क्वचिद् 'वा'—पदस्य, क्वचिद् 'अपि' शब्दस्य, क्वचिच्चान्येषामपि सूत्रपठितानां शब्दानां सूत्राणां वाऽनुवृत्त्या बहूनां शब्दानां साधुत्वमास्थीयते । ये च शब्दा उक्तविधिनाऽपि साधयितुं न शक्यन्ते, तेषां साधुत्वं शिष्टव्यवहारेणावगन्तव्यम् । यथोक्तं कलापचन्द्रकारेण कविराजसुषेण विद्याभूषणेन—

**वाशब्दैश्चापिशब्दैर्वा शब्दानां (सूत्राणां) चालनैस्तथा ।**
**एभिर्येऽत्र न सिध्यन्ति ते साध्या लोकसम्मताः ॥** इति ।

(क० च० १।१।२३)

## ८. *लाघवप्रयुक्तं वैशिष्ट्यम्*

लाघवं द्विविधं भवति शब्दकृतमर्थकृतं च । शब्दकृतलाघवेऽर्थबोधो झटिति विलम्बेन वा भवेदिति न चिन्त्यते, किं च शब्दानामल्पत्वमेव चिन्त्यते । अल्पशब्दानां प्रयोगेण प्रायोऽर्थबोधे सौकर्यं लाघवं वा न भवति । उच्यते च व्याख्याकारैर्यद् वृक्ष-शब्दस्य प्रयोगे वृशब्दं क्षशब्दं वा व्यवहरतो न किञ्चिद् वैदग्ध्यं प्रस्फुरति । अर्थ—लाघवे तु अर्थबोधो झटिति भवेदिति चिन्त्यते, तत्र शब्दाधिक्यचिन्ता न भवति । अत एव कातन्त्रे स्वर - व्यञ्जन-अद्यतनी - श्वस्तनी - भविष्यन्ती - क्रियातिपत्तिप्रभृतयो महत्यः संज्ञाः प्रणीताः, न तु अच्-हल्-लट्-लङ्सदृशा अल्पाक्षरा एव पाणिनीयव्या-करणवत् । परं कातन्त्रे प्रायेण सर्वे संज्ञाशब्दा अन्वर्था एव सन्ति । अतस्तेषामर्थबोधे

महल्लाघवमापद्यते। पाणिनीये शब्दलाघवं प्रत्याहारप्रयोगे विशेषतो दृश्यते. कातन्त्रे च प्रत्याहाराणामभाव एव वर्तते।

पाणिनीये तिङ्संज्ञका अष्टादश प्रत्ययाः पठितास्तत्रादौ नव परस्मैपदिनः ततश्च नव आत्मनेपदिनः सन्ति, तेषां लकारभेदेन णलाद्यादेशविधायकानि बहूनि सूत्राणि पाणिनिना कृतानि। कातन्त्रे अशीत्यधिकशतमिताः प्रत्ययाः (१८०) एव तादृशाः पठिताः येषां कालविशेषबोधनाय आदेशविधानं प्रायेण नापेक्ष्यते। अतस्तथाविधसूत्राणामप्यभाव एव कातन्त्रे। एतदपि अर्थलाघवस्यैव निदर्शनम्।

एतदर्थलाघवादिकं विशेषाधायकं यद् वस्तु पाणिनीयव्याकरणभिन्नं कातन्त्रे सन्निहितं तत् कुतः समादृतमिति विषये बहवो वदन्ति यत् कातन्त्रव्याकरणमैन्द्र-परम्परामनुसरतीत्यादि। परमत्र ये हेतवो दर्श्यन्ते तेषां परिशीलनेनेदमित्थंरूपेण वक्तुं न शक्यते। परमिदं सुनिश्चितं यत् पाणिनीयव्याकरणादिदं कातन्त्रं सर्वथा भिन्न-मेवास्ति। जोधपुरतः प्रकाशितस्य **बालशिक्षाख्यव्याकरणस्य** भूमिकायां डा० फतहसिंहमहोदयः, संस्कृतव्याकरणशास्त्रेतिहासे युधिष्ठिरमीमांसकश्च काशकृत्स्न-तन्त्रस्य संक्षेपरूपं कातन्त्रं संसाधयतः। तत्र हेतुरुच्यतेऽध्यायत्रितयस्य साम्य-मुभयत्र।

## ७. *शब्दसाधनप्रक्रियाया वैशिष्टयम्*

### (१) सवर्णदीर्घविधिः

'देव+अरिः, भानु+उदयः' इत्यादिशब्दरूपावस्थायां पाणिनिः **एकः पूर्वपरयोः** (६।१।८४) इति सूत्राधिकारे **अकः सवर्णे दीर्घः** (पा० ६।१।१०१) इति सूत्रेण पूर्व-परयोरवर्णणोरुवर्णयोश्च स्थाने क्रमेण दीर्घाकाररूपं दीर्घोकाररूपं चादेशं विदधाति। तेन 'देवारिः, भानूदयः' इत्यादीनि शब्दरूपाणि सिध्यन्ति। कातन्त्रे तु **समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम्** (१।२।१) इति सूत्रेण पूर्ववर्ती समानसंज्ञक एक एव वर्णो दीर्घाकारादिरूपमाप्नोति; परवर्तिनश्चाकारादयो वर्णा लुप्यन्ते।

एवं कार्यसंख्यायां साम्येऽपि प्रायेणोभयत्र कातन्त्रे यदेकेनैव सूत्रेण किं चैक-स्यैव वर्णस्य स्थाने एक आदेशो विधीयते, तेन कातन्त्रीयप्रक्रियायां किञ्चिल्लाघव-मेव प्रतीयते।

### (२) गुणविधिः

'रमा+ईशः, गङ्गा+उदकम्' इत्यादिशब्दरूपावस्थायां पाणिनिः पूर्व-परयोर्वर्णयोः स्थाने एकारमोकारं च आदेशं करोति, तेन च रमेशः, गङ्गोदक-

मित्यादयः शब्दा निष्पन्ना भवन्ति (आद् गुणः ६।१।८७) कातन्त्रकारस्तु पूर्ववर्तिनोऽवर्णस्यैव एकाराद्यादेशान् विदधाति, परवर्तिनो वर्णांश्च लोपयति। एतत्कार्यार्थं तत्र चत्वारि सूत्राणि सन्ति—**अवर्ण इवर्णे ए, उवर्णे ओ, ऋवर्णे अर्, लृवर्णे अल्** (१।२।२-५) इति।

एवं कातन्त्रे एतद्विध्यर्थं प्रणीतेन सूत्रचतुष्टयेन यद्यपि शब्दगौरवं प्रतीयते, तथापि पाणिनीये अच्पदानुवृत्तिः एकादेशाधिकारप्रवृत्तिः, सावर्ण्यविधिचिन्ताप्रभृतिकार्यं ततोऽपि गुरुतरं प्रतिभातीति कातन्त्रप्रक्रिया सरला, सुबोधा चेत्यवगन्तव्यम्।

## (३) यण्विधिः

'दधि + अत्र, मधु + अत्र' इत्यादिशब्दरूपावस्थायां पाणिनिः **इको यणचि** (६।१।७७) इत्येकेनैव सूत्रेण इकारस्य यकारादेशम्, उकारस्य च वकारादेशं करोति, तेन च 'दध्यत्र-मध्वत्र' प्रभृतयः शब्दा निष्पद्यन्ते। कातन्त्रकारस्तु चत्वारि सूत्राण्यत्र पठति—**इवर्णो यमसवर्णे न च परो लोप्यः, वमुवर्णः, रमृवर्णः, लम् लृवर्णः** (१।२।८-११) इति।

एतेन कातन्त्रे शब्दगौरवप्रतीतौ सत्यामपि, पाणिनीये इक्—यण्प्रत्याहारज्ञानम्, इकः षट्षष्टिमात्राणां यणश्च सप्तमात्राणामादेशविधौ वैषम्यविचारः, **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** ( १।३।१० ) इति सूत्रप्रवृत्तिश्चेत्येतत्कार्यगौरवापेक्षया कातन्त्रीयसूत्रनिर्देशे लाघवं स्पष्टमेव। एवं पाणिनीये शब्दसंक्षेपेण अर्थबोधे गौरवमेव संनिहितं दृश्यते, कातन्त्रे च शब्दाधिक्येऽपि अर्थबोधे लाघवमेवास्ति।

## (४) पूर्वरूपम्

'ते + अत्र, पटो + अत्र' इत्यादिशब्दरूपावस्थायां पाणिनिः **एकः पूर्वपरयोः** (६।१।८४) इति सूत्राधिकारे एङः पदान्तादति (६।१।१०९) इत्यनेन अकारैकारयोः पूर्वरूपं विदधाति। तेन अकारः एकाररूपम् ओकाररूपं वा आप्नोति, ततश्च 'तेऽत्र, पटोऽत्र' प्रभृतीनि शब्दरूपाणि सिध्यन्ति। अत्र अकारस्य परिज्ञानार्थमर्वाचीनैः रोमनलिप्यां ऽ चिह्नं योज्यते। कातन्त्रे तु **एदोत्परः पदान्ते लोपमकारः** (१।२।१७) इत्यनेनाकारस्य लोपः क्रियते। एवं पाणिनीयपूर्वरूपापेक्षया कातन्त्रीयलोपनिर्देशे ज्ञानकृतं लाघवमेव वर्तते।

## (५) द्वित्वविधिः

'कुङ् + अत्र, सुगण् + अत्र, पचन् + अत्र' इत्यादिशब्दरूपावस्थायां पाणि-

नीये **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्** (८।३।३२) इत्यनेन क्रमशः ङुट्, णुट् नुट् चेत्येते आगमा विधीयन्ते । ते टिदागमाः **आद्यन्तौ टकितौ** (१।१।४६) इति परिभाषयाऽचः आदौ प्रवर्तन्ते । अतः 'क्रुङ्ङत्र, सुगण्णत्र, पचन्नत्र' इत्यादीनि शब्दरूपाणि साधूनि भवन्ति । कातन्त्रे तु **ङणनाः ह्रस्वोपधाः स्वरे द्विः** (१।४।७) इत्यनेन सूत्रेण 'ङ्-ण्-न्' वर्णानां द्वित्वे सति उक्तशब्दरूपसिद्धिर्भवति । एतेन कातन्त्रप्रक्रियायां लाघवं सुखेनार्थावबोधश्च भवति ।

## (६) शकारादेशः

'भवान्+चरति, भवान्+छादयति' इत्यादिशब्दरूपावस्थायां पाणिनीयप्रक्रियानुसारेण नकारस्य रुत्वम्, रोर्विसर्गः, तस्य सकारादेशः, तस्य च श्चुत्वेन शकारादेशो भवति, ततः अनुनासिकेऽनुस्वारे च कृते 'भवांश्चरति, भवांश्छादयति' इत्यादिशब्दाः साधवो भवन्ति । कातन्त्रे **नोऽन्तश्चछयोः शकारमनुस्वारपूर्वम्** (१।४।८) इत्येकेनैव सूत्रेण नकारस्यानुस्वारपूर्वः शकारादेशः प्रवर्तते, तेन च उक्तरूपसाधुत्वमवसीयते ।

एतेन लाघवप्रियः कश्चिदपि धीमान् पाणिनिदर्शितां महतीं प्रक्रियामवश्यमेव दुरूहां दुःखकरीं चाभ्युपेयात् तदपेक्षया कातन्त्रप्रक्रिया सरलतरा, लाघवसम्मता चास्ति ।

## (७) ङे-प्रभृतिप्रत्ययानां यै-इत्याद्यादेशाः

रमायै, रमायाः रमायामित्यादिशब्दरूपसिद्धये पाणिनी रमाशब्दात् परतो ङेप्रभृतिप्रत्ययानां याडागमं ततश्च आकारैकारयोः स्थाने वृद्ध्येकादेशं करोति—**याडापः** **वृद्धिरेचि** (अ० ७।३।११३; ६।१।८८) । कातन्त्रकारस्तु **ङवन्ति यै-यास्-यास्-याम्** (२।१।४२) इत्यनेन ङेप्रत्ययस्य 'यै' आदेशम्, ङसिङसोश्च यासादेशम्, ङेश्च यामादेशमेव कृत्वा उक्तशब्दान् साधयति । एतेन कातन्त्रीयप्रक्रियायामापतितं लाघवं कमध्येतृवर्गं न मोदयेत् ?

## (८) स्वरादिधातूनामादिवृद्धिः

'ऐत्, ऐधत' इत्यादौ पाणिनिः **आडजादीनाम्** (६।४।७२) इत्यनेन आडागमं ततश्च वृद्धिं करोति । कातन्त्रकारस्तु **स्वरादीनां वृद्धिरादेः** (३।८।१७) इत्यनेन स्वरादिधातूनामादिवृद्धिं विधायैव 'ऐत्, ऐधत इत्यादिशब्दरूपाणि साधयति । एवं पाणिनीय-आडागमवृद्ध्यपेक्षया इकार-एकारादेर्वृद्धिविधानरूपा कातन्त्रीयप्रक्रियैव लाघवमातनोति ।

एवंविधायाः कातन्त्रीयप्रक्रियायाः समीक्षणेनायमेव निष्कर्षः समुदेति यल्लाघवेन शब्दसाधुत्वप्रक्रियायाः अवबोधाय कातन्त्रव्याकरणस्याध्ययनम् महते उपकाराय कल्पेत ।

## ८. व्यापकप्रचारस्य वैशिष्ट्यम्

कातन्त्रव्याकरणस्य प्रचारः सीमावर्तिषु प्रदेशेषु प्रामुख्येण समभूत् । अङ्गवङ्गकलिङ्गकश्मीरराजस्थानादिप्रदेशा अस्य प्रयोगभूमिः । अस्यानुकृतौ पाणिनेरष्टाध्यायीसूत्राणि बौद्धेन सूरिणा धर्मकीर्तिना प्रक्रियात्वेन व्यवस्थापितानि रूपावतार इति ग्रन्थरचनया । परम्परेयं यीशोः षोडशशताब्दीं यावदविच्छिन्ना लक्ष्यते । पाणिनीयव्याकरणं प्रक्रियाग्रन्थानामवतारणान्मन्दप्रचारं संवृत्तं कातन्त्रव्याकरणमिदमिति संभाव्यते ।

भारतवर्षस्य चतुर्दिक्षु वर्तमानेषु कातन्त्रस्याध्ययनाध्यापनादिकं जातमिति मया तं तं प्रदेशमुपस्थाय अवगतम् । भारतस्य पूर्वस्यां दिशि वर्तमानयोर्वङ्गोत्कलप्रदेशयोः, उत्तरस्यां कश्मीरप्रदेशे, पश्चिमायां राजस्थानगुर्जरप्रदेशयोः, दक्षिणस्यां च आन्ध्रमद्रासमहाराष्ट्रप्रदेशेषु व्याकरणमिदं पर्याप्तं प्रचलितमासीत् । विहाय दक्षिणप्रदेशान् एतेषु स्थानेषु स्वयमेव गत्वा मयाऽधिकारिभिर्विद्वद्भिस्तथाश्रुतम् ।

भारताद् बहिः तिब्बत-श्रीलङ्कादिदेशेष्वपि व्याकरणस्यास्य प्रचारो बभूवेति बहुभिरितिवृत्तवचनैर्विज्ञायते ।

## ९. विपुलवाङ्मयस्य वैशिष्ट्यम्

कातन्त्रव्याकरणस्य विपुलं वाङ्मयं शारदा-वङ्ग-उत्कल-ग्रन्थ-देवनागराद्यक्षरैर्निबद्धं हस्तलेखेषु समुपलभ्यते । वङ्गाक्षरेषु नागराक्षरेषु च केचिद् मुद्रिता अपि ग्रन्थाः सन्ति, पर धातु-गण उणादि-लिङ्गानुशासन-परिशिष्ट-परिभाषा शिक्षादि-सूत्राणि प्रायेण विविधलिपिमयेषु हस्तलेखेष्वेव विकीर्णानीति तानि महत्ता आयासेनैव लब्धुं शक्यन्ते, तत्रापि च बहुत्र पाठविसंवादोऽपि वर्तते, येन ग्रन्थकाराभिप्रायपरिज्ञानं दुष्करमेव प्रतिभाति । तत्समाधानार्थं प्रयत्नविशेषेण मुद्रितान् हस्तलिखितांश्च ग्रन्थान् समधीत्य शुद्धपाठनिश्चयपुरस्सरं धातुपाठादिकं मया पृथक् प्रकाशनाय संगृहीतमस्ति ।

साम्प्रतं कातन्त्रस्योपलब्धं संस्करणं दुर्गसिंहेन परिष्कृतं प्रतिभाति । वररुचिना कात्यायनेन शर्ववर्मप्रणीतानां सूत्राणां दुर्घटनाम्नी, स्वप्रणीतकृत्सूत्राणां च चैत्र-

कूटीनाम्नी वृत्तिः प्रणीता आसीद् या साम्प्रतं नोपलभ्यते । काश्मीरका राजस्थानीयाश्चानेके कातन्त्रस्य व्याख्यानग्रन्था बालबोधिन्यादयः शारदाक्षरेषु नागराक्षरेषु च निबद्धा बालानामेव कृते प्रायेणोपयोगिनः सन्ति । तदुद्देश्येनैव आचार्यैस्तत्तद्ग्रन्थानां प्रणीतत्वात् । शेषांशपूरणाय कातन्त्रपरिशिष्टकातन्त्रोत्तरादयो ग्रन्थाः पश्चादाचार्यैर्विरचिताः । अस्य व्याकरणस्य कातन्त्रमन्त्रप्रकाश—कातन्त्रविभ्रमादयः केचिद् ग्रन्था अवश्यं मननीयं वैशिष्ट्यमापादयन्ति ।

वङ्गीयकातन्त्रवाङ्मये सप्तविंशतिः, उत्कलप्रदेशीयकातन्त्रवाङ्मये षट्, काश्मीरके कातन्त्रवाङ्मये सप्त, राजस्थानीय-कातन्त्रवाङ्मये षोडशग्रन्था हस्तलिखिता मुद्रिता वा प्राप्ताः सन्ति । तिब्बतीभाषायामुपनिबद्धाश्चत्वारो ग्रन्था डॉ० ए० सीं० वर्नेलमहोदयेन The Aindra School of Sanskrit grammarians (पृ० ५९) ग्रन्थे उद्धृताः ।

दाक्षिणात्यकातन्त्रवाङ्मयेऽपि सन्ति बहवो ग्रन्था उद्धृताः, परं ते तमिल—तेलुगुप्रभृतिलिपिनिबद्धा मया न समधीता इति तत्संख्यावसायो न क्रियते । तमिल-भाषाव्याकरणस्य तोलकाप्पियम् इत्याख्यस्य पालिभाषायाः कच्चायनव्याकरणस्य च संबन्धः कातन्त्रव्याकरणेन सह पर्याप्तं वर्तते ।

व्याकरणस्यास्य बहूनि मतानि वचनानि च कलापदीपिका - क्षीरतरङ्गिणी-माधवीयधातुवृत्ति - पुरुषकार-प्रौढमनोरमा - शब्दशक्तिप्रकाशिका - शब्दरूपकल्पद्रुम-रत्नबोध - दुर्घटवृत्ति - पदचन्द्रिका - मुग्धबोधटीका - व्याख्यानप्रक्रियाप्रभृतिग्रन्थेषु स्मृतानि ।

## व्याकरणस्यास्य मुद्रितानां ग्रन्थानां परिचयः

१. **कातन्त्रविभ्रमावचूर्णिः**, वि० अ० १९८४, जैनबन्धुयन्त्रालयः, इन्दौर ।

२. **आख्यानमञ्जरी**, बं० अ० १३१७, गोवर्धनयन्त्रम्, कलिकाता ।

३. **कलापचन्द्रः**, बं० अ० १३१७ आदि, गोवर्धनयन्त्रादि, कलिकाता ।

४. **कलापतत्त्वार्णवः**, बं० अ० १३३२, संस्कृतविद्यालयः, कलिकाता ।

५. **कलापतन्त्रतत्त्वबोधिनी**, बं० अ० १३३२, संस्कृतविद्यालयः, कलिकाता ।

६. **कातन्त्रगणमाला**, वङ्गाक्षरेषु मुद्रिता, कलिकाता ।

७. **कातन्त्रच्छन्दःप्रक्रिया**, खि० अ० १८६६, पीपुल्स प्रेस, कलिकाता ।

८. कातन्त्रदुर्गपरिभाषावृत्तिः, खि० अ० १९६७, भ० ओ० रि० इ० पूना ।

९. कातन्त्रधातुपाठः, खि० अ० १८३५, वङ्गाक्षरेषु मुद्रितः ।

१०. कातन्त्रपरिभाषासूत्रम्, खि० अ० १९६७, भ० ओ० रि० इ० पूना ।

११. कातन्त्रपरिशिष्टप्रबोधः, श० अ० १८३३, संस्कृतविद्यालयः, कलिकाता ।

१२. कातन्त्रपरिशिष्टम्, श० अ० १८३३, संस्कृतविद्यालयः, कलिकाता ।

१३. कातन्त्रप्रदीपः, वङ्गाक्षरेषु कारकीयांशः कश्चिन्मुद्रितः ।

१४. कातन्त्रव्याकरणम्, १८७६, एशियाटिक सोसाइटी आफ बङ्गाल ।

१५. कातन्त्ररूपमाला, वि० अ० १९५२, निर्णयसागरयन्त्रालयः, बम्बई । वीरनिर्वाण सं० २४८१, वीर प्रेस, मनिहारों का रास्ता, जयपुर ।

१६. कातन्त्रलिङ्गानुशासनम्, १९५२, डेक्कन कालेज, पूना ।

१७. कातन्त्रविभ्रमः, वि० अ० १९८४, जैनबन्धुयन्त्रालयः, इन्दौर ।

१८. कातन्त्रवृत्तिः, वङ्गाक्षरेषु मुद्रिता, कलिकाता ।

१९ कातन्त्रवृत्तिटीका, वङ्गाक्षरेषु मुद्रिता, कलिकाता ।

२०. कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका, बं० अ० १३१७, गोवर्धनयन्त्रम् कलिकाता ।

२१. कातन्त्रशिक्षासूत्राणि, श० अ० १८४४, वङ्गाक्षरेषु मुद्रितानि ।

२२. कातन्त्रोणादिवृत्तिः, वि० अ० १९३४, मद्रासविश्वविद्यालयः, मद्रास ।

२३. कातन्त्रोणादिसूत्राणि, श० अ० १८४४, वङ्गाक्षरेषु मुद्रितानि ।

२४. कृन्मञ्जरी, बं० अ० १३३२, संस्कृतविद्यालयः, कलिकाता ।

२५. कौमुदी, बं० अ० १३१९, रामेन्द्रयन्त्रम्, नोयाखाली ।

२६. गणप्रदीपः, १८३५, वङ्गाक्षरेषु मुद्रितः ।

२७. चर्करीतरहस्यम् (सवृत्तिकम्), बं० अ० १३३२, संस्कृतविद्यालयः, कलिकाता ।

२८. दुर्गपरिभाषावृत्तिः, खि० अ० १९६७, पूना ।

२९. दुर्गवाक्यप्रबोधः, वङ्गाक्षरेषु कश्चिदंशो मुद्रितः ।

३०. पञ्जी, वङ्गाक्षरेषु मुद्रिता, कलिकाता ।

३१. पत्रिका, वङ्गाक्षरेषु मुद्रिता ।

३२. पादप्रकरणसङ्गतिः १९१४, Systems of Sanskrit grammar (पृ० ११८-२०) ग्रन्थे प्रकाशिता ।

३३. बिल्वेश्वरटीका, बं० अ० १३१७, गोवर्धनयन्त्रम् कलिकाता ।

३४. मङ्गला, श० अ० १८३२, गोवर्धनम्, कलिकाता ।

३५. मनोरमा, वङ्गाक्षरेषु मुद्रिता, कातन्त्रधातुटीका ।

३६. राजादिवृत्तिः, नागराक्षरेषु वङ्गाक्षरेषु च मुद्रिता ।

३७. व्याख्यासार, श० अ० १८३२ आदि, वङ्गाक्षरेषु प्रकाशितः ।

३८. संजीवनी १९१२, आर्यविद्यालयः, कलिकाता ।

३९. सन्धिचन्द्रिका, वङ्गाक्षरेषु मुद्रिता ।

## हस्तलेखानां परिचयः

| हस्तलेखः | प्राप्तिस्थानम् | लिपिः | संख्या |
|---|---|---|---|
| १. आख्यातटिप्पनम् | अहमदाबाद | देवनागरी | १ |
| २. आख्यातविवेकः | जयपुर | देवनागरी | १ |
| ३. उद्द्योतः | पाटन, राजस्थान | देवनागरी | १ |
| ४. कलापचन्द्रः | वाराणसी | वङ्ग | ३ |
| ५. कलापटीका | वाराणसी | वङ्ग | २ |
| ६. कलापव्याकरणम् | भुवनेश्वर, उड़ीसा | उत्कल | १ |
| ७. कलापसूत्रपाठः | वाराणसी | वङ्ग | २ |
| ८. कलापसूत्रपाठव्याख्या | वाराणसी | वङ्ग | १ |
| ९. कातन्त्रकारकटिप्पणी | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| १०. कातन्त्रकौमुदी | श्रीनगर, कश्मीर | शारदा | १ |
| | उज्जैन, मध्यप्रदेश | शारदा | १ |
| | वाराणसी | वङ्ग | १ |

| हस्तलेखः | प्राप्तिस्थानम् | लिपिः | सं |
|---|---|---|---|
| ११. कातन्त्रक्रोडपत्रसंग्रहः | वाराणसी | वङ्ग | |
| १२. कातन्त्रटिप्पणकम् | अहमदाबाद | देवनागरी | |
| १३. कातन्त्रदुर्गवृत्तिः | जोधपुर | देवनागरी | |
| | उज्जैन | शारदा | |
| | जयपुर | देवनागरी | |
| | अलवर | देवनागरी | |
| | बीकानेर | देवनागरी | |
| | अहमदाबाद | देवनागरी | |
| | भुवनेश्वर | उत्कल | |
| १४. कातन्त्रधातुपाठः | वाराणसी | वङ्ग | |
| | जोधपुर | देवनागरी | |
| | जयपुर | देवनागरी | |
| | भुवनेश्वर | उत्कल | |
| १५. कातन्त्रधातुवृत्तिः | जम्मू | देवनागरी | |
| १६. कातन्त्रमन्त्रप्रकाशः | अलवर | देवनागरी | |
| १७. कातन्त्रम् | वाराणसी | देवनागरी | |
| १८. कातन्त्ररूपमाला | वाराणसी | देवनागरी | |
| १९. कातन्त्रलघुवृत्तिः | होशियारपुर | शारदा | |
| | श्रीनगर, काश्मीर | शारदा | |
| | जम्मू | देवनागरी | |
| | जोधपुर | देवनागरी | |
| | दिल्ली | देवनागरी | |
| २०. कातन्त्रलिङ्गानुशासनम् | बीकानेर | देवनागरी | |
| | अहमदाबाद | देवनागरी | |
| | उज्जैन | देवनागरी | |

| हस्तलेखः | प्राप्तिस्थानम् | लिपिः | संख्या |
|---|---|---|---|
| २१. कातन्त्रवाक्यविस्तरः | अहमदाबाद | देवनागरी | १ |
| २२. कातन्त्रविभ्रमः | जोधपुर | देवनागरी | ९ |
| | अहमदाबाद | देवनागरी | २ |
| | जयपुर | देवनागरी | ५ |
| | बीकानेर | देवनागरी | १ |
| २३. कातन्त्रविभ्रमावचूर्णिः | जोधपुर | देवनागरी | ९ |
| | जयपुर | देवनागरी | २ |
| | बीकानेर | देवनागरी | ४ |
| २४. कातन्त्रविवरणटीका | वाराणसी | देवनागरी | १ |
| २५. कातन्त्रविवरणपञ्जिका | वाराणसी | देवनागरी | १ |
| २६. कातन्त्रविवरणम् | वाराणसी | देवनागरी | १ |
| २७. कातन्त्रविस्तारः | भुवनेश्वर | उत्कल | ८ |
| | वाराणसी | देवनागरी | २ |
| | वाराणसी | वङ्ग | १ |
| २८. कातन्त्रविस्तरनिगूढार्थप्रकाशिका | भुवनेश्वर | वङ्ग | १ |
| २९. कातन्त्रविस्तरपरिभाषाटीका | भुवनेश्वर | उत्कल | १ |
| ३०. कातन्त्रवृत्ति | वाराणसी | वङ्ग | ९ |
| | वाराणसी | देवनागरी | २ |
| ३१. कातन्त्रवृत्तिटीका | बीकानेर | देवनागरी | ७ |
| | वाराणसी | वङ्ग | २ |
| ३२. कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका | अलवर | देवनागरी | १ |
| | अहमदाबाद | देवनागरी | १ |
| | उज्जैन | देवनागरी | १ |
| | भुवनेश्वर | उत्कल | १ |
| | वाराणसी | वङ्ग | १० |
| | वाराणसी | देवनागरी | ३ |

| हस्तलेख: | प्राप्तिस्थानम् | लिपि: | संख्या |
|---|---|---|---|
| ३३. कातन्त्रवृत्तिपञ्जिकाव्याख्या | वाराणसी | वङ्ग | १ |
| ३४. कातन्त्रवृत्तिपञ्चिकाप्रदीप: | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| ३५. कातन्त्रवृत्तिपरिभाषाभाष्यम् | अहमदाबाद | देवनागरी | १ |
| ३६. कातन्त्रवृत्तिविवरणपञ्जिका | जोधपुर | देवनागरी | ९ |
| | वाराणसी | वङ्ग | १ |
| ३७ कातन्त्रवृत्तिविवरणम् | वाराणसी | वङ्ग | २ |
| ३८. कातन्त्रवृत्तिव्याख्यानम् | अलवर | देवनागरी | १ |
| ३९. कातन्त्रव्याकरणम् | जोधपुर | देवनागरी | ४ |
| | बीकानेर | देवनागरी | ३ |
| ४०. कातन्त्रव्याकरणस्फुटपत्राणि | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| ४१. कातन्त्रं सवृत्तिकम् | वाराणसी | वङ्ग | ७ |
| | वाराणसी | देवनागरी | १ |
| ४२. कातन्त्रसूत्रपाठ: | अहमदाबाद | वङ्ग | १ |
| ४३. कातन्त्रसूत्रम् | वाराणसी | देवनागरी | ३ |
| कातन्त्रसूत्रम् | वाराणसी | वङ्ग | १० |
| ४४. कातन्त्रसूत्रवृत्ति: | वाराणसी | वङ्ग | १३ |
| ४५. कातन्त्रसूत्रवृत्ति विवरणपञ्जिका | वाराणसी | देवनागरी | १ |
| ४६. कातन्त्रोत्तरवृत्तिटीका | भुवनेश्वर | उत्कल | २ |
| ४७. कातन्त्रोत्तरविद्यानन्दिवृत्ति: | जोधपुर | देवनागरी | ३ |
| ४८. कालापप्रक्रिया | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| ४९. कृदन्तवृत्ति: | बीकानेर | देवनागरी | १ |
| ,, | अहमदाबाद | देवनागरी | १ |
| ५०. गोल्हणटीका | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| ५१. चतुष्कवृत्तिटिप्पनकम् | अहमदाबाद | देवनागरी | २ |

| हस्तलेख | प्राप्तिस्थानम् | लिपिः | संख्या |
| --- | --- | --- | --- |
| ५२. त्रिलोचनचन्द्रिका | अहमदाबाद | देवनागरी | १ |
| ,, | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| ५३. दुर्गपदप्रबोधः | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| ५४. धातुमञ्जरी | जयपुर | देवनागरी | २ |
| ५५. पञ्चसन्धिव्याख्या | जयपुर | देवनागरी | १ |
| ५६. परिभाषाशिक्षासूत्राणि | अहमदाबाद | देवनागरी | १ |
| ५७. बालबोधिनी | श्रीनगर | शारदा | १ |
| ,, | दिल्ली | शारदा | १ |
| ,, | जम्मू | देवनागरी | १ |
| ५८. बालबोधिनीन्यासः | दिल्ली | शारदा | १ |
| ,, | श्रीनगर | शारदा | २ |
| ५९. बालबोधिनीवृत्तिः | जम्मू | शारदा | १ |
| ,, | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| ६०. बालावबोधः | बीकानेर | देवनागरी | १ |
| ६१. बालावबोधटीका | जोधपुर | देवनागरी | ३ |
| ६२, बालावबोधवृत्तिः | अहमदाबाद | देवनागरी | ३ |
| ,, | जोधपुर | देवनागरी | ५ |
| ६३. लघुललितवृत्ति | जोधपुर | शारदा | १ |
| ६४. वर्धमानप्रकाशः | भुवनेश्वर | उत्कल | १ |
| ६५. वर्धमानप्रक्रिया | भुवनेश्वर | उत्कल | ३ |
| ६६. वर्धमानप्रक्रियासार | भुवनेश्वर | उत्कल | १ |
| ६७. वर्धमानव्याकरणम् | भुवनेश्वर | उत्कल | १ |
| ६८. वर्धमानसंग्रह | भुवनेश्वर | उत्कल | १ |
| ६९. वैयाकरणसिद्धान्ततत्त्वविवेकः | अहमदाबाद | देवनागरी | १ |

| हस्तलेखः | प्राप्तिस्थानम् | लिपिः | संख्या |
|---|---|---|---|
| ७०. शिष्यहितान्यासः | दिल्ली | शारदा | १ |
| ,, | श्रीनगर | शारदा | १ |
| ७१. षट्कारकखण्डनमण्डनम् | जोधपुर | देवनागरी | १ |
| ७२. षट्कारकव्याख्यानम् | जयपुर | देवनागरी | १ |
| ७३. सारस्वतटिप्पणम् | बीकानेर | देवनागरी | १ |
| ,, | जयपुर | देवनागरी | ४ |
| ७४. सिद्धसूत्रव्याख्या | जयपुर | देवनागरी | १ |
| (अन्येऽपि केचन हस्तलेखाः) | | | |
| ७५. कातन्त्रपरिशिष्टम् | वाराणसी | वङ्ग | ५ |
| ,, | अलवर | देवनागरी | २ |
| ७६. कातन्त्रीयविकृतसूत्राणि | उज्जैन | देवनागरी | १ |
| | योगः | | २९७ |

## १०. अपाणिनीयस्य तुलनात्मकस्य च वर्णादेर्वैशिष्ट्यम्

### अपाणिनीया वर्णाः

ॡ (दीर्घः), ‿ँ ‿ँ (अनुस्वारः), ꞉ (विसर्गः), × (जिह्वामूलीयः), ‿ U ω (उपध्मानीयः), क्ष् (क् + ष्) ।

### अपाणिनीयाः साधुशब्दाः

अतिजरस्य (षष्ठी—ए० व०) उदधिष्य (षष्ठी—ए० व०), पितरः (द्वि० ब० व०); भिक्षुष्य (षष्ठी—ए० व०), वातोऽपि तापपरितो सिञ्चति (उकारादेशः) ।

### अपाणिनीयौ धातू

ढुढि अन्वेषणे (चु०), मृग अन्वेषणे (दि०) ।

**अपाणिनीयाः संज्ञाशब्दाः**

अघोषः (क् - ख् आदिवर्णाः), अनुबन्धः (क् - च् आदिवर्णाः), अनुषङ्गः, उपध्मानीयः, कारितः, घोषवत् (ग्-घ्-ङ् आदिवर्णाः), जिह्वामूलीयः, धुट्, नामी, वर्गः, विकरणः, शिट्, श्रद्धा, सन्ध्यक्षरम्, समानः ।

**अपाणिनीया गणाः**

दृगादिः, धेन्वनडुहादिः, नदादिः, यजादिः, राजादिः, सद्य आदिः ।

## *तुलनात्मिका-तालिका*

| कातन्त्रे | पाणिनीये | कातन्त्रे | पाणिनीये |
|---|---|---|---|
| | **प्रातिपदिकानि** | | |
| अनड्वाह् | अनडुह् | पुमनस् | पुम्स् |
| चत्वार् | चतुर् | भवन्त् | भवत् |
| | **प्रत्ययाः** | | |
| आयिः | क्यङ् | यिन् | क्यच् |
| इच् | चिण् | सण् | क्स |
| इन् | णिच् | सि | सु |
| यण् | यक् | | |
| | **विकरणाः** | | |
| अन् | शप् | नुः | श्नुः |
| न | श्नम् | यन् | श्यन् |
| ना | श्ना | | |
| | **सञ्ज्ञाः** | | |
| अग्निः | घि | अद्यतनी | लुङ् |
| अन्तस्थाः | यण् | ऊष्माणः | शल् |
| आशीः | लिङ्, लोट् | | |

| कातन्त्रे | पाणिनीये | कातन्त्रे | पाणिनीये |
|---|---|---|---|
| क्रियातिपत्तिः | लृङ् | व्यञ्जनम् | हल् |
| चेक्रीयितम् | यङ्प्रत्ययः | वर्तमाना | लट् |
| घुट् | सि-आदिप्रत्ययाः | श्वस्तनी | लुट् |
| पञ्चमी | लोट् | सप्तमी | लिङ् |
| परोक्षा | लिट् | स्वरः | अच् |
| भविष्यन्ती | लृट् | ह्यस्तनी | लङ् |
| लिङ्गम् | प्रातिपदिकम् | | |

## गणौ

| | |
|---|---|
| यजादिः | स्वरितानुबन्धा धातवः |
| रुचादिः | अनुदात्तानुबन्धा धातवः |

एवमस्मिन्व्याकरणे धातु - गण - उणादि - लिङ्गानुशासन - दुर्गवृत्ति - कातन्त्रविस्तर - कातन्त्र - परिशिष्टादेरपिव्याकरणान्तराद् भिन्नं किञ्चिद् वैशिष्ट्यं संनिहितमास्ते, तदत्र विस्तरभिया बोधयितुं नेष्यते। एतेन सर्वेण वैशिष्ट्येन कातन्त्रव्याकरणविषये प्रचलितानि कुत्सितं तन्त्रं कातन्त्रम्, कातन्त्रकन्थावृथाइत्येतादृशानि आक्षेपवचनानि तिरस्क्रियन्त एव। मन्ये, सम्प्रति कातन्त्राध्ययनं लाघवेन शब्दसाधुत्व-प्रक्रियाजिज्ञासून् उपकुर्यादेव।

●

# आचार्यकौटल्यकृतराजसिद्धान्तापरनामकार्थशास्त्रस्य 'नीतिनिर्णीति' नाम्न्या व्याख्याया वैशिष्ट्यम्

डा० सत्यव्रत सिंह

लखनऊ

Though the commentary of "Śrīmūlakhya" on the *Arthaśāstra* of Kauṭalya, written by Mahāmahopādhyāya Gaṇapati Śāstrī in 1924, is a work of great scholarship, the commentary entitled "Nīti-nirṇīti", unfortunately incomplete, by Ācarya Yogghama (12th—13th century A. D. ) is a unique one and much more useful for understanding the inherent meaning of the sūtras of the *Arthaśāstra*.

सर्वशास्त्रार्थसारज्ञ आचार्यः कौटल्यः साम्राज्यवादिप्राचीनभारतीयराजसिद्धान्तस्यान्तिमः सूत्रकारः प्रतिष्ठापको वेति निश्चप्रचम्। गच्छति काले प्राचीनैः राजशास्त्रपारङ्गतैः पण्डितैर्विरचिताः **कौटल्यार्थशास्त्रस्य** सम्प्रदायानुसारिण्यो व्याख्या अधुना लुप्तप्रायाः निर्दिष्टकल्पा वा न क्वापि दृष्टिपथमायान्ति। महदुपकृतं महामहोपाध्यायैः श्रीगणपतिशास्त्रिवर्यैः संस्कृतवाङ्मयस्य यत्तैः १९२४ खिस्ताब्दे **कौटल्यकृतस्यार्थशास्त्रस्य** वैदुष्यपूर्णा **श्रीमूलाख्या** व्याख्या व्यरचि। **श्रीमूलाख्याया** व्याख्याया विरचनं वस्तुतः महापण्डितकृत्यम्। किन्तु १२-१३ शतखिस्ताब्दे मुग्धविलासोपनामकेन योग्घमाचार्येण विरचितायाः साम्प्रदायिक्याः **नीतिनिर्णीतिनाम्न्याः** व्याख्यायाः यद् वैशिष्ट्यं तस्यान्यैव वार्ता। व्याख्येयं कौटल्यकृतस्यार्थशास्त्रस्य परिनिष्ठितार्थबोधे महत् साहाय्यमाचरति। मुग्धविलासाङ्को योग्घमाचार्यो जैनो वा बौद्धो वेति न निश्चेतुमलम्। सम्पूर्णो **नीतिनिर्णीतिग्रन्थो** नष्टप्राय एव प्रतिभाति यतः खलु १९१९ खिस्ताब्दे प्रकाशिते तदंशे केवलं **कौटल्यार्थशास्त्रस्याध्यक्षप्रचाराख्य-**द्वितीयाधिकरणान्तर्गतो 'जनपदनिवेश'नामा प्रथमाध्यायः 'भूमिच्छिद्रापिधान'नामा द्वितीयाध्यायः 'दुर्गविधान'नामा तृतीयाध्यायोऽथ च 'दुर्गनिवेश'नामा खण्डितश्चतुर्थाध्याय एव दृष्टिगोचरी कर्तुं शक्यः। एवं सत्यपि **'नीतिनिर्णीति'**नाम्नी व्याख्या **कौटल्यार्थशास्त्रस्य** तात्पर्यार्थप्रकाशने विशिष्टं सामर्थ्यं बिभर्ति।

**नीतिनिर्णी**तिनाम्न्या व्याख्यायाः वैशिष्ट्यं यद्रूपं तत्तु **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया सह तदनुशीलनेन स्पष्टीभवति। अतः **कौटल्यार्थशास्त्रस्य** कतिपयसूत्रोल्लेखपुरस्सरं-तत्सम्बद्धयोर्नीतिनिर्णीतिग्रन्थसन्दर्भे **श्रीमूलाख्यव्याख्याग्रन्थसन्दर्भयो**श्चोद्धरणानि दीयन्ते। यत्र दृष्टिपातेन पूर्वस्याः प्राचीनराजतन्त्रशास्त्रप्रवचनपरम्परान्तःपातित्वम-परस्याश्च पदवाक्यार्थविवरणपरिकर्मादिकं निरायासमवगन्तुमलम्। आदौ तावत् **कौटल्यार्थशास्त्रस्य** द्वितीयाधिकरणान्तर्वर्तिप्रथमाध्यायस्य द्वितीयं सूत्रमुद्ध्रियते।

**भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेदिति।**

एतर्हि सूत्रे भूतपूर्वाभूतपूर्वयोः पदयोर्यादृशोऽर्थो **नीतिनिर्णीत्या** समुपन्यस्यते न तादृशः **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया। **'भूतपूर्वं पूर्वं स्थितमभूतपूर्वमभिनवं वा जन-पदं·······निवेशयेत् रचयेत्'** इत्येतावन्मात्रमेवार्थोपस्थापनं श्रीमूलाख्यायाः व्याख्यायाः कार्यम्। **नीतिनिर्णीत्या तु** पदयोरनयोर्भारतैतिह्यप्रमाणितो विचारचतुरस्रोऽर्थःप्रकटी-क्रियते। तथा हि **पूर्वं भूतो भूतपूर्वः निविष्टपूर्वं इत्यर्थः। अभूतपूर्वस्तद्विपरीतः·····स्मर्य-माणनिवेशो भूतपूर्वः स्वल्पवीरुल्लतादिपुखसाध्यः अस्मर्यमाणनिवेशो महावृक्षावलुप्तनिः-शेषनिवेशचिह्नो दुःखसाध्य इति भावः। तमुभयस्वरूपं·····(जनपदं) निवेशयेत इति।** अत्रायं **नीतिनिर्णीतिदृष्टोऽर्थः कौटल्यार्थशास्त्रस्य** हार्दमाविष्कुर्वाण इव प्रतिभाति। अत्रेत्थं विचारणीयम्—'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्' इति दुर्निवारेण लोकन्यायेन भारतवर्षे तदा तदा निवेशिताः सर्वसम्पत् समृद्धाः बहवो जनपदा ध्वस्त-प्रध्वस्ताः क्रमशः कालकवलिताश्च समजायन्तेति। एवं सति पूर्वनिविष्टाः आचार्य-कौटल्येन भूतपूर्वेति संकेतिताः स्थाण्वीश्वरादिपुरातनजनपदा इव क्वचन स्वल्प-विरुल्लतादिप्ररोहत्वात्स्मर्यमाणनिवेशाः अन्यत्र च महावृक्षावलुप्तनिःशेषनिवेश-चिह्नत्वादस्मर्यमाणनिवेशाः जनपदाः अद्यापि दृष्टिपथमायान्ति। योऽयं भारतशासनेन चण्डीगढ़जनपदनिवेशो निर्मापितस्सोऽप्यत्र दृष्टान्तरूपेण द्रष्टुं शक्यो यतो हि प्रस्तर-प्ररोहादिभिर्विलुप्तपूर्वनिवेशचिह्नोऽयं जनपदोऽस्मर्यमाणनिवेश एवावर्तत। उभय-स्वरूपयोर्जनपदयोर्निवेशः राज्याय साम्राज्याय वा नितान्तमावश्यकः। कुत इति चेत्? यतो हि जनपद एव दुर्गकोशदण्डादिराज्यप्रकृतीनां योनिराम्नायते। सुष्ठूक्तं **नीतिनिर्णीतिकारेण योगघमाचार्येण—'जनपदः सर्वकर्मणां योनिः। राज्यं च जनपद एव यस्माज्जनपदादेव सर्वप्रकृतीनामुत्पत्तिरिति।**

अत्रैव **कौटल्यार्थशास्त्रे** जनपदनिवेशस्य द्वौ प्रकारौ प्रतिपादितौ। तत्र प्रथमः प्रकारः परदेशापवाहनकृतः द्वितीयश्च स्वदेशाभिष्यन्दवमनकृत इति। प्रकारयोरेतयोः **श्रीमूलाख्यायां** व्याख्यायां योऽर्थः प्रतिपादितस्स तूत्तानरूप एव। **नीतिनिर्णीत्याऽत्र**

योऽर्थः प्रस्तूयते स तु निष्कृष्टार्थः प्रतीयते । किं नाम परदेशापवाहनम् ? दण्डेन दाह-लोपविध्वंसभयदर्शनेन परदेशाज्जनकायस्याकर्षणं कृत्वा नवो जनपदो निवेशनीय इति । स्वदेशाभिष्यन्दवमनं नाम मूलकुटुम्बं पूर्वस्थानस्थितं तत्रैवावस्थाप्य तत्र पुत्र-नप्तृ-भ्रातृ-भागिनेयादिबाहुल्यरूपस्य प्रजाभिष्यन्दस्य समाकर्षणमिति । अद्यापि भारते सन्ति जनपदनिवेशाः येषु केचन स्वदेशाभिष्यन्दवमनकारिताः केचन च परदेशापवाहन-कारिता इति । जनपदनिवेशस्यैति स्थितिर्यथा **नीतिनिर्णीतिव्याख्यायां** प्रतिबिम्बति न तथा **श्रीमूलाख्यायां** व्याख्यायाम् ।

लाभार्थं पालनार्थञ्च जनपदनिवेशक्रमः कीदृशो भवेदित्यपि **कौटल्यार्थशास्त्र-**स्य द्वितीयाधिकरणस्थप्रथमाध्यायस्य तृतीयसूत्रेण स्पष्टं प्रतिपाद्यते । तत्सूत्रमेवं-वर्णकम्—

**'शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चकुलशतपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्यो-न्यारक्षं निवेशयेदिति' ।**

अत्रनीतिनिर्णीतिव्याख्याकारेण या अर्थयोजना कृता सैवं रूपा—

**'शूद्रकर्षकबाहुल्यं विष्ट्यादिभिरुपभोग्यत्वात् । वैश्यकर्षकाः स्वल्पाः । क्षत्रिय-ब्राह्मणौ कर्षकत्वेन नेष्येते । धर्मार्थक्षतेः कुलशतावरमिति कुलशतभेदे मतभेदस्तथाहि—**

> **चुल्ल्याधाने कुलं विद्यादित्यांभीयाः प्रचक्षते ।**
> **दम्पत्यं कुलमित्येके हलं त्वन्ये प्रचक्षते ॥**

**चुल्ल्याधानदम्पत्ययोः क्षेत्रविभागेऽनङ्गत्वादेकद्वित्रिहलत्वेन कुलं तदुत्तममध्य-मावरतयेष्यते । कुलशतकृष्योऽवरो निकृष्टः क्रोशसीमा । पञ्चकुलशतकृष्यः परः उत्तमः क्रोशद्वयसीमा । सार्द्धद्वयकुलशतकृष्यो मध्यमः सार्द्धद्वयक्रोशसीमा भवतीत्यर्थादा-पद्यते । तं ग्रामम् । शूद्रादिजातिसमूहो ग्राम इति ।**

श्रीमूलाख्याया व्याख्याया योऽर्थोऽत्र योज्यते स एवं रूपः —

**'ग्रामं शूद्रकर्षकप्रायं शूद्रकृषिबलबहुलं कुलशतावरं गृहशतान्यूनं पञ्चकुलशतपरं पञ्चशतानधिकगृहयुक्तं क्रोशद्विक्रोशसीमानं क्रोशसीमानं द्विक्रोशसीमानं वा एकस्माद् ग्रामाद् ग्रामान्तरस्य क्रोशदूरव्यवधानं क्रोशद्वयव्यवधानं वा यथा भवेत्तथा क्लृप्तमित्य-र्थः । अन्योन्यमारक्षतीत्यन्योन्यारक्षं परस्परसाहाय्यकरणक्षमं निवेशयेदिति' ।**

द्वयोर्व्याख्ययोर्दृष्टिपातेन प्रस्पष्टमिदं प्रतिभाति यन्नीतिनिर्णीतिकारः

प्रत्यक्षदृष्टान् ग्रामनिवेशान् निरूपयति, **श्रीमूलाख्याया** व्याख्यायाः प्रणेता च कल्पनया ग्रामनिवेशान् कल्पयतीति। अद्यत्वेऽपि भारते ग्रामनिवेशाः **नीतिनिर्णीतिदृशा** कृता इवावलोक्यन्ते। प्रतिग्रामपर्यन्तं कर्षणयोग्याः भूभागाः अद्यापि दृष्टिपथमायान्ति। एकस्मान्महाग्रामाद् ग्रामान्तराणां व्यवधानं क्रोशद्वयपरिमितं प्रायोऽद्यापि दृष्टचरम्। अद्यापि शूद्रकर्षकबहुला एव भारतीयाः ग्रामाः प्राचीनां ग्रामनिवेशपरम्परां प्रमाणयन्त इव प्रतिभान्ति। **नीतिनिर्णीत्यां** ग्रामनिवेशस्योत्तमाधममध्यमप्रकाराः यथा प्रतिपादिताः न तथा **श्रीमूलाख्यायां** व्याख्यायाम्।

ग्रामाणां परस्परं कृष्यभूभागानां सीमाविवादपरिहाराय **कौटल्यार्थशास्त्रस्य** द्वितीयाधिकरणस्थे प्रथमाध्याये चतुर्थसूत्रे स्पष्टं निर्देशो यथा हि—

**'नदीशैलवनभ्रष्टिदरीसेतुबंधशमीशाल्मलीक्षीरवृक्षानन्तेषु सीम्नां स्थापयेत्'** इति।

अत्र सूत्रे **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया सीमरक्षार्थं नद्यादीनां निवेशः प्रतिपादितः। किन्तु **नीतिनिर्णीत्यां** नद्यादयः विवादपरिहारार्थं चिह्नरूपेण निर्दिष्टाः। **नीतिनिर्णीति**-व्याख्यैवात्र साधीयसी प्रतिभाति। कुत इति चेत्? यतो हि येऽत्र सूत्रे नदीशैल-वनादयो निर्दिष्टास्ते ग्रामनिवेशात् पूर्वावस्थायिनो न निवेशनमपेक्षन्ते। अद्यापि भारते ग्रामनिकायेषु विवादपरिवर्जनाय नद्यादिरूपाणि चिह्नानि निर्दिश्यन्ते। चिह्नानीमानि न ग्रामसीमारक्षाकराणि किन्तु विवादपरिहारप्रयोजनकान्येवेति।

अत्रैव सूत्रे **नीतिनिर्णीत्या** भ्रष्टिरिति पदं व्याख्यायते **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया च तत्स्थाने गृष्टिरिति पदान्तरम्। 'गृष्टिपदस्य **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया गृष्टिर्बदरा-नामौषधिर्वृक्षविशेषो वेति' योऽर्थो गृहीतस्स तु प्रसङ्गेऽत्रासङ्गत इव तिष्ठति। वृक्षद्वारा ग्रामसीमानिर्धारणाय चिरकालावस्थायिनः शमीशल्मलीप्रभृतयो वटादिक्षीर-वृक्षा वा परिगणिताः। क्वाऽत्र बदरानामौषधिविशेषस्य वृक्षविशेषस्य वा स्वल्पकाल-स्थायिनः संगतिः। **नीतिनिर्णीत्या** भ्रष्टिरितिपदं पर्वतविकाररूपार्थकं गृहीतम्। भ्रष्टिपदस्य पर्वतविकाररूप एवार्थः प्रसङ्गानुकूलः प्रतीयते। पाषाणोषरसिकता-बहुलेषु भूभागेषु निवेशितानां ग्रामाणां परस्परं विवादपरिहारार्थं सीमनिर्धारणार्थं च नदीशैलवनवत् भ्रष्टिः पाषाणविकृतिर्वा चिह्नरूपेण किञ्चिदधिकं सामञ्जस्यं बिभर्ति।

सूत्रान्तराणां तात्पर्यविनिश्चयेऽपि **नीतिनिर्णीतिरधिकप्रामाणिकी** प्रतिभाति। तथाहि **कौटल्यार्थशास्त्रस्य** द्वितीयाधिकरणान्तर्गतप्रथमाध्याये पञ्चमं सूत्रं सव्याख्यं दृश्यताम्—

'अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं चतुःशतग्राम्या द्रोणमुखं द्विशतग्राम्याः कार्वटिकं (खार्वटिकं वा) दशग्रामीसंग्रहेण स्थापयेत्' ।

अत्र 'नीतिनिर्णीति' व्याख्याग्रन्थः—

'ग्रामविशेषानाह—अष्टशतग्राम्या मध्ये... स्थापयेदिति' अष्टशतग्रामसमाहारस्य मध्ये चतुर्दिशं द्वे द्वे ग्रामशते निवेश्य तन्मध्ये स्थानीयं समुदायव्यवहारस्थानाय हितमिति । तथैव चतुःशतग्राम्या मध्ये द्रोणमुखम् । यथा द्रोणमुखम् चतुराढकोपलक्ष्यमेवं ग्रामशतचतुष्टयोपलक्षितम् । तद्वद् द्विशतग्राम्याः कार्वटिकमिति रूढिसंज्ञा । दशग्रामी संग्रहेणेति । दश दश ग्रामाः संगृह्यन्ते येन मुख्यग्रामेणासौ संग्रहः । एवं स्थानीयस्य द्वे द्रोणमुखे चत्वारि कार्वटिकानि । अशीतिः संग्रहाः । अनेन विभागेन जनपदनिवेशः कार्यः इति ।

श्रीमूलाख्यव्याख्याग्रन्थस्त्वेवंरूपः—

'अष्टशतग्राम्याः अष्टशतानां ग्रामाणां समूहस्य मध्ये स्थानीयं तदाख्यं तावद् ग्रामजनतायाः क्रयविक्रयादिकर्मणोपजीव्यं रमणीय महाग्राम स्थापयेत् निवेशयेत् । चतुःशतग्राम्यामध्ये द्रोणमुखं तदाख्यं स्थानीयप्रत्यवरं ग्रामभेदं स्थापयेत् । द्विशत ग्राम्यामध्ये कार्वटिकं तदाख्यं कर्वटापरपर्यायं द्रोणमुखप्रत्यवरं स्थापयेत् दशग्रामीसंग्रहेण ग्रामदशकसंग्रहणेन संग्रहणं तदाख्यं कर्वटादधमं महाद्रङ्गापरपर्याय स्थापयेदिति ।

व्याख्ययोरनयोः पदार्थप्रतिपादनसाम्येऽपि तात्पर्यप्रतिपादने भेद एवोत्कन्धरो भवन् दृश्यते । नीतिनिर्णीत्यां स्थानीयादीनां ग्रामविशेषाणां पारम्परिको निवेशविधिर्निर्दिष्टः, श्रीमूलाख्यायां व्याख्यायां तु ग्रामविशेषाणामेतेषां निवेश एव निरूपितः । सम्प्रदायापरिज्ञाने निवेशो यथाकथञ्चित्प्रतिपादयितुं शक्यः । सम्प्रदायपरिज्ञानत एव निवेशविधिनिरूपणं सम्भवम् नान्यथेति ।

निविष्टानां ग्रामाणां पालनप्रक्रियां प्रतिपादयत् कौटल्यार्थशास्त्रसूत्रमत्रैवाधिकरणेऽस्मिन्नेवाध्याये निम्ननिर्दिष्टं दर्शनीयम्—

'अन्तेष्वन्तपालदुर्गाणि जनपदद्वाराण्यंतपालाधिष्ठितानि स्थापयेत् । तेषामन्तराणि वागुरिकशबरपुलिन्दचण्डालारण्यचरा रक्षेयुरिति' ।

एतत्सूत्रं नीतिनिनिर्णीत्यैवं व्याख्यातम्—

'अन्तेषु जनपदस्य चतुर्दिशम् । अन्तपालदुर्गाणि जनपदरक्षाक्षमाणि । जनपद-द्वाराण्यन्तःप्रवेशनिर्गमयोर्निषेधात् । अन्तपालैः प्रबलबलयुक्तैरधिष्ठितानि स्थापयेत् । तेषां चतुर्णां द्वाराणामन्तराणि वागुरा मृगबन्धनार्थं जालं तेन व्यवहरन्तीति वागुरिकाः व्याधाः । शवराः किञ्चिज्जनपदभाषाभिज्ञा वनेचराः । पुलिन्दास्तु भाषान-भिज्ञाः । चण्डालाः प्रतीताः । अरण्यचराः सर्वग्रहादयः । ते रक्षेयुः । प्रवेशनिर्गमप्रतिषेधं कुर्युरित्यर्थः ।

श्रीमूलाख्यायां व्याख्यायां तु सूत्रार्थ एवं व्याख्यातः —

अन्तेष्विति । अन्तेषु जनपदावसानेषु अन्तपालदुर्गाणि अन्तपालाधिष्ठितानि अन्तपालैरनुष्ठिताध्यक्ष्याणि, जनपदद्वाराणि जनपदप्रवेशमार्गभूतानि च स्थापयेत् । तेषामन्तराणि अन्तपालदुर्गाणामन्तरालदेशान् वागुरिकशबरपुलिन्दचण्डालारण्यचराः वागुरिकाः मृगबन्धनजीविनः शबराः शूद्राद् भिल्ल्यां जाताः । पुलिन्दाः निष्ठचात् किरात्यां जाताः चण्डालाः श्मशानपालाः अरण्यचराः वनचारिणश्च रक्षेयुरिति ।

अत्र 'नीतिनिर्णीतिः' प्रस्पष्टं प्रतिपादयति यत् पुरा युगे जनपदानां चतुर्दिशं जनपदरक्षाक्षमाणि द्वाराणि स्थाप्यन्ते स्म; स्वेच्छाप्रवेशनिर्गमयोः प्रतिषेधाय च द्वार-रक्षासमर्थानि सैन्यान्यन्तपालाधिष्ठितानि सन्नद्धानि विधीयन्ते स्म ; चतुर्दिक्षु प्राकार-रचनाभावेऽपि सर्वाण्यन्तरालस्थानानि वागुरिकादिभिः सुरक्षार्थं निवेशितैः सुरक्षितानि च क्रियन्ते स्म । व्यवस्थेयं भूतपूर्वाणां ध्वस्तावशिष्टानां जनपदानां पुनर्निवेशार्थं नवनिर्माणानाञ्चाभूतपूर्वाणां जनपदानां प्रतिष्ठापनार्थं प्रचलिताऽभवदिति । किन्तु नायमभिप्रायः श्रीमूलाख्यया व्याख्यया निष्क्रष्टुं शक्यः । तया तु योऽर्थो निष्कृष्यते तेन कौटल्यकालीनजनपदनिवेशानां स्वरूपज्ञानं न समीचीनं जायते ।

कौटल्यार्थशास्त्रस्यास्मिन्नेवाधिकरणेऽस्मिन्नेवाध्याये कोशोत्पत्तिस्थानानां निवेशविधिरेवं वर्ण्यते—

'आकरकर्मान्तद्रव्यहस्तिवनव्रजवणिक्पथप्रचारान् वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च निवेशयेदिति' । (कौटल्यार्थशास्त्रम् २.१.१८)

सूत्रमिदं श्रीमूलाख्यायां व्याख्यायामेवं व्याख्यातम्—'आकरकर्मान्तद्रव्यहस्ति-वनव्रजवणिक्पथप्रचारान् आकरकर्मान्तः आकरव्यापारस्थानं, द्रव्यवनं दारुचन्दननिर्या-साद्युपकरणप्रसवक्षमं वनं, हस्तिवनं गजवनं, व्रजप्रचारः गोध्यक्षवक्ष्यमाणः वणिक्पथ-प्रचारः वणिक्पथव्यापारः एतान् वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च जलपथस्थलपथ-पण्यक्रयविक्रयस्थानानि च निवेशयेत् कारयेत् । पत्तनशब्दस्य क्रयविक्रयस्थानपाचि-त्वमाश्रित्येत्थं व्याख्यातम् । नावैकगम्यपुरवाचित्वाश्रयणे तु पण्यपत्तनं पण्यप्रधानं

**सीमान्तगम्यं पुरमिति व्याख्येयम् । पट्टनशब्दपाठे पुनः पण्यपट्टनं पण्यप्रधानं पट्टनं शकटैरश्वैर्नौभिश्च गम्यं पुरमिति ।**

'नीतिनिर्णीति' व्याख्यया तु सूत्रमिदं सपरिष्कारमन्यथा व्याख्यायते—

**'आ समन्तात् क्रियते सुवर्णादि येष्वित्याकराः । आकराद्युत्पन्नानां रत्नसारफल्गुकुप्यानां संस्कारकर्मणामन्तः समाप्तिर्येषु ते कर्मान्ताः । द्रव्यहस्तिवनेति द्रव्यं शाकतिनिशादिसारदारु तस्य वनानि । हस्तिनां च वनानि । व्रजानि गोमण्डलानि पशुपालपरिकल्पनया । वणिक्पथप्रचारान् वणिजां पन्था वणिक्पथः स्थले जले च तत्र प्रचाराः गत्यागमाश्चौराद्यपनयनेन । वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च उपवनमुपसमुद्रं वा पतदित्यापतत् पण्यं तन्यते क्रयविक्रयाभ्यां विस्तार्यंत इति । कार्वटिकादिविशेष एव पत्तनं ततोऽन्यत्र क्रयविक्रयनिषेधान्निवेशयेदिति संबन्धः ।**

उभयोर्व्याख्ययोस्समवलोकनेन स्पष्टमिदं **यन्नीतिनिर्णीतिकारः** साक्षात्कृतानां जनपदानां तत्रत्यकोशोत्पत्तिस्थानानां च निवेशविधिं स्पष्टीकरोति **श्रीमूलाख्यायाः** व्याख्यायाश्च कर्ता सूत्रगतपदपदार्थविबोधनपुरस्सरं तन्निवेशपरिकल्पनां विदधाति । **नीतिनिर्णीतिः** आकरनिवेशेभ्यो भिन्नानेवकर्मान्तनिवेशान् सिद्धान्तयति । अद्यापि भारते स्वर्णादिद्रव्यप्रसवक्षमाणां आकराणां खनीनां वा निवेशः कर्मान्तनिवेशाद् भिन्न एव निवेशः । कर्मान्तशब्देनात्र **'नीतिनिर्णीति'** विवक्षितः खनिजद्रव्यसाराणां संस्काराधानप्रयोजनको निवेशविशेषरूप एवार्थः साधीयान् प्रतिभाति । **श्रीमूलाख्यायाः** व्याख्यायाः रचयिताऽकरकर्मान्तयोर्भिन्ननिवेशमजानान आकरकर्मान्तेत्यैकशब्दपरिकल्पनया आकरव्यापारस्थानरूपं यमर्थमुपस्थापयति न तस्याऽत्र संगतिः समर्थयितुं शक्या । एवं द्रव्यवनेतिपदस्यार्थव्याख्यानेऽपि **'नीतिनिर्णीतिः'** वैशिष्ट्यं बिभर्ति । **नीतिनिर्णीत्यां** द्रव्यवनशब्दात् तिनिशादिसारदारूणां वनानां निवेशो निवक्षितः, किन्तु **श्रीमूलाख्यायां** व्याख्यायां चन्दनादिनिर्यासादिप्रसवक्षमाणां वनानां निवेशो विवक्ष्यते । तिनिशादिसारदारुवनानां निवेशस्तु भारतस्य चतुर्दिग्भागेषु संभाव्यते, किन्तु चन्दननिर्यासादिप्रसवक्षमाणां वनानां निवेशः दक्षिणापथेऽपि सुदूरे दक्षिणदिग्भागे संभाव्यतामर्हति । वणिक्पथप्रचारेति शब्दस्यार्थः **श्रीमूलाख्यायां** व्याख्यायां वणिक्पथव्यापार इति परिभाष्यते, किन्तु **'नीतिनिर्णीत्या'** स्थले जले च पण्यानां गत्यागमार्थं चौराद्यपनयनायारक्षिभिः तत्र तत्र समधिष्ठिताः निर्भयप्रचाराः वणिक्पथाः विवक्ष्यन्ते । **नीतिनिर्णीतिप्रतिपादितो**ह्यर्थः साम्प्रदायिकः **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया च विवक्षितोऽर्थोऽसाम्प्रदायिकः प्रौढिवादकल्प इति प्रस्पष्टमेव । एवमेव वारिस्थलपथपण्यपत्तनानीति पदस्यार्थव्याख्यानेऽपि व्याख्ये इमे परस्परं भिद्येते । **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया त्रिशिरस्को ह्यर्थोऽत्र परिभाष्यते यदपेक्षया **नीतिनिर्णीतिपरिगृहीतः** कार्वटिकरूप एकशिरस्क एवार्थः साधीयान् प्रतिभाति ।

एवं कौटल्यार्थशास्त्रस्य द्वितीयाधिकरणान्तर्वर्तिप्रथमाध्यायस्यैकोनविंशतितमं सूत्रमपि व्याख्याभेदतो भिन्नार्थकं सञ्जातमिव दृश्यताम्। तत्र सूत्रम्—

'वानप्रस्थादन्यः प्रव्रजितभावः सजातादन्यः संघः सामुत्थायिकादन्यः समयानुबन्धो वा नास्य जनपदमभिनिविशेते'ति।

अत्र नीतिनिर्णीतिव्याख्येदृशी—

'प्रजाविप्लवनिषेधार्थमाह—वानप्रस्थादन्य इत्यादि। वानप्रस्थादय प्रव्रजितभावः श्रमणसौगतादिः। सजातादन्यः संघो बहूनामेकीभावः सहोत्पन्नानामेव तस्मादन्यः संघः श्रेणीबन्धः। सामुत्थायिकादन्यः समयानुबन्धः सम्यगुत्थानं धर्मार्थमिति समुत्थायः तेन चरतीति (सामुत्थायिकः) सेतुबन्धतडागाद्यर्थः समयानुबन्धस्तस्मादन्यः चौर्यादिसमयानुबन्धो नास्य जनपदमुपनिवेशेत। अयं निवेशविषयो नियमः'।

किन्तु श्रीमूलाख्याया व्याख्याया अन्यैवगतिः। तथाहि—

'अथ जनपदवासानर्हानाह—वानप्रस्थादन्यः प्रव्रजितभावः वैखानसादतिरिक्तः प्रव्रजितावस्थः अर्थात् चतुर्थाश्रमी अस्य राज्ञो जनपदं नोपनिवेशेत नाध्यासीत्। प्रतिषेधनिमित्तं तु अभिशङ्कनीयशीलत्वमुक्तप्रायम्। सुजातादन्यः संघः सुष्ठुजातात् राजराज्यक्षेमायोत्पन्नात् जनसंघादन्यो दुर्जातः जनसंघः अस्य जनपदं नोपनिवेशेत। सामुत्थायकादन्यः समयानुबन्धो वा सामुत्थायकाः संभूद सेतुबन्धादिराजप्रजानुकूलकर्मकारिणः तेषां सम्बन्धी सामुत्थायकः सामुत्थायकात् समयानुबन्धादन्यः राजजनपदद्रोहफलः समयानुबन्धः संकेतरचना च अस्य जनपदं नोपनिवेशेते'ति।

अत्र नीतिनिर्णीत्या व्याख्यया योऽर्थो निर्गलति न स श्रीमूलाख्यया व्याख्यया। 'नीतिनिर्णीत्या' निवेशनार्हेभ्यो निवेशनानर्हाः प्रस्पष्टं प्रभिन्नाः प्रतिपादिताः। वानप्रस्थाश्रमिणो निवेशनार्हाः प्रव्रजितभावाश्च श्रमणसौगतादयो निवेशनानर्हाः, सजातस्य जनकायस्य जनपदनिवेशयोग्यता ततोऽन्यस्य संघेतिनिर्दिष्टस्य श्रेणीबन्धस्य निवेशनाऽयोग्यता, सामुत्थायिको जनसंघातः जनपदे निवेशनीयः समयानुबन्धो जनकायो न निवेशनीयः इत्येवं को निवेशनयोग्यो जनसंघातः को वा निवेशनायोग्यः इति प्रस्पष्टं प्रतीतिपथमवतरत्यभिप्रायः। श्रीमूलाख्या व्याख्या तु यमर्थं प्रकाशयति तत्र मुह्यन्ते विपश्चितोऽपि। श्रीमूलाख्यायां व्याख्यायां वानप्रस्थो वैखानसो वा निवेशनीयः चतुर्थाश्रमी सन्यासी न निवेशनीयः इत्यसमञ्जस एवार्थो निस्सरति। सन्यासिनोजनपदनिवेशादासङ्गैकफलाद् बिभ्यति, तेषां राजाज्ञया जनपदे निवेशनं धर्मशास्त्रमर्यादामेव न विखण्डयति किन्तु राजशास्त्रमर्यादामपि। कौटल्यार्थशास्त्रं न धर्म-

शास्त्रस्याज्ञामनुज्ञां वा खण्डयितुं प्रवृत्तम् । सजातसंघयोः परस्परं यो भेदो नीति-निर्णीतिदृशा द्रष्टुं शक्यो न स **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया द्रष्टुं शक्यः। **श्रीमूलाख्या** व्याख्या सजातसंघयोः कौटल्यार्थशास्त्रविवक्षितं भेदमपलपति । एवमेव सामुत्थायिक-समयानुबन्धयोर्भेदोऽपि **श्रीमूलाख्यया** व्याख्यया तिरोधीयत एव । राजशास्त्रसम्प्रदाया-परिज्ञानत एव **श्रीमूलाख्यायां** व्याख्यायामीदृशाः प्रतिसूत्रव्याख्यानं प्रौढिवादाः परिदृश्यन्ते ।

**कौटल्यार्थशास्त्रस्य** द्वितीयाधिकरणस्थप्रथमाध्यायस्य परिकरश्लोको द्वयो-र्व्याख्ययोर्व्याख्यातो विचारणीय एव भवति । तथाहि परिकरश्लोकः—

**'परचक्राटवीग्रस्तं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् ।**
**देशं परिहरेद्राजा व्ययक्रीडाश्च वारयेत् ॥'**

अत्र **श्रीमूलाख्या** व्याख्या—

'राजा परचक्राटवीग्रस्तं परचक्रं शत्रुकपटः शत्रुसैन्यं वा अटवी तात्स्थ्यादटवी-पालः ताभ्यां ग्रस्तं व्याधिदुर्भिक्षपीडितं देशं परिहरेत् परचक्रादिभ्यो दूरीकुर्यात् । व्ययक्रीडाश्च धनव्ययहेतुभूतः क्रीडाश्च वारयेत्' ।

अत्रैव **नीतिनिर्णीति**व्याख्या—

**'परिहारमाह—परचक्रं शत्रुसैन्यमटव्याटविकस्ताभ्यां ग्रस्तं कृतदाहविलोपं व्याधिदुर्भिक्षपीडितं देशं परिहरेत् दण्डकरादि न गृह्णीयादित्यर्थः । व्ययक्रीडाश्च कर्षकादीनां परस्परस्पर्द्धया व्ययक्रीडा निषेधयेत्' ।**

अत्र दृष्टिपातेन स्पष्टमिदं यत् पण्डितवर्याः महामहोपाध्यायाः गणपति-शास्त्रिणः परिकरश्लोकार्थं न सम्यगवबुध्यन्ति । परिहरेदिति क्रियापदात् दूरीकुर्यादि-त्यर्थो वस्तुत उत्सूत्र एव भवति । **नीतिनिर्णीतिकारः** परिहरेदित्यस्य दण्डकरादि न गृह्णीयादित्यर्थं प्रतिपादयन् प्रसङ्गानुकूलार्थप्रतिपादने निपुणो विभाव्यते । पुरा **कौटल्यार्थशास्त्रप्रयुक्तः** परिहारशब्दोऽद्यापि भोजपुर्यां देश्यां भाषायां 'पलिहर' इति विकृतिं भजमान प्रचुरं प्रयुज्यते । परिहारशब्दस्यार्थोऽपि पलिहरशब्दस्यार्थेऽन्तर्निलीनो दृश्यते । जानपदान् कर्षकान् दुःस्थान् दृष्ट्वा अद्यापि भारते भूस्वामिनः कांश्चिद्भू-भागान् करनिर्मुक्तान् कुर्वन्ति । तदा तथा स्वातन्त्र्योत्तरकालेऽपि भारते दौर्भि-क्ष्यादिसंकटग्रस्तेषु जनपदेषु परिहार प्रथा प्रचलत्येव ।

इत्थं **कौटल्यार्थशास्त्रस्य** द्वितीयाधिकरणगतप्रथमादिचतुर्थाध्यायान्तग्रन्थभाग-

स्य प्रतिसूत्रं व्याख्यायां प्राचीननवीनव्याख्ययोर्नीतिनिर्णीतिश्रीमूलाख्ययोर्भेदः स्थूल-दृशापि द्रष्टुं शक्यः। यदि नीतिनिर्णीतिः तत्सदृश्यो वा साम्प्रदायिक्योऽन्याः व्याख्याः समुपलभ्येरन् कौटल्यार्थशास्त्रस्य राजशास्त्रापरनामधेयस्यार्थसार्थाः निःशङ्कं निर्विरोधं च हृदयङ्गमीकर्तुं शक्येरन्। तदभावे तु श्रीमूलाख्या व्याख्यैव शरणं कौटल्यार्थशास्त्रार्थजिज्ञासूनां कृते। किन्तु तत्र कौटल्यार्थशास्त्रस्य बहवस्सन्दर्भाः अनुन्मीलिताभिप्राया एव तिष्ठन्ति स्थास्यन्ति चेति। उदाहरणार्थं कौटल्यार्थशास्त्रस्य द्वितीयाधिकरणस्थ-तृतीयाध्यायस्य 'दशमं सूत्रं' तद्व्याख्याद्वयञ्च दृश्यताम्। कौटल्यार्थशास्त्र-सूत्रमिदम्—

'ऊर्ध्वचयं मञ्चकपृष्ठं कुंभकुक्षिकं वा हस्तिभिर्गोभिश्च क्षुण्णं कण्टकिगुल्म-विषवल्लीप्रतानवन्तं (वप्रं निवेशितव्यम्), तदुपरि नीतिनिर्णीतिव्याख्यैतादृशी—

'ऊर्ध्वचयमंतरं मुक्त्वा चयाः शिलादीनां कर्तव्या दार्ढ्यार्थम् ततश्च वल्मीक-शिखराकारो भवतीति भावः। मञ्चकपृष्ठं मध्ये किञ्चिन्निम्नं प्राकारदार्ढ्यार्थम्। कुम्भकुक्षिकमिति आयतशिलास्तम्भवत्वात् कुंभसमानकुक्षिकश्चीयते दुरारोहो भवत्विति। हस्तिभिर्गोभिश्च क्षुण्णं हस्तिभिर्महाकायत्वात् गोभिस्तीक्ष्णखुरत्वात् घनत्वापादनार्थम्। कंटकिनो बदर्यादयः गुल्माः भल्लातक्यादीनां। विषाणि हलिनीकरवीरादीनि। वल्लयो हस्तिवारुणीकरमर्दाद्यास्तत्प्रतानवन्तं मूल इत्यर्थः।'

तत्र श्रीमूलाख्या व्याख्यैवंरूपा—

ऊर्ध्वचयमधः स्थूलोपरिकृशमूर्ध्वचयाख्यम्। मञ्चकपृष्ठमुपर्यधस्ताच्च तुल्य-वैपुल्यं मञ्चपृष्ठाख्यम्। कुंभकुक्षिकं वा ऊर्ध्वाधः कृशं मध्यस्थूलं कुंभकुक्षिकाख्यं वा हस्तिभिर्गोभिश्च क्षुण्णं प्रघातदृढीकृतं कण्टकिगुल्मविषवल्लीप्रतानवन्तं कण्टकवद्भि-स्तृणसंघातैः विषलताप्रतानैश्च युक्तम्।

उपर्युद्धृतयोर्व्याख्ययोर्भूयानर्थभेदो दृश्यते। नीतिनिर्णीतिः ऊर्ध्वचयं मञ्चक-पृष्ठं कुंभकुक्षिकमेकमेव वप्रवास्तु निर्दिशति। किन्तु श्रीमूलाख्यायाः व्याख्यायाः कर्ता सूत्रगतं वेति विकल्पार्थकं पदं मत्वा त्रिप्रकारं वप्रनिवेशं विकल्पयन्निव दृश्यते। अद्यापि दृष्टिगोचराणि मध्ययुगीनान्यपि दुर्गाणि 'नीतिनिर्णीति' व्याख्यां प्रमाणयन्तीव दृश्यन्ते। 'श्रीमूलाख्या' व्याख्या पदवाक्यार्थविवरणपरा न प्राचीनं दुर्गवास्तु निरूपयितुं मनागपि क्षमते।

क्वचन च श्रीमूलाख्यायां व्याख्यायां नितरामुत्सूत्रं स्वमनीषिकाविजृम्भितं व्याख्यानं दृश्यते। तथा हि कौटल्यार्थशास्त्रस्य द्वितीयाधिकरणस्थतृतीयाध्यायस्य १७तमं सूत्रम्—

'अट्टालकप्रतोलीमध्ये त्रिधानुष्काधिष्ठानं सपिधानं छिद्रफलकसंहतमिन्द्रकोशं कारयेत्' इति ।

अत्र नीतिनिर्णीतिव्याख्या—

अट्टालकप्रतोलीमध्ये सार्धदशाङ्गुलोपेतचतुर्दशदण्डप्रमाणेऽत्रापि वीप्सैव । त्रिधानुष्काधिष्ठान् । सापिधानैश्छिद्रफलकैः संहतम् । सच्छिद्रफलकत्वं शरनिर्गमार्थं सापिधानत्वं परशरप्रतिस्खलनार्थम् । इन्द्रकोशमिन्द्राकारः कोशः । अक्षिसमानसहस्रच्छिद्रोपेतत्वात्तं कारयेत्' इति ।

श्रीमूलाख्या व्याख्या ह्यत्रप्रयुक्तस्य पारिभाषिकस्येन्द्रकोशेतिशब्दस्य खट्वाविशेषरूपं यमर्थं प्रतिपादयति स तु बुद्धिव्यामोहाय न निरातङ्कबोधाय प्रभवति । 'इन्द्रकोशं खट्वाविशेषं कारयेत्' इति व्याख्यानं श्रीमूलाख्यया व्याख्यया कृतं नाध्येतृणामेव विप्रलम्भजनकं किन्तु व्याख्यातृणामपि मतिमौग्ध्यापादकमिति शम् ।

# OUR CONTRIBUTORS

**Arora U. P.**

Deptt. of A. H. C. Ar., University of Allahabad; A-7 Teachers' Flats, Chatham lines, *Allahabad*.

**Avinash,**

160/Sec. 15-A, *Chandigarh*.

**Bajpai, Krishna Dutta,**

Visiting Professor, Sagar University/25 Padmakar Nagar, *Sagar*-470004

**Bhattacharya, Jyotirmoyee**

38/8 Hauz Katora, *Varanasi*

**Bhattacharya, Ramshankar**

38/8 Hauz Katora, *Varanasi*

**Chaturvedi, Archana,**

Research Asstt., G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, *Allahabad*—211002.

**Chaturvedi, Brajmohan**

Deptt. of Sanskrit, University of Delhi, *Delhi*.

**Chaturvedi, Shiva Dutta Sharma**

Benaras Hindu University, *Varanasi*

**Chaturvedi, Shri Narayan**

53, Khursheda Bag, *Lucknow*—4.

**Chauhan, D. V.,**

Village & Post-Ashiv, Taluk Ausa, Pin-413520 (*Maharashtra*).

**Dhal, U. N.**

P. G. Deptt. of Sanskrit, Utkal University, *Bhubaneshwar* (*Orissa*).

## Our Contributors

**Dube, Ravindra Kumar,**
Asstt. Prof., Metallurgical Engineering Deptt., Indian Technological Institute, *Kanpur*.

**Dubey, Lal Mani,**
Centre of Advanced Study, A H. C. Ar. Deptt., Allahabad Universiry, *Allahabad*.

**Dwivedi, Janaki Prasad**
Research Officer, Sampurnananda Sanskrit University, *Varanasi*.

**Handa, Devendra,**
Deptt. of A. I. H. C. Ar., Punjab University, *Chandigarh*.

**Jain, Komal Chandra**
Lecturer, Deptt. of Sanskrit & Pali, B. H. U, *Varanasi*

**Jain, Usha,**
S. C. F. 16/17 Sector 28-C, *Chandigarh* —160002

**Jha, jeeveshwar,**
Curator, G N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, *Allahabad*.

**Jha, Kishor Nath,**
Reader, G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, *Allahabad*.

**Jha, Rati Nath,**
( Retd. ) Reader, Sanskrit Mahavidyalaya, Banaras Hindu University/Rani Chandravati Shyama Mahavidyalaya, Kachaurī Gali, *Varanasi*.

**Kansara, N. M.**
Prof & Head, Sanskrit Deptt., M. P. Shah Arts & Science College, *Surendranagar* (Saurashtra)

**Kantawala, S. G.,**
Prof. & Head, Deptt. of Sanskrit, M. S. University of Baroda, *Baroda* —2 Kantareshwar Mahadeo's Pole, Baijwada Baroda—390001.

**Khiste, Batuk Natha Shastri**
Sampurnananda Sanskrit University/'Shri Niketanam' N, 16/43 Patrakar Nagar, *Varanasi*,

## Our Contributors

**Lal, Shri Krishna,**
Deptt. of Sanskrit, University of Delhi. *Delhi*—110007

**Lallanji Gopal**
Prof.-Head, A. I, H. C. Ar. Deptt., B. H. U., *Varanasi*—221005

**Lalman,**
C—35, Panjab University, *Chandigarh*—160014.

**Malaviya, Ramachandra**
Principal, Maharshi Dhyan Vidyapeetha, Shankaracharya Nagar, *Rishikesha*.

**Mishra, Haripriya,**
Deptt. of Linguistic, Sampurnananda Sanskrit University, *Varanasi*,

**Mishra, Jaimanta**
Vice-Chancellor, Kameshwar Singh Darbhanga Sanskrit University, *Darbhanga*.

**Mishra, Satya Narayan,**
c/o 37 B. Ravindra Puri, *Varanasi*.

**Mishra, Vidya Nivas,**
Director, K. M. Munshi Hindi Bhasha Vijnan Sansthan, Agra University, *Agra*/Gopal Kunj, Bagh Muzaffar Khan, *Agra*.

**Moghe, S. G.,**
Ismail Yusuf College, *Bombay*—400060.

**Pal, J. N.**
University of Allahabad, *Allahabad*.

**Pandey, A. N.**
Prof. & Head, Deptt. of Sanskrit, Kashi Vidyapeetha, *Varanasi*.

**Pandey, Gopal Dutta**
23/9 Dudha Vinayak, *Varanasi*—1

**Pandey, Prakash.**
Research Asstt., G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, *Allahabad*.

## Our Contributors

**Pandey, Rewati Raman.**
Reader in Philosophy, B. H. U., *Varanasi.*

**Pandey, Shambhu Nath**
Lecturer, Deptt. of Hindi, B. H. U., *Varanasi.*

**Pathak, Jagannatha.**
Reader, G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidaypeetha, *Allahabad.*

**Pathak, Vishuddhanand.**
Deptt. of History, B. H. U., *Varanasi.*

**Prasad, Sheo Shankar.**
Reader, Deptt. of Sanskrit, Bihar University, *Muzaffarpur.*

**Rai, Ganga Sagar.**
Asstt. Editor-Puranam, Ramnagar, *Varanasi.*

**Rama, Goparaju,**
Lecturer, G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, *Allahahad,*

**Saxena, Babu Ram,**
Allenganj, *Allahabad.*

**Sharma, Acharya Priyavrata,**
Ex-Director, Snatakottar Ayurveda Sansthan, B. H. U., *Varanasi.*

**Sharma, Devavrata Sena,**
D – 2, University Campus, Kurukshetra University, *Kurukshetra* —132119.

**Sharma, Hari Dutta,**
Deptt. of Sanskrit, University of Allahabad, *Allahabad.*

**Sharma, Ramkaran,**
Director, Rashtriya Sanskrit Sansthan 2-A Ram Kishore Road, Civil Lines, *Delhi*—110054.

**Sharma, Vijaya Kumar,**
V. V. B. I. S. P. I. S. Punjab University, *Hoshiarpur.*

**Shastri, Kapil Deva.**
Acharya, Dayanand Chair, Kurukshetra University, *Kurukshetra* 132119 (*Hariyana*).

## Our Contributors

**Shastri, Vasudeva Dwivedi,**

D-38/110 Hauz Katora. *Varanasi*--1.

**Shukla, Badari Natha,**

Ex-Vice Chancellor, Sampurnananda Sanskrit University, *Varanasi*/B-2-236 Bhadaini, *Varanasi.*

**Shukla, Bimal Chandra & Jai Narain,**

Ewing Christian College, *Allahabad.*

**Shukla, Chandika Prasad.**

Ex—Head, Deptt. of Sanskrit, University of Allahabad; Prof. Sahitya Shastra Chudamani, G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, *Allahabad.*

**Shukla, K. S.**

36 Shukalana Bangarmau Distt., *Unnao* (*U. P.*)

**Singh, Maan,**

Himachal Pradesh University, *Simla.*

**Singh, Satya Vrata,**

Retd. Professor, Deptt. of Sanskrit, Lucknow University/Bhavani Bihar, Model House, *Lucknow.*

**Singh, Vibhuti Narayan,**

Kashi Naresh, Ram Nagar Fort, *Varanasi.*

**Sohony, S. V.,**

Vice-Patron of Bihar Research Society, Manali A/4 Erandavane Prameti Road (5) *Pune*—411004

**Srimannarayana Murti, M.**

Reader in Sanskrit, Sri Venkateswara University, *Tirupati*—517502

**Srivastava, A. L.**

C. M. P. Degree College, *Allahabad*

**Srivastava, O. P.**

C. M. P. Degree College, *Allahabad*

**Swain, Anam Charan,**

Prof. & Head, P. G. Deptt. of Sanskrit, Utkal University, *Bhubanaswar*—4

## Our Contributors

**Tiwari, Udai Nerayan**
Alopi Bagh, Allahabad

**Tripathi, Bhagiratha Prasad** 'Vagish Shastri'
Sampurnananda Sanskrit University, *Varanasi*

**Tripathi, Chandra Bhanu,**
34, Balarampur House, *Allahabad*

**Tripathi, G. C.**
Principal, G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, *Allahabad*

**Tripathi, Karunapati,**
Aurangabad, *Varanasi*

**Tripathi, Ram Murti,**
Head of the Deptt. of Hindi, Vikram University, *Ujjain*

**Tripathi, Surati Narayan Mani**
Ex-Vice Chancellor, Sampurnanada Sanskrit University, *Varanasi*
9-D; Civil Lines, Gorakhpur,

**Trivedi, Shivadutt**
Joint Director of Education, Education Directorate, *Allahabad.*

**Upadhyaya. Gauri Shankar,**
Ex.-Assistant Director, U. P./c/o 37 B. Ravindrapuri, *Varanasi.*

**Upadhyaya, Gopal Shankar**
Prof. Metallurgy, I. I. T., *Kanpur.*

**Upadhyaya, Janardan**
B. H. U., B 1/126 Assi, *Varanasi*—5

**Upadhyaya, Krishna Deva.**
C/o 37 B. Ravindra Puri, *Varanasi.*

**Upadhyaya, Ravi Shankar,**
c/o 37 B. Ravidra Puri, *Varanasi.*

**Vatsyayan, Kapila,**
Additional Secretary, (Culture), Ministry of Education & Culture, Shastri Bhavan, *New Delhi.*

